महाभारत में उपलक्षित स्त्री-विमर्श : एक समीक्षात्मक अध्ययन

MAHABHARATA MEIN UPLAKSHIT STRI-VIMARSH : EK SAMIKSHATMAK ADHYAYAN

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा

की

पीएच. डी. (संस्कृत) उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

कला-संकाय

शोधार्थिनी

मेघा शर्मा

शोध पर्यवेक्षक

डॉ. दिनेश कुमार शुक्ल

सह-आचार्य

संस्कृत-विभाग

राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बून्दी (राज.)

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

2021

CERTIFICATE

I feel great pleasure in certifying that the Thesis entitled **महाभारत में उपलक्षित स्त्री-विमर्श : एक समीक्षात्मक अध्ययन** by **Megha Sharma** under my guidance. She has completed the following requirements as per Ph.D regulations of the University.

(a) Course work as per the university rules.

(b) Residential requirements of the university (200 days)

(c) Regularly submitted annual progress report.

(d) Presented her work in the departmental committee.

(e) Published/accepted minimum of one research paper in a referred research journal.

I recommend the submission of thesis.

(Dr. Dinesh Kumar Shukla)
Associate Professor
Department of Sanskrit
Govt. P.G. College, Bundi (Raj.)

Date :

ANTI-PLAGIARISM CERTIFICATE

It is certified that Ph.D. Thesis Titled महाभारत में उपलक्षित स्त्री-विमर्श : एक समीक्षात्मक अध्ययन by **Megha Sharma** has been examined by us with the following anti-plagiarism tools. We undertake the follows:

a. Thesis has significant new work/knowledge as compared already published or are under consideration to be published elsewhere. No sentence, equation, diagram, table, paragraph or section has been copied verbatim from previous work unless it is placed under quotation marks and duly referenced.
b. The work presented is original and own work of the author (i.e. there is no plagiarism). No ideas, processes, results or words of others have been presented as author's own work.
c. There is no fabrication of data or results which have been compiled and analyzed.
d. There is no falsification by manipulating research materials, equipment of processes, or changing or omitting data or results such that the research is not accurately represented in the research record.
e. The Thesis has been checked using **OURIGINAL (URKUND)** software and found within limits as per HEC plagiarism Policy and instructions issued from time to time.

Megha Sharma **Dr. Dinesh Kumar Shukla**

Research Scholar **Research Supervisor**

Place : Place :

Date : Date :

CANDIDATE DECLARATION

I here by certify that the work, which is being presented in this thesis, entitled महाभारत में उपलक्षित स्त्री-विमर्श : एक समीक्षात्मक अध्ययन in partial fulfilment of the requirement for the award of the Degree of Doctor of philosophy, carried under the supervision of **Dr. Dinesh Kumar Shukla, Associate Professor, Department of Sanskrit, Government P.G. College, Bundi (Raj.)** and submitted to the University of Kota, Kota represents my ideas in my own words and whenever other ideas or words have been included. I have adequately cited and referenced the original sources. The work presented in this thesis has not been submitted else where for the award any other degree or diploma from any institution.

I also declare that I have adhered to all principles of academics honesty and integrity and have not misrepresented or fabricated or falsified any idea/date/fact/source in my submission. I understand that violation off the above will be a cause for disciplinary action by the university and can also evoke penal action from the sources which have thus not been properly cited from whom proper permission has not been taken when needed.

Date :
Place :

Megha Sharma
Research Scholar

This is to certify that the above statement made by **Megha Sharma (Registration No. RS/464/13)** is correct to the best of my knowledge.

Date :
Place :

(Dr. Dinesh Kumar Shukla)
Research Supervisor

शोध-सार

महर्षि वेदव्यास के अन्तस् से प्रस्फुटित रचना 'महाभारत' भारतीय साहित्य एवं संस्कृति की शाश्वत निधि है। भारतीय जन-जीवन और उनके मस्तिष्क-पटल में यह कथा निरन्तर प्रवाहमान है। भारतीय स्त्री जीवन का महाभारत से गहन सम्बन्ध है। साहित्य जगत् में 'महाभारत' एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जो भिन्न-भिन्न मनोवृत्ति वाले पात्रों की विविधताओं से सम्पृक्त है, जो न केवल भारतीय जीवनमूल्यों और आदर्शों की स्थापना करता है वरन् जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में स्त्री और पुरुषों द्वारा किये जाने वाले आचरण की यथार्थता से भी अवगत कराता है। गान्धारी, कुन्ती, द्रौपदी जैसी साध्वी स्त्रियों का पातिव्रत्यधर्म, पति-प्रेम, कर्त्तव्य के प्रति समर्पण भाव एवं गम्भीर स्वभाव, असीम धैर्य और सहनशक्ति जैसे गुण अद्यतन भी भारतीय स्त्री जीवन में उतना ही महत्त्व रखते हैं जितना प्राचीन समय में महत्त्वपूर्ण थे।

महाभारत ग्रन्थ केवल कौरवों और पाण्डवों की कथा ही नहीं है अपितु भारतीय स्त्रियों के जीवन में व्याप्त अभावों, इच्छाओं और संघर्षों के मध्य उनके व्यवहार को व्याख्यायित करने वाली गाथा भी है। महाभारतकालीन स्त्रियों की सच्चरित्रता, वैदुष्य, परस्पर सामंजस्य, सहिष्णुता, वसुधैवकुटुम्बकम् की मूल भावना तथा परिवार के सर्वांगीण विकास में ही स्वयं की उन्नति समझने का भाव जैसे गुणों का निदर्शन कराने के लिये ही यह शोध कार्य किया गया है। ये सभी स्त्री पात्र अपने चरित्रों के अनुशीलन द्वारा समस्त विसंगतियों एवं विषमताओं के मध्य अपनी अस्मिता एवं अस्तित्व को पुनर्जीवित करने की प्रेरणा देते हैं। अतः महाभारतकालीन स्त्री पात्रों के चरित्रों की उत्कृष्टता और सार्थकता से परिचय कराने का प्रयास शोध प्रबन्ध में किया गया है।

शोध प्रबन्ध नौ अध्यायों में विभक्त है, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

प्रथम अध्याय के अन्तर्गत वेदों, उपनिषदों तथा पुराणों का महत्त्व अतिसंक्षिप्त रूप से वर्णन करने के पश्चात् वेद वर्णित-प्रमुख स्त्री पात्रों लोपामुद्रा, शशीयसी, आत्रेयी, घोषा, विश्पला इत्यादि के प्रेरणास्पद और प्रभावोत्पादक चारित्रिक गुणों का विश्लेषण किया गया है। तत्पश्चात् उपनिषदों में वर्णित प्रमुख स्त्री पात्रों, उमा हेमवती, गार्गी, मैत्रेयी और कात्यायनी की चारित्रिक विशेषताओं और वैदुष्य का प्रतिपादन करने के अनन्तर पुराण-वर्णित प्रमुख स्त्री पात्रों यथा प्रातिथेयी, अनसूया, शैव्या, देवहूति, पद्मा आदि के स्वरूप, उनकी

पारिवारिक और सामाजिक जीवन में भूमिका तथा उनके चारित्रिक गुणों को उजागर किया गया है।

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत सर्वप्रथम प्राचीन नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों में वर्णित स्त्री पात्रों, (प्रमुख रूप से नायिका) की अवधारणा को बतलाया गया है। जिसमें नायिका के भेद-प्रभेदों पर प्रमुख प्राचीन ग्रंथों यथा नाट्यशास्त्र, दशरूपक, साहित्यदर्पण, नाट्यदर्पण, भावप्रकाशन, रसमंजरी आदि के आधार पर प्रकाश डाला गया है। तदनन्तर आधुनिक काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में वर्णित नायिका की अवधारणा को बतलाया गया है।

तृतीय अध्याय के अन्तर्गत महाभारत के महत्त्व को ऐतिहासिक, धार्मिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से प्रमुख भारतीय विद्वानों और पाश्चात्य विद्वानों के विचारों के माध्यम से एवं स्वयं महाभारत में वर्णित तथ्यों के आधार पर प्रकट करने का प्रयास किया गया है।

चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत महाभारत में वर्णित अवान्तर कथाओं में आये स्त्री पात्रों का संक्षिप्त रूप से सर्वेक्षण किया गया है। इनमें भी प्रमुख मानवीय स्त्री पात्रों के चारित्रिक गुणों और उनकी मनोदशा को विभिन्न परिस्थितियों में उनके व्यवहार को यहाँ दर्शाया गया है। शकुन्तला, देवयानी, शर्मिष्ठा, दमयन्ती, लोपामुद्रा, सुकन्या, सावित्री इत्यादि स्त्री पात्रों के चारित्रिक गुणों यथा धैर्य, सहिष्णुता, त्याग, सत्यवादिता, बुद्धिमत्ता, पातिव्रत्य, गार्हस्थ्य जीवन में उनकी कर्त्तव्यपरायणता इत्यादि पर प्रकाश डाला गया है।

पंचम अध्याय के अन्तर्गत महाभारत में कुरुवंशीय कुन्ती, गान्धारी के पूर्ववर्ती स्त्री पात्रों गंगा, सत्यवती, अम्बिका और अम्बालिका की चारित्रिक विशेषताओं का और उनकी पारिवारिक भूमिकाओं को व्याख्यायित किया गया है। जीवन में उच्च आदर्शों को अपनाकर इन सभी ने अपनी प्रत्येक भूमिका के साथ पूर्ण न्याय किया है और जीवनपर्यन्त इन भूमिकाओं का भलीभाँति पूर्णनिष्ठा और समर्पण के साथ निर्वाह किया है।

षष्ठ अध्याय के अन्तर्गत गान्धारी, माद्री और कुन्ती की चारित्रिक विशेषताओं को व्याख्यायित किया गया है। अपनी अधिकारपृच्छा के स्थान पर कर्त्तव्यपालन हेतु समर्पण की भावना और एक-दूसरे के प्रति हृदय में सम्मान की भावना को जीवन में स्थान देने वाली इन स्त्री पात्रों के चरित्र की श्रेष्ठता को बतलाने का प्रयास किया गया है।

सप्तम अध्याय में द्रौपदी के चारित्रिक गुणों को तथा पारिवारिक सदस्यों के साथ उसके अन्तर्सम्बन्धों को अध्येताओं के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पारिवारिक भूमिकाओं के निर्वहन के साथ ही अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिये जिस साहस का उसने प्रदर्शन किया है तथा आदर्शभार्या व आदर्श वधू के रूप में विषम से विषम परिस्थितियों में स्वधर्म का पालन कर्त्तव्यनिष्ठा के साथ कर द्रौपदी ने पितृकुल और श्वसुरकुल के यश का सर्वतोमुखी विस्तार किया है, उसके इन्हीं गुणों को समस्त स्त्री जाति की प्रेरक शक्ति के रूप में उसके अवदान को यहाँ दर्शाया गया है।

अष्टम अध्याय के अन्तर्गत द्रौपदी के परवर्ती प्रमुख स्त्रीपात्रों उलूपी, चित्रांगदा, सुभद्रा, दुःशला, उत्तरा, हिडिम्बा, सुदेष्णा की चारित्रिक विशेषताओं का विश्लेषण किया गया है। इन सभी स्त्री पात्रों ने जो प्रतिकूल और अनुकूल दशाओं में स्वकर्त्तव्य का पूर्ण निष्ठा के साथ पालन करते हुये मर्यादित आचरण प्रस्तुत किया तथा उनके समक्ष उपस्थित विषम परिस्थितियों में दर्शाये गये उनके धैर्य, संयम, सहिष्णुता और त्याग इत्यादि गुणों को प्रकट किया गया है।

नवम अध्याय के अन्तर्गत प्राचीन स्त्री पात्र तथा आधुनिक स्त्री की अवधारणा को तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। इसके लिये मुख्य रूप से 'स्त्री शिक्षा, यौतुक प्रथा, नारी सुरक्षा, नारी स्वतंत्रता, पति-पत्नी संबंध तथा बिना विवाह के स्त्री-पुरुष का साथ-साथ रहना' इन बिन्दुओं को तुलना का आधार बनाया गया है।

उपसंहार के अन्तर्गत शोध-प्रबन्ध सार प्रस्तुत किया गया है।

मेघा शर्मा

पीएच.डी. संस्कृत

पंजीयन क्रमांक : RS/464/13

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा

प्राक्कथन

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्।

प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम्।।

मनुस्मृति के वचनानुसार स्त्री सृष्टि की संयोजिका है जो मायारूप जगत् में सभी शुभाशुभ वृत्ति को उत्पन्न करती है। स्त्री और पुरुष दोनों ही आधी-आधी सृष्टि हैं। इनके मेल से ही पूर्ण सृष्टि का निर्माण होता है। पुरुषार्थ विशिष्ट जीवन में धर्म, अर्थ और काम की विपुलता नारी के बिना संभव नहीं है, ऐसा मनु द्वारा समर्थित किया गया है। प्रायः धार्मिक कार्यकलापों में गृहपति पत्नी के साहचर्य से कार्यों को संपादित करके ही उनकी पूर्णता और तदनुसार फल प्राप्त करता है। स्त्री और पुरुष का यही सौहार्दपूर्ण संबंध इस लोक में कौटुम्बिक रमणीयता, सामाजिक शान्ति तथा समरसता के द्वारा मानव के चित्त को आह्लादित और श्रेष्ठ कार्यों के लिये उत्प्रेरित करता है। स्त्री के श्रेष्ठ चरित्र से ही परिवार, समाज और राष्ट्र के चरित्र निर्माण का शुभारम्भ होता है। उसके द्वारा दिये गये संस्कारों पर ही समस्त मानव समुदाय की सफलता निर्भर करती है। क्योंकि स्त्री ही संस्कृति की संवर्धिका एवं संरक्षिका है। वह संस्कृति की ऐसी जीवन्त प्रतिमा है जिसे सच्चिदानंद सर्वेश्वर ने स्वयं अपनी सृजनशक्ति से रचा है किंतु इस सत्य से भलीभाँति परिचित होने पर भी भारतीय समाज में पुरुषसत्ता का ही वर्चस्व रहा है। वैदिक कालक्रम से वर्तमान समय तक इस कथा की ही पुनरावृत्ति मात्र होती रही है। ऐसे में समाज जहाँ मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम को आदर्श स्वीकार करता है वहीं सीता को पातिव्रत्यधर्म की पराकाष्ठा पर स्थापित करता है किंतु सत्य तो यह है कि प्रभु श्रीराम के समान ही त्यागी, तपस्विनी, सत्त्वगुणसम्पन्ना, सर्वशुभलक्षणयुक्ता जनकनन्दिनी सीता के आदर्श चरित्र से संयुक्त होकर ही राम का चरित्र अपनी पूर्णता एवं चरितार्थता को प्राप्त कर सका है। मात्र सीता ही नहीं उनके ही समान समस्त सद्गुणों से सम्पन्न सती साध्वी स्त्रियाँ पुरुषप्रधान समाज में अपने चारित्रिक उत्तमोत्तम गुणों से वैदिक काल से निरन्तर अपना वर्चस्व स्थापित करती आ रही हैं।

यह ध्रुव सत्य है कि सृष्टि के प्रारंभ से ही स्त्री और पुरुष परिवार, समाज और राष्ट्र के प्रमुख अंग रहे हैं। जीवन के साथ ही साथ साहित्य में भी इनके संबंधों का विश्लेषण होता रहा है। भारतीय साहित्य में ऐसे अनेक ग्रंथों की उपलब्धता है जिनमें इनके संबंधों पर विचार-विमर्श हुआ है परन्तु यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाये तो पुरुष प्रधान साहित्य का आधिक्य ही साहित्यजगत् में दृष्टिगोचर होता है। वेद से लेकर अधुनातन संस्कृत साहित्य का समग्र रूप से पर्यालोचन किया जाये तो स्त्री पात्रों पर पुरुष पात्रों की अपेक्षा लेखकों का ध्यान कम ही गया है। स्वयं वेद में भी ऋषिकाओं और देवियों की अपेक्षा ऋषियों और देवताओं का स्वरूप ही प्रमुख रूप से वर्णित है। रामायण, महाभारत जैसे प्रमुख आर्षकाव्यों में भी स्त्री पात्रों के चरित्र का बहुत कम मूल्यांकन हुआ है। नाटक और नाटिकाओं के अध्ययन से यह तथ्य उभर कर आता है कि नायक की अपेक्षा नायिका एक कम महत्त्व के पात्र के रूप में अवतरित हुयी है किंतु सत्य तो यह है कि स्त्री और पुरुष हर दृष्टि से जीवन के समकोटि के पात्र हैं। इधर पिछली शताब्दियों में हिन्दी साहित्य के समान ही संस्कृत साहित्य में भी स्त्री के महत्त्व पर कवियों का ध्यान गया है किंतु संस्कृत शोध के विषयों में स्त्री पात्रों की प्रमुखता का आकलन कम ही हुआ है। ऐसा कोई शोध अभी तक प्रकाश में नहीं आया है, जिसमें महाभारतकालीन स्त्रीपात्रों का मूल्यांकन समेकित रूप से किया गया हो। महाभारतकालीन स्त्रियाँ संवेदनशील, सुकुमारी हैं किन्तु आत्मिक बल के कारण आन्तरिक रूप से पूर्ण सशक्त हैं तथा सात्विक गुणों के आधिक्य के कारण जीवन की विषमताओं और संघर्षों में भी निरन्तर कर्त्तव्यपथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा देती हैं। महाभारत की स्त्री, स्त्रीत्व के समस्त गुणों से युक्त होते हुये भी अपनी अस्मिता और दायित्व का निर्वाह करने वाली है। गान्धारी, कुन्ती, द्रौपदी जैसे स्त्री पात्रों की श्रेष्ठता, उपादेयता और सार्थकता का निदर्शन कराने के लिये ही मैंने महाभारतकालीन प्रमुख स्त्री पात्रों को अपने शोध का विषय बनाया है।

मैं अपने जीवन में देववाणी संस्कृत से अत्यन्त प्रभावित रही हूँ क्योंकि यह अपने साहित्य से हमारे भारतवर्ष के स्वर्णकाल को हमारे समक्ष पुनर्जीवित कर देती है। यहाँ मानव चरित्र का आदर्श भाँति-भाँति से हमारे सम्मुख प्रकट किया गया है। शतसाहस्रीसंहिता

एवं पंचमवेद की उपमाओं से विभूषित महाभारत आदर्श एवं यथार्थ का उचित सम्मिश्रण जान पड़ता है। आज स्त्री स्वातन्त्र्य और समानाधिकार के युग में इन स्त्री पात्रों का अध्ययन आधुनिक स्त्री के लिये एक दिशा निर्देशक के रूप में सिद्ध हो सकता है, इस उद्देश्य से महाभारतकालीन स्त्रियों की चारित्रिक समीक्षा को शोधार्थी द्वारा अनुसंधान का विषय बनाया गया है।

शोध की प्रवृत्ति अनेक वर्षों से हमारे साहित्य में विद्यमान है। प्रत्येक युग में नवीन तथ्य व नवीन विचार प्रकट होते रहते हैं। अतः ज्ञात तथ्यों की युगानुरूप व्याख्या शोध का प्रमुख अंग मानी जाती है। आधुनिककाल में स्त्री-समानता की अवधारणा में भी कुछ विसंगतियाँ प्रवेश करती जा रही हैं। अतः महाभारतकालीन प्रमुख स्त्री पात्रों के चरित्र को प्रस्तुत करते हुये केवल उस काल का ही दिग्दर्शन नहीं कराया गया है वरन् आधुनिक स्त्री के लिये पथ-प्रदर्शक की भूमिका के निर्वहन के रूप में भी इसे प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास मेरे द्वारा किया गया है।

मेरे द्वारा यह शोधकार्य विषय विभाग की दृष्टि से नौ अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय में वेद, पुराणों एवं उपनिषदों में वर्णित स्त्रीचरित्रों को स्थान दिया गया है। द्वितीय अध्याय में विभिन्न काव्यशास्त्रों को आधार बनाकर नायिकाभेद सम्बन्धी विभिन्न आचार्यों के प्रचलित सिद्धान्तों को तूलिकाबद्ध किया गया है। तृतीय अध्याय में महाकाव्य 'महाभारत' के महत्त्व को ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, साहित्यिक और आर्थिक दृष्टि से विश्लेषित किया गया है। चतुर्थ अध्याय में महाभारत में उपस्थित गौण स्त्री चरित्रों का अवगाहन किया है। अध्याय पंचम, षष्ठ, सप्तम एवं अष्टम में कालक्रम से महाभारत महाकाव्य के प्रमुख स्त्रीपात्रों एवं उनके चरित्रों का परिचय सविस्तार दिया गया है। अंतिम नवम अध्याय में प्राचीन काल एवं आधुनिक काल की स्त्रियों का तुलनात्मक विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है।

वस्तुतः भारतीय दृष्टिकोण तो जड़-चेतन में भी एकरूपता और समानता की अवधारणा रखता है। यहाँ 'अधिकार' पर उतना प्रकर्ष नहीं है, जितना कर्त्तव्य-कर्म और

समदृष्टि पर प्रकर्ष दिखाया गया है। मैंने अपने शोध-प्रबन्ध में त्याग, संयम, धैर्य, करुणा, सत्य, दृढ़निश्चय जैसे भारतीय गुणों को उभारकर और विशेष रूप से महाभारतकालीन स्त्रीपात्रों में इनके आकलन का अध्ययन करके आधुनिक युग के लिये भी दिशाबोध कराने का प्रयत्न किया है। प्राचीनता और नवीनता के गठबन्धन को अपने शोध-प्रबन्ध के माध्यम से प्रकाश में लाने का प्रयास किया गया है।

मेरा मत है कि कोई भी गुरुतर कार्य गुरुजनों, स्वजनों और मित्रों के सहयोग, प्रेरणा और आशीर्वाद के बिना पूर्ण नहीं हो सकता।

एतदर्थ शोधविषय की रूपरेखा को लेकर मैंने अपने शोध निर्देशक परम आदरणीय एवं स्नेहिल व्यक्तित्व के धनी डॉ. दिनेश कुमार शुक्ल जी विचार-विमर्श किया। शोध की विस्तृत रूपरेखा में कुछ अत्यावश्यक एवं अनिवार्य अपेक्षित संशोधन उपरान्त उन्होंने प्रफुल्लमना हो अपनी सहमति दे दी। शुक्ल जी की विद्वत्ता, विषय पर उनका अधिकार, व्याकरणिक परिष्कार हेतु उनका आग्रह तथा यथासमय प्रदान किये गये उनके सुझाव और दिशानिर्देश अमूल्य निधि के रूप में इस विस्तृत शोधकार्य की पूर्णता में मुख्य साधन सिद्ध हुये हैं। सत्य कहूँ तो शोधनिर्देशक की भूमिका का निर्वहन करने के स्थान पर वे एक वरिष्ठ पारिवारिक सदस्य के रूप में सदैव मेरे साथ खड़े रहे। परिणामतः उनके द्वारा प्रदत्त प्रेरणा व संबल से ही यह शोध कार्य पूर्ण हो सका है, जिसके लिये मैं हृदय से उनकी आभारी हूँ।

तदनन्तर मेरे जीवन और व्यक्तित्व निर्माता मेरे गुरुजी स्वर्गीय डॉ. लक्ष्मीनारायण शर्मा के श्री चरणों में नमन करती हूँ। आपकी मुझ शिष्या के लिये यह अन्तिम इच्छा थी कि मैं अपना शोधकार्य पूर्ण करूँ किंतु शोधकार्य की पूर्णता से पूर्व ही आपका देवलोकगमन, इसकी पूर्णता को मेरे लिये दिवास्वप्न बना गया तथापि आपके आशीर्वाद से ही मैं किंकर्त्तव्यविमूढा इस शोध कार्य को पूर्ण कर सकी हूँ। आपके क्षण-प्रतिक्षण के योगदान के लिये कोटिशः नमन।

परिवार से ही व्यक्ति का अस्तित्व होता है। अतः मेरे माता-पिता, श्वसुर-श्वश्रू तथा मेरे पति श्री मारूतिनंदन शर्मा और हृदयांश सुपुत्र ईशान के सहयोग के बिना इस शोधकार्य की पूर्णता की कल्पना भी संभव नहीं थी।

मित्रों के रूप में सहयोगी रहे डॉ. कौशल तिवारी, डॉ. ललित नामा, डॉ. हरिकृष्ण उपाध्याय, डॉ. महावीर साहू को भी उनके सहयोग के लिये मैं धन्यवाद देती हूँ।

मुझे निरन्तर प्रेरणा देने वाले डॉ. बाबूलाल मीना एवं उनकी धर्मपत्नी डॉ. आशा जी की भी मैं कृतज्ञ हूँ।

अन्त में उत्तम टंकणकार्य के लिये शबनम खान (परम कम्प्यूटर, कोटा) धन्यवाद की पात्र हैं। जिसने इस संपूर्ण शोधकार्य में मुझे यथासंभव सहायता प्रदान की। इस शोधग्रंथ को पूर्ण करने में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सहयोग करने वाले सभी का मैं हृदय से आभार प्रकट करती हूँ।

इस शोधकार्य की पूर्णता में निश्चय ही मुझसे त्रुटियाँ हुयी होंगी अतः विद्वत्जन मुझे क्षमा कर स्नेहाशीर्वाद प्रदान करेंगे, इसी आकांक्षा के साथ।

शोधार्थिनी

मेघा शर्मा

विषयानुक्रमणिका

	पृष्ठ संख्या
शोध-सार	i - iii
प्राक्कथन	iv - viii
प्रथम अध्याय : प्राचीनतम संस्कृत साहित्य में स्त्री पात्रों का सर्वेक्षण	1 - 53
(क) वेद, उपनिषदों तथा पुराणों का महत्त्व	
(ख) वेद-वर्णित प्रमुख स्त्री पात्रों का चारित्रिक विश्लेषण	
(ग) उपनिषद्-वर्णित प्रमुख स्त्री पात्रों का चारित्रिक विश्लेषण	
(घ) पुराण-वर्णित प्रमुख स्त्रीपात्रों का चारित्रिक विश्लेषण	
द्वितीय अध्याय : काव्यशास्त्रीय परम्परा में नायिका अथवा स्त्री पात्रों की अवधारणा	54 - 101
(क) प्राचीन नाट्यशास्त्रीय/काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में स्त्री पात्रों की अवधारणा	
(ख) आधुनिक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में स्त्री पात्रों की अवधारणा	
तृतीय अध्याय : महाभारत का महत्त्व	102 – 135
चतुर्थ अध्याय : अवान्तर कथाओं में आये स्त्री पात्रों का संक्षिप्त सर्वेक्षण	136 - 234
पंचम अध्याय : महाभारत में कुरुवंशीय कुन्ती, गान्धारी के पूर्ववर्ती स्त्री पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का अध्ययन तथा पर्यालोचन	235 - 258
षष्ठ अध्याय : गान्धारी, माद्री और कुन्ती की चारित्रिक विशेषताओं का अध्ययन तथा पर्यालोचन	259 - 319

सप्तम अध्याय : द्रौपदी की चारित्रिक विशेषताओं का अध्ययन तथा पर्यालोचन 320 - 370

अष्टम अध्याय : द्रौपदी के परवर्ती प्रमुख स्त्री पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का अध्ययन तथा पर्यालोचन 371 - 402

नवम अध्याय : प्राचीनकालीन स्त्री पात्र तथा आधुनिक स्त्री की अवधारणा-तुलनात्मक दृष्टिकोण 403 - 437

(क) स्त्री शिक्षा

(ख) दहेज प्रथा

(ग) नारी सुरक्षा

(घ) नारी स्वतंत्रता

(ङ) पति-पत्नी संबंध

(च) लिव-इन-रिलेशनशिप

उपसंहार 438 - 443

शोध सारांश 444 - 463

सन्दर्भग्रन्थानुक्रमणिका 464 - 471

प्रकाशित शोध-पत्र

1. महाभारते स्त्रीशिक्षा

2. महाभारत में द्रौपदी

प्रथम अध्याय

प्राचीनतम संस्कृत साहित्य में स्त्री पात्रों का सर्वेक्षण

(क) वेद, उपनिषदों तथा पुराणों का महत्त्व

(ख) वेद-वर्णित प्रमुख स्त्री पात्रों का चारित्रिक विश्लेषण

(ग) उपनिषद्-वर्णित प्रमुख स्त्री पात्रों का चारित्रिक विश्लेषण

(घ) पुराण-वर्णित प्रमुख स्त्रीपात्रों का चारित्रिक विश्लेषण

प्रथम अध्याय

प्राचीनतम संस्कृत साहित्य में स्त्री पात्रों का सर्वेक्षण

(क) वेद, उपनिषदों तथा पुराणों का महत्त्व

वेद प्राणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।
वेदो नारायणः साक्षात् स्वयंभूरिति शुश्रुम।।[1]

अर्थात् वेदों ने जिन कर्मों का विधान किया है, वे धर्म हैं और जिनका निषेध किया है, वे अधर्म हैं। वेद स्वयं भगवान् के स्वरूप हैं। वे उनके स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास एवं स्वयं प्रकाश ज्ञान है-ऐसा हमने सुना है। वेद विश्व का प्राचीनतम वाङ्मय है। भारत की सनातन मान्यताओं के अनुसार वेद अपौरुषेय हैं। शास्त्रों में सम्पूर्ण वेद का धर्म के मूलरूप में आख्यान किया गया है "वेदोऽखिलोधर्ममूलं"।[2] वेद मानवमात्र को मनुष्य बनने के लिये आज्ञा देते हैं। "हम सबके जीवन का लक्ष्य एक हो, हृदय और मन एक हो ताकि मिलकर जीवन में उस एक लक्ष्य को प्राप्त कर सकें" ऐसी प्रार्थना ऋग्वेद में की गई है-

समानी वः आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।[3]

मनुष्य धर्म का ऐसा उच्चतम आदर्श और ग्रहणीय स्वरूप अन्यत्र दुर्लभ है। वेद हमें संवेदना से परिपूर्ण हृदय से युक्त होने और मननशील मनुष्य बनने की ओर उत्प्रेरित करते हैं। वाचस्पति गैरोला ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि "हमारी सारी क्रियाओं का मूल वेद ही है।[4] हिन्दू धर्म में वेदों को ईश्वरीय आदेशों के रूप में शिरोधार्य माना गया है।[5] वेद हिन्दू जाति के प्राणसर्वस्व हैं। वेदों का प्रधान विषय यद्यपि ज्ञान, कर्म और उपासना का विवेचन करना है किन्तु हिन्दू जाति का विश्वकोश होने के नाते उनमें हिन्दू जाति के धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक और आध्यात्मिक उन्नति का विस्तृत विवेचन और साथ ही मानवजाति के विकास की क्रमबद्ध कथा भी वर्णित है।"[6] इसीलिये 'सर्वज्ञानमयो हि सः' कहकर मनु ने वेदों को सभी विद्याओं का स्रोत माना है।[7] वह

कहते है कि वेदशास्त्र के वास्तविक अर्थ को जानने वाला जिस किसी आश्रम में रहता हुआ इसी लोक में ब्रह्मभाव के लिये समर्थ होता है।[8] शतपथ ब्राह्मण में भी वेदों के अध्ययन की महत्ता का वर्णन किया गया है।[9] अतः आर्यसभ्यता और साहित्य पर वेदों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। वेदों में वर्णाश्रमधर्म, गार्हस्थ्य-सूत्र, जीवन-शुचिता, विवाह-संस्कार, आत्मगुणों का महत्त्व, आत्मोन्नति के उपाय, जीवन-मुक्ति के उपाय, पापकर्मों-पुण्यकर्मों का जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों, पारिवारिक सदस्यों के अन्तर्सम्बन्धों, तपोबल का सामर्थ्य, आचार शिक्षा तथा पारिवारिक और सामाजिक जीवन में स्त्रियों की भूमिका इत्यादि पर प्रकाश डाला गया है।

वेदों में निहित ज्ञान ही उपनिषदों में समुज्ज्वल रूप में प्रकट हुआ है। डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ में उपनिषदों के विषय में कहा है कि ''वेदों के पश्चात् आरण्यक ग्रन्थों में जो आध्यात्मिक जिज्ञासा, मनन, चिन्तन और स्वानुभूति की प्रक्रिया विकसित हुयी, उसी का सुव्यवस्थित एवं परिपक्व स्वरूप उपनिषदों में दृष्टिगोचर होता है।.....उपनिषदों की प्रमुख विशेषता यह है कि यह सर्वत्र विवादास्पद विषयों पर समन्वय प्रस्तुत करता है, जैसे- विद्या और अविद्या, संभूति और असंभूति, श्रेय और प्रेय, ज्ञान और कर्म, प्रवृत्ति और निवृत्ति, एकत्व और अनेकत्व, अद्वैत और द्वैत सिद्धान्तों में समन्वय प्रस्तुत करता है।''[10] प्रो. विन्टरनित्स ने उपनिषदों के महत्त्व के विषय में प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर के विचार विस्तार से उद्धृत किये हैं, जिसमें उन्होंने कहा था कि- ''It has been the solace of my life and will be the solace of my death.''[11]

उपनिषदों में ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन ही मुख्यतः किया गया है तथापि उसका महत्त्व कम नहीं है। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में ''मैं जब उपनिषद् पढ़ना आरम्भ करता हूँ तो मेरे आँसू बहने लगते हैं। उपनिषद् किसी जाति-मत-संप्रदाय का गुणगान नहीं करते, वे सभी पतितावस्था में समझने वाले से कह रहे हैं- 'उठो-जागो-समझो'। शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वाधीनता ही उपनिषदों का मूलमन्त्र है।''[12] भारतीय विद्वान् ही नहीं पाश्चात्य विद्वानों ने भी उपनिषदों का महत्त्व स्वीकार किया है।[13] महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि स्वानुभूति और ज्ञान की महिमा स्वीकार करने पर भी उपनिषदों ने जगत् को मिथ्या नहीं माना है और सुखमय एवं सफल जीवन के लिये आजीवन कर्म करने का उपदेश दिया है।[14]

अनादिकाल से वेदों की भाँति ही पुराण भी भारतीयों के जीवन-दर्शन के पथ प्रदर्शक रहे हैं। भारतीय समाज के सम्पूर्ण आचार-विचार-व्यवहार का यहाँ सांगोपांग विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। पुराणों के महत्त्व को बतलाते हुये वाचस्पति गैरोला ने अपने ग्रन्थ में कहा है कि ''धार्मिक साहित्य के निर्माण और अर्जन-वर्धन में पुराणों का प्रमुख हाथ रहा है। पुराण भारतीय आचारशास्त्र और दर्शनशास्त्र के विश्वकोश हैं। उनमें वे बीज बिखरे हुये हैं, जिनसे कालान्तर में भारतीय संस्कृति का विशाल वट-वृक्ष उगा और फला-फूला। पुराणों की संख्या अट्ठारह है, जिनमें केवल सात ही ऐसे हैं, जो ऐतिहासिक वृत्तान्तों को बताते हैं। पुराणों का प्रधान विषय सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरितों का प्रतिपादन करना है।''[15] ब्रह्माण्डपुराण में वर्णित है कि ''ब्रह्मा ने सर्वप्रथम पुराणों का स्मरण किया और बाद में वेदादि शास्त्रों का। इस पुराण में तो यहाँ तक कहा गया है कि सांगोपांग वेद का अध्ययन करने पर भी जो पुराणज्ञान से शून्य है, वह तत्त्वज्ञ नहीं कहा जा सकता क्योंकि वेद का वास्तविक स्वरूप पुराणों में ही दर्शित है।[16] छान्दोग्योपनिषद् में पुराणों को 'पंचम वेद तथा वेदों का वेद' कहा गया है। नारद पुराण में पुराण को 'सभी वेदों के अर्थों का सार' कहा गया है।[17] पुराणों में कथाओं के माध्यम से मनुष्यों को शिक्षा प्रदान की गयी है। जैसा कि भास्करानन्द लोहनी ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि 'पौराणिक कथानक का उद्देश्य था सांस्कृतिक चेतना, ईश्वर के प्रति आस्था, चारित्रिक उत्थान तथा स्वस्थ मनोरंजन।'[18] वी. राघवन् ने पुराण के सम्बन्ध में कहा है कि ''पुराण साहित्य, व्याकरण, ललित एवं उपयोगी कला, राजनीति, स्थापत्य सैन्यविज्ञान, औषधि, माणिक्य आदि से सम्बन्धित भारतीय ज्ञान का विश्वकोश है।''[19] अतः सभी दृष्टि से पुराण अत्यन्त लोकोपयोगी हैं। इनमें वर्णित हरिश्चन्द्र, राम-सीता, मदालसा, सावित्री, लोपामुद्रा, अरुन्धती, अनसूया, कृष्णकथा, विश्वामित्र, अगस्त्य, कौरव-पाण्डवों, चन्द्रवंशी-सूर्यवंशी राजाओं इत्यादि के जो उपाख्यान मिलते हैं, उनमें चरित्र की उत्कृष्टता का दर्शन कराना ही पुराणों का मुख्य भाव है ताकि सुनने वाले पर प्रभाव पड़े और वह अपना उन्नयन कर सके। इन्हें पढ़ने से मनुष्य में परस्पर प्रेम, कर्तव्यनिष्ठा, सत्यपालन, सौहार्द, विनम्रता, आर्जव इत्यादि भावों की अभिवृद्धि होती है।

वैदिक साहित्य प्रतीकात्मक होने से सामान्य व्यक्ति की अवधारणा से परे है। धर्म और संस्कृति के प्रसार के लिये सरल शैली का होना आवश्यक था। मेरा मत है कि स्वयं वेदव्यास भी इससे परिचित थे और इसीलिये उन्होंने वेद के गुह्य और रहस्यमय अभिप्रायों

को धर्म का आधार लेकर पुराणों को कथात्मक और मनोरंजक शैली में ही रखकर अवान्तर रूप से वेद की ही रक्षा की है।

(ख) वेद-वर्णित प्रमुख स्त्री पात्रों का चारित्रिक विश्लेषण

वैदिक समाज में स्त्रियों की सम्मानजनक स्थिति रही है। उन्होंने अपनी प्रखर बुद्धि और सात्त्विक प्रवृत्ति से ऋषिका पद को प्राप्त किया तथा देवता पद को भी प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने अपनी कत्र्तव्यनिष्ठा, संयम, समर्पण और तपोबल से आर्यसंस्कृति को गौरवान्वित किया है तथा संसार में अक्षुण्ण कीर्ति और सम्मान अर्जित किया है। संस्कृति के उन्नयन में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। ऐसी विदुषी स्त्रियों में अपाला, लोपामुद्रा, रोमशा, उर्वशी, शशीयसी, विश्ववारा, गोधा, घोषा इत्यादि का नाम उल्लेखनीय है। ऋग्वेद में वर्णित 'यमी' का चरित्र अपवाद है और त्याज्य भी है।

लोपामुद्रा

वैदिक साहित्य में जहाँ ऋषियों का गौरवपूर्ण स्थान रहा है वहीं ऋषिकाओं का भी कम गरिमापूर्ण स्थान नहीं रहा प्रत्युत् बढ़ा-चढ़ा ही रहा है। उसी का एक ज्वलंत उदाहरण है- 'ब्रह्मवादिनी लोपामुद्रा'। यह ऋषि अगस्त्य की पत्नी थी।[20] जिन्होंने अपने तप और ज्ञान के प्रभाव से आर्यजगत् में मन्त्रदर्शिका ऋषिका बनकर स्त्रियों के मस्तक को ऊँचा कर दिया। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के कुछ मन्त्रों का ऋषित्व इन्हें प्राप्त हुआ है। इन मन्त्रों में ऋषि दम्पती लोपामुद्रा एवं अगस्त्य के मध्य सुसंतति उत्पन्न करने की आवश्यकता एवं मर्यादाओं के विषय में संवाद वर्णित है। लोपामुद्रा कहती है ''हम विगत जीवन के अनेक वर्षों में उषाकाल सहित दिन-रात श्रमनिष्ठ (तपस्यारत) रहे हैं। वृद्धावस्था शरीरों की क्षमताओं को क्षीण कर देती है इसीलिये श्रेष्ठ सन्तान की प्राप्ति की दृष्टि से समर्थ पुरुष ही पत्नियों के समीप जायें। (यहाँ प्रकारान्तर से व्यसन के रूप में पत्नियों के समीप जाने का निषेध है) पूर्वकाल में जो सत्य की साधना में प्रवृत्त ऋषिस्तर के व्यक्ति हुये हैं, जो देवों के साथ (उनके समकक्ष) सत्य बोलते थे। उन्होंने भी उपयुक्त समय पर सन्तानोत्पादन का कार्य किया, अन्त तक ब्रह्मचर्य आश्रम में ही नहीं रहे। (श्रेष्ठ सन्तान की प्राप्ति की दृष्टि से) उन श्रेष्ठ-समर्थ पुरुषों को पत्नियाँ उपलब्ध करायी गयीं।'' यथोक्तम्-

पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषा वस्तोरुषसो जरयन्तीः।
मिनाति श्रियं जरिमा तनूनामप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः।।[21]
ये चिद्धि पूर्व ऋतसाप आसन्त्साकं देवेभिरवदन्नृतानि।
ते चिदवासुर्नह्यन्तमापुः समू नु पत्नीर्वृषभिर्जगम्युः।।[22]

तत्पश्चात् ऋषि अगस्त्य, लोपामुद्रा के विचारों से अपनी सहमति का भाव प्रकट करते हुये कहते हैं कि "हमारा अब तक का तप व्यर्थ नहीं गया है। देवता श्रेष्ठ प्रवृत्तियों के कारण हमारी रक्षा करते हैं, अतः हमने विश्व की (जीवन में आने वाली) सारी स्पर्धाएँ जीत ली हैं। हम दम्पती यदि अब उचित ढंग से सन्तान उत्पन्न करें, तो इस जीवन में सौ वर्षों तक संग्राम (जीवन की चुनौतियों) में विजयी होंगे।"[23] वह आगे लोपामुद्रा की प्रशंसा करते हुये कहते हैं-

नदस्य मा रुधतः काम आगन्नित आजातो अमुतः कुतश्चित्।
लोपामुद्रा वृषणं नी रिणाति धीरमधीरा धयति श्वसन्तम्।।[24]

अर्थात् लोपामुद्रा नदी के प्रवाह को सब ओर से रोक लेने वाले संयम से उत्पन्न शक्ति को सन्तानप्राप्ति की ओर प्रेरित करती है। यह भाव इस (शारीरिक स्वभाव) अथवा उस (कर्त्तव्यबुद्धि) या किसी अन्य कारण से और अधिक बढ़ता है। श्वास का संयम रखने वाले समर्थ धीर पुरुष अधीरता को नियन्त्रण में रखते हैं। ऋषियों ने परिपक्व शारीरिक एवं मानसिक स्थिति बन जाने पर ही दम्पती को आवश्यकतानुरूप सन्तति को जन्म देने का निर्देश दिया है।

उपर्युक्त संवाद लोपामुद्रा के तपोमय, संयमशील और मर्यादित जीवन की झाँकी प्रस्तुत करता है। यह उनके पारस्परिक प्रेमभाव तथा आदरणीय दृष्टि का सूचक है। बृहद्देवता में उल्लेख है कि "जब वह ऋतुस्नान से निवृत्त हो चुकी तब अपनी यशस्विनी पत्नी लोपामुद्रा से ऋषि अगस्त्य ने समागम की इच्छा से वार्ता आरम्भ की तब इन दोनों के मध्य हुये संवाद को इनके एक शिष्य ने अपने तपोबल से श्रवण कर लिया था"[25] और इस पापकर्म के लिये शिष्य ने इन दोनों से क्षमायाचना की थी तब लोपामुद्रा और ऋषि अगस्त्य ने उसकी प्रशंसा और आलिङ्गन करते हुये उसके मस्तक का चुम्बन किया और उसे क्षमा कर दिया। यथोक्तम्-

प्रशस्य तं परिष्वज्य गुरु मूर्ध्न्यवजध्रतुः।

स्मित्वैनमाहतुश्चोभाव् अनागा असि पुत्रक।।[26]

इससे लोपामुद्रा की विनम्रता तथा क्षमाशीलतारूपी गुणों का दर्शन होता है। मर्यादित जीवन का जो चित्रण यहाँ उल्लिखित हुआ है, वह वर्तमानकाल में भी उपादेय है। लोपामुद्रा के चरित्र से यह शिक्षा मिलती है कि हमें विनम्र और क्षमाशील रहते हुये इन्द्रियसंयमपूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहिये।

रोमशा

ब्रह्मवादिनी रोमशा का मन्त्रद्रष्टा ऋषिकाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान है।[27] ये ऋग्वेद में देवता के रूप में भी उल्लिखित हैं।[28] इन्होंने अपनी प्रज्ञा और तपोबल के सामर्थ्य से यह पद प्राप्त कर स्त्रियों के गौरव को प्रतिष्ठित किया है। ये बृहस्पति की पुत्री[29] तथा राजा स्वनय भावयव्य की पत्नी हैं।[30] जो पतिव्रता स्त्री की भाँति अपने पति का अनुगमन करती थीं।[31] राजा स्वनय भावयव्य स्वयं ही इनकी प्रशंसा करते हुये कहते हैं-

आगधिता परिगधिता या कशीकेव जंगहे।

ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता।[32]

अर्थात् ''मेरी सहधर्मिणी मेरे लिये अनेक ऐश्वर्य और भोग्य पदार्थ उपलब्ध कराती है। यह सदा साथ-साथ रहने वाली, गुणों को धारण करने वाली मेरी सहस्वामिनी है।'' राजा भावयव्य के रोमशा के प्रति कहे गये ये प्रशंसावचन ही रोमशा के चरित्र को व्याख्यायित कर रहे हैं तथा साथ ही पत्नी द्वारा किये गये कार्यों के प्रति सम्मानित दृष्टि के भी सूचक हैं। ऐतेरेय आरण्यक में कहा गया है कि ''पत्नी को प्राप्त करके ही मनुष्य पूर्ण होता है'' (पुरुषों जायां वित्त्वा कृत्स्नतरम् इवात्मानं मन्यते)। सायण भाष्य में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है- ''यस्मान्मेलनेन मिथुनत्वं प्रशस्तं तस्मात् लोकेऽपि पुरुषः ब्रह्मचारी विवाहेन 'जायां' लब्ध्वा अतिशयेन सम्पूर्णो जातीऽस्मि इत्येवं परितुष्यति।''[33]

बृहद्देवता में भी रोमशा के बारे में उल्लेख है कि जब इन्द्र अपने सखा स्वनय भावयव्य को देखने की इच्छा से उनके यहाँ आये तो इन्द्र ने रोमशा से मित्रभाव से कहा ''रोमाणि ते सन्ति न सन्ति राज्ञि'' अर्थात् 'हे रानी! तुम्हें रोम हैं अथवा नहीं हैं'।[34] तब उसने

बालसुलभ भाव से अपने पति को सम्बोधित करके कहा कि ''आप मेरे पास आकर बार-बार मेरा स्पर्श करें (प्रेरणा लें), मेरे कार्यों को अन्यथा न लें। जिस प्रकार गन्धार की भेड़ रोमों से भरी होती है उसी प्रकार मैं गुणों से युक्त-प्रौढ़ हूँ।''[35] उपर्युक्त वचनों से स्पष्ट है कि रोमशा एक विदुषी स्त्री, एक पतिव्रता पत्नी थी तथा स्वधर्म पालन में तत्पर थी।

शशीयसी

ये राजा तरन्त् की धर्मपत्नी थीं[36] जिन्होंने अपनी तपस्या के प्रभाव से देवत्व को प्राप्त किया तथा आर्यजाति की स्त्रियों के सम्मान में अभिवृद्धि की। ऋषि अर्चनानस् के पुत्र श्यावाश्व[37] ने इनकी स्तुति की थी जिससे प्रसन्न होकर शशीयसी ने उसे प्रचुर मात्रा में भेडें, बकरियाँ, गौएँ और अश्व प्रदान कर उसका मार्ग प्रशस्त किया (सनत्साश्व्यं पशुमुत गव्यं शतावयम्। श्यावाश्वस्तुताय या दोर्वीरायोपबर्बृहत्।।)[38] इससे प्रसन्न होकर श्यावाश्व ने सर्वदा प्रमुदित रहने वाली शशीयसी देवी के लिये प्रशंसायुक्त वचन कहे कि ''ये देवी प्रताडितों को जानती हैं, प्यासों को भी जानती हैं, धन की कामना वालों को जानती हैं और वे चिरन्तन देवपूजा में अपने चित्त को लगाती हैं। वे राजा तरन्त् के समान ही दानशीला हैं।'' यथोक्तम्-

वि या जानाति जसुरिं वि तृष्यन्तं वि कामिनम्।
देवत्रा कृणुते मनः।। स वैरदेय इत्समः।[39]

श्यावाश्व के इन वचनों से ज्ञात होता है कि ये सदैव प्रसन्नचित्त रहती थीं, याचकों को अभिलषित पदार्थ प्रदान कर पुण्य कर्म किया करती थीं। इनमें परोपकार की भावना विद्यमान थी। परोपकार के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुये कहा भी गया है-

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्।।[40]

विश्ववारा आत्रेयी

वैदिक ऋषिकाओं में अत्रिगोत्रोत्पपन्ना तपोबलसमन्विता विश्ववारा आत्रेयी का नाम प्रख्यात है। ऋग्वेद[41] और यजुर्वेद[42] के अनेक मन्त्र इन्हीं के द्वारा द्रष्ट हैं। मनुस्मृति में 'आत्रेयी' शब्द का अर्थ बताते हुये कहा गया है कि ''जन्म से लेकर मन्त्रपूर्वक संस्कारों से संस्कृत स्त्री या गर्भिणी को विद्वज्जन आत्रेयी कहते हैं।'' यथोक्तम् -

जन्मप्रभृतिसंस्कारैः संस्कृता मन्त्रवाचया।

गर्भिणी त्वथवा स्यात्तामात्रेयीं च विदुर्बुधाः।।[43]

इन्होंने अग्निदेव की स्तुति करते हुये उनसे दाम्पत्य सम्बन्ध को सुखी तथा सुनियमित करने तथा उनसे शत्रुता करने वालों की महिमा को च्युत करने की प्रार्थना की है। यथोक्तम् - सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि।[44]

इससे प्रतिपादित होता है कि दाम्पत्य जीवन का अत्यधिक महत्त्व है। आज भी विवाह के समय वर-वधू को यही आशीर्वाद प्रदान किया जाता है कि तुम्हारा दाम्पत्य जीवन सफल हो। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी उक्त कथन की पुष्टि की गयी है। वहाँ सप्तपदी के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुये कहा गया है कि ''पुरुष-स्त्री दोनों ही अपने सम्बन्धों का निर्वाह करें, दोनों में से कोई भी सम्बन्ध-विच्छेद न करे।''

यथोक्तम् - सप्तपदास्त्वया सह संचारवन्ति सप्तसंख्यकानि पदानि येषामस्माकं ते वयं तव सखायोऽभूम संपन्नास्ते त्वदीयं सख्यं गमेयं प्राप्नुयाम्। ते त्वदीयात्सख्यान्मा योषमहं पृथग्भूतो मा भूवम्। मे मदीयात्सख्यान्मा योष्टास्त्वमपि पृथग्भूतो मा भव।[45]

अपाला

वैदिक ग्रन्थों में ब्रह्मवादिनी अपाला की मंत्रद्रष्ट्री ऋषिका के रूप में प्रतिष्ठा है।[46] ये अत्रि मुनि की तपस्विनी कन्या थीं जो चर्मरोग से ग्रस्त थीं इस कारण इनके पति ने भी इनका त्याग कर दिया था। ये तपोबल से सभी के मनोभावों को जानने में समर्थ थीं।[47] इन्होंने पिता के घर रहते हुये ही अपनी स्तुतियों से इन्द्रदेव को प्रसन्न करके वरस्वरूप अपने पिता के मस्तिष्क, उर्वरा (भूमि/मनोभूमि) तथा स्वयं के उदरस्थल को विशेष प्रयोजनों के लिए श्रेष्ठ बनाने की प्रार्थना की थी। यथोक्तम्-

इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र वि रोहय।

शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे।।[48]

तत्पश्चात् इन्द्रदेव ने इनकी स्तुतियों से प्रसन्न होकर इनकी त्वचा को सूर्यदेव के तेज से युक्त बना दिया। यथोक्तम्-

खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो।
अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्व्यकृणोः सूर्यत्वचम्।।[49]

बृहद्देवता में उल्लेख है कि इन्द्र ने गाड़ी और जुएँ के बीच के छिद्र से उसे प्रक्षिप्त करते हुये इनकी त्वचा को तीन बार बाहर खींचा और उन्हें सुन्दर शरीर वाला बना दिया। तीन बार खींचने के कारण उसकी प्रथम अपहृत त्वचा शल्यक बन गयी किन्तु दूसरी गोधा (घड़ियाल) और अन्तिम कृकलास (नेवला) बन गयी। यथोक्तम्-

तस्यास्त्वगपहृता या पूर्वा सा शल्यकोऽभवत्।
उत्तरा त्वभवद्गोधा कृकलासस्त्वगुत्तमा।।[50]

उपर्युक्त कथनों से यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि अपाला के जीवन के कुछ वर्ष शारीरिक व्याधि के कारण कष्टप्रद रहे हैं तथापि धैर्यच्युत हुये बिना ये निरन्तर तपस्यारत रहीं तथा उन्होंने अपनी तपस्या की शक्ति से स्वयं के तथा पिता के भी उन्नत जीवन का मार्ग प्रशस्त किया।

यमी वैवस्वती

ऋग्वेद में इनका नाम ऋषिका और देवता दोनों रूपों में निर्दिष्ट है।[51] ये विवस्वान् तथा सरण्यू की पुत्री[52] तथा यम की सहोदरा बहिन हैं।[53] इन्हें अप् से उत्पन्न 'योषा' और 'गन्धर्व की संतान' भी कहा गया है।[54] ऋग्वेद के दशम मण्डल के सूक्त में यम और यमी का पारस्परिक संवाद वर्णित है जिसमें यमी, यम के संयोग से सन्तानोत्पत्ति की कामना व्यक्त करते हुये कहती हैं कि-

ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरु चिदर्णवं जगन्वान्।
पितुर्नपातमा दधीत वेध अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः।।[55]

अर्थात् "हे यमदेव! विशाल समुद्र के एकान्त प्रदेश में सख्य भाव या मित्र रूप से आपसे मैं मिलना चाहती हूँ। विधाता की इच्छा है कि नौका के समान संसार-सागर में तैरने के लिये, पिता के नाती सदृश श्रेष्ठ सन्तति-प्रजननार्थ हम परस्पर संगत हों।" किन्तु यम, यमी के प्रस्ताव से सहमत नहीं होते क्योंकि यमी उनकी सहोदरा बहिन है। तब यमी अपने इस कार्य के औचित्य को सिद्ध करने के प्रयत्नस्वरूप अनेक तर्क करती हैं। वह कहती हैं कि

''यद्यपि मनुष्यों में ऐसा संयोग त्याज्य है, तो भी देवशक्तियाँ इस प्रकार के संसर्ग की इच्छुक होती हैं। सर्वप्रेरक और सर्वव्यापी उत्पादनकत्र्ता त्वष्टा देव ने हमें गर्भ में ही दम्पति के रूप में सम्बद्ध किया है। हे यम! वह कैसा भाई, जिसके रहते बहिन अनाथ हो जाय? (उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित्त्यजसं मत्र्यस्य। गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः। किं भ्रातासद्यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्।)[56]

किन्तु यम उसके द्वारा प्रस्तुत किये गये तर्कों को निरस्त करके उसे मर्यादा-पालन के लिये प्रेरित करते हुये कहते हैं कि ''हे यमी! मैं शारीरिक सम्बन्धों की इच्छा नहीं करता, क्योंकि भ्राता और भगिनी का सम्बन्ध पवित्र है, आप मेरी आकांक्षा त्यागकर अन्य पुरुष के साथ ही प्रसन्नचित्त हों। भाई होने के नाते आपका निवेदन मुझे कदापि स्वीकार्य नहीं।'' यथोक्तम् -

न वा उ ते तन्वा तन्वं सं पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्।
अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत्।।[57]

उपर्युक्त संवाद से यह ज्ञात होता है कि भाई और बहिन का सम्बन्ध अत्यधिक पवित्र होता है तथा प्रत्येक परिस्थिति में इस सम्बन्ध की मर्यादा को बनाये रखना चाहिये। किसी परिस्थिति विशेष में स्त्री और पुरुष के मन में अनैतिक कार्यों को करने की इच्छा जाग्रत हो सकती है अतः मर्यादा के संरक्षण के लिये ही संभवतः मनुस्मृतिकार ने अपने ग्रन्थ में कहा है- माता स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।।[58]

अर्थात् पुरुष माता, बहिन तथा पुत्री के साथ कभी एकान्त में न रहे क्योंकि बलवान् इन्द्रिय समूह विद्वान् को भी अपने वश में कर लेता है। यम-यमी का ये संवाद अथर्ववेद में भी वर्णित है।[59]

घोषा

'घोषा' कक्षीवान् ऋषि की ब्रह्मवादिनी कन्या थी।[60] इन्होंने तपश्चर्या द्वारा ऋषिका पद को प्राप्त किया था। बृहद्देवता ग्रन्थ में 'घोषा' की कथा वर्णित है। इसमें बताया गया है कि घोषा किसी रोग से अपंग हो गयी थी। वह साठ वर्षों तक अपने पिता के गृह में रही तब

उसने सोचा कि बिना पति अथवा पुत्र के मैं व्यर्थ ही जरावस्था को प्राप्त हो गयी हूँ अतः ऐसा चिन्तन करके उसने पुनः रूप और सौभाग्य प्राप्त करने के लिए अश्विनीकुमारों से प्रार्थना की। यथोक्तम्-

आसीत्काक्षीवती घोषा पापरोगेण दुर्भगा। उवास षष्टि वर्षाणि पितुरेव गृहे पुरा।।
आतस्थे महतीं चिन्तां न पुत्रो न पतिर्मम। जरां प्राप्ता मुधातस्मात् प्रपद्येऽहं शुभस्पति।।
रूपवता च सौभाग्यम् अहं तस्य सुता यदि।[61]

'घोषा' अश्विनीकुमारों से कहती है कि ''जैसे पिता, पुत्र को मार्गदर्शन देते हैं, वैसे ही आप मुझे परामर्श दें। मेरा कोई सहायक बन्धु नहीं। मैं ज्ञान से रहित, परिवार व परिजनों से रहित तथा अल्पज्ञा हूँ। मेरे दुर्गतिग्रस्त होने से पूर्व ही आप दोनों मुझे इस दुर्दशा से निकालें। मैं, पत्नी से प्रेम करने वाले स्वस्थ-बलिष्ठ पतिगृह को सुशोभित करूँ तथा मेरे पतिगृह को ऐश्वर्य एवं संतान आदि से आप परिपूर्ण करें, पतिगृह-गमनमार्ग में यदि कोई दुष्ट, विघ्न उपस्थित करे तो उसका निवारण करें तथा हमारे पुत्र-पौत्र आदि संतानें सदैव सुख-सौभाग्य से युक्त हों।'' यथोक्तम्-

इयं वामह्वे शृणुतं मे अश्विना पुत्रायेव पितरा मह्यं शिक्षतम्।
अनापिरज्ञा असजात्यामतिः पुरा तस्या अभिशस्तेरव स्पृतम्।।[62]
प्रियोस्त्रियस्य वृषभस्य रेतिनो गृहं गमेमाश्विना तदुश्मसि।।
ता मन्दसाना मनुषो दुरोण आ धत्तं रयिं सहवीरं वचस्यवे।
कृतं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्थती स्थाणुं पथेष्ठामप दुर्मतिं हतम्।।[63]

उसकी स्तुतियों से प्रसन्न होकर अश्विनीकुमारों ने उसकी समस्त मनोकामनाएँ पूर्ण की।[64]

यहाँ घोषा का चरित्र एक ऐसी स्त्री के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित है जो शारीरिक रूप से अक्षम होते हुये भी अपने सौभाग्य की अभिवृद्धि के लिये प्रयत्नशील है, जिसे वह अपनी दृढ़ इच्छा शक्ति, उत्साह, समर्पण भाव, आशावादिता और प्रयासों की निरन्तरता से प्राप्त कर लेती है।

विश्पला

ऋग्वेद के दशम मण्डल में विश्पला नामक स्त्री का उल्लेख है जिसने युद्ध में भाग लिया था और उस समय इनका एक पैर कट गया था जिन्हें अश्विनीकुमारों ने लोहे की जंघा प्रत्यारोपित करके पुनः चलने के योग्य बनाया था। (युवं वन्दनमृश्यदादुदूपथुर्युवं सद्यो विश्पलामेतवे कृथः)।[65]

इससे ज्ञात होता है कि ये शस्त्र संचालन में दक्ष थीं तथा अत्यधिक धैर्य से युक्त, साहसी तथा बुद्धिमती स्त्री थीं। इन्हें अथर्व वंश में उत्पन्न धनदात्री स्त्री कहा गया है- याभिर्विश्पलां धनसामथव्र्यं.....।[66]

सूर्या सावित्री

ये सविता की पुत्री तथा अश्विनीकुमारों की पत्नी हैं।[67] ऋग्वेद के दशम मण्डल का 85वाँ सूक्त इन्हीं को समर्पित है जिसमें अश्विनीकुमारों के साथ इनके विवाह का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

मुद्गलानी

ये ऋषि मुद्गल की पतिव्रता, बुद्धिमती धर्मपत्नी थीं जिन्होंने संग्राम क्षेत्र में रथारूढ़ होकर (सारथी बनकर) अपने पति मुद्गल की सहायता करके शत्रुओं के अधिकार क्षेत्र से हजारों गौओं को मुक्त कराया था। यथोक्तम्-

उत्स्म वातो वहति वासो अस्या अधिरथं यदजयत्सहस्रम्।
रथीरभून्मुद्गलानी गविष्टौ भरे कृतं व्यचेदिन्द्रसेना।।[68]

इससे ज्ञात होता है कि ये रथसंचालन में कुशल थीं और पति को भी इन पर पूर्णविश्वास था। रामायण के अयोध्याकाण्ड में भी उल्लेख है कि कैकयी ने भी सारथी बनकर अपने घायल पति को रणभूमि से दूर ले जाकर उनकी रक्षा की थी। यथोक्तम् -

अपवाह्य त्वया देवि संग्रामान्नष्टचेतनः।
तत्रापि विक्षतः शस्त्रैः पतिस्ते रक्षितस्त्वया।।[69]

गोधा ऋषिका

ब्रह्मवादिनी गोधा भी तपोबलसमन्विता स्त्री हैं जो यज्ञसम्पादन के कार्यों में संलग्न रहते हुये, बिना किसी को हानि पहुँचाये धर्मयुक्त मर्यादित कर्मों का संपादन करती हैं। यथोक्तम्- नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि।

पक्षेभिरपिकक्षेभिरत्राभि सं रभामहे।।[70]

तैत्तिरीय संहिता में 'गोधा' शब्द पशुवाचक (नक्र या ग्राह) रूप में प्रयुक्त हुआ है।[71]

उर्वशी

वायुपुराण में उर्वशी को भगवान नारायण के उरु भाग से उत्पन्न तथा स्वर्ग की ग्यारहवीं अप्सरा कहा गया है। वहाँ उसे ब्रह्मवादिनी एवं योगाभ्यास में सर्वदा निरत रहने वाली बताया गया है। यथोक्तम् -

उरोः सर्वानवद्यांगी उर्वश्येकादशी स्मृता।
अनादिनिधनस्याथ जज्ञे नारायणस्य या।
सर्वाश्च ब्रह्मवादिन्यो महायोगाश्च ताः स्मृताः।।[72]

व्युत्पत्तिशास्त्र के अनुसार 'उर्वशी' का अर्थ अप्सरा, उर्वभ्यश्नुते (अत्यन्त व्यापक), उरुभ्यामश्नुते (जाँघों के द्वारा व्याप्त करती है), उरुर्वा वशोऽस्या (अत्यधिक सामर्थ्ययुक्ता) उल्लिखित है।[73] ऋग्वेद में ये ऋषिका और देवता दोनों रूपों में निर्दिष्ट हैं।[74] अपने नाम को सार्थक करती हुयी वह इलापुत्र पुरूरवा के हृदय को वश में किये हुये है। चार वर्षों तक साथ-साथ रहने के पश्चात् उर्वशी पुरूरवा को छोड़कर पुनः स्वर्ग चली जाती है।[75] उसके विरह में व्यथित होकर पुरूरवा विलाप करता है। उसके हृदय में सदा ही उसकी स्मृति बनी रहती है क्योंकि सुदृढ़ अनुराग को छोड़ना बहुत ही कठिन है। बार-बार याद करने से दुःख फिर से नया हो जाता है।[76] एक दिन अकस्मात् उर्वशी को देखकर वह उसके साथ पारस्परिक विचार-विमर्श द्वारा पुनः अपने गृह ले जाना चाहता है किंतु उर्वशी उसके प्रस्ताव को अस्वीकार कर देती है।[77] उर्वशी कहती है कि-

जज्ञिष इत्था गोपीथ्याय हि दधाथ तत्पुरुरवो म ओजः।
अशासं त्वा विदुषी सस्मिन्नहन्न म आशृणोः किमभुग्वदासि।।[78]

अर्थात् 'हे पुरूरवा! पृथ्वी के संरक्षण हेतु आपने पुत्र को जन्म दिया, मुझमें गर्भ की स्थापना की। इस बात से परिचित होकर मैंने बार-बार आपसे मर्यादापालन हेतु कहा था परन्तु आपने मेरे कथन पर ध्यान नहीं दिया। आपने पारस्परिक स्नेह को भंग किया है, अब शोक करने से कोई लाभ नहीं है।' विष्णुपुराण में वर्णित है कि मित्रावरूण के शाप से उर्वशी को मत्र्यलोक में आना पड़ा।[79] पुरूरवा को अपने योग्य जानकर उर्वशी ने तीन अनुबन्धों के साथ उसके समीप रहना स्वीकार किया था। उसने कहा कि ''मेरे पुत्ररूप इन दो मेषों को आप कभी मेरी शय्या से दूर नहीं करेंगे (शयनसमीपे ममोरणकद्वयं पुत्रभूतं नापेनयम्), मैं कभी आपको नग्न अवस्था में न देखूँ (भवांश्च मया न नग्नो द्रष्टव्यः) केवल घृत ही मेरा आहार होगा (घृतमात्रं च ममाहार इति)।[80] और एक दिन राजा पुरुरवा को नग्नावस्था में देखकर प्रतिज्ञा भंग हो जाने के कारण उर्वशी वहाँ से चली गई[81] किन्तु पुरूरवा उसी में आसक्त होकर उसके विरह से व्यथित होकर स्वयं को उसके बिना कुछ भी कर पाने में असमर्थ पाकर स्वयं की मृत्यु की कामना करता है।[82] वह उसे अपने लिये सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाली मानता है।[83] उसके वचनों को सुनकर उर्वशी पुरूरवा को धैर्य का आश्रय लेने, आसक्ति का त्याग करने तथा उसके कल्याण की कामना करते हुये उन्हें मृत्यु पर विजय प्राप्त करने, सम्पदा का यज्ञीय उपयोग करने और स्वर्ग में जाकर सुख तथा आनन्द प्राप्त करने के लिये कहती है। वह कहती है कि स्त्रियों की मैत्री और स्नेह स्थायी नहीं होते, स्त्रियों और वृकों के हृदय समान होते हैं। यथोक्तम् -

प्र तत्ते हिनवा यत्ते अस्मे परेह्यस्तं नहि मूर मापः।।
पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता।।
इति त्वा देवा इम आहुरैळ यथेमेतद्भवसि मृत्युबन्धुः।
प्रजा ते देवान्हविषा यजाति स्वर्ग उ त्वमपि मादयासे।।[84]

यहाँ उर्वशी भले ही पुरूरवा को त्यागकर चली जाती है किन्तु उसके वचनों में पुरूरवा के प्रति मंगलकामना ही व्यक्त होती है। ऋग्वेद में यह कथा पूर्ण रूप में नहीं है किन्तु विष्णु पुराण, मत्स्यपुराण[85], शतपथ ब्राह्मण[86] आदि में यह कथा विस्तृत रूप में प्राप्त होती है। ऋग्वेद में उर्वशी का पुरूरवा को त्यागने का कारण वर्णित नहीं है किन्तु उन दोनों की वार्ता से लोकोपयोगी यह तथ्य प्रकट होता है कि जीवन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, चाहे परिस्थिति

आपकी अपेक्षानुरूप हो अथवा न हो। मनुष्य का किसी भी पदार्थ या व्यक्ति के प्रति आसक्ति का भाव उसे अपने कत्र्तव्यमार्ग से च्युत करके नैराश्य और अवसाद में निमग्न कर देता है। उसकी अन्यमनस्कता तथा किंकर्त्तव्यविमूढता जीवन के कल्याण मार्ग को अवरूद्ध कर देती है। अतः प्रत्येक मनुष्य को आत्मगुणों का अवलम्बन कर जीवन को सार्थक बनाने का प्रयत्न करना चाहिये।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि वैदिककालीन स्त्रियों का चरित्र अत्यन्त प्रेरणास्पद और प्रभावोत्पादक है। ये सभी तपोबल से युक्त थीं और स्वधर्मपालनरता थीं। इसी प्रकार अन्य वैदिक स्त्रियाँ और ऋषिकाएँ भी हैं। यथा- ममता, शश्वती, इन्द्राणी, जुहू ब्रह्मजाया, अदिति, पौलोमी, श्रद्धाकामायनी इत्यादि जिन्होंने परिवार-समाज के कल्याण के लिये स्त्रियों को करणीय कर्म करने का उपदेश दिया है।

(ग) उपनिषदों में स्त्री-चरित्र

उपनिषदों में स्त्री-रूप में उमा, गार्गी, मैत्रेयी और कात्यायनी यहाँ दिखलाई देती हैं।

उमा हेमवती

केनोपनिषद् के तृतीय खण्ड में यह कथा मिलती है। यहाँ उमा दैवीय शक्ति के रूप में दिखाई देती है। वह प्रेरक शक्ति बनकर अग्नि, वायु, इन्द्रादि समस्त देवताओं को ब्रह्म की महिमा का प्रतिपादन करते हुए कहती है कि तुम सभी देवताओं ने राक्षसों पर जो विजय प्राप्त की है, वह सब उन ब्रह्म की शक्ति का परिणाम था, तुम तो निमित्त मात्र थे। तुमने अहंकारवश ब्रह्म की इस विजय को अपनी विजय मानकर मिथ्या अभिमान किया अतः तुम्हें सत्य का ज्ञान कराने के लिए उन्होंने मुझे प्रेरित किया है। यथोक्तम् -

"सा ब्रह्मेति होवाच ह किल ब्रह्मणो वै ईश्वरस्यैव विजये ईश्वरेणैव जिता असुराः; यूयं तत्र निमित्तमात्रम्; तस्यैव विजये यूयं महीयध्वं महिमानं प्राप्नुथ। मिथ्याभिमानस्तु युष्माकमस्माकमेवायं विजयो.....।"[88]

यहाँ यह महत्त्वपूर्ण है कि ईश्वरीय शक्ति का वर्णन करने वाली भी एक स्त्री शक्ति ही थी।

गार्गी

गार्गी ऋषि वचक्नु की पुत्री थी। राजा जनक के महान् यज्ञ के आयोजन पर याज्ञवल्क्य से गार्गी ने ब्रह्मतत्त्वसम्बन्धी प्रश्न पूछे। गार्गी ने प्रश्न किया 'यह जो कुछ है, सब जल में ओतप्रोत है; किन्तु वह जल किसमें ओतप्रोत है? इससे प्रारंभ करते हुये अन्तिम प्रश्न पूछती है 'ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत है? तब याज्ञवल्क्य कहते है कि हे गार्गी! अतिप्रश्न मत कर। तब वचक्नु की पुत्री गार्गी उपरत हो गयी। यथोक्तम्-

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ.....गार्गिमातिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम।[89]

परंतु कुछ समय पश्चात् गार्गी ने ब्राह्मणों से आज्ञा लेकर ब्रह्मसम्बन्धी दो प्रश्न याज्ञवल्क्य से और पूछे।[90] तब याज्ञवल्क्य ने इन प्रश्नों का उत्तर देकर गार्गी को सन्तुष्ट किया। इस प्रकार गार्गी प्रश्न पूछकर और याज्ञवल्क्य उत्तर देकर विरत हो गये।[91] तब गार्गी ने उन पूज्य ब्राह्मणगणों से कहा कि ''आप में से कोई भी कभी इन्हें ब्रह्मविषयक वाद में जीतने वाला नहीं है'' (.....न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोघं जेतेति.....)[92]

गार्गी के ये वचन न केवल ब्रह्मतत्त्वविषयक उसकी जिज्ञासा को प्रकट करते हैं अपितु उसके तर्कशील होने, उसके वैदुष्य और उत्कटकोटि के ज्ञान के निदर्शक भी है। यह सम्पूर्ण वृत्तान्त स्त्री के अलंकाररूप उसकी वाणी की विनम्रता एवं संयमित और मर्यादित आचरण को प्रकाशित करता हैं।

मैत्रेयी

'मैत्रेयी' याज्ञवल्क्य ऋषि की पत्नी थी। एक दिन याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी 'मैत्रेयी' को सम्बोधित करके कहा ''मैं इस स्थान से अन्यत्र सब कुछ त्यागकर जाने वाला हूँ। इसलिये इस कात्यायनी के साथ तेरा (सम्पत्ति का) बँटवारा कर दूँ।[93] तब मैत्रेयी ने कहा, ''भगवन्! यदि धन से सम्पन्न सारी पृथिवी मेरी हो जाय तो क्या मैं उससे अमर हो सकती हूँ अथवा नहीं।'' यथोक्तम्- सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् स्यां न्वहं तेनामृताऽहो.....।[94]

तब याज्ञवल्क्य ने कहा, 'नहीं' तो मैत्रेयी ने कहा, ''जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी? श्रीमान्! जो कुछ अमृतत्व का साधन जानते हों, वही मुझे बतलावें।'' (सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहीति)[95] यह सुनकर याज्ञवल्क्य को बहुत प्रसन्नता हुयी और याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को दुर्लभ ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया।96 मैत्रेयी के ये कथन उसकी ब्रह्मविषयक जिज्ञासा को प्रकट करते है। वह न केवल पतिव्रता स्त्री है अपितु उसमें आत्मकल्याण की उदात्त भावना भी विद्यमान है और वह धैर्य, संयम, विनम्रता और निर्लोभ जैसे उदात्त गुणों से भी मण्डित है।

कात्यायनी

'कात्यायनी', महर्षि याज्ञवल्क्य की द्वितीय पत्नी थी। वह एक पतिव्रता पत्नी थी किन्तु आत्मविषयक ज्ञान के सम्बन्ध में उसकी जिज्ञासा शून्य थी अतः उसे 'स्त्रीप्रज्ञा' कहकर सम्बोधित किया गया है (स्त्रीप्रज्ञेव तर्हि कात्यायन्यथः.....)।[97] उपनिषद् में इनके विषय में अधिक उल्लेख नहीं मिलता किन्तु स्कन्दपुराण में इनका वर्णन मिलता है जिसमें वर्णित है कि कात्यायनी और मैत्रेयी दोनों ही सभी प्रकार के सद्गुणों से सम्पन्न थीं किन्तु याज्ञवल्क्य का मैत्रेयी के प्रति जैसा प्रेमभाव और सम्मान था वैसा कात्यायनी के प्रति नहीं था अतः कात्यायनी अत्यन्त दुःखी रहती थी। एक दिन उसने शाण्डिली नामक स्त्री को देखा जिसके पति उसे प्रेमपूर्ण दृष्टि से देख रहे थे।[98] तब कात्यायनी ने पतिव्रता शाण्डिली से कहा कि मुझे कोई ऐसा उपदेश दो जिससे स्त्रियों का पति सदैव उसके मुख को देखने वाला हो, कभी कटुवचनों द्वारा पत्नी का अपमान न करे, कभी किसी अन्य नारी का अपने चित्त से भी समागम न करे, जिस कारण पति द्वारा किये गये कार्यों से उत्पन्न दुःखों से तथा विशेषकर सपत्नी से उत्पन्न हुये क्लेशों से मैं अत्यन्त ही पीड़ित हूँ। यथोक्तम्-

वदकल्याणिमेकंचिदुपदेशंमहोदयम्। मुखप्रेक्षः सदाभर्तायेनस्त्रीणाम्प्रजायते। नापमानं-करोत्येवदुरुक्तवचनैः कश्चित्। नाभ्यासङ्गच्छतेनारींचित्तेनापिकथंचन्। अहम्भर्तुः कृतैदुखैरतीव-परिपीडिता। सपत्निजैर्विशेषणतस्मान्मेत्वं प्रकीर्तय।।[99]

शाण्डिली से प्रेरित होकर वह गौरी की उपासना करती है जिसके फलस्वरूप उसे भी अपने पति से मैत्रेयी के समान ही आदर और प्रेम प्राप्त हुआ तत्पश्चात् उसने कात्यायन नामक पुत्र को जन्म दिया।[100] इस वृत्तान्त से कात्यायनी का दुःख और उसका भय स्पष्ट ही

प्रतीत हो रहे हैं जो स्वाभाविक भी है क्योंकि प्रत्येक पत्नी अपने पति से प्रेम और सम्मान की इच्छा रखती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर 'उमा' है जो शक्तिस्वरूपा है तथा इन्द्रादि देवताओं को ब्रह्म की महिमा समझाती है। दूसरी ओर गार्गी है जो अविवाहित, ब्रह्मज्ञान से सम्पन्न तथापि याज्ञवल्क्य से ब्रह्मविषयक प्रश्न पूछती है तथा तीसरी तरफ मैत्रेयी है जो ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर अपने कल्याण की इच्छुक है।

ये सभी किसी न किसी रूप में ब्रह्मज्ञान की महत्ता को ही प्रतिपादित करती हैं। अतः स्पष्ट है कि ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन करना ही उपनिषदों का एकमात्र लक्ष्य रहा है। तथापि उपनिषदों में वर्णित स्त्री पात्रों का महत्त्व कम नहीं है।

(घ) पुराण-वर्णित प्रमुख स्त्री पात्रों का चारित्रिक विश्लेषण

पुराणों में स्त्रियों के स्वरूप, उनकी पारिवारिक और सामाजिक जीवन में भूमिका तथा उनके चारित्रिक गुणों का उल्लेख विस्तृत रूप में प्राप्त होता है। गार्हस्थ्य जीवन में पत्नी का महत्त्व और माता का गौरव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं। वेदों में जो इनका महत्त्व परिलक्षित होता है वही पुराणों में भी देखने को मिलता है। रामधारी सिंह दिनकर अपने ग्रन्थ में नारी के गौरव को परिभाषित करते हुये लिखते हैं कि "वैदिक युग की इस शुभ परम्परा की अनुगूंज हमें पुराणों में सुनाई देती है- 'नरं नारी प्रोद्धरति मज्जन्तं भववारिधौ' अर्थात् समुद्र में डूबते हुये नर का उद्धार नारी करती है। 'यः सदारः स विश्वास्यः तस्माद् द्वारा परागति' अर्थात् जो सपत्नीक है, वही विश्वसनीय है अतएव पत्नी नर की परागति होती है।"[101] पुराणों में कई ऐसे आख्यान-उपाख्यान हैं जिनमें नारी की पातिव्रत्य शक्ति, त्याग, तपस्या, कर्त्तव्यनिष्ठा, सेवाभावना, मातृत्वशक्ति इत्यादि गुणों को उजागर किया है। उनमें मदालसा, सावित्री, पद्मावती, पद्मा, कन्दली, सुकला, सुमना, देवहूति, अनसूया, शैव्या इत्यादि कथाएँ प्रमुख है।

प्रातिथेयी

ये ब्रह्मवादिनी लोपामुद्रा की बहिन तथा महर्षि दधीचि की महाप्राज्ञा और कुलीना पतिव्रता पत्नी थीं जो सदैव देवताओं की पूजा-अर्चना करने में तथा तपस्या में रत रहती

थीं।[102] इनका द्वितीय नाम सुवर्चा भी है[103] और ये वडवा तथा गभस्तिनी के नाम से भी जानी जाती हैं।[104] महर्षि दधीचि का अपनी पत्नी के प्रति अत्यधिक प्रेम था और उनकी पत्नी भी सदैव पति के हित चिन्तन में लगी रहती थी।[105] इसीलिये जब एक दिन उन्होंने देखा कि महर्षि ने देवताओं के कहने पर उनके अस्त्रों को सुरक्षार्थ अपने यहाँ धरोहर रूप में रख लिया है तो उनके इस कार्य को लेकर गभस्तिनी के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ।[106] देवताओं का यह कार्य उन्हें अनुचित प्रतीत हुआ। कहा भी गया है कि ''सन्देहास्पद वस्तुओं के विषय में सज्जनों के अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ ही प्रमाण होती हैं'' (सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः)।[107] उन्होंने अपने पति को सावचेत करते हुये कहा कि ''देवकार्य करने से देवताओं के शत्रु आपसे द्वेष करेंगे और यदि ये अस्त्र नष्ट हो गये या चुरा लिये गये तो देवता क्रोधित हो जायेंगे, आपके शत्रु बन जायेंगे। आप जैसे वेदवेत्ताओं में वरिष्ठ मुनीश्वर के लिये पराये द्रव्य में ममत्व रखना उचित नहीं है। यदि धन देने की शक्ति हो तो याचक को देना ही चाहिये, उसमें कुछ विचार करने की आवश्यकता नहीं है। यदि धन देने की शक्ति न हो तो साधु पुरुष केवल मन, वाणी तथा शारीरिक क्रियाओं द्वारा दूसरों का कार्य-साधन करते हैं। इस कार्य को करने का विचार शीघ्र ही त्याग दें।'' यथोक्तम्-

देवद्विषो द्वेषमनुप्रयान्ति दत्ते स्थाने विप्रवर्य श्रृणुश्व।।
नष्टे हृते चाऽऽयुधानां मुनीश कुप्यन्ति देवा रिपवस्ते भवन्ति।।
तस्मान्नेदं वेदविदां वरिष्ठ युक्तं द्रव्ये परकीये ममत्वम्।
चेदस्ति शक्तिर्द्रव्यदाने ततस्ते दातव्यमेवार्थिने किं विचार्यम्।।
नो चेत्सन्तः परकार्याणि कुर्युर्वाग्भिमनोभिः कृतिभिस्तथैव।।
पर स्वसंधारमेतदेव सद्भिनिरस्तं त्यज कान्त सद्यः।।[108]

किन्तु महर्षि ने कहा कि पूर्व में स्वीकार किये गये देवकार्य को अब अस्वीकार करके मुझे सुख नहीं मिलेगा तो दैव को मानने वाली वह यह विचार करके शांत हो गयी कि दैव के आगे मनुष्य का सामथ्र्य नहीं है।[109] 'स्वप्नवासवदत्तम्' में भी कहा गया है कि ''भाग्य का उल्लंघन नहीं किया जा सकता'' (अनतिक्रमणीयो हि विधिः)।[110] अस्त्रों की सुरक्षा करते हुये उन्हें सहस्रों वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन जब देवता अस्त्रों को लेने के लिये दधीचि के आश्रम पर पहुँचे तो दधीचि मुनि ने कहा कि "दीर्घ समय से आपके यहाँ न आने के कारण शत्रुओं के भय से मैंने अस्त्रों की रक्षा के निमित्त उनका पान कर लिया है और अब मेरे

शरीर की अस्थियों से ही पुनः उनका निर्माण हो सकेगा।"[111] अतः महर्षि ने देवकार्य के लिये अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया।[112] उस समय उनकी प्रिय गर्भवती पत्नी जल लाने के लिये बाहर गयी हुयी थी। पुनः आश्रम लौटने पर, वहाँ अपने पति को न पाकर वह अग्निदेव से पूछती हैं। तब अग्निदेव उन्हें सब सत्य बताते हैं।[113] पति की मृत्यु से दुःखी गभस्तिनी देवताओं को शाप देने में स्वयं को असमर्थ जानकर अग्नि में प्रवेश करने का विचार करती है। वह कहती है कि-

उत्पद्यते यत्तु विनाशि सर्वं न शोच्यमस्तीति मनुष्यलोके।।
गोविप्रदेवार्थमिह त्यजन्ति प्राणान्प्रियान्पुण्यभाजो मनुष्याः।।**[114]**

अर्थात् मनुष्यलोक में जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह सब नश्वर है अतः शोक करने योग्य नहीं है। मनुष्यों में वे ही पुण्य के भागी होते हैं जो गौ, ब्राह्मण तथा देवताओं के लिये अपने प्रिय प्राणों का उत्सर्ग कर देते हैं।'' वह आश्रम में स्थित वनस्पतियों, औषधियों तथा गंगा को प्रणाम कर, अपने उदरस्थ शिशु को बाहर निकालकर उन्हें ही सौंप देती है।[115] तत्पश्चात् अग्नि का यथावत् पूजन करके भर्तृचित्त-परायण होकर अग्नि में प्रवेश करती है तथा पति के साथ स्वर्गलोक को प्राप्त करती है (विवेशाग्निं प्रातिथेयी भत्रर्ा सह दिवं ययौ)।[116] हारीत स्मृति में कहा गया है कि ''जो स्त्री मन, वचन तथा शरीर से संयत रहती हुयी पति के विरुद्ध कोई कार्य नहीं करती है, वह अरुन्धती के समान ही पति लोक को प्राप्त करती है।'' यथोक्तम्-

पतिं या नातिचरति मनोवाक्कायकर्मभिः।
सा भर्तृलोकमाप्नोति यथैवारुन्धती तथा।।**[117]**

उसकी मृत्यु के समय आश्रम के सभी वृक्ष, मृग और पक्षी रुदन करने लगे क्योंकि इन सभी का दधीचि और प्रातिथेयी ने अपने पुत्रों की भाँति पालन-पोषण किया था।[118] मृत्यु का वरण करते समय पुत्राहित को ध्यान में रखकर कि कहीं अपने माता-पिता की मृत्यु का कारण जानकर तथा दुःखी हो क्रोधित होकर वह देवताओं से द्वेष करके अपना जीवन नष्ट न कर ले, प्रातिथेयी ने वनस्पतियों को पुत्र के निमित्त एक संदेश दिया कि ''जो दूसरों के द्रोह में लगे रहते हैं, वे स्वकल्याण को विस्मृत कर देते हैं तथा जो भ्रान्तचित्त होकर इधर-उधर भटकते हैं, वे नरक के गर्त में गिरते हैं।'' यथोक्तम् -

पराभिद्रोहनिरता विस्मृतात्महिता नराः।

इतस्ततो भ्रान्तचित्ताः पतन्ति नरकावटे।।[119]

यह सन्देश स्वयं ब्रह्मा पिप्पलाद को सुनाते हैं जो माता-पिता की मृत्यु का कारण जानकर देवताओं का वध करना चाहता है।[120]

उपर्युक्त विवरण से यह परिलक्षित होता है कि प्रातिथेयी एक तपोनिष्ठा, सत्यधर्मपरायणा, देवातिथिपरायणा, बुद्धिमती, दैव को मानने वाली, प्रकृतिकन्या तथा वात्सल्यपरिपूर्णा सती स्त्री थी। उसके लिये पत्नीधर्म ही सर्वोपरि था।

पतिव्रता ब्राह्मणी और अनसूया

मार्कण्डेय पुराण में पतिव्रता ब्राह्मणी की कथा मिलती है। इसके पति का नाम कौशिक था जो कुष्ठ रोग से ग्रस्त था।[121] जैसा कि शास्त्रों में वर्णित है कि ''पति के कोढ़ी, पतित, अंगहीन या रूग्ण होने पर भी पत्नी उससे द्वेष न करे क्योंकि पति ही देवता है (न भर्तारं द्विष्याद्यप्यष्ठीवलः स्यात्पतितो, गहीनो व्याधितोवा पतिर्हि देवता स्त्रीणाम्)[122] वह भी पति के प्रति अनन्यभक्तिपूर्वक उनकी सेवा में निरन्तर तत्पर रहते हुये सदैव मधुर सम्भाषण द्वारा उन्हें प्रसन्न रखने का प्रयत्न करती थी। वह उस पर अत्यधिक क्रोध करता था फिर भी वह देवताओं की भाँति अपने पति को पूजती थी।[123] जैसा कि कहा गया है ''पति के क्रुद्ध होने पर कुलवधुओं के लिये मौन धारण करना ही उत्तम साधन है'' (कुलस्त्रियो भर्तृजनस्य भत्र्स्ने, परं हि मौनं प्रवदन्ति साधनम्)।[124] वह भी उनके सभी कार्य जैसे- स्नान कराना, तेल लगाना, वस्त्र पहनाना, भोजन कराना इत्यादि स्वयं ही करती थी क्योंकि पतिसेवा को ही स्त्रियों का परमधर्म बताया गया है।[125] एक दिन उसके पति ने कामातुर होकर उससे स्वयं को एक वेश्या के गृह ले जाने के लिये कहा। पतिव्रता ब्राह्मणी ने भी पति का अभीष्ट साधन करने के लिये गमन में असमर्थ अपने पति को प्रसन्नतापूर्वक अपने कन्धे पर चढ़ा लिया और वेश्या के गृह की ओर प्रस्थान किया।[126] रात्रि का समय था, मार्ग में अन्धेरा होने के कारण कौशिक का पैर माण्डव्य ऋषि से स्पर्श हो गया, जो कि चोरी की आशंका से सैनिकों द्वारा राजमार्ग में खम्भे से बाँधे गये थे।[127] इससे कुपित होकर माण्डव्य ऋषि ने उसे 'सूर्योदय होने पर प्राणविहीन होने का शाप दे दिया' इस अत्यन्त दारुण शाप को सुनकर पतिव्रता ब्राह्मणी ने व्यथित होकर कहा कि 'अब सूर्य का उदय ही नहीं होगा' (प्रोवाच

व्यथिता सूर्यो नैवोदयमुपैष्यति)।[128] उस पतिव्रता के वचनों का मान रखते हुये सूर्य भी उदय नहीं हुआ। यह उसकी पतिभक्ति से अर्जित तपोबल का ही प्रभाव था। जब सूर्योदय नहीं हुआ तो सांसारिक क्रियाएँ और यज्ञानुष्ठान भी बंद हो गये। दस दिनों तक यही स्थिति बनी रही। इससे देवता चिन्तित होकर ब्रह्माजी के समीप गये और उनसे प्रेरणा पाकर तपस्विनी अनसूया के पास गये।[129] महर्षि अत्रि की पत्नी अनसूया एक पतिव्रता स्त्री थी जिन्होंने अपनी तपस्या, शीलाचार, संकल्पशक्ति और पतिसेवा से अलौकिक शक्ति को प्राप्त किया तथा उनके सारे विघ्न भी दूर हो गये थे।[130]

देवताओं की समस्या सुनकर सती अनसूया ने कहा कि पतिव्रताओं का महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं हो सकता लेकिन मैं उस सती को सम्मानित करके उससे क्षमा-दान कराऊँगी जिससे पुनः दिन और रात पूर्ववत् हों और उस साध्वी का पति भी नाश को न प्राप्त हो। यथोक्तम्-

पतिव्रतायाः माहात्म्यं न हीयेत कथन्त्विति।
सम्मान्य तस्मात् तां साध्वीमहःस्रक्ष्याम्यहंसुराः।।
यथा पुनरहोरात्र-संस्थानमुपजायते।
यथा च तस्याः स्वपतिर्न साध्व्या नाशमेष्यति।।**[131]**

ऐसा कहकर वह उस ब्राह्मणी के पास जाती है। वह ब्राह्मणी भी उनका सत्कार करके प्रसन्न होती है। वह इसे देवताओं द्वारा की गयी कृपादृष्टि समझती है।[132] अनसूया उसे साध्वी स्त्रियों के कत्र्तव्यों का ज्ञान कराती हुयी कहती है कि-

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न श्राद्धं नाप्युपोषितम्। भर्तृशुश्रूषयैवैतान् लोकानिष्टान् व्रजन्ति हि।।
तस्मात् साध्वि महाभागे पतिशुश्रूणं प्रति। त्वया मतिः सदा कार्या यतो भर्ता परागतिः।।**[133]**

अर्थात् स्त्रियों के लिये अलग यज्ञ, श्राद्ध या उपवास का विधान नहीं है। वे पति की सेवा से ही इन निष्ठ लोकों को प्राप्त कर लेती है। अतः महाभागे! तुम्हें सदा पतिसेवा में अपने मन को लगाना चाहिये क्योंकि स्त्रियों के लिये पति ही परमगति है। पति जो देवताओं, पितरों तथा अतिथियों की सत्कारपूर्वक पूजा करता है, उसके भी पुण्य का आधा भाग स्त्री अनन्यचित्त से पति की सेवा करने मात्र से प्राप्त कर लेती है।[134] ये वचन अनसूया के चरित्र को भी व्याख्यायित कर रहे हैं। तब अनसूया ने उसके पति को जीवित कर देने

का वचन दिया और उससे सूर्योदय होने देने की प्रार्थना की।[135] जैसे ही सूर्योदय हुआ वैसे ही ब्राह्मण प्राणहीन होकर पृथ्वी पर गिरने लगा तभी उसकी पत्नी ने उसे पकड़ लिया तब अनसूया ने वचनानुसार उसके पति को व्याधिमुक्त कर स्वस्थ शरीर तथा नवयौवन से सम्पन्न कर दिया और साथ ही यह आशीर्वाद दिया कि यह ब्राह्मण अपनी स्त्री के साथ सौ वर्षों तक जीवित रहे (ततो विप्रः समुत्तस्थौ व्याधिमुक्तः पुनर्युवा। प्राप्नोतु जीवितं भार्यासहायः शरदां शतम्)[136] इस तरह ब्राह्मणी ने पतिसेवा से इस लोक में उत्तम कीर्ति प्राप्त की। याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि- "पति के प्रिय तथा हित में संलग्न, शोभन आचार वाली तथा विजितेन्द्रिय स्त्री इस लोक में कीर्ति प्राप्त करती है तथा परलोक में उत्तमगति को प्राप्त करती है।" (पतिप्रियहिते युक्ता स्वाचारा विजितेन्द्रिया, सेह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमां गतिम्)।[137]

देवकार्य की सफलता पर देवताओं ने भी प्रसन्न होकर अनसूया से इच्छित वर मांगने को कहा[138] तब अनसूया ने कामना की कि "ब्रह्मा, विष्णु और शिव मुझे पुत्र रूप में प्राप्त हों और मैं अपने पति सहित योग को प्राप्त करूँ जो क्लेश से मुक्ति देने वाला हो।"[139]

कालान्तर में महर्षि अत्रि की परम साध्वी पत्नी अनसूया के गर्भ से ब्रह्मा, विष्णु और शिव के अंशभूत क्रमशः चन्द्रमा, दत्तात्रेय और दुर्वासा रूप में तीन पुत्र उत्पन्न हुये। यथोक्तम्-

सोमो ब्रह्माभवद्विष्णुर्दत्तात्रेयोऽभ्यजायत।

दुर्वासाः शंकरो जज्ञे वरदानाद्दिवौकसाम्।।[140]

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि पतिव्रता ब्राह्मणी शैब्या और अनसूया का चरित्र अत्यन्त प्रभावोत्पादक और गौरवशाली है। उनकी पतिभक्ति अद्वितीय है तथा आर्यनारियों के लिये प्रेरणादायी है। उनका चरित्र पति सेवा-माहात्म्य को दर्शाता है।

शैव्या

'शैव्या' राजा हरिश्चन्द्र की सत्यशीलगुणान्विता पतिव्रता पत्नी थी। यह सदैव अपने पति की ही भाँति स्वधर्मपालन में तत्पर रहती थी और उनके हितचिन्तन में लगी रहती थी। एक समय हरिश्चन्द्र ने अपनी सारी सम्पत्ति विश्वामित्र को दान कर दी थी और वे अपनी पत्नी और पुत्र सहित काशी चले गये थे।[142] किन्तु अभी-भी उन्हें राजसूय यज्ञ की

दक्षिणा देना शेष था अतः विश्वामित्र को दक्षिणा देने के लिये उपायों पर विचार करते हुये जब वे निराश हो गये तो उन्हें चिन्तित देखकर सती, साध्वी शैव्या धैर्य बँधाते हुये कहती है कि- ''हे राजन्! चिन्ता छोड़िये, अपने सत्य की रक्षा कीजिये। जो मनुष्य सत्य से विचलित होता है, वह श्मशान की भाँति त्याग देने योग्य है। जिसका वचन असत्य हो जाता है, उसके अग्निहोत्र, स्वाध्याय तथा दान आदि सम्पूर्ण क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं।'' यथोक्तम्-

त्यज चिन्तां महाराज स्वधर्ममनुपालय। प्रेतवद्वर्जनीयो हि नरः सत्यबहिष्कृतः।।
अग्निहोत्रमधीतं च दानाद्याः सकलाः क्रियाः। भवन्ति तस्य वैफल्यं वाक्यं यस्यानृतं भवेत्।।[143]

ऐसे अनेक वचनों से वह अपने पति को समझाने का प्रयत्न करती है। उनकी पत्नी उन्हें चिन्तित देखकर तथा अपने पति के वचनों को सत्य सिद्ध करने के लिये सर्वस्व समर्पण करने का निश्चय करके कहती है कि-

राजन्माभूदसत्यं ते पुंसां पुत्रफलाः स्त्रियः।
तन्मां प्रदाय वित्तेन देहि विप्राय दक्षिणाम्।।[144]

अर्थात् ''हे राजन्! आपकी वाणी असत्य नहीं होनी चाहिये। पुरुषों के स्त्रीसंग्रह का फल पुत्र है। अतः मुझे देकर ब्राह्मण की दक्षिणा दे दीजिये।'' शैव्या के ये वचन एक स्त्री के त्याग का अनुपम उदाहरण हैं। उस वचन को सुनकर हरिश्चन्द्र मूर्च्छित हो जाते हैं। पुनः चेतना आने पर वे दुःखी होकर विलाप करते हैं तथा इस कार्य के लिये तैयार नहीं होते।[145] फिर विश्वामित्र पुनः अपनी दक्षिणा मांगने के लिये वहाँ आते हैं। उनकी प्रिय पत्नी उन्हें पुनः समझाती है कि ''काल ही सम और विषम परिस्थिति उत्पन्न करने वाला है, वही परिभव, सम्मान देने वाला है। काल ही मनुष्य को दाता और याचक बना देता है। आप मुझे जुएँ, मद्य, राज्य और भोग हेतु नहीं बेच रहे हैं। गुरू की दक्षिणा के लिए मुझे देकर अपने सत्यव्रतरूपी धर्म को सफल बनाइये।'' यथोक्तम्-

कालः समविषमकरः परिभवसम्मानमानदः कालः।
कालः करोति पुरुषं दातारं याचितारं च।।
न द्यूतहेतोर्न च मद्यहेतोर्न राज्यहेतोर्न च भोगहेतोः।
ददस्व गुर्वर्थमतो मया त्वं सत्यव्रतं त्वं सफलं कुरुष्व।।[146]

न चाहते हुये भी हरिश्चन्द्र ने अपनी पत्नी के वचनों को मानकर उसे एक वृद्ध ब्राह्मण को बेच दिया।[147] वह अपने कर्त्तव्यपालन के प्रति दृढ़व्रती थी इसीलिये उसने अपने पति और पुत्र से भी दूर रहना स्वीकार किया किन्तु उसका हृदय वात्सल्य से परिपूर्ण था। इसीलिये जब वह जाने को उद्यत हुयी तो रोहिताश्व ने उसका वस्त्र पकड़ लिया तब उसके हृदय में छिपी करुणा और वेदना, दोनों एक साथ प्रकट होकर उसे यह कहने के लिये विवश कर देती है कि ''पुत्र! आज मैं तेरी माता दासी बन गयी। राजपुत्र! अब तू मेरा स्पर्श मत कर। मैं तेरे स्पर्श करने योग्य नहीं रही।'' (पश्येह पुत्र मामेवं मातरं दास्यतां गताम्। मां मास्प्राक्षी राजपुत्र न स्पृश्याऽहं त्वयाऽधुना)[148] किन्तु उसका पुत्र उसका वस्त्र नहीं छोड़ता। वह 'माता, माता' कहकर रोने लगता है तब वह ब्राह्मण से प्रार्थना करके उसे भी अपने साथ ले जाने के लिए ब्राह्मण को मना लेती है।[149] जाने से पूर्व वह अपने पति को प्रणाम कर उनकी प्रदक्षिणा करती है तथा अश्रुपूर्ण नेत्रों से यह दीन वचन कहती है कि- "यदि मैंने दान दिया हो, यज्ञ किया हो तथा मेरे व्यवहार से ब्राह्मण तृप्त हुये हों तो उस पुण्य के प्रभाव से ये महाराज मुझे पुनः शीघ्र ही पतिरूप से प्राप्त हो जायें।" यथोक्तम्-

यदि दत्तं यदि हुतं ब्राह्मणास्तर्पिता यदि।

तेन पुण्येन मे भर्ता हरिश्चन्द्रोऽस्तु वै पुनः।।[150]

उसके इन वचनों में उसकी पतिभक्ति स्पष्ट दिखाई देती है। उस पतिव्रता शैव्या को ब्राह्मण के यहाँ सेवा करते हुये बारह माह व्यतीत हो गये[151] और एक दिन सर्पदंश से उसके पुत्र की भी मृत्यु हो गयी। वह बहुत विलाप करने लगी।[152] पति-वियोग का दुःख ही कम नहीं था और अब पुत्रवियोग का दुःख भी उसे सहन करना पड़ा। सत्य से अवगत होने पर भी उस ब्राह्मण ने सम्पूर्ण गृहकार्य की समाप्ति के पश्चात् ही उसे अपने पुत्र का अन्तिम संस्कार करने की स्वीकृति दी। वचनपालन में बँधी होने के कारण उसने सभी कार्य सम्पन्न किये और अपने ही पुत्र की अन्तिम क्रिया के लिये उसे रात्रि में श्मशान जाना पड़ा।[153] वहाँ विलाप करते समय नागरिकों ने उसे बालघातिनी समझकर उसे चाण्डाल के हाथ सौंप दिया।[154] स्त्रीवध को पापकृत्य मानकर वह (हरिश्चन्द्र) शैव्या का वध करने से मना कर देता है किन्तु अपने स्वामी चाण्डालरूपधारी विश्वामित्र के आदेशानुसार वह स्त्रीवध के लिये तैयार हो जाता है।[155] शैव्या के विलाप करने और उसके वचनों को सुनकर वह पहचान जाता है कि

वह उसकी पत्नी शैव्या है और मृत बालक उसका पुत्र है।[156] तत्पश्चात् दोनों ही एक-दूसरे से अपना दुःख व्यक्त करते है। एक-दूसरे को पहचानने के बाद भी शैव्या अपने पति से स्वयं का वध करने के लिये कहती है ताकि वे अपने सत्यव्रत से च्युत न हों। किन्तु विश्वामित्र उसकी बात नहीं मानते।[157] तथा अत्यधिक दुःख सहने के कारण जीवन जीने की इच्छा न होने से वे दोनों ही अपने पुत्र के साथ मृत्यु का वरण करने का निश्चय करते हैं।[158] यह देखकर सभी देवता और विश्वामित्र प्रकट होकर उन्हें ऐसा करने से रोकते हैं। उनकी त्याग भावना, तपस्या से प्रसन्न होकर उनके पुत्र रोहिताश्व को पुनः जीवित कर देते हैं[159] तथा देवताओं की इच्छानुसार हरिश्चन्द्र अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर अपनी पत्नी के साथ सशरीर स्वर्गलोक चले जाते हैं।[160]

इस सम्पूर्ण कथानक में शैव्या का त्याग, विनम्रता, कष्टसहिष्णुता, स्वधर्म के प्रति अक्षय अनुराग, पतिभक्ति और धैर्य प्रतिपग पर दृष्टिगोचर होता है। पतिभक्ति से ही उसे स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है। जैसा कि शंखस्मृति में कहा गया है-

"न व्रतेर्नोपवासैश्च धर्मेण विविधेन च।
नारी स्वर्गमवाप्नोति प्राप्नोति पतिपूजनात्।।"[161]

इसमें उसकी करुणा, वेदना, प्रेम, दैन्य आदि भाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। आत्मचिन्तन श्रेय है और सांसारिक वैभव प्रेय है। उसने प्रेय का विसर्जन कर श्रेय का अनुसरण किया है अतः उसका चरित्र स्त्रीजाति के लिये प्रेरणास्पद है।

देवहूति

प्रियव्रत तथा उत्तानपाद की भगिनी 'देवहूति' स्वायम्भुव मनु और महारानी शतरूपा की प्रिय दुहिता थी।[162] वह रमणियों में रत्न के समान अतिशय सौन्दर्य से युक्त तथा गृहस्थोचित कार्यों के संपादन में कुशल थी।[163] वह कर्दम मुनि को ही पति रूप में वरण करना चाहती थी। इसीलिये मनु ने कर्दम मुनि के समक्ष अपनी पुत्री देवहूति के विवाह का प्रस्ताव रखा।[164] कर्दम मुनि ने भी इस शर्त पर विवाह की स्वीकृति दी कि "इसके सन्तान होने तक ही मैं गृहस्थधर्मानुसार इसके साथ रहूँगा। उसके पश्चात् भगवान् के बताये हुये संन्यासप्रधान हिंसारहित शम-दमादि धर्मों को ही अधिक महत्त्व दूँगा।"[165]

इस सत्य को सहर्ष स्वीकार करने वाली देवहूति के साथ कर्दम मुनि ने ब्राह्म विधि से विवाह किया।[166] महारानी ने पतिगृह-गमन के समय अपनी पुत्री को बहुमूल्य आभूषण, वस्त्र और गृहस्थोचित पात्रादि दिये।[167] महाराज मनु भी पुत्री की विदाई के समय भाव-विह्वल हो गये और अश्रुपूरित नेत्रों से पिता ने उसे अपने हृदय से लगा लिया।[168] अपने पतिगृह पहुँचकर पति के अभिप्राय को समझ लेने में कुशल साध्वी देवहूति अपने पति की प्रतिदिन प्रेमपूर्वक सेवा करने लगी।[169] उसने काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, द्वेष - इन षट् रिपुओं का त्याग कर अत्यन्त सावधानी और लगन के साथ सेवा में तत्पर रहकर विश्वास, पवित्रता, गौरव, संयम, शुश्रूषा, प्रेम और मधुर भाषण से अपने परम तेजस्वी पतिदेव को प्रसन्न कर लिया। यथोक्तम्-

विश्रम्भेणात्मशौचेन गौरवेण दमेन च। शुश्रूषया सौहृदेन वाचा मधुरया च भोः।।
विसृज्य कामं दम्भं च द्वेषं लोभमघं मदम्। अप्रमत्तोद्यता नित्यं तेजीयांसमतोषयत्।।[170]

मनुस्मृति में कहा गया है-"स्त्री जैसे गुण वाले पति के साथ विधिवत् विवाहित होती है, वह समुद्र में मिली हुयी नदी के समान वैसे ही गुण वाली हो जाती है।" यथोक्तम् -

यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि। तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा।।[171]

उसकी सेवा से प्रसन्न होकर तथा उसकी अपने प्रति भक्ति देखकर मुनि ने उसे दिव्यदृष्टि और दिव्यभोग प्रदान किये जो उन्होंने कठोर तपस्या द्वारा अर्जित किये थे।[172] जानकीहरणम् में कहा गया है कि ''पति की प्रसन्नता से ही स्त्रियों की उन्नति होती है'' (पतिप्रसादोन्नतयो हि योषितः)।[173] पद्मपुराण में भी यही बात कही गयी है।[174] याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि ''जहाँ पति-पत्नी में परस्पर अनुकूलता रहती है वहाँ त्रिवर्ग की वृद्धि होती है'' (यत्रानुकूल्यं दंपत्योस्त्रिवर्गस्तत्र वर्धते)[175] कालान्तर में देवहूति ने नौ सर्वाङ्गसुन्दरी कन्याओं को और एक अतितेजस्वी पुत्र को जन्म दिया।[176] उस पुत्र का नाम था 'कपिल' जो भविष्य में सांख्यशास्त्र के आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हुये।[177] पुत्रियों के विवाह के पश्चात् ही कर्दममुनि अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार संन्यास आश्रम लेकर योगसाधना के लिये चले गये और उन्होंने परमपद प्राप्त किया लेकिन देवहूति अभी भी सांसारिक बन्धन में बँधी हुयी थी।[178] पुत्रियों का विवाह हो गया और पुत्र भी योगसाधना में ही लीन रहने लगा। ऐसे में वह स्वकल्याणार्थ चिन्तन करने लगी और उसे सांसारिक भोगों के प्रति अरुचि होने

लगी।[179] तब उसने अपने पुत्र कपिल से सांसारिक विषयों से मुक्ति का उपाय पूछा और आत्मज्ञान प्राप्त कर योगाभ्यास से स्वयं को समाधिस्थ कर परमपद को प्राप्त कर लिया। यथोक्तम्- एवं सा कपिलोक्तेन मार्गेणाचिरतः परम्।

आत्मानं ब्रह्म निर्वाणं भगवन्तमवाप ह।।[180]

देवहूति में त्याग, तपस्या, धैर्य, विनम्रता, कर्त्तव्यनिष्ठा, सत्यशील जैसे उदात्त गुण विद्यामान थे। उसे 'पतिमिंगितकोविदा'[181] कहकर उसकी परिपक्व बुद्धि को दर्शाया गया है। देवहूति के पावनचरित्र से एक पतिसेवापरायणा स्त्री की शक्ति का ज्ञान प्राप्त होता है।

पद्मा

मनुवंशीय राजा मंगलारण्य के जितेन्द्रिय पुत्र अनरण्य की पुत्री का नाम 'पद्मा' था।[182] वह लक्ष्मी के समान लावण्यमयी, सत्यशीलगुणयुक्ता कन्या थी।[183] सरोवर में स्नान के लिये जाते समय पिप्पलाद मुनि की दृष्टि उस पर गई। लक्ष्मी के समान उस मनोरम पद्मा को देखकर, उसके विषय में जानकर, कामनायुक्त होकर अनरण्य से उनकी कन्या को माँगा किन्तु उनकी जरावस्था को देखकर राजा ने स्वीकृति नहीं दी।[184] तब मुनि ने क्रोधित होकर कहा, ''राजन्! अपनी कन्या मुझे दीजिये अन्यथा मैं क्षणभर में सबको भस्म कर दूँगा'' (मुनिः पुनर्ययाचे तं कन्यां देहीति मे नृप। अथवा भस्मसात् सर्वं करिष्यामि क्षणेन च।।)[185] उनके शाप से भयभीत होकर न चाहते हुये भी उन्होंने सम्पदा की रक्षा के लिये अपनी पुत्री का विवाह पिप्पलाद मुनि से कर दिया।[186] पिता की आज्ञाकारिणी, सात्विक भावों से युक्त पद्मा भी अपने कुल की रक्षा के लिये सहर्ष राजसी वैभव का त्यागकर भक्तिभाव से पिप्पलाद मुनि के सेवाकार्य में संलग्न हो गयी। साध्वी पद्मा की समस्त क्रियाएँ पति की प्रसन्नता के लिये ही होती थीं। वह एकनिष्ठ हो उन्हीं का पूजन किया करती थी जैसे लक्ष्मी नारायण का करती थी। (अथानरण्यस्य कन्या सिषेवे भक्तितो मुनिम्, कर्मणा मनसा वाचा लक्ष्मीर्नारायणं यथा)।[187] स्कन्दपुराण में भी कहा गया है कि- ''पति ही देवता है, पति ही गुरु है और पति ही धर्म, तीर्थ एवं व्रत है। अतः स्त्री सब छोड़कर एकमात्र पति की ही पूजा करे।'' यथोक्तम्- भर्ता देवो गुरुर्भर्ता धर्मतीर्थव्रतानि च। तस्मात् सर्वं परित्यज्य पतिमेकं समर्चयेत्।।[188]

वह भी शास्त्रोक्त धर्म का पालन करते हुये अपने पति के साथ प्रसन्नतापूर्वक निवास करती थी। एक दिन स्नान के लिये जब वह नदी-तट पर गयी तो उसके मनोभावों को

जानने के लिये साक्षात् धर्म ने राजा का वेष धारण कर कामी पुरुष की भाँति उससे कतिपय वचन कहे।[189] पतिव्रता नारी महापुण्यवती होती है। वह अपने तेज से क्षणभर में त्रैलोक्य को भी भस्मसत् करने में समर्थ है।[190] उसकी पापपूर्ण बातें सुनकर सती पद्मा ने क्रोधित होकर कहा-

दूरं गच्छगच्छ दूरं पापिष्ठ भूमिपाधम। मां चेत्पश्यसि कामेन सद्यो भस्म भविष्यसि।।
पिप्पलादं मुनिश्रेष्ठं तपसा पूतविग्रहम्। विहाय त्वां भजिष्यामि स्त्रीजितं रतिलंपटम्।।
मां मातरं च स्त्रीभावं कृत्वा येन ब्रवीषि च। भविष्यति क्षयस्तेन कालेन मम शापतः।।[191]

अर्थात् ''ओ पापिष्ठ! दूर चला जा। यदि तू मेरी ओर कामदृष्टि से देखेगा तो तत्काल भस्म हो जायेगा। जिनका शरीर तपस्या से परमपवित्र हो गया है उन मुनिश्रेष्ठ पिप्पलाद को छोड़कर क्या मैं तुझ जैसे कामुक पुरुष की सेवा स्वीकार करूँगी? मैं तेरे लिये माता के समान हूँ तो भी भोग्या स्त्री का भाव लेकर मुझसे ऐसे वचन कह रहा है इसीलिये मैं शाप देती हूँ कि कालक्रम से तेरा क्षय हो जाये।'' सती पद्मा का शाप सुनकर धर्म अपने वास्तविक स्वरूप में आकर उससे क्षमायाचना करने लगे।[192] तब पद्मा कहती है कि ''आकाश, सम्पूर्ण दिशायें और वायु भी यदि नष्ट हो जायँ तो भी पतिव्रता का शाप कभी नष्ट नहीं हो सकता'' (आकाशोऽसौ दिशः सर्वा यदि नश्यन्ति वायवः, तथापि साध्वीशापस्तु न नश्यति कदाचन)।[193] तथापि सृष्टि में धर्मलोप न हो इस कारण से मैं यह वर देती हूँ कि ''सत्ययुग में आप सर्वव्यापी होंगे और उससे भिन्न युगों में भी कहीं-कहीं पूर्णरूप में विद्यमान रहेंगे। आपका निवास निन्दनीय स्थानों में नहीं रहेगा।''[194] पद्मा के वचन सुनकर धर्मदेवता प्रसन्न होकर उसे तथा उसके पति को स्थिर यौवन से सम्पन्न होने, उत्तम ऐश्वर्य से युक्त होने, पुत्रवती और सौभाग्यवती होने का वर प्रदान करते हैं।[195]

पद्मा के चरित्र में आज्ञाकारिता, धैर्य, सत्यनिष्ठा, पतिभक्ति, विनम्रता, संयमशीलता जैसे आदर्श गुण विद्यमान हैं जो स्त्रियों के गौरव में वृद्धि करते हैं अतः उसका चरित्र अत्यन्त प्रेरणादायी है।

कन्दली

'कन्दली' मुनिवर और्व की अतिशय रूप-यौवन सम्पन्ना, गुणान्विता कन्या थी। उसे जानु से उत्पन्न अयोनिजा कन्या बताया गया है किन्तु उसके चरित्र में एक न्यूनता भी थी

कि वह अत्यधिक कलहकारिणी और क्रोधपूर्वक कटुभाषण करने के स्वभाव वाली थी। (सर्वरूपगुणाधारा दोषेणैकेन संयुता। अतीवकलहाविष्टा कोपेन कटुभाषिणी।।)[196] वह ऋषि दुर्वासा को ही पतिरूप में वरण करने की अभिलाषी थी।[197] इसीलिये मुनि और्व ने दुर्वासा ऋषि को अभिलषित बताकर तथा कन्दली के गुणों और अवगुणों से उन्हें अवगत करवाकर अपनी कन्या समर्पित की।[198] दुर्वासा ऋषि ने भी कन्दली का प्रेमभाव जानकर तथा गृहस्थाश्रम का वरण करने की इच्छा से कन्दली के साथ विवाह का निश्चय किया। क्योंकि कहा गया है कि ''गृहवास सुख के लिये होता है और घर का सुख पत्नीमूलक होता है'' (गृहवासः सुखार्थाय पत्नीमूलं गृहे सुखम्)।[199] विवाह का निश्चय करके दुर्वासा ने मुनि और्व से यह बात कही कि ''मैं इसके सौ कटुवचनों को अवश्य क्षमा करुँगा और इससे अधिक होने पर इसका फल उसे दूँगा'' (किं त्वहं तव कन्यायाः कटूक्तिशतकं मुने। ध्रुवं क्षमां करिष्यामि दास्यामि च ततः फलम्।।)।[200] कन्दली ने उनका यह विचार जानकर भी प्रसन्नतापूर्वक उनके साथ विवाह किया। भारतीय संस्कृति में पुत्री की विदाई के समय पुत्री को कर्त्तव्य का उपदेश देने की परम्परा रही है[201] अतः पतिगृहगमन के समय मुनि और्व ने भी अपनी पुत्री को पति की सेवा करने तथा उपहास और क्रोध में भी कटुवचन न बोलने का हितकारी उपदेश प्रदान किया [202] किन्तु विवाह के पश्चात् भी अपने स्वभाव के अनुसार ही वह प्रतिदिन अपने पति के साथ कलह करती और उन्हें कटुवचन कहती थी (करोति कलहं नित्यं कन्दली स्वामिना सह)। [203] पिता का दिया हुआ ज्ञान और दुर्वासा के नीतियुक्त वचन भी उसे शान्त नहीं कर सके। एक दिन उसके वचनों से दग्ध होकर दुर्वासा ने उसे राख बन जाने का शाप दे दिया। फलस्वरूप वह तत्काल जलकर भस्म हो गयी (शशाप कामिनीं मोहाद्भस्मराशिर्भवेति च। मुनेरिंगितमात्रेण भस्मसात्सा बभूव ह।।) [204] जैसा कि दक्षस्मृति में कहा गया है-

अनुकूलकलत्रो यस्तस्य स्वर्ग इहैव हि।
प्रतिकूलकलत्रस्य नरको नात्र संशयः।।[205]

अर्थात् पत्नी के अनुकूल होने पर यहीं स्वर्ग है और पत्नी के प्रतिकूल होने पर यहीं नरक है, इसमें कोई संशय नहीं है। मनुस्मृति में कहा गया है ''मन, वचन, काय से संयत स्त्री इस स्त्रीव्यवहार (पति शुश्रूषा आदि) से इस लोक में उत्तम यश को और परलोक में पति के साथ स्वर्ग आदि शुभलोकों को प्राप्त करती है। यथोक्तम् –

अनेन नारीवृत्तेन मनोवाग्देहसंयता।

इहाग्न्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोके परत्र च।।[206]

कन्दली के एक अवगुण के कारण वे दोनों ही गृहस्थाश्रम के सुख से वंचित हो गये। इसी कारण दुर्वासा का जीवन भी नरक से कम नहीं था और कन्दली भी अपनी कटूक्तियों और कलह करने के कारण, उनकी प्रिय होने पर भी अपने पति के जीवन से सदा के लिये दूर हो गयी। उसके हृदय में अपने पति के लिये अनन्य प्रेम था इसीलिये शरीर के भस्म हो जाने पर भी उसके जीवात्मा ने दुर्वासा मुनि से ये वचन कहे कि ''हे नाथ! आप अपनी ज्ञान-दृष्टि से सबकुछ देखने में समर्थ हैं। उत्तम वचन, कटु वचन, क्रोध, मोह, लोभ, काम, संताप- ये सब शरीर के धर्म हैं, जीव और आत्मा के नहीं। त्रिगुणों से निर्मित यह शरीर कभी भी समगुणों वाला शरीर नहीं रहता अतः आप मेरा अपराध क्षमा करें और बतायें कि अब मुझे क्या करना है? मैं तीनों लोकों में आपके सिवा किसी की भार्या नहीं बनूँगी।'' ऐसे अनेक वचन कहकर जीवात्मा मौन हो गया।[207] कंदली के इन वचनों में उसका दुर्वासा के प्रति प्रेम, उनसे दूर जाने का दुःख, स्वयं पर नियंत्रण न रख पाने के लिये पश्चात्ताप तथा पुनर्मिलन की संभावना-शून्यता से उत्पन्न नैराश्य स्पष्ट रूप से प्रकट हो रहे हैं। जीवात्मा के वचनों को सुनकर दुर्वासा मुनि भी अत्यन्त दुःखी होकर मोहवश अपने प्राण त्यागने को उद्यत हो गये किन्तु ब्रह्मा ने उन्हें रोक लिया।[208] कन्दली को भूतल पर 'कन्दली' जाति होने का वरदान दिया।[209] किन्तु दुर्वासा से यह भी कहा कि ''जो अत्यन्त उच्छृङ्खल हो, उसका दमन करना उचित है'' (अत्युच्छ्रितस्य दमनमुचितं च श्रुतौ श्रुतम्)।[210]

कंदली के चरित्रावलोकन से यह ज्ञात होता है कि स्त्री का प्रियम्वदा होना भी आवश्यक है। हृदय में भले ही प्रेम हो किन्तु मधुर वाणी और व्यवहार में मर्यादा का बन्धन ही सम्बन्धों की दृढ़ता को सुनिश्चित करता है।

पद्मावती

'पद्मावती' विदर्भदेश के राजा सत्यकेतु की परम रूपवती प्रिय कन्या थी जो समस्त स्त्र्युचित सद्गुणों से युक्त सत्यधर्मपरायणा थी।

तस्य कन्या महाभागा पद्माक्षी कमलानना। नाम्ना पद्मावती नाम सत्यधर्मपरायणा।

सा स्त्रीणां च गुणैर्युक्ता द्वितीयेव समुद्रजा।।[211]

उसका विवाह मथुरा के राजा उग्रसेन से हुआ था। उन दोनों पति-पत्नी में अत्यधिक प्रेम था। राजा सत्यकेतु तथा उनकी धर्मपत्नी का भी अपनी पुत्री के प्रति अत्यधिक प्रेम था इसीलिये एक दिन पद्मावती को देखने की इच्छा से उन्होंने एक दूत को राजा उग्रसेन के पास भेजा और निवेदन किया कि वे पद्मावती को विदर्भदेश भेजने की कृपा करें।[212] उग्रसेन ने उनकी बात का मान रखते हुये उसे पितुगृह भेज दिया। पद्मावती पिता के घर आकर अत्यधिक हर्षित हुयी और वहाँ अपनी सखियों के साथ निःशङ्क होकर आनन्दपूर्वक विचरण करने लगी। आनन्दातिरेक के कारण वह पति के चिन्तन से भी रहित हो गयी। पितृगृह का सुख श्वसुरगृह में दुर्लभ है, यह सोचकर कि कब इस प्रकार आनन्द करूँगी, इस मोहभाव से बाला की भाँति निर्लज्ज सी सखियों सहित वन-उपवन में भ्रमण करने लगी।[213] एक दिन वनविहार के समय, एक रमणीय सरोवर में जलक्रीडा करते समय सर्वांगसुन्दरी पद्मावती पर गोभिल नामक दैत्य की दृष्टि पड़ी।[214] उसे देखते ही वह कामासक्त हो उसे प्राप्त करने की लालसा से उग्रसेन का छद्मवेश बनाकर अपने मधुर गान से पद्मावती को आकृष्ट कर लेता है।[215] पद्मावती भी उन्हें वहाँ देखकर आश्चर्ययुक्त हो, 'मेरे लिये राज्य से दूर आये हैं' ऐसा सोचकर स्वयं को पापिनी, दुराचारिणी समझकर तथा वे क्रोध ही करेंगे, ऐसा सोचते हुये वह लज्जायुक्त होकर नीचा मुख किये हुये उनके समीप जाती है।[216] पद्मावती भी उसे उग्रसेन ही समझकर उसके साथ एकान्तवास करती है किन्तु उसके कुछ लक्षणों से उसके मन में सन्देह उत्पन्न होता है और वह उस पर क्रोध प्रकट करती हुयी उसे शाप देने को उद्यत होती है।

शसुकामासमुद्युक्तादुःखेनाकुलितेक्षणा
वेपमानातदाराजन्दुःखभारेणपीडिता।।[217]

तब छद्मवेशधारी गोभिल उससे कहता है कि ''तुम्हारा सतीत्व नष्ट हो चुका है, अब क्रोध करना व्यर्थ है क्योंकि जिसका मन पति के निरन्तर चिन्तन से रहित होकर उनकी अनुपस्थिति में ग्राम्य-भोग और शृंगार में लगा हुआ है। ऐसी स्त्री को लोग पुंश्चली कहते हैं। तुम्हारा पातिव्रत्यधर्म नष्ट हो गया है। क्योंकि तुमने भी यही किया। पति का निरन्तर

चिन्तन ही सतियों के ज्ञान का तत्त्व है।'' ऐसे अनेक वचन वह कहता है।[218] अन्त में वह कहता है कि ''मैंने तुम्हारे उदर में जो अपने वीर्य की स्थापना की है, उससे तीनों लोकों को त्रास पहुँचाने वाला पुत्र उत्पन्न होगा।''[219] यह सुनकर वह अत्यन्त दुःखी होकर विलाप करने लगी। जब यह वृत्तान्त उसके माता-पिता को ज्ञात हुआ तो उन्होंने शीघ्र ही उसे पतिगृह भेज दिया।[220] कालान्तर में उसने कंस नामक पुत्र को उत्पन्न किया जिसका वध भगवान् श्रीकृष्ण ने किया था।[221] यह कथा वसुदत्त को उनकी पत्नी सुनाती है। वह उन्हें बताना चाहती थी कि पिता के घर में रहने वाली कन्या अत्यधिक लाड़-प्यार के कारण उच्छृंखल हो जाती है और पुत्री पिता के घर में रहकर जो पाप करती है, उसका फल माता-पिता को भी भोगना पड़ता है।[222] क्योंकि वसुदत्त भी अपनी पुत्री से अत्यधिक प्रेम करते थे, जिसके कारण उनकी पुत्री सुदेवा उच्छृंखल हो गयी थी तथा अपने पति की सेवा भी नहीं करती थी।[223]

इस वृत्तान्त से यह सुस्पष्ट है कि किसी भी विवाहित स्त्री का माता-पिता के यहाँ अधिक समय तक स्वतंत्रतापूर्वक निवास करना अनुचित माना गया है। महाभारत में भी कहा गया है कि-

नारीणां चिरवासो हि बान्धवेषु न रोचते।
कीर्तिचरित्रधर्मघ्नस्तस्मान्नयत मा चिरम्।।[224]

अर्थात् स्त्रियों का अपने भाई-बन्धुओं के यहाँ अधिक दिनों तक रहना अच्छा नहीं होता। वह उनकी कीर्ति, शील तथा पातिव्रत्य धर्म का नाश करने वाला होता है।

सुदेवा

'सुदेवा' काशी के महाराज देवराज की सत्यव्रतपालन में तत्पर रहने वाली, सदाचारपरायणा तथा रूपवती कन्या थी।[225] अयोध्या के राजा इक्ष्वाकु से उसका विवाह हुआ था।[226] वह पतिव्रता स्त्री के समान सच्चे भाव से पतिसेवा में प्रवृत्त होकर प्रतिदिन मन, वाणी और शरीर द्वारा पति का ही पूजन करती थी। यथोक्तम्-

यमेवावाहयेन्नित्यं वाचा कायेन कर्मभिः।
मनसा पूजयेन्नित्यं सत्यभावेन तत्परा।।[227]

गृहस्थ नारी पति के वामभाग में स्थित रहकर जो दान, पुण्य और यज्ञ करती है उससे वह अक्षय पुण्य प्राप्त करती है। (तमाश्रित्य यदा नारी गृहस्था परिवर्तते। यजते दानपुण्यैश्च तस्य दानस्य तस्य फलम्)[228] साध्वी सुदेवा भी अपने पति के साथ अनेक प्रकार के यज्ञ और उत्तम पुण्य किया करती थी।[229] एक दिन वह अपने पति के साथ गंगा तट पर गयी। वहाँ उसके पति ने बहुत से सिंहों और शूकरों को मार गिराया।[230] उनका एक बाण एक शूकरी को लग गया जिससे घायल होकर वह भूमि पर गिर गयी। उसकी यह दशा देखकर 'सुदेवा' का हृदय करुणा से भर गया। तब वह शीतल जल उसके शरीर पर डालती है।[231] यथोक्तम्-

पुण्योदकेन शीतेन तव हस्तगतेन वै। अभिषिक्ते हि मे काये मोहो नष्टो विहाय माम्।
यथा भानोः सुतेजोभिरन्धकारः प्रयाति सः। तथा तवाभिषेकेण मम पापं गतं शुभे।।
प्रसादात्तव चार्वङ्गि लब्धं ज्ञानं पुरातनम्।।[232]

उसके करकमलों के स्पर्शयुक्त जल से शूकरी को अपने पूर्व-जन्म की स्मृति हो आती है और उसकी पापराशि भी समाप्त हो जाती है। वह उसे अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनाकर कहती है कि ''मैं पापिनी, दुराचारिणी, असत्यवादिनी और ज्ञानहीना हूँ। अतः मेरा उद्धार करने के लिये तुम अपने एक दिन की पतिसेवा का पुण्य मुझे अर्पण कर दो।''[233] रानी सुदेवा ने ऐसा ही किया जिसके फलस्वरूप उसे वैकुण्ठलोक की प्राप्ति हुयी।[234] शुक्रनीति में कहा गया है कि ''कर्मेव कारणं चात्र सुगतिं दुर्गतिं प्रति''[235] (सुगति और दुर्गति का कारण कर्म ही होता है) सुदेवा (शूकरी) की दुर्गति का कारण उसके पापकर्म ही थे।

यह सुदेवा के पातिव्रत्य तप के द्वारा अर्जित पुण्य का ही प्रभाव था जो शूकरी को सद्गति प्राप्त हुयी। कहा भी गया है-

भर्ता नाथो गुरुर्भर्ता देवता दैवतैः सह। भर्ता तीर्थंच पुण्यंच नारीणां नृपनन्दनः।।[236]

सुमना

'सुमना' कौशिकवंशीय निर्धन ब्राह्मण सोमशर्मा की धर्मपरायणा, साध्वी, विदुषी और पतिव्रता पत्नी थी। 'यथा नाम तथा गुण'' की उक्ति को चरितार्थ करती हुयी वह उत्तम व्रत का आचरण करते हुये पति को ही देवता समझने वाली, अपने पति के प्रति पूर्णतः अनुरागयुक्त

होकर सदैव पति के हितसाधन में ही लगी रहती थी।[237] 'रामायण' में कहा गया है कि-

दुःशीलः कामयुक्तो वा धनेर्वा परिवर्जितः।
स्त्रीणामार्य स्वभावानां परमं देवतं पतिः।।[238]

अर्थात् पति दुःशील, कामपरायण और निर्धन चाहे क्यों न हो, आर्यस्वभाव वाली स्त्रियों के लिये पति ही देवता है। सुमना के कोई संतान भी नहीं थी तथापि निर्धन होने तथा संतानहीन होने से वह कभी दुःखी नहीं हुयी किन्तु इसके विपरीत उसके पति स्वयं को निर्धन और पुत्रहीन देखकर सदैव ही चिन्तित रहा करते थे।[239] उनकी ऐसी अवस्था देखकर वह विनीत भाव से धर्म का आश्रय लेकर कहती है कि ''हे नाथ! चिन्ता छोड़िये। चिन्ता के समान दूसरा कोई दुःख नहीं है। क्योंकि वह शरीर को सुखा देती है। जो उसे त्यागकर यथोचित व्यवहार करता है, वह अनायास ही आनन्द में मस्त रहता है।'' यथोक्तम्-

नास्ति चिन्तासमं दुःखं कायशोषणमेव हि।
यस्तां संत्यज्य वर्तेत स सुखेन प्रमोदते।।[240]

ऐसे अनेक वचनों से वह अपने पति को समझाती है और कहती है कि ''स्त्री, पुत्र और धन की चिन्ता तो कभी करनी ही नहीं चाहिये। आप चिन्ता और मोह का त्याग करके विवेक का आश्रय लीजिये।''[241] वह उन्हें पुण्य का लक्षण बताते हुये कहती है कि ''ब्रह्मचर्य, तपस्या, पंचयज्ञों का अनुष्ठान, दान, नियम, क्षमा, शौच, अहिंसा, उत्तम शक्ति और अचैर्य ये दस पुण्य के अंग हैं, इनके अनुष्ठान से धर्म की पूर्ति करनी चाहिये।'' यथोक्तम्-

ब्रह्मचर्येण तपसा मखपंचकवर्तनैः। दानेन नियमैश्चापि क्षमाशौचेन वल्लभ।।
अहिंसया सुशक्त्या च ह्यस्तेयेनापि वर्तनैः। एतैर्दशभिरंगैस्तु धर्ममेव प्रपूरयेत्।।[242]

उसके ऐसे अनेक वचनों को सुनकर उसके पति कहते हैं कि तुम्हारे ये वचन सब प्रकार के सन्देहों का नाश करने वाले हैं तथापि सत्य के ज्ञाता साधु पुरुष वंश की इच्छा रखते हैं।[243] तब सुमना कहती है कि- ''पुण्य से ही पुत्र की प्राप्ति होती है, अच्छा कुल मिलता है अतः आप पुण्य का अनुष्ठान करिये और धर्म की पूर्ति कीजिये।''[244] उसके युक्तियुक्त वचनों को सुनकर सोमशर्मा बहुत प्रसन्न होते हैं और उससे धर्म के स्वरूप को पूर्णतया जानने की इच्छा करते हैं। तब वह अपने पति के लिये धर्म के स्वरूप का वर्णन करती है।[245] तत्पश्चात्

वह अपनी पत्नी की प्रेरणा से ही मुनि वसिष्ठ के समीप जाकर उनके द्वारा बताये गये मार्ग का अवलम्बन करके पुण्यवान् पुत्र की प्राप्ति करता है। यथोक्तम्-

वसिष्ठंगच्छधर्मज्ञंतंप्रार्थयमहामुनिम्,
तस्मात्प्राप्यसिवैपुत्रंधर्मज्ञंधर्मवत्सलम्।.....जगामाशुसोमशर्माद्विजोत्तमः वसिष्ठं.....।
तेनगर्भेणसादेवीअधिकंशुशुभेतदा संदीप्तपुत्रसंयुक्तातेजोज्वालासमाकुलम्।[246]

उस पुत्र की तपस्या के प्रभाव से उन तीनों को ही वैकुण्ठलोक की प्राप्ति होती है।[247]

विष्णुपुराण में कहा गया है कि स्त्रियाँ तन-मन-वचन से पति की सेवा करने से ही उनकी हितकारिणी होकर पति के समान शुभ लोकों को अनायास ही प्राप्त कर लेती हैं जो कि पुरुषों को अत्यन्त परिश्रम से मिलते हैं। यथोक्तम्-

योषिच्छुश्रूषणाद्भर्तुः कर्मणा मनसा गिरा। तद्धिता शुभमाप्नोति तत्सालोक्यं यतो द्विजाः।।
नातिक्लेशेन महता तानेव पुरुषो यथा।।[248]

यहाँ वर्णित सुमना के चरित्र में धैर्य, सहिष्णुता, विनयशीलता, कर्त्तव्यनिष्ठा, निर्लोभ जैसे गुणों का समावेश है। धर्मतत्त्वज्ञा वह सदैव प्रसन्नचित्त रहती है और साथ ही उसमें विवेकबुद्धि भी है। उसका चरित्र आर्यस्त्रियों के लिये प्रेरणादायी है।

सुकला

पद्मपुराण में पत्नीतीर्थ प्रसंग में सती 'सुकला' की कथा वर्णित है। वह काशीनिवासी धर्मज्ञ कृकल की धर्मपत्नी थी जो सदैव धर्माचरण में रत रहने वाली, मनोहररूप वाली, मंगलमयी, सुयोग्य पुत्रों की जननी, शुद्धस्वभाव वाली पतिव्रता स्त्री थी।[249] एक समय जब कृकल अकेले ही तीर्थ यात्रा पर जाने का विचार करने लगे तो पतिव्रता सुकला ने भी उनके साथ जाने की इच्छा व्यक्त की। उसने कहा कि ''प्राणनाथ! मैं आपकी धर्मपत्नी हूँ अतः आपके साथ रहकर पुण्य करने का मेरा अधिकार है। मैं आपके मार्ग पर चलती हूँ। मैं आपका ही पूजन करती हूँ। इस सद्भाव के कारण मैं कभी भी आपको अपने से अलग नहीं कर सकती।[250] स्वामी! स्त्रियों के लिये पति के चरणोदक का अभिषेक प्रयाग और पुष्करतीर्थ में स्नान करने के समान है।[251] पति समस्त तीर्थों के समान और सम्पूर्ण धर्मों का स्वरूप है। यज्ञ की दीक्षा लेने वाले पुरुष को यज्ञों के अनुष्ठान से जो पुण्य प्राप्त होता है वही पुण्य

साध्वी स्त्री अपने पति की पूजा करके तत्काल प्राप्त कर लेती है'' (सर्वतीर्थसमो भर्ता सर्वधर्ममयः पति। मखानां यजनात्पुण्यं यद् वै भवति दीक्षिते। तत् पुण्यं समवाप्नोति भर्तुश्चैव हि साम्प्रतम्।।)[252] तब कृकल ने प्राणों से भी प्रिय और गार्हस्थ्य धर्म का आधार अपनी पत्नी की पतिभक्ति देखकर उसको साथ ले चलने का विचार किया किन्तु उसके सुकुमार शरीर और मार्ग में उसे मिलने वाले शारीरिक कष्टों के बारे में विचार कर वह अकेले ही तीर्थयात्रा पर उसे बिना बताये चले गये।[253] प्रातःकाल अपने पति को न देखकर वह शोक से उद्विग्न हो रोने लगी। तत्पश्चात् सुकला साध्वी स्त्रियों के लिये उचित जीवनचर्या को स्वीकार करते हुये तपस्विनी की भाँति दिन व्यतीत करने लगी।[254] पति के ही चिन्तन में लीन, पतिवियोगिनी वह दुर्बल और कान्तिविहीन शरीर वाली होकर कठिनाई से दिन बिताने लगी। [255] अभिज्ञानशाकुन्तलम् में कहा गया है कि ''निश्चय ही स्त्रियों को अपने इष्ट-जनों के प्रवास से उत्पन्न दुःख अत्यन्त असह्य होते हैं (इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि)[256] उसकी सखियों ने उसकी ऐसी दयनीय अवस्था देखकर उसे भोगों से दूर न रहने के लिये कहा।[257] किन्तु सुकला ने कहा कि ''तुम्हारे ये विचार शास्त्रसम्मत नहीं हैं। पति के प्रवास चले जाने पर यदि स्त्री शृंगार करती है तो उसका रूप, वर्ण सब कुछ भाररूप हो जाता है। पृथ्वी पर लोग उसे देखकर व्यभिचारिणी समझते हैं।'' (गतेभर्तरियानारीशृंगारंकुरुते यदि। रूपवर्णंचतत्सर्वंशवरूपेणजायते।। वदंतिभूतलेलोकाः पुंश्चलीयं न संशयः।।)[258]

याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि ''जिसका पति बाहर गया हो वह क्रीडा, शरीर का शृंगार, जन-समूह तथा विवाहादि उत्सवों का दर्शन, हँसी, परगृह-गमन न करे'' (क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्। हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका)[259] वह कहती है कि ''जो स्त्री पति के रहते हुये उसकी सेवा करना छोड़कर अन्य धर्म का अनुष्ठान करती है, उसका वह कार्य निष्फल हो जाता है, इसके विपरीत पति की प्रसन्नता से उसे सब कुछ मिल जाता है।''[260] ऐसे विचारों से युक्त जीवन-व्यतीत करने वाली धर्मानुरागिणी सुकला के सतीत्व की कीर्ति देवताओं तक भी पहुँची। तब देवराज इन्द्र ने उसके अविचल धैर्य की परीक्षा लेने के लिये कामदेव के सहयोग से अनेक प्रयत्न किये किन्तु उनके सभी प्रयत्न विफल हो गये।[261] शरीर की निस्सारता और आत्मा की अमरता को जानने वाली उस सुकला ने किसी पर-पुरुष की ओर दृष्टिपात नहीं किया और निरन्तर तपस्या में रत रही। यह जानते

हुये कि सुकला समस्त त्रिलोकी को धारण करने में समर्थ है और उसके वचन योगस्वरूप, निश्चयात्मक तथा ज्ञान रूपी जल से प्रक्षालित हैं फिर भी इन्द्र और कामदेव ने अपनी कुचेष्टाओं का त्याग नहीं किया।[262] सुकला को जब इसका ज्ञान हुआ तो उसने क्रोधित होकर उन्हें शाप देने को उद्यत होते हुये उनसे कहा कि ''सत्य, धर्म, पुण्य और ज्ञान रूपी पुत्र सदा मेरी रक्षा में तत्पर रहते हैं और मैं सतीत्व रूपी कवच से सदा सुरक्षित हूँ।[263] अतः हे पुरुष! तुम यहाँ से दूर चले जाओ। मेरे स्वामी की अनुपस्थिति में यदि तुम मेरे रूप पर दृष्टिपात करोगे तो जैसे अग्नि शुष्क काष्ठ को जला देती है उसी प्रकार मैं भी तुम्हें भस्म कर दूँगी। यथोक्तम्-

दूरं गच्छ पलायस्व नात्र तिष्ठ ममाग्रतः। वार्यमाणो यदा तिष्ठेर्भस्मीभूतो भविष्यसि।।

भत्र्रा विना निरीक्षेत मम रूपं यदा भवान्। यथा दारु दहेद्वह्निस्तथा धक्ष्यामि नान्यथा।।[264]

पुण्यमयी सुकला के सतीत्व की शक्ति से भयभीत हो इन्द्र आदि देवता वहाँ से चले गये।[265] उधर कृकल भी तीर्थयात्रा की समाप्ति पर अपने गृह की ओर लौटते हैं तब मार्ग में उन्हें दिव्यपुरुष द्वारा बन्धन में बाँधे गये अपने पितर दिखायी देते हैं। यह दृश्य देखकर दुःखी होकर कृकल उस दिव्यपुरुष से कहते हैं कि- "धर्म के उद्देश्य से मेरे द्वारा की गयी तीर्थयात्राएँ क्या विफल हो गयीं जो आपने मेरे पितरों को बन्धन में बाँध रखा है।"[266] तो दिव्यपुरुष ने कहा कि ''जो पुण्यमयी पतिव्रता पत्नी को अकेली छोड़कर धर्म करने के लिये बाहर जाता है। उसका किया हुआ सारा धर्म व्यर्थ हो जाता है। पत्नी ही गार्हस्थ्यधर्म की स्वामिनी है, उसके बिना ही जो तुमने शुभकर्मों का अनुष्ठान किया है वह निष्फल हो गया है।''[267] ऐसे अनेक वचन कहने के पश्चात् दिव्यपुरुष के आदेशानुसार घर लौटकर वह अपनी पत्नी को सान्त्वना देता है तथा अपनी पत्नी के साथ श्रद्धापूर्वक धार्मिक अनुष्ठान सम्पादित करता है फलस्वरूप उसके पितर बन्धन-मुक्त हो जाते हैं तथा सभी देवता उन दोनों को विष्णुलोक की प्राप्ति का वर देते हैं।[268] योगवासिष्ठ में कहा गया है-

यथैताः स्नेहशालिन्यो भर्तृणां कुलयोषितः। सखा भ्राता सुहृद्भृत्यो गुरुर्मित्रं धनं सुखम्।।

सर्वदा सर्वयत्नेन पूजनीयाः कुलांगनाः।।[269]

अर्थात् स्नेहशाली कुलीन नारी पति के लिये सखा, बन्धु, सुहृद, सेवक, गुरु, धन, सुख, सम्पूर्ण शास्त्र सब कुछ हैं। अतः इस प्रकार की कुलीन नारियों का सर्वदा, सभी प्रयत्नों से आदर-सत्कार करना चाहिये।

इस सम्पूर्ण कथानक में सुकला एक महान् पतिव्रता स्त्री के रूप में दृष्टिगोचर होती है। वह सत्यवादिनी, गुणवती, धैर्यशीला पति को ही देवता और तीर्थ मानने वाली, पति से अतिशय प्रेम करने वाली धर्मज्ञा स्त्री थी। सुकला की पतिभक्ति के कारण ही उसके पति को भी देवताओं का आशीर्वाद प्राप्त हुआ। इसीलिये कहा गया है कि ''साध्वी पत्नी के समान कोई तीर्थ नहीं है'' (नास्ति भार्यासमं तीर्थम्)।''[270]

मदालसा

'मदालसा' विश्वावसु नामक गन्धर्व की पुत्री[271] तथा राजा शत्रुजित् के पुत्र राजकुमार ऋतध्वज की पत्नी थी।[272] विवाह के कुछ समय पश्चात् मदालसा ने एक पुत्र को जन्म दिया। राजा ने उसका नाम विक्रान्त रखा।[273] मदालसा वह नाम सुनकर हँसी। इसके बाद समयानुसार उसने दो पुत्रों को जन्म दिया जिनका नाम राजा ने क्रमशः सुबाहु और शत्रुमर्दन रखा।[274] उन नामों पर भी मदालसा को हँसी आई।[275] विक्रान्त की भाँति ही उसने अपने इन दोनों पुत्रों को भी विशुद्ध आत्मज्ञान का उपदेश दिया। बड़े होने पर वे तीनों ममताशून्य और विरक्त होकर तपश्चर्या के लिये वन में चले गये।[276] विक्रान्त को प्रदत्त उपदेश इस प्रकार है-

शुद्धोऽसि रे तात न तेऽस्ति नाम कृतं हि ते कल्पनयाधुनैव।
पंचात्मकं देहमिदं तवैतन्नैवास्य त्वं रोदिषि कस्य हेतोः।।
न वा भवान् रोदिति वै स्वजन्मा शब्दोऽयमासाद्य महीशसूनुम्।
भूतानि भूतैः परिदुर्ब्बलानि वृद्धिं समायान्ति यथेह पुंसः।।
अन्नाभ्युदानादिभिरेव कस्य न तेऽस्ति वृद्धिर्न च तेऽस्ति हानिः।
त्वं कंचुके शीर्य्यमाणे निजेऽस्मिंस्तस्मिंश्च देहे मूढतां मा व्रजेथाः।।
शुभाशुभैः कर्म्मभिर्देहमेतन्मदादिमूढैः कंचुकस्तेऽपि नद्धः।
.....
ममत्वबुद्धिर्न तथा यथा स्वे देहेऽतिमात्रं वत मूढतैषा।।[277]

अर्थात् हे पुत्र! तू तो शुद्ध है, तेरा नाम ही क्या हो सकता है? तूने पंचभौतिक शरीर धारण किया है, इस कारण तेरा नाम कल्पित किया गया है। तुम रोते किसलिये हो? कहना तो यह चाहिये की तुम रोते भी नहीं हो, रूदन का शब्द स्वयं की उत्पन्न होता है। मनुष्यों का शरीर अन्न-जल पाकर बढ़ता है और उनके न मिलने से घटता है किन्तु शरीर के घटने-बढ़ने से तुम में कुछ वृद्धि या हानि नहीं होती। इस शरीर से ममता करना मूर्खता है क्योंकि यह शुभाशुभ कर्मों का फल मात्र है। केवल मूर्ख व्यक्ति ही अपने-पराये की माया के वशीभूत होकर बन्धन को प्राप्त होते हैं, दुःखों और भोगों को सुख मानते हैं। स्त्री का शरीर भी माँस, रुधिर, मज्जा आदि घृणित एवं नारकीय पदार्थों से भरा हुआ है। अतः उनमें या अपने शरीर में ममता करना मूर्खता है.....।

तत्पश्चात् रानी मदालसा के गर्भ से चैथा पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा ने जब उसका नाम रखना चाहा तो उसकी दृष्टि मदालसा पर पड़ी जो मुस्कुरा रही थी। तब राजा ने मदालसा से पुत्र का नाम रखने को कहा। मदालसा ने उसका नाम अलर्क रखा। अलर्क नाम को असम्बद्ध विचारकर ऋतध्वज ने इसका उपहास किया तब मदालसा ने कहा कि हे राजन्! नाम की कल्पना कर लेना एक व्यावहारिक बात है, आप अपने द्वारा रखे गये नामों की निरर्थकता को भी सुनिये। विद्वान् लोग पुरुष को व्यापी कहते हैं, जो देश-देशान्तर में गति रखे, उस वस्तु को क्रान्ति कहते हैं, देह का ईश्वर पुरुष व्यापक होने के कारण कहीं नहीं जाता, अतः मेरे मन से विक्रान्त नाम निरर्थक है। पुरुष के अमूर्त होने के कारण सुबाहु नाम भी निरर्थक है। इसी तरह जब एक ही पुरुष सब शरीरों में विद्यमान है तो इस संसार में उसका कौन मित्र और कौन शत्रु है। शरीरों से शरीरों का नाश होता है, जिसका शरीर ही नहीं है उसके शत्रु के मर्दन की कल्पना भी अर्थहीन है। ऐसी स्थिति में यदि आपके रखे हुये नाम सार्थक और व्यावहारिक माने जा सकते हैं तो अलर्क नाम में कौनसी निरर्थकता है।[278] उसे भी वह ब्रह्मज्ञान का उपदेश देने लगी तो राजा ने मदालसा से कहा कि वह अलर्क को गृहस्थधर्म व राजधर्म की शिक्षा दे। मदालसा ने ऐसा ही किया।[279] उसका पुत्र सर्वगुणसम्पन्न हो गया। राजा उसे राजगद्दी सौंपकर पत्नी के साथ वन में तपश्चर्या करने चले गये। जाते समय मदालसा ने अपने पुत्र को एक अंगूठी दी और कहा कि जब तुम पर कोई संकट आये तो इसमें से उपदेश निकाल कर पढ़ लेना।[280] कुछ काल बाद अलर्क भोगों में लिप्त हो गया। शत्रुपक्ष ने इसका लाभ उठाकर उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया। अपने पर संकट जानकर उसने माता का उपदेश पढ़ा।[281] वह उपदेश इस प्रकार है-

संगः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कत्र्तव्यः सतां संगो हि भेषजम्।।
कामः सर्वात्मना हेयो हातु चेच्छक्यते न सः।
मुमुक्षां प्रति तत्कार्यं सैव तस्यापि भेषजम्।।[282]

अर्थात् संग का सब प्रकार से त्याग करना चाहिये किन्तु यदि उसका त्याग न किया जा सके तो सत्पुरुषों का संग करना चाहिये क्योंकि सत्पुरुषों का संग ही उसकी औषधि है। काम को सर्वथा त्याग देना चाहिये और यदि उसका त्याग करने में असमर्थ हों तो मुक्ति का प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि मुक्ति ही उसकी औषधि है। उपदेश पढ़कर उसने वैसा ही किया और आपत्ति से मुक्त हो गया।[283]

मदालसा के आदर्श चरित्र के परिशीलन से, संतान के जन्म के समय माता के दृष्टिकोण एवं समय-समय पर संतति को दिये जाने वाले उचित संस्कारों और प्रभावों का क्या औचित्य है, यह प्रमाणित होता है। एक ओर जहाँ मदालसा ने अपने तीन पुत्रों को राजसी सुखवैभव के प्रति अनासक्ति का भाव हृदय में रखते हुये अपने धर्म में दृढ़ रहने के कत्र्तव्यबोध को उनमें जाग्रत किया वहीं दूसरी ओर अपने चौथे पुत्र अलर्क को बहुत ही सुन्दर शब्दों में नाना प्रकार के दृष्टान्तों द्वारा राजधर्म की शिक्षा देने के साथ ही गृहस्थाश्रम में निर्वाह किये जाने वाले धर्मों को बतलाकर सुखपूर्वक जीवन जीने का मार्ग भी प्रशस्त किया। अतः सच्चरित्र माता मदालसा की कथा अत्यन्त प्रेरणास्पद है।

निष्कर्ष -

प्राचीनतम संस्कृत साहित्य का अनुशीलन करने पर तत्कालीन समाज में चित्रित स्त्रीपात्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान दृष्टिगोचर होता है। समाज में वियमान जहाँ लोपामुद्रा, अपाला, घोषा, विश्ववारा इत्यादि स्त्रीरत्नों ने ऋचाओं का दर्शन कर ऋषिका पद को प्राप्त किया वहीं गार्गी, मैत्रेयी आदि ने ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया और अनसूया, देवहूति, शैव्या आदि ने सत्त्वगुणसमन्वित सदाचरण से भारतीय संस्कृति को गौरवान्वित किया है। लोपामुद्रा की संयमशीलता, विनम्रता तथा क्षमाशीलता, रोमशा की स्वधर्मपालन में तत्परता, अपाला की धैर्यशीलता और दृढ़इच्छाशक्ति, शशीयसी की सहृदयता और परोपकारिता, घोषा की उत्साही प्रवृत्ति, समर्पणभाव, आशावादिता और प्रयासों की निरन्तरता, उर्वशी का जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण, विश्ववारा की सुदृढ़ एवं सुखी दाम्पत्यजीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टि, विश्पला का धैर्य, साहस और निर्भीकता, मुद्गलानी की नेतृत्वक्षमता और पराक्रम, गार्गी और

मैत्रेयी का वाक्चातुर्य, विद्वत्ता तथा ब्रह्मतत्त्व के प्रति जिज्ञासाप्रवृत्ति, अनसूया, शैव्या, प्रातिथेयी, पद्मा, सुकला जैसी स्त्रियों का विषम परिस्थितियों में भी पातिव्रत्यधर्म का निर्वाह करना और तपोबल से समन्वित होना तथा मदालसा का अपनी संतति को जीवन के समुन्नयन हेतु सदाचार की शिक्षा प्रदान करना, ये ऐसे आत्मगुण हैं जिनका अवलम्बन कर इन्होंने न केवल स्वयं के वैदुष्य और संकल्पशक्ति को प्रमाणित किया अपितु समाज में स्त्रीगौरव को प्रतिष्ठित और महिमामण्डित भी किया है। इन महान् तथा श्रेष्ठ स्त्री-रत्न समुदाय के मध्य ही यमी, कन्दली एवं पद्मावती सदृश स्त्रियाँ अपवादस्वरूप भी हैं जो अपनी चारित्रिक दुर्बलताओं के कारण समाज में प्रशंसा की पात्र नहीं बन पायी हैं। कन्दली का क्रोधपूर्वक कटुभाषण करने तथा कलह करने के स्वभाव वाली होना तथा पद्मावती की स्वच्छन्द प्रवृत्ति, इन दोनों के ही ऐसे अशोभनीय आचरण के कारण जहाँ इनका दाम्पत्यजीवन अत्यन्त दुःखमय बन गया वहीं कन्दली के प्राणान्तरूप चरम अपकर्ष का कारण भी बन गया। यमी का भी अपने सहोदर भ्राता यम से सम्भोगार्थ याचना करना उसके चरित्र की न्यूनता को दर्शाता है। अतः यहाँ स्पष्टरूप से परिलक्षित होता है कि समाज में साध्वी स्त्रियों की प्रशंसा होती है और असाध्वी स्त्रियों की निंदा। समाज में सदाचारी स्त्रियों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। वेदों और उपनिषदों में मुख्य रूप से स्त्रियों के ज्ञानचक्षुसम्पन्न स्वरूप का ही दर्शन होता है किन्तु पुराणों में स्त्रियों के विविध रूपों और भूमिकाओं को विभिन्न परिस्थितियों में स्पष्ट रूप से व्याख्यायित किया गया है।

समग्रतः प्राचीनतम संस्कृत साहित्य में वर्णित साध्वी तथा पतिव्रता स्त्रियाँ अपने आदर्श चरित्र निर्वाह के कारण तत्कालीन समय में ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति में देवीस्वरूपा होकर वन्दनीया मानी गयी हैं। इनके द्वारा जो विषम परिस्थितियों में सत्त्वगुणान्वित मर्यादित आचरण आचरित है वह निश्चित रूप से प्रत्येक देश, काल, परिस्थिति में ग्राह्यय एवं अनुकरणीय है। स्त्रियों की विविध भूमिकाओं को देखते हुये उसकी महत्ता का प्रतिपादन करते हुये ये वचन कितने सार्थक हैं-

कुलद्वयं समा नारी समयित्वा तु तिष्ठति।
साध्वी तारयते वंशान्दुष्टा पातयते ध्रुवम्।।
दारेष्वधीनं स्वर्गं च कुलं पंक यशोऽयशः।
पुत्रं दुहितरं मित्रं संसारे कथयन्ति च।।[284]

♦♦♦♦

सन्दर्भ

1. श्रीमद्भागवतमहापुराण, 6/1/40
2. सम्पूर्ण मनुस्मृति, 2/6
3. ऋग्वेद, 10/191/4
4. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, पृ.सं.-70
5. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, पृ.सं.-73
6. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, पृ.सं.-98
7. मनुस्मृति (2/7); वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृ.सं.-4
8. मनुस्मृति, 12/102
9. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, वेदखण्ड (बलदेव उपाध्याय), भूमिका भाग, पृ.सं.-29
10. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृ.सं.-170
11. ईशावास्योपनिषद्, पृ.सं.-6
12. ईशावास्योपनिषद्, पृ.सं.-6
13. ईशावास्योपनिषद्, पृ.सं.-6
14. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, वेदखण्ड (बलदेव उपाध्याय), पृ.सं.-512
15. संस्कृत साहित्य का इतिहास (वाचस्पति गैरोला), पृ.सं.-286
16. संस्कृत साहित्य का इतिहास, (वाचस्पति गैरोला), पृ.-287; ब्रह्माण्ड पुराण, सौदास चरित्र में (पृ.सं.-184)
17. छान्दोग्योपनिषद् (7/1/2); पृ.सं.-713; नारद पुराण, 1/9/97
18. पौराणिक साहित्य और संस्कृति (पौराणिक कथाओं में चरित्र उत्कर्ष की भावना), पृ.सं.-1-3
19. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, पुराण खण्ड (बलदेव उपाध्याय), पृ.सं.-4
20. ऋग्वेद संहिता, प्रथम मण्डल, पृ.सं.-272, यजुर्वेद संहिता (17/11), (36/20)
21. ऋग्वेद संहिता, 1/179/1
22. ऋग्वेद संहिता, 1/179/2
23. ऋग्वेद संहिता, 1/179/3

24. ऋग्वेद संहिता, 1/179/4
25. बृहद्देवता, 4/57, 59
26. बृहद्देवता, 4/60
27. ऋग्वेद संहिता, पृ.सं.-194
28. ऋग्वेद संहिता, पृ.सं.-194
29. बृहद्देवता, 3/156
30. बृहद्देवता, 3/156
31. बृहद्देवता, 4/3
32. ऋग्वेद संहिता, 1/126/6
33. ऐतरेय आरण्यक, 1/3/6, पृ.सं.-81-82
34. बृहद्देवता, 4/2
35. ऋग्वेद संहिता, 1/26/7
36. ऋग्वेद संहिता, भाग-2, 5/61, पृ.सं.-78
37. बृहद्देवता, 5/53
38. ऋग्वेद संहिता, 5/61/5
39. ऋग्वेद संहिता, 5/61/7-8
40. संस्कृत निबन्ध मन्दाकिनी, पृ.सं.-67
41. ऋग्वेद संहिता, 5/28
42. यजुर्वेद संहिता, 33/12
43. मनुस्मृति, 11/87
44. ऋग्वेद संहिता, 5/28/3
45. तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3/7/7/11, पृ.सं.-514 पर सायण व्याख्या
46. ऋग्वेद संहिता, 8/91
47. बृहद्देवता, 6/100
48. ऋग्वेद संहिता, 8/91/5
49. ऋग्वेद संहिता, 8/91/7
50. बृहद्देवता, 6/105-106

51. ऋग्वेद संहिता, 10/10
52. बृहद्देवता, 6/163, श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 6/6/40
53. ऋग्वेद संहिता, 10/10/2
54. ऋग्वेद संहिता, 10/10/4
55. ऋग्वेद संहिता, 10/10/1
56. ऋग्वेद संहिता, 10/10/3, 5, 11
57. ऋग्वेद संहिता, 10/10/12
58. मनुस्मृति, 2/214
59. अथर्ववेद संहिता, 18/1/1-16
60. ऋग्वेद संहिता, दशममण्डल, परिशिष्ट 1/81
61. बृहद्देवता, 7/42-45
62. ऋग्वेद संहिता, 10/39/6
63. ऋग्वेद संहिता, 10/40/11-13
64. बृहद्देवता, 7/47 (भत्रारं ददतुस्तस्यै सुहस्त्य च सुतं मुनिम्) ऋग्वेद संहिता, 10/40/9 (जनिष्ट योषा पतयत्कनीनको वि चारु हन्वीरूधो दंसना अनु)
65. ऋग्वेद संहिता, 10/39/8, वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृ.सं.-260
66. ऋग्वेद संहिता, 1/112/10
67. ऋग्वेद संहिता, 10/85/8
68. ऋग्वेद संहिता, 10/102/2
69. वाल्मीकि रामायण, 2/9/162
70. ऋग्वेद संहिता, 10/134/6, यजुर्वेद संहिता (24/35) सामवेद संहिता पूर्वार्चिक, 1/7/2
71. तैत्तिरीयसंहिता, 5/5/15/1
72. वायुपुराणम्, 69/51-52, पृ.सं.-608
73. निरुक्तम्, 5/13, पृ.सं.-540
74. ऋग्वेद संहिता, 10/95
75. ऋग्वेद संहिता, 10/95/16
76. स्वप्नवासवदत्तम्, 4/6

77. ऋग्वेद संहिता, 10/95/1-2
78. ऋग्वेद संहिता, 10/95/11
79. श्रीविष्णुपुराण, 6/35
80. श्रीविष्णुपुराण, 6/40-47
81. श्रीविष्णुपुराण, 6/59
82. ऋग्वेद संहिता, 10/95/3, 14
83. ऋग्वेद संहिता, 10/95/10
84. ऋग्वेद संहिता, 10/95/13, 15, 18
85. मत्स्यमहापुराण, 24वाँ अध्याय
86. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृ.सं.-135
87. केनोपनिषद्, 3/17
88. केनोपनिषद्, 4/18
89. बृहदारण्यकोपनिषद्, 3/6/1
90. बृहदारण्यकोपनिषद्, 3/8/2
91. बृहदारण्यकोपनिषद्, 3/8/11
92. बृहदारण्यकोपनिषद्, 3/8/12
93. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/5/2
94. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/5/3
95. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/5/4
96. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/5/5
97. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/5/1
98. स्कन्दपुराण (नागरखण्डपूर्वार्द्ध), 127वाँ अध्याय/11-13, पृ.सं. 710-715
99. स्कन्दपुराण (नागरखण्डपूर्वार्द्ध), 127वाँ अध्याय/20-22
100. स्कन्दपुराण, 127वाँ अध्याय/42-47
101. संस्कृति के चार अध्याय, पृ.सं.-62
102. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-413 (40/5,7)
103. संक्षिप्त स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्ड (केदारखण्ड), पृ.सं.-35

104. स्कन्दपुराण, पृ.सं.-413 (840/6)
105. स्कन्दपुराण, पृ.सं.-413 (40/8)
106. स्कन्दपुराण, पृ.सं.-414 (40/20-25)
107. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/22
108. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-414, (40/27-30)
109. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-415 (40/32-33)
110. स्वप्नवासवदत्तम्, पृ.सं.-73
111. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-415 (40/39-41, 44)
112. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-415 (40/45)
113. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-416 (40/56-57, 60)
114. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-416 (40/62-63)
115. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-416 (40/68-71)
116. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-416 (40/73)
117. हारीतस्मृति, 8/197
118. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-416 (40/74)
119. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-417 (40/123)
120. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-417 (40/110-113)
121. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-83
122. प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी, पृ.सं.-133
123. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-83
124. जानकीहरणम्, 9/6
125. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-83
126. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-83, (16/19-25)
127. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-83, (16/26)
128. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-83, (16/31)
129. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-84
130. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-85 (16/55)

131. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-16/51-52)

132. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-85 (16/53, 65)

133. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-85 (16/61-62)

134. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-85 (16/63)

135. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-85-86 (16/73-76)

136. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-86-87 (16/78-79, 82, 85)

137. याज्ञवल्क्यस्मृति, आचार अध्याय, श्लोक सं.-87

138. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, पृ.सं.-87 (16/87)

139. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, पृ.सं.-87

140. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, पृ.सं.-87 (17/11)

141. संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-197

142. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/20/16; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-379

143. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/20/29,31; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-380

144. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/20/35; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-381

145. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/20/39, संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-381

146. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/21/6, 19, 27; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-382

147. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/22/12-15; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-382

148. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/22/17; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-382

149. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/22/20-22; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-383

150. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/22/27; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-383

151. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/25/33; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-386

152. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/25/10-11; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-387

153. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/25/27-28; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-387-388

154. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/25/61-64; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-389

155. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/25/76,89; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-390

156. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/26/18-19; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-391

157. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/26/54-56; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-392

158. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/27/1; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-393

159. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/27/4,13; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-393

160. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/28/34-36; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-394

161. शंखस्मृति, 5/8

162. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/22/9, 23

163. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/22/11,18

164. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/22/14

165. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/22/19

166. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/22/15, 22

167. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/22/23

168. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/22/24-25

169. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/23/1

170. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/23/2-3

171. मनुस्मृति, 9/22

172. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/23/7-8

173. जानकीहरणम्, 9/14

174. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/68

175. याज्ञवल्क्यस्मृति, आचार अध्याय, 74वाँ श्लोक

176. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/23/48 तथा 3/24/6

177. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/24/10, 16

178. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/24/38-47

179. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/25/7

180. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/25/11, 28, 31 तथा 3/33/30

181. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/23/1

182. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/131

183. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/25, 30

184. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/130, 133

185. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/134-135

186. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/140-142

187. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/1; सं. ब्रह्मवैवर्तपुराण, पृ.सं.-122

188. स्कन्दपुराण, ब्राह्मखण्ड (धर्मारण्य-माहात्म्य), 7/48, पृ.सं.-619

189. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/2-12, सं. ब्रह्मवैवर्तपुराण, पृ.सं.-123

190. प्रमुख पुराणों में नारी चित्रण, पृ.सं.-121

त्रैलोक्यभस्मसात् कर्तुम् क्षणेनैव पतिव्रता।

स्वतेजसा समर्था सा महापुण्यवती सदा।।

191. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/14-17, सं. ब्रह्मवैवर्तपुराण, पृ.सं.-123

192. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/18-30

193. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/34, सं. ब्रह्मवैवर्तपुराण, पृ.सं.-123

194. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/36-39, 47

195. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/58-64

196. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, श्रीकुष्णजन्मखण्ड, 24/6, 10-11

197. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 24/6,10

198. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 24/12

199. दक्ष स्मृति, 4/7

200. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, 24/16, 25

201. ऋग्वेद संहिता, सूर्या सूक्त (10/85)

202. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, 24/33-41

203. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, 24/49-51

204. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, 24/52-55

205. दक्ष स्मृति, 4/5

206. मनुस्मृति, 5/166

207. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, 24/57-69

208. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, 24/72

209. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, 24/83

210. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, 24/84

211. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 48/4-7, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-282

212. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 48/11-12, 1, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-282

213. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 48/19, 23, 26-27, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-282

214. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 49/15-16, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-283

215. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 49/26, 32, 37-38, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-283

216. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 49/41-44, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-283

217. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 49/51, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-284

218. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 50/1-56, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-284

219. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 50/60, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-285

220. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 51/1-8, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-285

221. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 51/26-27, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-285

222. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 51/29-30, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-282

223. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 47/47-64, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-282

224. महाभारत, आदिपर्व, 74/12

225. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 42/4, 6, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-275

226. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 42/5, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-275

227. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/62-63, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-274

228. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/65, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-274

229. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 42/4, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-275

230. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 42/8-9, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-275-278

231. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 46/12, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-278

232. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 47/5-7, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-279

233. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 52/36-38, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-287

234. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 52/46, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-287

235. शुक्रनीति, 1/5

236. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/75, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-274

237. पद्मपुराण, (सा च साध्वी महाभागा पतिव्रतपरायणा, 18/5); संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-238
238. वाल्मीकि रामायण, अरण्यकाण्ड, 117/24
239. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 11/6-8; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-238
240. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 11/11; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-238
241. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 11/23-26; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-238
242. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 12/44-45; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-240
243. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 12/35; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-239
244. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 12/37-38; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-240
245. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 12/48-49; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-240
246. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 16/3,5 तथा 19/40; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-254
247. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 20/30
248. विष्णुपुराण, 2/6, 28-29
249. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/3-4; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-272
250. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/9; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-272
251. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/14; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-272
252. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/15; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-272
253. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/19-27; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-273
254. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/41-44; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-273
255. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/45-47; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-273
256. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 4/3
257. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/56-59; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-273
258. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/68, 78; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-274
259. याज्ञवल्क्यस्मृति, आचार अध्याय, 84वाँ श्लोक
260. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/68-69; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-274
261. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 53-55वाँ अध्याय; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-287-291
262. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 56वाँ अध्याय; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-292

263. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 58/31-32; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-293

264. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 58/35-36; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-293

265. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 58/38; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-293

266. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 59/4-7; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-293

267. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 59/8, 30, 33; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-294

268. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 60/9, 10, 20; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-294

269. योगवासिष्ठ, पूर्वार्द्ध, 6/109/27-28

270. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 59/24

271. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 21/28, पृ.सं.-106

272. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 21/81, (21/61-65), पृ.सं.-106

273. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 28/8-9, पृ.सं.-107

274. मार्कण्डेयपुराण, 26/6, पृ.सं.-108

275. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 26/6, पृ.सं.-108

276. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 26/3, 5-7, पृ.सं.-108

277. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 25/11-14, पृ.सं.-107-108

278. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 26/15-23, पृ.सं.-108-109

279. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, (26/24-36), 27-28वाँ अध्याय, पृ.सं.-109-125

280. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 36/3-4,8, पृ.सं.-125

281. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 37/10-18, 20, पृ.सं.-126

282. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 37/23-24, पृ.सं.-126

283. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 37/29, 38-39वाँ अध्याय, पृ.सं.-126-127

284. पद्मपुराण, सृष्टि खण्ड, 49/31-32

द्वितीय अध्याय

काव्यशास्त्रीय परम्परा में नायिका अथवा स्त्री पात्रों की अवधारणा

(क) प्राचीन नाट्यशास्त्रीय/काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में
स्त्री पात्रों की अवधारणा

(ख) आधुनिक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में स्त्री पात्रों की अवधारणा

द्वितीय अध्याय

काव्यशास्त्रीय परम्परा में नायिका अथवा स्त्री पात्रों की अवधारणा

(क) प्राचीन नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों में स्त्री पात्रों की अवधारणा

नाट्यशास्त्र

भरतमुनि ने नारी को सुख का मूल[1], कामभाव का आलम्बन मानकर विस्तार से तथा सूक्ष्मता से नायिकाभेद को भी प्रस्तुत किया। आचार्य ने नारी की सामाजिक प्रतिष्ठा, आचार की शुद्धता, काम की विविध दशाएँ, वय की विशेषता, अंगरचना और प्रकृति की आधार भूमि को लेकर नायिका भेद प्रस्तुत किया है। यह विवरण नाट्योपयोगी नायिका की दृष्टि से है जहाँ नारी के अंगसौन्दर्य के अतिरिक्त उसके शील, आचारादि को भी ध्यान में रखा गया है।

इस प्रकार अंगरचना और अन्तःप्रवृत्ति के अनुसार नारी के दिव्यसत्त्वा, मनुष्यसत्त्वा आदि बाइस भेदों को लक्षण सहित मुनि ने दिखलाया। प्रकृति भेद से उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन भेद, आचरण की दृष्टि से बाह्या, आभ्यान्तरा तथा बाह्याभ्यान्तरा तीन भेद, सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से दिव्या, नृपस्त्री, कुर्लांना तथा सामान्या चार भेद, शील की दृष्टि से ललिता, उदात्ता, निमृता आदि चार तथा कामदशा की स्थिति के आधार पर वासकसज्जा आदि आठ भेद वर्णित किये हैं।

स्त्रियों की प्रकृति की भिन्नता के आधार पर भेद-

स्त्रियाँ प्रकृति की भिन्नता के कारण अनेक स्वरूप वाली होती हैं। जैसे ये देव, असुर, गन्धर्व, राक्षस, नाग, पक्षी, पिशाच, यक्ष, ऋक्ष, व्याघ्र, मनुष्य, वानर, हाथी, मृग, मीन, ऊँट, खर, सूकर, अश्व, भैंस, बकरी तथा गौ के शील के तुल्य शीलवाली होती हैं।[2] आचार्य भरत ने इनके लक्षण देकर इनके स्वरूप का प्रतिपादन किया है।[3] तत्पश्चात् आचार्य ने स्त्रियों के प्रति किये जाने वाले व्यवहार तथा उपचार का वर्णन किया है।[4]

आचरण की दृष्टि से भेद - स्त्रीमात्र की तीन प्रकार की प्रकृति रहती है। 1. बाह्य प्रकृति 2. आभ्यन्तर तथा 3. बाह्याभ्यन्तर प्रकृति। जो स्त्री उच्चकुल प्रसूता और सुशीला है उसे आभ्यन्तर प्रकृति की तथा वेश्या को बाह्य-प्रकृति की स्त्री समझना चाहिए। अन्तःपुर में रख देने के कारण जिसका चरित्र अखण्डित हो (कृतशौचा) ऐसी वेश्या की कन्या आदि बाह्याभ्यन्तरा या मिश्र-प्रकृति की होती है।[5]

अवस्था भेद - अवस्था भेद से नायिकाओं के आठ भेदों का उल्लेख आचार्य द्वारा किया गया है।[6] विविध कामदशाओं की स्थिति में प्रेम, विरह, उपेक्षा आदि भावों का आधार लेकर ये विवेचन किया गया है। नायिकाओं के आठ विभेद इस प्रकार है-1. वासकसज्जा 2. विरहोत्कण्ठिता 3. स्वाधीनपतिका (भर्तृका) 4. कलहान्तरिता 5. खण्डिता 6. विप्रलब्धा 7. प्रोषितभर्तृका तथा 8. अभिसारिका। इनका लक्षण प्रस्तुत करते हुए आचार्य का कथन है-

1. वासकसज्जा - उचिते वासके या तु रतिसम्भोगलालसा।
मण्डनं कुरुते दृष्टा सा वै वासकसज्जिता।।

अर्थात् जो स्त्री कामकेलि के लिए आतुर होकर योग्य वस्त्राभूषणों को प्रसन्न होकर धारण करती हो तथा अपने को साज-सँवार कर प्रियतम की बाट जोहती हो तो उसे 'वासकसज्जा' नायिका समझना चाहिये।[7]

2. विरहोत्कण्ठिता - अनेककार्यव्यासंगाद्यस्या नागच्छति प्रियः।
तद्रागतदुःखार्त्ता विरहोत्कण्ठिता तु सा।।

अर्थात् जिसका स्वामी या प्रिय अनेक कार्यों में व्यस्त रहने से समय पर न लौट पाए और इसी कारण जो दुःखी हो जाए वह विरहोत्कण्ठिता नायिका कहलाती है।[8]

3. स्वाधीन-भर्तृका - सुरतातिरसैर्बद्धो यस्याः पार्श्वे तु नायकः।
सान्द्रामोदगुणप्राप्ता भवेत् स्वाधीनभर्तृका।।

अर्थात् रति (और व्यवहार) से अति आकृष्ट होकर जिसके पास प्रिय सदा बना रहे, उस अत्यन्त हर्ष सौभाग्य और अभिमानशालिनी नायिका को स्वाधीन-भर्तृका समझना चाहिए।[9]

4. कलहान्तरिता - ईर्ष्याकलहनिष्क्रान्तो यस्या नागच्छति प्रियः।

सामर्षवशसम्प्राप्ता कलहान्तरिता भवेत्।।

अर्थात् ईर्ष्या और कलह के कारण जिसका प्रेमी दूर चला जाए और उसके न आने के कारण क्रोध से सन्तप्त हो जाने वाली नायिका को कलहान्तरिता समझना चाहिये।[10]

5. खण्डिता - व्यासंगादुचिते यस्या वासके नागतः प्रियः।

तद्रागमदुःखार्ता खण्डिता सा प्रकीर्तिता।।

अर्थात् जिसका पति अन्य स्त्री में आसक्त होने के कारण (व्यासैंत्) जिसके समीप समय पर न आ पाए तो उसकी बाट जोहती हुई दुःखी नायिका खण्डिता कहलाती है।[11]

6. विप्रलब्धा - यस्या दूतीं प्रियः प्रेष्य दत्ता संकेतमेव वा।

नागतः कारणेनेह विप्रलब्धा तु सा भवेत्।।

अर्थात् जिसके समीप दूती को भेजकर या संकेत स्थल बतलाकर भी किसी कारणवश प्रिय वहाँ नहीं पहुँच पाए तो इसी कारण अपमानित होने वाली नायिका विप्रलब्धा कहलाती है।[12]

7. प्रोषित-भर्तृका - गुरुकार्यान्तरवषाद् यस्या वै प्रोषितः प्रियः।

प्ररुढ़ालककेषान्ता भवेत् प्रोषितभर्तृका।।

अर्थात् जिसका पति किसी महत्त्वपूर्ण कार्यवश परदेश चला जाए और इसी कारण बिना केश संस्कार के शिथिल वेणी में रहने वाली (उस) नायिका को प्रोषित-भर्तृका समझना चाहिए।[13]

8. अभिसारिका - द्वित्वा लज्जान्तु या श्लिष्टा मदेन मदनेन च।

अभिसारयते कान्तं सा भवेदभिसारिका।।

अर्थात् मद या मदन के आवेग वश जो लज्जा का परित्याग कर प्रिय से मिलन के लिए संकेत स्थान पर अभिसरण करे उसे 'अभिसारिका' नायिका समझना चाहिये।[14]

उपर्युक्त आठ प्रकार की नायिकाओं में भरत के अनुसार खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता तथा प्रोषित-भर्तृका नायिका को अभिनय प्रस्तुत करने में चिन्ता, निःश्वास, खेद, हृदय में जलन, सखियों से संभाषण, अपनी दशा को देखने, ग्लानि, दैन्य, आँसुओं के बहने, क्रोध के आने, अलंकार तथा साज-सज्जा की सामग्री को छोड़ देने, दुःख तथा रोदन की योजना

करनी चाहिये तथा स्वाधीन-भर्तृका नायिका को विचित्र एवं उज्ज्वल वस्त्रादि धारण किए हुए, प्रसन्नवदन, आकर्षण एवं शोभा को प्रकट करने वाले अंगों के अतिशय लावण्य से पूर्ण स्वरूप में प्रस्तुत करना चाहिये।[15]

आचार्य ने स्त्री के अनुराग तथा विराग के चिन्हों से युक्त स्त्री के मदनातुर[16], अनुरक्ता[17] तथा विरक्ता[18] ये तीन प्रकार बताये हैं। उन्होंने इसे स्त्री के गुणों की संज्ञा दी है।[19]

स्त्रियों की प्रकृति के अनुसार भेद -

सभी स्त्रियों की प्रकृति के अनुसार आचार्य ने तीन भेद वर्णित किए हैं- 1. उत्तमा 2. मध्यमा 3. अधमा। आगे वे कहते हैं कि वेश्याओं की प्रकृति अपने स्वभाव के अनुसार होती है।[20]

उत्तमा स्त्री के स्वरूप को बतलाते हुये वे कहते हैं कि जो स्त्री अपने अप्रियकारी प्रिय को भी कड़े शब्द नहीं बोलती, जिसमें कोप स्थायी नहीं रहता, कला और शिल्प में जो विदग्धा हो, जो अपने कुल, सुख और धन के श्रेष्ठ होने के कारण अनेक पुरुषों द्वारा चाही जाए, प्रणयोपचार में चतुर हो, ईमानदार और सुन्दर रूप से शोभित हो, कारणवश क्रोध करने वाली हो, ईर्ष्या रहित संभाषण करने वाली और कार्य तथा अवसर को समझने वाली एवं सुरूप शालिनी हो तो उसे उत्तमा स्त्री समझना चाहिए।[21]

मध्यमा स्त्री के स्वरूप का वर्णन करते हुये वे कहते हैं कि जो स्त्री पुरुष की कामना करने वाली हो तथा जिसका पुरुष भी कामना रखता हो, जो प्रणयोपचार में चतुर हो, अपने शत्रुओं से द्वेष रखती हो, जो प्रकट रूप ईर्ष्या से अभिभूत हो जाती हो, जिसका क्रोध क्षण स्थायी हो, जो अति घमण्डी और थोड़े प्रयास में रीझ जाने वाली हो तो उसे मध्यमा स्त्री समझना चाहिए।[22]

अधमा स्त्री के स्वरूप का निरुपण करते हुए वे कहते हैं कि जो बिना किसी उपयुक्त कारण के ही क्रोध करने वाली हो जिसकी प्रकृति दुष्ट हो, अतिशय घमण्डी हो, चंचल कठोर वृत्ति वाली हो, तथा जिसका क्रोध कभी शान्त न होता हो, उसे अधमा स्त्री समझना चाहिए।[23] इसके पश्चात् आचार्य द्वारा स्त्री की यौवन की चार अवस्थाओं का भी वर्णन किया गया है।[24]

आचार्य ने नाट्यशास्त्र के 34वें अध्याय में पुनः उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा के भेद से स्त्री पात्रों के प्रकृतिगत तीन भेदों का कथन किया है।[25] नारी की सामाजिक स्थिति को अधिमान्यता देकर भरतमुनि आचार्य ने नाट्यधर्मी अपेक्षा से नायिका के चार प्रभेद बतलाये- 1. दिव्या 2. नृपपत्नी (महारानी) 3. कुलांगना 4. गणिका।[26] इनके ही अपने गुण, आचार एवं लक्षण के अनुसार विभिन्न प्रकार के हो जाते है (शीलगत आधार) यथा धीरा, ललिता, उदात्ता तथा निभृता।[27] नायिका के अतिरिक्त नृपनायक की अन्य पत्नियाँ भी होती हैं जिनकी स्थिति या मर्यादा भिन्न-भिन्न स्वरूप वाली होती है तथा तदनुरूप उनके नाम तथा कार्य भी होते हैं यथा महादेवी, देवी, स्वामिनी, स्थायिनी आदि।[28] इसके अतिरिक्त अन्तःपुर के वातावरण में लालित्य और सौन्दर्य के वातावरण को समृद्ध करने में अपना योगदान देने के आधार पर भोगिनी, शिल्पकारिणी, नाटकीया, नर्तकी, अनुचारिका, परिचारिका, संचारिका, प्रेषणचारिका, महत्तरा, प्रतीहारी, कुमारी, वृद्धा तथा आयुक्तिका जैसे नारी पात्र आचार्य द्वारा वर्णित किये गये हैं।[29] आचार्य के द्वारा दूती (नायिका-सखी) का भी वर्णन किया गया है। दूती कर्म किसे दिया जाए, इस विषय पर आचार्य का कथन है कि दूती कार्य में कोई गुणशालिनी चतुर स्त्री (विज्ञान-गुणसम्पन्ना), कथा कहने वाली स्त्री (कथनी), भिक्षुणी (लिंगनी), नटी (रंगोपजीवना) विलक्षण ज्ञानवाली स्त्री, पड़ोसिन, सखी, दासी, कुमारी, कारु (धोबिन), शिल्पिनी (चितेरन स्त्री), धाय, साधुनी (पाषण्डिनी) तथा भविष्यकथन करने वाली स्त्रियाँ (ईक्षणिका) लगाई जाये।[30] इसके अतिरिक्त दूती का स्वरूप[31] तथा दूती के कार्य भी आचार्य ने वर्णित किए हैं।[32]

इस प्रकार आचार्य द्वारा शीलादि के आधार पर चौबीस भेदों में नायिका-भेद वर्णित किया है। आचार्य भरतमुनि ने इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ तथा मन पर विचार करने के क्रम में बतलाया कि सभी भावों की निष्पत्ति काम से होती है। स्त्रियों में पुरुष का तथा पुरुषों में स्त्रियों का जो सहज स्नेह है, वही 'काम' है। स्त्री तथा पुरुष के इस सहज आकर्षण एवं पारस्परिक सम्मिलित होने की स्थिति से 'प्रजनन' का आरंभ होता है अतः इन दोनों का योग ही 'काम' है। लौकिक जीवन में काम की प्रमुखता रहती है अतः नाट्य भी लोकजीवन का प्रतिरूप होने से उसमें भी कामभाव प्रमुखता से रहता है। अतः भरत ने स्त्रियों को सुख का मूल मानकर अपना यह विवरण दिया, जो आदर्श तथा यथार्थ का संगम है। आचार्य ने

नायिका-भेद प्रसंग में ही रंगमंच पर वर्जित कार्यों का भी उल्लेख किया है।[33] जो तत्कालीन समाज की आदर्श स्थिति का स्पष्ट संकेत करते हैं तथा स्त्रियों की मर्यादा और स्वतंत्रता[34] का भी सूक्ष्म निरुपण करते हैं।

दशरूपक

आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में चार प्रकार की नायिका (दिव्या, नृपपत्नी, कुलस्त्री तथा गणिका) का निरूपण किया था किन्तु धनंजय कहते हैं कि नायिका सामान्यतः नायक के गुणों से युक्त होती है। वह तीन प्रकार की होती है-स्वकीया, परकीया तथा साधारण स्त्री।[35] दशरूपक के द्वितीय प्रकाश में आचार्य स्वकीया नायिका का विभाग सहित सामान्य लक्षण कहते हैं- मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया षीलार्जवादियुक्।[36]

अर्थात् स्वकीया नायिका शील तथा सरलता आदि से युक्त होती है वह मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा (तीन प्रकार की) होती है।

शीलवती यथा- कुलबालिकायाः प्रेक्षध्वं यौवनलावण्यविभ्रमविलासाः।
प्रवसन्तीव प्रवसिते आगच्छन्तीव प्रिये गृहमागते।।[37]

अर्थात् कुल बालिका के यौवन, लावण्य, विभ्रम तथा विलास देखिए। प्रिय के प्रवास पर चले जाने पर मानो ये सब चले जाते हैं और प्रिय के घर आने पर आ जाते हैं।

इसी प्रकार सरलतायुक्ता[38] तथा लज्जावती[39] स्वकीया नायिका के भी धनंजय ने उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। नाट्यदर्पण[40] में सभी प्रकार की नायिकाओं के ये तीन भेद किये गये हैं किन्तु साहित्यदर्पण[41] में दशरूपक का अनुसरण करके स्वकीया के ही ये तीन भेद किये गये हैं। इसी प्रकार भाव प्रकाशन[42] में भी स्वकीया के ये ही तीन भेद हैं।

मुग्धा नायिका का लक्षण देते हुये दशरूपककार का कथन है कि "जिनकी अवस्था तथा कामभावना नवीन होती है, जो रति क्रीड़ा में झिझकने वाली और क्रोध करने में कोमल होती हैं, वह मुग्धा नायिका है।"[43] अर्थात् जिसमें यौवन तथा काम-भाव का प्रथम अवतरण होता है, जो रतिक्रीड़ा में अनुकूल नहीं होती (क्योंकि उससे भिज्ञ नहीं होती है।) क्रोध करने पर जिसे सुखपूर्वक प्रसन्न किया जा सकता है, वह मुग्धा नायिका है। दशरूपककार ने मुग्धा के वयोमुग्धा, रतवामा, काममुग्धा आदि में विभक्त कर उदाहरण सहित इनके स्वरूप को

बतलाया है।[44] साहित्य दर्पण (3.58), नाट्यदर्पण (4.258) में भी प्रायः इसी प्रकार का विवेचन है। भाव प्रकाश (पृ. 96 पं. 17-20) में मुग्धा के स्वरूप का अधिक स्पष्ट चित्रण है।

मध्या नायिका का लक्षण देते हुए दशरूपककार कहते हैं कि- "जिसमें यौवन और काम का उदय हो रहा है, जो बेसुधी अवस्था (मोह) पर्यन्त रति में समर्थ है, वह मध्या नायिका है।"[45] इसमें यौवनवती, कामवती के उदाहरण देकर मध्या की रति को बतलाते हैं[46] तथा कहते हैं कि इसी प्रकार धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा का भी उदाहरण दिया जा सकता है।[47]

नाट्यदर्पण (4.259) में "मध्या मध्यवयः काम-माना मूर्च्छान्तमोहना" यह मध्या का लक्षण दिया है। भाव प्रकाशन (पृ. 96 पं. 21-22) में भी यही लक्षण है। साहित्यदर्पण (3.59) में मध्या का लक्षण अधिक स्पष्ट रूप से है कि- "मध्या धीरा उपालंभ (उत्प्रास) के साथ वक्रोक्ति से, धीराधीरा आँसुओं और उपालंभ के साथ वक्रोक्ति से और अधीरा कोप के साथ अश्रुपूर्वक कठोर शब्दों से अपराधी प्रियतम को फटकारती है। इनके उदाहरण सहित इन्हें प्रस्तुत किया है।"[48] नाट्यदर्पण (4.259) वृत्ति तथा साहित्यदर्पण (3.61) में धीरा, अधीरा और धीराधीरा मध्या नायिकाओं के मान का इसी प्रकार वर्णन किया गया है। दशरूपक में 'व्रीडानुपहिता'[49] इस पद के द्वारा मध्या के व्यवहारों का मुग्धा के व्यवहारों से भेद दिखलाया गया है, मुग्धा के व्यवहार लज्जा से आच्छादित होते हैं (2.16) किन्तु मध्या के व्यवहार सर्वथा लज्जा से आच्छादित नहीं होते, हाँ, उनमें लज्जा रहती अवश्य है इसलिए साहित्यदर्पण (3.59) में इसे 'मध्यमव्रीडिता' कहा है।

अब 'प्रगल्भा नायिका' का लक्षण प्रस्तुत करते हुये उनका कथन है कि- "जो यौवन में अन्धी सी, काम से उन्मत्त सी, आनन्द के कारण, प्रियतम के अंगों में प्रविष्ट होती हुई सी सुरत के आरम्भ में भी चेतना रहित हो जाती है, वह प्रगल्भा नायिका है।"[50] इन्होंने भावप्रगल्भा रतप्रगल्भा के उदाहरण भी दिये हैं। इस उदाहरण में 'स्वयम् अनभियोगकारिणः'[51] इस पद के द्वारा मध्या का प्रगल्भा से भेद प्रदर्शित किया गया है अर्थात् नायिका नायक की सुरत में स्वयं प्रवृत्ति न कराने वाली होती है किन्तु प्रगल्भा नायिका नायक को सुरत में स्वयं प्रवृत्त कराने वाली होती है जैसा कि 'रतप्रगल्भा' पद से विदित होता है।[52] 'भाव प्रकाशन' में भी कहा गया है- 'प्रगल्भाऽऽरभते स्वैरं बाह्ये चाभ्यन्तरे

रते'। नाट्य दर्पण (4.260) के अनुसार 'दीप्त आयु, मान तथा कामवाली और प्रिय के स्पर्शमात्र से बेसुध हो जाने वाली प्रगल्भा नायिका होती है। साहित्यदर्पण (3.60) में प्रायः दशरूपक के समान ही प्रगल्भा का स्वरूप दिखलाया गया है। प्रतापरुद्रीपम् (1.56) में प्रगल्भा को 'प्रौढ़ा' कहा गया है। इसी प्रकार वाग्भटालंकार तथा काव्यानुशासन में भी वर्णित है।

'प्रगल्भा' की 'कोपचेष्टा' को बतलाते हुए कहते हैं कि 'धीरा प्रगल्भा अवहित्थ (आकार संवरण) तथा आदर-प्रदर्शन सहित व्यवहार करती है, वह कोप के कारण रति में उदासीन रहती है। अधीरा प्रगल्भा क्रोध से (नायक को) फटकार कर पीटती है। धीराधीरा (मध्या) प्रगल्भा तो धीराधीरा मध्या के समान उस नायक से बात करती है।[53] अतः स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि मध्या नायिका के समान प्रगल्भा भी तीन प्रकार की होती हैं-धीरा, धीराधीरा और अधीरा। नाट्यदर्पण (4.260 वृत्ति) में तथा साहित्यदर्पण (3.61) में भी प्रगल्भा की कोप चेष्टा का प्रायः इसी प्रकार वर्णन किया है। आगे दशरूपककार मध्या तथा प्रगल्भा के भी ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा-ये दो भेद बताते हैं।[54] इस प्रकार मुग्धा से भिन्न नायिकाओं के बारह भेद हो जाते हैं। अतः हम कह सकते है कि स्वकीया नायिका के 13 भेद होते हैं।

मुग्धा (केवल एक प्रकार) = 1

मध्या (धीरा, अधीरा, धीराधीरा)×(ज्येष्ठा, कनिष्ठा) = 6

प्रगल्भा (धीरा, अधीरा, धीराधीरा)×(ज्येष्ठा, कनिष्ठा) = 6

परकीया (अन्य स्त्री) -

परकीया के स्वरूप का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि 'अन्यस्त्री दो प्रकार की होती है-कन्या तथा विवाहिता। अन्य विवाहिता स्त्री (परोढा) को कभी भी प्रधान रस की नायिका नहीं बनाना चाहिये। कन्या के अनुराग को तो कवि इच्छानुसार प्रधान या अप्रधान रस का आधार बना सकता है। यथोक्तम्- अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाअंगीरसे क्वचित्[55]

यद्यपि कन्या अविवाहिता होती है तथापि उसे अन्य स्त्री कहा जाता है क्योंकि वह पिता आदि के अधीन होती है। उस कन्या में गुप्त रूप से प्रेम की प्रवृत्ति हुआ करती है; क्योंकि (प्रथम तो) वह पिता इत्यादि से प्राप्त ही नहीं की जा सकती। यदि प्राप्त भी हो जाती है तो दूसरों की रुकावट या अपनी प्रियतमा का भय होता है। जैसे मालती में माधव का

(दूसरों की रुकावट के कारण) अनुराग और सागरिका में वत्सराज का (देवी वासवदत्ता के भय के कारण) गुप्तरूप से प्रकट होता है।[56]

साधारण स्त्री (सामान्य नायिका) -

साधारणस्त्री का लक्षण देते हुये दशरूपककार का कथन है कि- "साधारणस्त्री गणिका कलाप्रगल्भयधौर्त्ययुक्"।[57] अर्थात् साधारण स्त्री तो गणिका होती है जो कला, प्रगल्भता और धूर्तता से युक्त होती है। वह उसका दिग्दर्शन मात्र बतलाते हैं कि वह छिपकर प्रेम करने वाले, सुखपूर्वक धन प्राप्त करने वाले, अज्ञानी, स्वच्छन्द, अहंकारी और पण्डक आदि को, यदि धनवान् हो तो अनुरक्ता के समान प्रसन्न करती है और धनरहित होने पर इनको माता के द्वारा निकलवा देती है।

दशरूपककार ने इसका व्यवहार विस्तारपूर्वक नहीं दिया है परन्तु भावप्रकाशन (95.4), साहित्यदर्पण (3.67-71) में सामान्य नायिका का विस्तृत वर्णन किया गया है।

अवस्था-भेद के आधार पर-

दशरूपककार ने स्वकीया, परकीया, सामान्या नायिकाओं की आठ अवस्थाओं का वर्णन किया है। उनका कथन है कि यद्यपि नायिका होना (स्वकीया आदि) भी (नारी की) अवस्थाएँ ही हैं तथापि वे अवस्थाएँ धर्मी हैं और ये (स्वाधीनपतिका इत्यादि) उनके धर्म हैं अर्थात् उन अवस्थाओं की ही ये अवस्थाएँ हैं। ये आठ अवस्थाएँ इस प्रकार हैं- 1. स्वाधीनपतिका 2. वासकसज्जा 3. विरहोत्कण्ठिता 4. खण्डिता 5. कलहान्तरिता 6. विप्रलब्धा 7. प्रोषितप्रिया 8. अभिसारिका।[58]

आचार्य भरत ने भी इनके लक्षण दिये हैं लेकिन उदाहरण नहीं दिये। दशरूपककार ने इनकी लक्षणसहित सोदाहरण विवेचना की है-

(1) स्वाधीनपतिका का लक्षण देते हैं- आसन्नायत्तरमणा हृष्टा स्वाधीनभर्तृका।[59]

अर्थात् जिस नायिका का पति समीप में स्थित है तथा उसके अधीन है और जो प्रसन्न रहती है, वह स्वाधीनपतिका है। यहाँ उदाहरण रूप में अमरुकशतक का पद्य प्रस्तुत किया है। यथा-

मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्तिकान्तस्वहस्तलिखिता मम मंजरीति।

अन्यापि किं न सखि भाजनमीदृशीनां वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः।।

अर्थात् हे सखी, इस बात का गर्व न कर कि प्रियतम के अपने हाथ से चित्रित मंजरी मेरे कपोल तल पर विराजमान है। अन्य स्त्री भी क्या इस प्रकार के सौभाग्य का पात्र नहीं हो सकती यदि बैरी कम्पन बाधक न हो जाये।

भाव प्रकाशन (पृ.99.15-19), नाट्यदर्पण (4.267), प्रतापरुद्रयशोभूषण (1.43) में भी स्वाधीनपतिका का लगभग यही लक्षण है।

(2) वासकसज्जा का लक्षण प्रस्तुत करते हुए उनका कथन है कि-

मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये।[60]

अर्थात् प्रिय के आगमन की आशा होने पर जो हर्ष के साथ अपने को सजाती है, वह वासकसज्जा है। उदाहरणरूप में माघ के 'शिशुपालवध' का पद्य प्रस्तुत किया है। यथा-

निजपाणिपल्लवतटस्खलननादभिनासिकाविवरमुत्पतितैः।

अपरा परीक्ष्य शनकैर्मुमुदे मुखवासभास्यकमलश्वसनैः।।

अर्थात् कोई अन्य रमणी अपने पाणिपल्लव के छोर से टकराने के कारण नासिका के छिद्रों की ओर उठी हुयी मुखकमल की श्वासों के द्वारा धीरे से अपने मुख की सुगन्धि की परीक्षा करके प्रसन्न हुयी।

भावप्रकाशन (पृ.99.8-14), नाट्यदर्पण (4.266), प्रतापरुद्रयशोभूषण (1.44) में भी वासकसज्जा का लक्षण आचार्यों ने दिया है क्योंकि वासकसज्जा का पति पास में नहीं रहता अतः वह स्वाधीनपतिका नहीं कहला सकती, ऐसा धनंजय का मत है।

(3) विरहोत्कण्ठिता का लक्षण आचार्य ने इस प्रकार दिया है-

चिरयत्यव्यलीके तु विरहोत्कण्ठितोन्मनाः।[61]

अर्थात् निरपराध होते हुये भी प्रिय के देर करने पर उत्कंठित रहने वाली नायिका विरहोत्कंठिता कहलाती है। यथा-

सखि स विजितो वीणावाद्यैः कयाप्यपरस्त्रिया पणितमभवत्ताभ्यां तत्र क्षपाललितं ध्रुवम्।

कथमितरथ शेफालीषु स्खलत्कुसुमास्वपि, प्रसरति नभोमध्येऽपीन्दौ प्रियेण विलम्ब्यते।।

अर्थात् हे सखी, किसी दूसरी स्त्री ने वीणा-वादन के द्वारा उसे जीत लिया है। अवश्य ही उन दोनों ने रातभर क्रीड़ा करने की शर्त लगा ली है। यदि ऐसा न होता तो हारसिंगार के पुष्प गिरने लगने पर भी चन्द्रमा के आकाश के मध्य में जाने पर भी मेरे प्रियतम विलम्ब क्यों करते?

भावप्रकाशन (पृ. 100), नाट्यदर्पण (4.265), प्रतापरुद्रयशोभूषण (1.45) में आचार्यों ने इस नायिका का लक्षण दिया है। विरहोत्कंठिता वासकसज्जा नहीं है क्योंकि वह तो प्रिय के आगमन के उचित समय का अतिक्रमण हो जाने पर व्याकुल होने वाली है।

(4) खण्डिता का लक्षण प्रस्तुत करते हुए आचार्य का कथन है कि-

ज्ञातेऽन्यासंगविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता।[62]

अर्थात् नायक को दूसरी नायिका के सहवास से विकृत जान लेने पर जो ईर्ष्या से कलुषित हो जाती है, वह खंडिता है। यथा-

नवनखरदमंग गोपयस्यंशुकेन स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम्।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसंगशंसी विसर्पन् नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम्।।

अर्थात् तुम अपने वस्त्र से नखों के नवीन व्रण रद वाले अंग को छिपा रहे हो और दाँतों से कटे हुये ओठ को हाथ से ढक रहे हो किन्तु प्रत्येक दिशा में फैला हुआ, अन्य स्त्री के संग की सूचना देने वाला यह नवीन परिमल गंध किसके द्वारा छिपाया जा सकता है? आचार्य ने यहाँ पर माघ कृत शिशुपालवध का पद्य उदाहरण रूप में दिया है। आचार्य कहते हैं कि वासकसज्जा खण्डिता भी नहीं कहला सकती क्योंकि उसे प्रिय का अपराध ज्ञात नहीं है।

(5) कलहान्तरिता का लक्षण देते हुए आचार्य का कथन है कि-

कलहान्तरिताऽमर्षाद्विधूतेऽनुषयार्तियुक्।[63]

अर्थात् क्रोध से अपराधयुक्त नायक को तिरस्कृत करके पश्चात्तप की पीड़ा का अनुभव करने वाली कलहान्तरिता नायिका है। यथा-

निःश्वासा वदनं दहन्ति हृदयं निर्मूलमुन्मथ्यते। निद्रा नैति न दृश्यते प्रियमुखं नक्तं दिवं रुघते।
अंगं शोषमुपैति पादपतितः प्रेयांस्तथोपेक्षितः। सख्यः कं गुणमाकलय्य दयिते मानं वयं कारिताः।।

अर्थात् निःश्वासें मुख को जला रही हैं, हृदय जड़ से उन्मथित हो रहा है, नींद नहीं आती, प्रियतम का मुख नहीं दिखलाई देता, रात-दिन रोना आता है, अंग सूख रहा है, तब चरणों में पड़े प्रियतम की उपेक्षा कर दी। सखियों; बताओ तो क्या लाभ सोचकर प्रियतम से मान कराया था। यहाँ आचार्य ने उदाहरणरूप में अमरुकशतक का पद्य दिया है। खण्डिता और कलहान्तरिता की तुलना करते समय स्पष्ट प्रतीत होता है कि कलहान्तरिता तो ईर्ष्या तथा कलह के कारण प्रिय के साथ समागम की इच्छा ही नहीं रखती और अपने किये पर पश्चात्ताप करती है किन्तु खण्डिता समागम की अभिलाषा भी रखती है और प्रिय के प्रति ईर्ष्या भी रखती है। नाट्यशास्त्र, साहित्यदर्पण, भावप्रकाशन, नाट्यदर्पण, प्रताप- रुद्रयशोभूषण में इसका लक्षण कुछ अधिक स्पष्ट है।

(6) विप्रलब्धा का लक्षण इस प्रकार है-विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिविमानिता।[64]

अर्थात् प्रियतम के निश्चित समय पर न आने के कारण अत्यधिक अपमानित होने वाली विप्रलब्धा कहलाती है। यथा-

उत्तिष्ठ दूति यामो यामो यातस्तथापि नायातः।
याऽतः परमपि जीवेज्जीवितनाथो भवेत्तस्याः।।

अर्थात् हे दूती, उठो चलें, प्रहर बीत गया तथापि वह नहीं आया। जो इसके पश्चात् भी जीवित रहे वह तो उसी का प्राणनाथ होगा। खण्डिता से विप्रलब्धा का अन्तर यह है कि विप्रलब्धा के पति की दूसरी स्त्री में आसक्ति होना निश्चित नहीं होता वह तो केवल उक्त समय पर नहीं आता। संकेत में वंचित होने के कारण ही वह अपने आपको तिरस्कृत महसूस करती है। अतः वह वासकसज्जा और उत्कण्ठिता से भिन्न है।

(7) प्रोषितप्रिया का लक्षण देते हुए आचार्य का कथन है कि-

दूरदेषान्तरस्थे तु कार्यतः प्रोषिताप्रिया।[65]

अर्थात् जिस नायिका का प्रिय किसी कार्य से दूसरे देश में स्थित होता है, वह प्रोषितप्रिया कहलाती है। यथा-

आदृष्टिप्रसरात्प्रियस्य पदवीमुद्वीक्ष्य निविर्ण्णया। विश्रान्तेषु पथिष्वह परिणतौ ध्वान्ते समुत्सर्पति।
दत्वैकं सशुचा गृहं प्रति पद पानथस्त्रियास्मिन्क्षणे, माभूदागत इत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितम्।।

अर्थात् जहाँ तक दृष्टि पहुँच सकी वहाँ तक वह नायिका प्रिय का पथ निहारकर दुःखी हो गयी। दिन के समाप्त होने पर, अंधेरा फैल जाने पर पथिक विश्रान्त हो गये तो उस पथिक की स्त्री ने दुःख के साथ घर की ओर एक पद रखा और फिर वेगपूर्वक ग्रीवा को घुमाकर देखा कि 'कहीं वह इसी क्षण न आ गया हो'।

भावप्रकाशन (पृ.-100), नाट्यदर्पण (4.261) में "कार्यतः प्रोषिते पत्यावभूषा प्रोषितप्रिया" के लक्षण में 'अभूषा' यह विशेषण अधिक है। आचार्य वासकसज्जा से प्रोषितप्रिया की तुलना करते हुए कहते हैं कि वह प्रोषितप्रिया नहीं है क्योंकि वह रति और भोग की इच्छा में प्रवृत्त है।

(8) आचार्य ने अभिसारिका का लक्षण देते हुए कहा है कि-

कामार्ताऽभिसरेत्कान्तं सारयेद्वाभिसारिका।[66]

अर्थात् जो काम से पीड़ित होकर नायक के पास स्वयं जाती है अथवा नायक को अपने पास बुलाती है वह अभिसारिका है। यथा-

न च मेऽवगच्छति तथा लघुतां करुणां यथा च कुरुते स मयि।
निपुणं तथैनपुगम्य वदेरभिदूति काचिदिति संदिदिशे।।

अर्थात् किसी नायिका ने दूती से यह कहा- इसके पास जाकर ऐसे निपुणतापूर्वक कहना कि जिससे वह मेरी लघुता न समझे और मुझ पर करुणा भी करे।

नाट्यशास्त्र में विस्तार से अभिसरण के स्वरूप का वर्णन किया गया है। यहाँ भी वासकसज्जा से अभिसारिका का अन्तर बतलाते हुये कहते हैं कि वह अभिसारिका नहीं है क्योंकि वह नायक के प्रति स्वयं नहीं जाती, न ही नायक को प्रेरणा देती है। इसी प्रकार भावप्रकाशन (पृ. 100-101), साहित्यदर्पण (3-76-81), प्रतापरुद्रयशोभूषण (1.53), नाट्यदर्पण (4.268) में भी दिया गया है। नाट्यदर्पण में आचार्य बतलाते हैं कि आठ प्रकार की नायिकाओं में वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका और अभिसारिका-इन तीनों के वर्णन में संभोग शृंगार रहता है और शेष के वर्णन में विप्रलम्भ शृंगार।

इस प्रकार स्वकीया की ये आठों अवस्थाएँ होती हैं किन्तु परकीया और सामान्य नायिका में सभी अवस्थाएँ नहीं होतीं क्योंकि कन्या तथा विवाहिता जो दो प्रकार की

परकीया नायिकाएँ हैं वे तो संकेत के निश्चय से पहले विरहोत्कण्ठिता ही हैं। इसके बाद विदूषक आदि के साथ अभिसरण करती हुई अभिसारिका हो जाती हैं और यदि किसी निमित्त से नायक संकेतस्थल पर न पहुँचे तो ये विप्रलब्धा नायिका होती हैं। इनकी यही व्यवस्था निश्चित है। इनका प्रिय इनके अधीन नहीं होता इसलिए इनमें अन्य अवस्थाएँ नहीं हो सकतीं। धनिक भी इसी कथन के साथ अपनी सहमति प्रकट करते हैं।[67]

इसके पश्चात् आचार्य धनंजय नायिकाओं की सहायिकाओं का वर्णन करते हुए कहते हैं कि- 'दासी, सखी, कारु, धाय की लड़की, पड़ोसिन, संन्यास आदि का चिन्ह धारण करने वाली (लिंगिनी), शिल्पिनी और स्वयं (नायिका), ये दूती (सहायिका) होती हैं जो नायक के मित्रों पीठमर्द आदि के गुणों से युक्त होती हैं।[68] जैसे मालतीमाधव में कामन्दकी के प्रति कहा गया है[69]- शास्त्रों में निष्ठा, स्वाभाविक ज्ञान, वाक्पटुता, गुणों में अभ्यस्त वाणी, समय के अनुसार कार्य करना, प्रतिभा युक्त होना ये गुण कार्य में कामनाओं को पूर्ण करने वाले है।

नाट्यदर्पण

नाट्यदर्पणकार 'नायिका' का लक्षण देते हुए कहते हैं कि-

नायिका कुलजा दिव्या**,** क्षत्रिया पण्यकामिनी।
अन्तिमा ललितोदात्ता**,** पूर्वोदात्ता त्रिधा परे।। **(4.19)**[70]

अर्थात् नायिका-कुलीन-दिव्य-सुन्दर-क्षत्रिय, कामोत्पन्न, उदात्त होनी चाहिये और धीरललित रूपकादि में तो पण्यस्त्री भी नायिका होती है। पूर्ण वर्णित उदात्त नायिका पुनः धैर्य-लालित्य व उदात्तत्वेन तीन प्रकार की होती हैं।

नाट्यदर्पणकार पुनः नायिकाओं के मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा-ये तीन भेद बतलाते हैं।[71] इनका क्रमशः विवेचन करते हैं-

'मुग्धा'- सुरत में विपरीत अवस्था-युवती, युवावस्था वाली, कामवासनायुक्त, स्वल्पमान वाली स्त्री को 'मुग्धा' कहते हैं।[72]

'मध्या**'**- मुग्धा से अधिक वय वाली, मानवती, मूर्च्छान्त सुख वाली स्त्री को 'मध्या' कहते हैं। यह धीरा-अधीरा व धीराधीरा भेद से पुनः तीन प्रकार की होती है।[73]

प्रगल्भा- प्रगल्भ-अवस्था-क्रोध व काम वाली, स्पर्श में भी अचेतन होने वाली यह प्रगल्भा भी मध्या की तरह तीन प्रकार की होती है।[74] नाट्यदर्पणकार ने सभी प्रकार की नायिकाओं के ये तीन भेद मुग्धा (1 प्रकार), मध्या (धीरा, अधीरा, धीराधीरा), प्रगल्भा (धीरा, अधीरा, धीराधीरा) दिये हैं। इनकी मानवृत्ति का भी आचार्य ने वर्णन किया है। आगे अवस्थाओं के भेद से आचार्य ने भी नायिकाओं का अष्टधा विभाजन किया है।[75]

प्रोषिता - किसी काम से पति के प्रवास में होने से जो अभूषा-केश-शरीर आदि के अलंकरण रहित हो, उसे प्रोषिता कहते हैं।

विप्रलब्धा- किसी कार्य के करने को दूती को भेजकर भी, संकेत करने पर भी जिसका प्रिय नहीं आता उसे विप्रलब्धा कहते हैं।

खण्डिता- पति के अन्यासक्ति के कारण वासकसज्जा प्रिय के विषय में जो ईर्ष्याकलुषित होती है, वह खण्डिता होती है।

कलहान्तरिता- ईर्ष्या व कलह के कारण व्यवहित कर दिया है प्रिय समागम जिसने, ऐसी समागम विषयक पीडावाली नायिका को कलहान्तरिता कहते हैं।

विरहोत्कण्ठिता- बिना किसी अपराध के समागम की इच्छा वाले नायक के कुछ विलम्ब के कारण जो उत्कंठित होती है, उसे विरहोत्कण्ठिता कहते हैं।

वासकसज्जा- प्रिय के साथ रात्रि में निवास ही वसन है, उसमें जो उचित कार्य कलापों में तत्पर हो, उसे वासक कहते हैं अतः प्रिय के विषय में प्रसन्न व मण्डनयुक्ता नायिका को वासकसज्जा कहते हैं।

स्वाधीनभर्तृका - प्रिय जिसके वश में हो और सन्निकट भी हो, ऐसी सुभगमन्या नायिका स्वाधीनभर्तृका कहलाती है।

अभिसारिका - स्वयं पति के पास अभिसरण करे या प्रिय को जो अपने पास बुलाए उसे अभिसारिका नायिका कहते हैं।

भावप्रकाशन

भावप्रकाशन में नायिकाभेद को वर्णित करते हुए आचार्य का कथन है कि नायिका तीन प्रकार की होती है-स्वकीया (अपनी स्त्री) परकीया (अन्य की स्त्री) तथा साधारण स्त्री अर्थात् वेश्या।[76]

स्वकीया का भेद - लक्षण प्रस्तुत करते हुए आचार्य का कथन है-

मुग्धा मध्या प्रगल्भेति त्रेधा स्वीया विभज्यते।
मध्या त्वधीरा धीरा च धीराधीरेति भिद्यते।।
भिन्ने ज्येष्ठाकनिष्ठेति प्रगल्भा मध्यमापि च।
तयोरुदात्तललितषान्तिभेदैस्त्रिधा भिदा।।[77]

अर्थात् स्वीया (स्वकीया) नायिका तीन प्रकार की होती हैं- मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा। मध्या के अधीरा, धीरा तथा धीराधीरा भेद होते हैं। ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा के भेद से प्रगल्भा तथा मध्यमा के दो-दो भेद होते हैं। उन दोनों के उदात्त, ललित तथा शान्ति भेद से तीन भेद होते हैं।

परकीया के भेद का वर्णन करते हुए उनका कथन है कि परकीया नायिका दो प्रकार की होती है-ऊढा (विवाहिता), कन्यका (अविवाहिता)।[78]

साधारण स्त्री को वह वेश्या बतलाते हैं और कहते हैं कि वह (वेश्या) एक ही प्रकार की होती है, उसके भेद नहीं होते।[79] अब उनके स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्य का कथन है कि 'जो समान कुल तथा शील वाला पुरुष किसी स्त्री के साथ अग्नि को साक्षी मानकर विवाह करता है, उस पुरुष की वह स्त्री 'स्वकीया' होती है।[80] जबकि वही स्त्री पति की अवहेलना करने पर परकीया हो जाती है और कन्या के उल्लंघन पर भी वह 'परकीया' होती है न कि कुलांगना।[81] आचार्य ने स्वकीया के भेद रतौ मुग्धा, रतौ मध्या, रतौ प्रगल्भा, रतौ धीरा, रतौ अधीरा, रतौ-धीराधीरा के स्वरूप को भी परिभाषित किया है।[82] तत्पश्चात् उदात्ता-उद्धता-शान्ता-ललिता नायिकाओं के स्वरूप को भी वर्णित किया है।[83] आगे अवस्था-भेद से नायिकाओं के आठ प्रकारों के स्वरूप का वर्णन भी आचार्य द्वारा किया गया है।[84]

आचार्य का कथन है कि सभी स्त्रियों के ये साधारण गुण हैं। 'स्वकीयाओं' में वे गुप्त रहते हैं, 'परकीयाओं' में मध्यम स्थिति में रहते हैं तथा साधारण स्त्रियों में प्रसिद्ध ही हैं।[85]

इस प्रकार 'स्वकीया' नायिका के 13 भेद, परकीया के 2 भेद तथा वेश्या का एक प्रकार अर्थात् 16 प्रकार की नायिकाएँ होती हैं। पुनः वे नायिकाएँ उत्तम, मध्यम तथा अधम के भेद से तीन प्रकार की और होती हैं। इस प्रकार आचार्य नायिकाओं के 384 भेद करते हैं। नायिका-भेद से पूर्व आचार्य ने नायिकाओं की सखियों (दूती)[86] का भी उल्लेख किया है।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र संबंधी ग्रन्थों, जिनमें भरतकृत नाट्यशास्त्र, धनंजयकृत दशरूपक, रामचन्द्र-गुणचन्द्रकृत नाट्यदर्पण और सागरनन्दी कृत नाटकलक्षणरत्नकोष इत्यादि का नाम नायिका-भेद प्रकरण की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है, उनमें नायिका-भेद का यथास्थान निरूपण हुआ है किन्तु भरत के ग्रन्थ के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों में अपने पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रकारों का ही प्रायः अनुकरण मात्र है। अतः नायिकासंबंधी अन्य काव्यशास्त्रकारों की कृतियों का विवेचन देने हेतु स्थानाभाव के कारण मेरे द्वारा विस्तारपूर्वक यहाँ नहीं कहा गया।

नायक-नायिका भेद की दृष्टि से काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों के दो वर्ग हैं-

(क) शृंगार रस के अन्तर्गत नायिका भेद निरूपक ग्रन्थ-

इन ग्रन्थों में रुद्रट का काव्यालंकार, भोज का शृंगारप्रकाश, विश्वनाथ का साहित्यदर्पण, शारदातनय कृत भावप्रकाशन, हेमचन्द्र कृत काव्यानुशासन, रुद्रभट कृत शृंगारतिलक, रुद्रट कृत काव्यालंकार इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं।

(ख) केवल नायक-नायिका भेद निरूपक ग्रन्थ-

इस वर्ग में दो ग्रन्थ अत्यधिक प्रसिद्ध है- भानुमिश्र का 'रसमंजरी' और रूपगोस्वामी का 'उज्ज्वलनीलमणि'। इसके अतिरिक्त कामशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ भी हैं जिनमें नायिका भेद निरुपित हुआ है यथा वात्स्यायन कृत 'कामसूत्र', अनंगरंग रतिरहस्य, पंचसायक इत्यादि।[87]

काव्यालंकार

रुद्रट के अनुसार नायिका के (सामाजिक बन्धन के आधार पर) प्रमुख तीन भेद हैं- आत्मीया, परकीया और वेश्या यथोक्तम् "आत्मान्यसर्वसक्तास्तिस्रो लज्जान्विता

यथोक्तगुणाः।"[88] आत्मीया के रति-विकास के आधार पर तीन भेद हैं- मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा।[89] एक ओर मुग्धा जहाँ 'नवयौवनजनितमन्मथोत्साहा' होती है।[90] मध्या 'आविर्भूत-मन्मथोत्साहा'[91] और 'किंचिद्धृतसुरतचातुर्या' होती है, वहाँ प्रगल्भा 'रतिकर्मपण्डिता' होती है तथा नायक के अंक में द्रवित होकर यह विवेक खो बैठती है कि यह कौन, मैं कौन हूँ और यह सब कुछ क्या हो रहा है।[92]

इनमें से मध्या और प्रगल्भा के (पति द्वारा प्राप्त प्रेम के आधार पर) पूर्व में दो-दो भेद हैं- ज्येष्ठा और कनिष्ठा[93], फिर इन दोनों के (मान-व्यवहार के आधार पर) तीन-तीन भेद हैं- धीरा, अधीरा और मध्या।[94] इस प्रकार ये बारह भेद और मुग्धा का एक भेद मिलकर आत्मीया के कुल तेरह भेद हुए।

परकीया के दो भेद हैं- कन्या और अन्योढा (विवाहिता)।[95] एक ओर कन्या[96] जहाँ 'सुस्निग्धस्फारलोचना', 'सादरभाषते सुखी', 'श्चयत्यलंकारवतंसरशनादि' इत्यादि गुणों से युक्त होती है, वही अन्योढा[97] 'उद्भूतानन्दभरा', प्रस्नुतजघनस्थलार्द्रवसना, निष्पन्दतारनयना' हो जाती है।

वेश्या का एक ही रूप है।[98] इस प्रकार नायिका के कुल 16 भेद हुए। स्वकीया[99] के रुद्रट ने फिर दो भेद माने हैं- स्वाधीनपतिका[100] और प्रोषितपतिका[101]।

इनमें से 'सुरतानन्द की लालसा में आसक्त जिस नायिका का पति उसी के साथ समान रूप से रति-क्रीडा में प्रसन्न रहता हैं'; वह स्वाधीनपतिका है। तथा 'जिसका पति निश्चित अथवा अनिश्चित अवधि के लिए देशान्तर को चला गया है', वह प्रोषितपतिका है। इसके अतिरिक्त आत्मीया, परकीया और वेश्या के दो-दो अन्य भेद इन्होंने माने हैं- अभिसारिका[102] और खण्डिता।[103] परन्तु विद्वानों के विचार में इन दोनों भेदों की संगति भी इन तीनों नायिकाओं के साथ घटित होना संभव नहीं है। अभिसरण का क्षेत्र परकीया तक ही सीमित है, न वेश्या को इसकी आवश्यकता है और न आत्मीया को। 'खण्डिता' का सम्बन्ध आत्मीया के साथ है, परकीया के साथ भी यह संगत हो सकता है पर वेश्या के साथ यह तर्कसम्मत प्रतीत नहीं होता। किस-किस वैशिक के लिए वह खण्डिता बनकर दुःखड़े रोती रहेगी।[104]

नायिका के भरत-सम्मत स्वाधीनपतिका आदि आठ भेद तथा उत्तम, मध्यम और अधम तीन भेद काव्यालंकार में भी परिगणित हुए है। उपर्युक्त 16 प्रकार की नायिकाओं के साथ इन भेदों का गुणनफल नायिकाभेद को (16×8×3) = 384 की संख्या तक पहुँचा देता है। परन्तु काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु ने इस स्थल को क्षेपक माना है।[105]

अगम्या नारियाँ[106]- रुद्रट ने निम्नलिखित अगम्या नारियों का भी उल्लेख किया है- सम्बन्धिनी, सखि, श्रोत्रिया, राजदारा, उत्तमवर्णदारा, निर्वसितदारा, भिन्नरहस्या, व्यंगा विकृतांगा) और प्रव्रजिता।

रसमंजरी[107]

रुद्रट के उपरान्त नायिका-भेद प्रकरण की दृष्टि से भानुमिश्र का स्थान है। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'रसमंजरी' में नायिका भेद का स्वतंत्र रूप से निरूपण किया है। इस ग्रन्थ की महत्ता इसी से प्रमाणित होती है कि स्वयं रुद्रट ने इन्हें अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है। भानुमिश्र के अनुसार नायिका के प्रमुख तीन भेद हैं- स्वीया, परकीया और सामान्या।

1. स्वीया- स्वीया के प्रमुख तीन भेद हैं- मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा।

मुग्धा के पुनः दो भेद-अज्ञातयौवना और ज्ञातयौवना और फिर पति के प्रति विश्रब्धता के आधार पर दो अन्य भेद है- (अविश्रब्ध) नवोढा और विश्रब्धनवोढा। मध्या विश्रब्धनवोढा तो होती ही है प्रायः अति विश्रब्धनवोढा की सीमा तक भी पहुँच जाती है। प्रगल्भा के दो भेद हैं-रतिप्रीतिमती और आनन्दसम्मोहवती। पुनः मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के मानावस्थाजन्य तीन-तीन भेद बताते है-धीरा, अधीरा और धीराधीरा। फिर इन छहों नायिकाओं के पतिस्नेह के आधार पर दो-दो भेद हैं-ज्येष्ठा और कनिष्ठा। इस प्रकार स्वीया के कुल 13 प्रमुख भेद हुए।

2. परकीया- परकीया के दो भेद है- (क) परोढा (ख) कन्यका।

अपने समय में प्रचलित गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयना और मुदिता आदि नायिका भेदों और उनके उपभेदों का अन्तर्भाव भानुमिश्र ने परकीया के अन्तर्गत माना है। सामान्या के भेदोपभेदों की चर्चा भानुमिश्र ने नहीं की है। इस प्रकार नायिका के कुल 16 भेद हुए। भरत-सम्मत स्वाधीनपतिका आदि आठ भेदों तथा उत्तमादि तीन भेदों के साथ

गुणन द्वारा यही 16 भेद भानुमिश्र के मत में 384 तक पहुँच जाते हैं परन्तु भानुमिश्र निरुपित नायिका के अन्य तीन भेद- अन्यसम्भोगदुःखिता, वक्रोक्तिगर्विता (प्रेमगर्विता, सौन्दर्यगर्विता) तथा (लघु-मध्यम-गुरु) मानवती, इनमें सम्मिलित नहीं है। अवस्था के अनुसार प्रवत्स्यतपतिका नामक नवीं नायिका भी इन्होंने गिनायी है। श्रीकृष्ण कवि द्वारा परिगणित नायिका के दिव्या, अदिव्या और दिव्यादिव्या भेद इन्हें स्वीकृत नहीं हैं।

3. दूती - निरुपण के अन्तर्गत इन्होंने सखी-कर्म का उल्लेख करते हुए मण्डन, उपालम्भ, शिक्षा, परिहास आदि का परिगणन किया है तथा संघटन, विरह-निवेदन आदि दूती के कर्म बताये हैं।

शृंगारप्रकाश

आचार्य भोज ने अपने ग्रन्थ शृंगारप्रकाश के 15वें प्रकाश में नायिका-भेद वर्णन में रत्यालम्बनविभाव के अन्तर्गत नायिका के चार (4) प्रकार 'स्वकीया, परकीया, पुनर्भूः तथा सामान्या' का वर्णन किया है। आचार्य के द्वारा इनके लक्षण नहीं दिये गए अपितु उदाहरणों के माध्यम से ही इन्हें बतलाया गया है।[108]

तदनन्तर स्वकीया तथा परकीया के 'उत्तमा, मध्यमा, कनिष्ठा, ऊढा, अनूढा, धीरा, अधीरा, मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा' भेद से 143-143 भेद किये है।[109] 'पुनर्भूः नायिका के अक्षता, क्षता, यातायाता, यायावरा ये 4 भेद किये है।[110] सामान्य नायिका के 'ऊढा, अनूढा, स्वयंवरा, स्वैरिणी-ये 4 भेद किये है।[111] वेश्या को उन्होंने गणिका, विलासिनी तथा रूपाजीवा बतलाया है।[112] आगे आचार्य कहते है कि पुनर्भः तथा सामान्या के भी उत्तमादि भेद यथासंभव किये जा सकते हैं।[113] तत्पश्चात् अवस्था के आधार पर नायिकाओं के आठ भेदों का वर्णन उदाहरण के माध्यम से ही करते हैं तथा ये अवस्थाएँ स्वकीया, सामान्या और पुनर्भूः की ही बतलाते हैं, परकीया की नहीं।[114]

अपने ग्रन्थ के 21वें प्रकाश (मोक्षशृंगारप्रकाश) में आचार्य का कथन है कि जिस प्रकार नायक, उपनायक, अनुनायक तथा प्रतिनायक होता है उसी प्रकार 'नायिका, उपनायिका, अनुनायिका तथा प्रतिनायिका' भेद से चार नायिका-भेद होते हैं। इनमें से प्रत्येक के 'उदात्ता, उद्धता, ललिता और शान्ता-ये चार भेद होते हैं।[115] इस प्रकार सोलह (16) प्रकार की नायिकाएँ

होती हैं और ये भी उत्तममध्यमकनिष्ठादि भेद से युक्त हो सकती हैं।[116] इन्होंने नायिका के गुणों[117] का भी वर्णन किया है। नायिका के 16 गुण इस प्रकार हैं- 'महाकुलीनता, रूपसम्पत्तिः, यौवनं, सुवेषता, सौभाग्यं, शुचिताशीलसम्पत, प्रियंवदता, चातुर्य, वाग्मिता, शास्त्रज्ञानं, अदीनवाक्यता, अविकत्थनत्वं, मानिता, कृतज्ञता, दृढभक्तित्वम् इति।'

आचार्य के द्वारा दूती के प्रकारों[118] का भी वर्णन किया गया है। उन्होंने स्त्रियों में दूती के चार प्रकार बतलाए हैं-

1. निसृष्टार्था (समग्रबुद्धिगुणयोगात्)
2. परिमितार्था (बुद्धिगुणसम्पद्योगात्)
3. पत्रहारिका (बुद्धिगुणवादसम्पद्योगात्)
4. मूकदूती (समस्तबुद्धिगुणाभावात्)

इनके भी प्रभेद बतलाकर 'स्वयंदूती, वातदूती, मूढदूती, भार्यादूती, छद्मदूती, व्याजदूती, मन्त्रदूती, तन्त्रदूती' ये बारह (12) प्रकार कहे हैं। आचार्य के द्वारा यह प्रकरण 'लक्षण व उदाहरण सहित' सुव्यवस्थित वर्णित किया गया है।

30वें प्रकाश में 'मानधर्म' के अन्तर्गत उन्होंने कहा है कि नायिकाओं के उत्तममध्यमादि भेद 'गुण'-वय-चेष्टा-प्रकृति पर आश्रित हैं अर्थात् 'उत्तमा-मध्यमा- कनिष्ठा' भेद गुणाश्रित, 'मुग्धा- मध्यमा-प्रगल्भा' ये तीन भेद वयस्कृत, 'उद्धता-उदात्ता ललित-शान्ता' ये चेष्टाकृत तथा 'धीरा-अधीरा' ये भेद धैर्यकृत हैं।[119]

आचार्य भोज द्वारा 33वें प्रकाश (सम्भोगप्रकाश) में 'उपसर्गार्थविशिष्टः प्रत्ययार्थः' के अन्तर्गत 32 प्रकार की नायिकाओं के 4 विभाग किये गये हैं, वे इस प्रकार हैं-

(उपसर्गार्थ भेदेषु नायिकाभेदः)

1. संक्षेप[120]- इसमें निम्नलिखित नायिकाओं का परिगणन किया गया है-

कनिष्ठा	-	अर्थगुणसम्पद्योगिनी कनिष्ठा।
मुग्धा	-	अप्रगल्भा मुग्धा
अधीरा	-	कालहरणासहिष्णुरधीरा
शान्ता	-	निरहंकारा शान्ता

ऊढा - कुमार्यनूढा

परकीया - अन्यपरिग्रहः परकीया

अभिसारिका - स्वयमुपगताभिसारिका

कलहान्तरिता - पश्चातापवती

2. संकर[121]- इसमें निम्नलिखित नायिकाओं का परिगणन किया गया है-

मध्यमा - दानगुणसम्पद्युक्ता मध्यमा

मध्या - किंचिदुपारुढयौवना मध्या

उद्धता - अहंकारवत्युद्धता

पुनर्भूः - पुरुषात् पुरुषान्तरं प्राप्ता पुनर्भूः

वेश्या - पण्यांगना वेश्या

सामान्या - अनेकपतिका सामान्या

खण्डिता - खण्डितप्रथमप्रेमा खण्डिता

विप्रलब्धेति - संकेतभ्रष्टा विप्रलब्धा

3. सम्पूर्णत्व122 - इसमें निम्नलिखित नायिकाओं का परिगणन किया है-

ज्येष्ठा - प्रथमोढा ज्येष्ठा

प्रगल्भा - रत्युपचारचतुरा प्रगल्भा

अधीरा - कालासहिष्णुरधीरा

धीरललिता - नातिचिरमन्युर्ललिता

स्वैरिणी - आत्मच्छन्दा स्वैरिणी

गणिका - कलाचतुष्षष्टिर्गणिका

वासकसज्जा - गृह एव प्रगुणितोपकरण वासकसज्जा

विरहोत्कण्ठिता - वियोगादौत्सुक्यवती विरहोत्कण्ठिता

4. सम्यक्त्व[123] - इसमें निम्नलिखित नायिकाओं का परिगणन किया है-

उत्तमा - सर्वगुणसम्पद्योगिनी उत्तमा

उदात्ता - उदारचेष्टा उदात्ता

ऊढा - पाणिगृहीती ऊढा

स्वकीया - अनन्यपरिग्रहा स्वकीया

कनिष्ठा - पश्चादूढा कनिष्ठा

रूपाजीवा - रूपातिशायिनी रूपाजीवा

स्वाधीनपतिका - आयत्तभर्तृका स्वाधीनपतिका

प्रोषितभर्तृका - प्रियवियोगवती प्रोषितभर्तृका

इस प्रकार शृंगारप्रकाशकार द्वारा नायिका-भेद का स्वतंत्ररूप से अतिविस्तृत वर्णन किया गया है। उपसर्ग भेद की दृष्टि से नायिका विभाजन नवीन है जो अब तक अन्य आचार्यों ने नहीं किया है। 'पुनर्भूः' को नायिका-भेद में स्थान दिया है। वात्स्यायन कृत 'कामसूत्र' में भी 'पुनर्भूः' नायिका का वर्णन है।[124]

शृंगारतिलक

रुद्रभट ने तीन नायिकाएँ 1. स्वकीया 2. परकीया तथा 3. सामान्यवनिता बतलाई है। यथोक्तम्- स्वकीया परकीया च सामान्यवनिता तथा।

कलाकलापकुषलास्तिस्रस्तस्येह नायिकाः।।[125]

वहाँ 'स्वकीया' का लक्षण करते हुए कहते है कि- पौराचाररता साधवी क्षमार्जववविभूषिता।

अर्थात् स्वकीया नगरीय आचार में तत्पर, साध्वी, क्षमा एवं आर्जव आदि गुणों से युक्त होती है और यह मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा के भेद से तीन प्रकार की होती है।[126]

आचार्य ने 'मुग्धा'[127] को नवयौवनभूषिता, नवार्नैरहस्या और लज्जाप्रायरति कहा है; 'मध्या'[128] को 'आरुढयौवना, प्रादुर्भूतमनाभवा तथा प्रगल्भवचना, विचित्रसुरता' कहा है तो वहीं 'प्रगल्भा'[129] को 'लब्धायतिः, समस्तरतिकोविदा, आक्रान्तनायका तथा विराजद्विभ्रमा' कहते हैं। आचार्य इन सभी को उदाहरणों द्वारा व्याख्यायित करते हैं। आगे रुद्रभट्ट मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा के मान के ढंग तथा उसे मनाने के उपाय भी बतलाते हैं। साथ ही उनके सुरत स्वभाव का वर्णन भी करते हैं।[130] आचार्य रुद्रभट आगे मध्या तथा प्रगल्भा नायिका के धीरा, मध्या व अधीरा' भेद से (दोनों के) कुल 6 प्रभेद बतलाते हैं।[131]

इस प्रकार स्वकीया के भेद-प्रभेद, रति-स्वभाव तथा कोपचेष्टाओं की विवेचना के पश्चात् आचार्य अन्त में स्वीया की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि- "जो सुख-दुःख, (यहाँ तक कि) मरण में भी नायक का साथ नहीं छोड़ती, वह स्वीया नायिका है। ऐसी नायिका से पुण्यवालों को ही प्रेम होता है।" यथोक्तम्-

संपत्तौ च विपत्तौ च मरणे या न मुंचति
स स्वीया तां प्रति प्रेम जायते पुण्यकारिणः।।[132]

स्वकीया के भेद-कथन के पश्चात् पुनः कवि मुग्धा के बारे में कहते हैं कि मुग्धा और पुनर्भूः सदा समान आकार (स्वभाव) की होती हैं अतः दोनों का अन्तर बहुत सूक्ष्म होने के कारण कवियों के द्वारा उनका वर्णन नहीं किया गया अर्थात् कवियों ने मुग्धा के भेद नहीं दिए।[133] यहाँ पर आचार्य ने मुग्धा और पुनर्भूः को एक ही श्रेणी में रखा है परन्तु वात्स्यायन मुनि ने पुनर्भूः के भेद भी बताये हैं।[134]

तदनन्तर आचार्य ने मध्या और प्रगल्भा के ज्येष्ठा व कनिष्ठा दो-दो भेद किये हैं।[135] इन द्विविध भेदों के साथ मध्या व प्रगल्भा क्रमशः छः-छः प्रकार की हो जाती हैं। वात्स्यायन कृत कामसूत्र में ज्येष्ठा को बड़ी सपत्नी तथा कनिष्ठा को छोटी सपत्नी कहा गया है।[136]

स्वकीया के वर्णन के पश्चात् आचार्य ने परकीया[137] के दो भेद-कन्या व ऊढा के बारे में बतलाया है। उनका कथन है कि 'ये दोनों ही प्रिय होती है और देखने-सुनने मात्र से भी कामातुर हो जाती हैं।' इनकी कामचेष्टाओं के कथन के पश्चात् आचार्य कहते है कि-'स्वीया नायिका अन्य (नायक) की शरण में नहीं जाती जबकि परांगना रतिसुख के कारण हर लेने योग्य होती हैं। इसका तो केवल प्रेम ही उद्देश्य होता है, जिससे यह प्रेमियों को अभिमत होती है।'[138]

'वेश्या'[139] के बारे में रुद्रभट कहते हैं कि-'सामान्य स्त्री 'वेश्या' कहलाती है। उसे गुणहीन पुरुष से न द्वेष होता है और न गुणवान पुरुष से प्रेम। वे आगे लिखते हैं कि ''यदि वेश्याएँ रागरहित हों तो उनका सब हावभाव आदि व्यापार शृंगाराभास होने लगेगा और प्रश्न उपस्थित होगा कि क्या उनके कामभाव को बगुले ने चर लिया है।'' इसमें सिद्ध होता है कि उनके अंदर भी कहीं-कहीं राग होता है लेकिन वे हमेशा धन के लिए बनावटी हावभाव से

लोगों को मोहित करती हैं। शृंगारतिलक के संपादक आर. पिशेल का कथन है कि 'रुद्रभट वेश्याओं के बड़े प्रशंसक हैं।'[140] 'पी.वी. काणे भी इस मत से साम्य रखते हैं।[141]

रुद्रभट आगे तीन श्लोकों में वेश्या का गुणगान करते हुये कहते हैं कि 'कुलांगनाओं' में नायक की ईर्ष्या नहीं होती और 'परांगनाओं' में निःशंक कामक्रीडा नहीं होती। लेकिन वेश्याओं में ये दोनों बातें खूब पायी जाती हैं। अरे! ये तो कामदेव का सर्वस्व हैं।[142]

वे कहते हैं कि ये वेश्याएँ ब्रह्मचारी, गुप्तकामुक, अपने को पुरुष मानने वाले नपुसंक, आसानी से प्राप्त धन वाले मूर्ख, पिता के धन पर घमण्ड करने वाले इत्यादि गँवारों को जानकर पहले उनके धन को ले लेती हैं फिर अपरिचित के समान उन्हें छोड़ देती हैं और सन्तप्त करती हैं किन्तु कला और क्रीडा में कुशल उन वेश्याओं का सुरत मनोरम और अन्य स्त्रियों को भुला देने वाला होता है।[143]

इस प्रकार स्वकीया के 13 प्रकार, परकीया के 2 प्रकार और वेश्या का एक प्रकार मिलाकर नायिकाओं के कुल 16 प्रकार हुए। अब वे नायिकाओं का अष्टधा विभाजन करते हैं।
अवस्था भेद से नायिका (8 प्रकार)[144]

वे कहते हैं कि अवस्था-भेद से नायिकाएँ आठ प्रकार की होती हैं। ये इस प्रकार हैं- 1. स्वाधीनपतिका 2. उत्का 3. वासकसज्जा 4. अभिसन्धिता 5. विप्रलब्धा 6. खण्डिता 7. अभिसारिका 8. प्रोषितपतिका।

उत्तमा - जो नायक के दोष के अनुरूप क्रोध करती है फिर उसके मनाने पर प्रसन्न हो जाती है, पति से बहुत प्यार करती है और गुणों द्वारा आकृष्ट की की जा सकती है, उसे उत्तमा कहते हैं।[145]

मध्यमा - नायक के थोड़े दोष पर भी जो क्रोध करती है, बहुत कष्ट से संतुष्ट होती है और किसी कारणवश प्यार करती है, उसे मध्यमा कहते हैं।[146]

अधमा - जो बिना किसी दोष के ही पति पर क्रोध करती है और बिना मनाये ही प्रेम करने लगती है, बिना किसी कारण के प्रवृत्त होती है, और जिसका चित्त चंचल होता है, उसे अधमा कहते हैं।

आगे आचार्य कहते है कि जाति, काल, उम्र अवस्था, भाव, काम और नायक के भेद से अन्य असंख्य प्रकार की नायिकाएँ हो सकती हैं। विस्तार के भय से उनका वर्णन नहीं किया गया है। साहित्यदर्पणकार भी इस मत से सहमत हैं।[147]

काव्यानुशासन

आचार्य हेमचन्द्र भी अपने ग्रन्थ में नायिका के स्वकीया, परकीया और सामान्या ये तीन भेद करते हैं। नायक के यथासंभव गुणों से सम्पन्न नायिका होती है- ऐसा मानते हैं।[148] यहाँ वे दशरूपककार का ही अनुसरण कर रहे हैं। स्वकीया[149] का लक्षण कहते हैं 'स्वयमूढा शीलादिमती स्वा।' (7/23) अर्थात् जो नायक द्वारा विवाहित तथा शीलादि (सरलता, लज्जाशील, गृहकार्य-निपुणता) गुणों से सम्पन्न हो, वह स्वकीया नायिका कहलाती है। यहाँ पर वज्जालग्गं (49/5, 467) का उदाहरण आचार्य ने प्रस्तुत किया है।

आगे आचार्य स्वकीया के भेदों[150] को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि वह स्वकीया नायिका, (शरीर की) अवस्था और कौशल (कामोपचार में निपुणता) से तीन प्रकार की होती है- मुग्धा, मध्या और प्रौढा। पुनः उदाहरण के माध्यम से ही आचार्य श्री मुग्धा, मध्या और प्रौढा के दो-दो भेद मानते हैं- अवस्था से मुग्धा एवं रतिकौशल से मुग्धा, अवस्था से मध्या एवं रतिकौशल से मध्या तथा अवस्था से प्रौढा एवं रतिकौशल से प्रौढा।

'विवेक' में उन्होंने अवस्था से मुग्धा को 'असम्पूर्णा', अवस्था से मध्या को 'किंचितसम्पूर्णा', अवस्था से मध्या को 'किंचितसम्पूर्णा' और अवस्था से प्रौढा को 'सम्पूर्णा' कहा है।[151]

भारतीय काव्यशास्त्र में मुग्धा, मध्या और प्रौढा-यह त्रिधा विभाजन वयः क्रम के अनुसार माना गया है। आचार्य श्री ने इसमें एक मौलिक तथ्य जोड़ा है-रतिकौशल। यदि गम्भीरता से देखा जाए, तो आचार्य श्री की मान्यता सत्य के काफी निकट है। वयः तो शरीर की अवस्था है और रतिकौशल का सम्बन्ध पुरुष के साथ मिलन से है। जब 'समानलज्जामदना' को 'मध्या' और 'मदनविजितलज्जा' को प्रौढा कहा जाता है तो इसमें रतिकौशल तो आधार बनता ही है। यह सत्य है कि रतिकौशल अवस्था के साथ विकसित होता है लेकिन उसे शुद्ध अवस्था का ही परिणाम तो नहीं कह सकते। आशय यह है कि

मुग्धा आदि भेदों में नायिका की अवस्था के साथ-साथ रतिकौशल भी विचारणीय है। आचार्य श्री ने इस तथ्य का शब्दशः आख्यान किया है।[152]

आगे आचार्य मध्या और प्रौढा के 'धीरा, अधीरा और धीराधीरा' भेद से तीन प्रभेद[153] बतलाते है और पुनः इनके 'ज्येष्ठा और कनिष्ठा' भेद से 12 प्रकार बतलाते हैं।[154] आचार्य प्रथम विवाहिता को 'ज्येष्ठा' और बाद में विवाहिता को 'कनिष्ठा' बतलाते हैं।[155]

आचार्य द्वारा एक ही सूत्र में 'स्वकीया' के मुग्धा-मध्या-प्रौढा भेदों को कह दिया गया है। उनके द्वारा न तो मुग्धादि का स्वरूप और ना ही लक्षण-उदाहरणों द्वारा उनके प्रभेदों को समझाया गया है। आचार्य ने इनका उल्लेख मात्र किया है जिससे यह विषय अपूर्ण-सा रह गया है। आगे मध्या और प्रौढा की मानवृत्ति[156] दिखलाने के पश्चात् परकीया का लक्षण कहते हैं- "परोढा परस्त्री कन्या च।"[157] 7/29 अर्थात् अन्य पुरुष की विवाहिता को परोढा, परकीया या परस्त्री कहते हैं। आचार्य आगे कहते हैं कि वह (परोढा) रस का उपकार करने वाली नहीं होती, इसलिए रस का अंग नहीं बनती अतएव इसका विशेष विस्तार नहीं किया जा रहा है। 'ऊढा' उपलक्षण मात्र है। अवरुद्धा भी परस्त्री ही है। परोढा के उदाहरण स्वरूप 'दृष्टि हे प्रतिवेशिनि' तथा कन्या के उदाहरण स्वरूप 'दृष्टिः शैशवमण्डना प्रतिकलं' प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि 'कन्या तु पित्राधायत्तवादनूढापि परस्त्री।' अब सामान्या का लक्षण करते हैं- 'गणिका सामान्या।'[158]

अर्थात् जो कला, प्रगल्भता और धूर्तता से पुरुष का आकलन करती है, जो सगुण और निर्गुण दोनों ही प्रकार के पुरुषों से केवल धन के लोभवश कृत्रिम प्रेम होने पर भी अनुरक्ता के समान मिलती है, वह गणिका या सामान्या कहलाती है। इसके उदाहरणस्वरूप 'गाढार्लिनपीडितस्तनतटं'[159] श्लोक उद्धृत करते है।

अष्टधा-विभाजन- आचार्यश्री ने नायिकाओं के अवस्थानुसार ये आठ भेद माने हैं क्रमशः- स्वाधीनपतिका, प्रोषितभर्तृका, खण्डिता, कलहान्तरिता, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, विप्रलब्धा और अभिसारिका। आचार्य ने ये भेद स्वकीया के माने हैं या परकीया के- यह अस्पष्ट है।[160]

आचार्य 'परकीया' की अन्ततः तीन ही अवस्थाएँ मानते हैं और कहते हैं कि इनकी तीन ही अवस्थाएँ होती हैं[161] (संकेत-निर्धारण से पूर्व नायक के विरह में उत्कण्ठित रहने से)

'उत्कण्ठिता', (संकेत निर्धारित हो जाने पर विदूषक आदि के साथ अभिसार करने पर) 'अभिसारिका' और (किसी भी कारण से नायक के न मिलने पर) 'विप्रलब्धा'।

आचार्य का यह नायिका-भेद अपूर्ण-सा लगता है। इन्होंने परकीया के षड्धा विभाजन-मुदिता, विदग्धा, अनुशयना, गुप्ता, लक्षिता और कुलटा, दशानुसार तीन नायिकाओं-गर्विता, अन्यसंभोगदुःखिता और मानवती तथा गुणानुसार तीन नायिकाओं-उत्तमा, मध्यमा, अधमा को बिल्कुल छोड़ दिया है। नायिकाओं की सखियों के विषय में भी कुछ नहीं कहा है। इस प्रकार हेमचन्द्र द्वारा नायिका-भेद संक्षिप्त रूप से कहा गया है।

साहित्यदर्पण

साहित्यदर्पणकार ग्रन्थ के तृतीय परिच्छेद में नायिका-भेद[162] के अन्तर्गत नायिका के तीन भेद-स्वकीया, परकीया और साधारण स्त्री बताते हैं। उनका कथन है कि नायिका सम्भव नायक के गुणों से युक्त (अर्थात् दक्षता, उत्साह और तेज गुणों को छोड़कर) होनी चाहिए। वहाँ स्वकीया का 'विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया'- यह लक्षण करते हैं अर्थात् विनय (शिष्टाचार), सरलता (निष्कपटता से रहना) आदि गुणों से युक्त घर के कार्यों में तत्पर पतिव्रता स्त्री 'स्वकीया'[163] नायिका कहलाती है।

आचार्य भी 'स्वकीया' के मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा-तीन भेद बतलाते हैं।[164]

वे मुग्धा[165] को 'प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा, इतौ वामा, माने मृदु समधिकलज्जावती' कहते हैं।

मध्या[166] को 'विचित्रसुरता, प्ररुढस्मरा, प्ररुढयौवना, ईषत्प्रगल्भवचना तथा मध्यमव्रीडिता' बतलाते हैं।

वहीं प्रगल्भा[167] 'स्मरान्धा, गाढतारुण्या, समस्तरतकोविदा, भावोन्नता, दरव्रीडा तथा आक्रान्तनायका' होती हैं।

पुनः आचार्य मध्या और प्रगल्भा के 'धीरा, अधीरा और धीराधीरा'-ये तीन भेद करते है।[168] आचार्य ने इनके कार्यों को स्पष्ट किया है तथा उदाहरण भी दिये हैं।

पुनः "मध्या" और "प्रगल्भा" नायिकाओं के छः भेदों को कहकर पुनः इसके दो भेद "कनिष्ठा और ज्येष्ठा"[169] (नायक प्रणय आधारित) करते हैं।

इस प्रकार 'स्वकीया' के तेरह भेद (मुग्धा=1, मध्या=6, प्रगल्भा=6 अर्थात् 1+6+6=13) करने के पश्चात् 'परकीया'[170] का लक्षण देते हैं- "परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढा कन्यका तथा।"

अर्थात् परकीया दो प्रकार की होती हैं- (1) परोढा (विवाहिता) (2) कन्या (अविवाहिता)। वहाँ परोढा[171] 'यात्रादिनिरता, कुलटा, गलितत्रपा' होती हैं तथा कन्या[172] 'अजातोपयमा सलज्जा नवयौवना' होती हैं। वेश्या का कथन करते हुए आचार्य का कथन है 'धीरा कलाप्रगल्भा स्याद्वेश्या सामान्यनायिका।'[173] आगे चार कारिकाओं में वेश्या के स्वरूप[174] का वर्णन आचार्य द्वारा किया गया है। पुनः 16 नायिकों के अवस्था भेद[175] से आठ प्रकार बताये हैं, जो क्रमशः स्वाधीनभर्तृका, खण्डिता, अभिसारिका, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, पोषितभर्तृका, वासकसज्जा और विरहोत्कण्ठिता हैं।

इस प्रकार स्वकीया के तेरह भेद, परकीया के दो भेद तथा सामान्या का एक भेद मिलाकर कुल सोलह (16) भेद हुए। इनमें से प्रत्येक के (अवस्थानुसार) आठ भेद होने से (16x8) 128 भेद होते हैं। पुनः इनके उत्तम, मध्यम और अधम भेद (128x3) से 384 भेद होते हैं।

आचार्य कहते हैं कि इनके अतिरिक्त भी (नायिकाओं के) पद्मिनी, हस्तिनी, दिव्य, अदिव्य आदि असंख्य नायिकाएँ हैं किन्तु उनको विस्तार की आशंका से नहीं कहा है।[176] आचार्य ने नायिकाओं के सखीजन[177] का भी वर्णन किया है। उन्होंने निम्नलिखित दूतियाँ बतलाई हैं-सखी, नर्तकी, दासी, धात्रेयी, प्रतिवेशिन (पड़ौसिन), बाला, प्रव्रजिता (संन्यासी, क्षपणा आदि), कारु (धोबी, बढई, जुलाहा, नाई, चमार स्त्री आदि), शिल्पिनी (चित्रकारिणी) आदि तथा स्वयं। दूती के गुणों का वर्णन भी आचार्य ने किया है तथा दूती के 'उत्तम, मध्यम, अधम' भेद[178] भी कहे है।

डॉ. दिनेश कुमार शुक्ल जी के 'रुद्रभट्ट विरचित शृंगारतिलक का आलोचनात्मक अध्ययन' के चतुर्थ अध्याय में नायक-नायिका के भेदों का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार सब आचार्यों ने नायिका के समस्त भेदों पर, उसकी दूती आदि पर विशदता से प्रकाश डाला है। मैंने इसके साथ नायिका तथा शृंगार रस, नायिका के प्रति पुरुष

की भूमिका का भी वर्णन किया है क्योंकि नायिका का प्रमुख शृंगार रस ही है; करुण, हास्य, विभत्स इत्यादि से उनको कोई प्रयोजन नहीं है।

चूंकि नायक-नायिका एक-दूसरे के लिए आलम्बन विभाव के अन्तर्गत आते है अतः नारी/नायिका के प्रति पुरुष का दृष्टिकोण भी समझना आवश्यक है, अतः शास्त्रकारों द्वारा अपने-अपने ग्रन्थों में उल्लिखित मत को ही मैं यहाँ प्रस्तुत कर रही हूँ। इनमें से प्रथम है- नायिका-भेद और शृंगार रस

वस्तुतः नायिका-भेद का शृंगार रस के साथ घनिष्ठ संबंध है; क्योंकि स्त्री और पुरुष क पारस्परिक रति-सम्बन्ध पर ही इन भेदों का यह विशाल प्रासाद अवस्थित है। उदाहरणार्थ स्वकीया और परकीया का मूलाधार प्रेममिश्रित यौनसम्बन्ध है तो सामान्या का केवल यौनसम्बन्ध। मानवती नायिका के मान करने का कारण केवल एक ही है-नायक द्वारा पर नारी के साथ रति-सम्बन्ध; तथा दो सौत स्वकीया नायिकाओं में से एक को ज्येष्ठा और दूसरी को कनिष्ठा कहने का कारण बड़ी अथवा छोटी आयु के साथ न होकर पति द्वारा प्राप्त स्नेह की ही अधिकता अथवा न्यूनता है।[179] इसी प्रकार स्वाधीनपतिका आदि अष्ट नायिकाएँ तथा नायिका के मुग्धा, धीरा, उत्तमा आदि भेदों का मूल कारण भी पारस्परिक रति-भाव ही है।

अतः इस, कसौटी (रति-सम्बन्ध) पर जो भेदोपभेद खरे नहीं उतरे, वे आचार्य के उत्तरवर्ती काव्यशास्त्रों तथा नाट्यशास्त्रों में स्थान नहीं पा सके अर्थात् भरतसम्मत देवताशीला आदि 21 भेदों तथा अन्तःपुर समाश्रित महादेवी आदि 17 प्रकार की नारियों का नाट्य शास्त्रोल्लिखित स्वरूप उनके रति-सम्बन्ध पर मुख्य रूप से प्रकाश नहीं डालता। यही कारण है कि भरत के उत्तरवर्ती किसी भी आचार्य ने इन भेदों का उल्लेख नहीं किया। इसी प्रकार भोज सम्मत कथावस्तु पर आधृत नायिका भेद, पुनर्भू नायिका के यातायाता और यायावरा भेद, नायिका दिव्यादि भेद भी नायिका-प्रकरण में स्थान नहीं पा सके।

"स्वकीया नायिका के तीन उपभेदों में से मुग्धा के वयः तथा तत्प्रभूत लाज-इन दो आधारों पर कुल चार भेद है-अज्ञातयौवना और ज्ञातयौवना तथा (अविश्रब्ध) नवोढा और विश्रब्ध नवोढा। अन्तिम दो भेद काव्यालंकारकार स्वाभाविक और संभव बताते हैं किन्तु

प्रथम दो भेदों पर आपत्ति व्यक्त करते हुए कहते हैं कि अज्ञातयौवना मुग्धा और उसके पति के बीच स्नेह व्यवहार-वर्णन उभयपक्षीय न होकर लगभग एकपक्षीय होने के कारण काव्य का बहिष्करणीय विषय है तथा दोनों में रतिजन्य यौनसम्बन्ध का वर्णन क्रूरता, प्रकृति-विरुद्धता तथा अनाचार का सूचक है। अतः अज्ञात-यौवना भेद प्रशस्त और शरीरविज्ञान-सम्मत नहीं है और इस दृष्टि से विलोम रूप में परिगणित 'ज्ञातयौवना' भेद की स्वीकृति भी समुचित नहीं है।"[180]

आचार्यों ने 'परकीया' के दो उपभेद किए है परोढा और कन्या ये दोनों नायक के प्रति प्रच्छन्न रूप से स्नेह निभाती चलती है। इनमें से परोढा निस्सन्देह परकीया है। जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र ने भी अवरुद्धापि परस्त्रीत्युच्यते कहकर मौलिक स्थापना की है।[181] जिन स्त्री-पुरुष के लैंगिक सम्बन्धों में समाज बाधक है, जिन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं है, उनकी सहचरी परकीया ही है। कई बार मामी, भाभी आदि से अवैध सम्बन्ध बना लिये जाते है, अपहृताओं के साथ बलात्कार किया जाता है या किसी की दुर्बलता का लाभ उठाने का प्रयत्न किया जाता है-ये सभी परकीया कहलाती है। समाज में अपनी पत्नी के साथ सहवास मान्य है या शुल्क देकर किसी स्त्री के साथ। इनमें प्रथम स्वकीया है और द्वितीय वेश्या। इन दोनों के अतिरिक्त सभी सम्बन्ध परकीया के अन्तर्गत आते है। भावी पत्नी या मंगेतर के साथ सम्बन्धों को भी सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं है। उनके साथ प्रेमसम्बन्ध तो मान्य है लेकिन यौन-सम्बन्ध नहीं। अतएव विवाह-पूर्व सम्बन्धों में लिप्त स्त्री या कन्या उस समय परकीया ही है।

लेकिन काव्यालंकार के हिन्दी व्याख्याकार 'सत्यदेव चौधरी' इससे सहमत नहीं है। वह कन्या को स्वतन्त्र भेद के रूप में देखते है। आचार्य का कथन है कि 'कन्या' को इस कारण परकीया कहना कि वह पिता आदि के अधीन रहती है (कन्यायाः पित्राधधीनतया परकीयता-र.म., पृ.सं.-51) यह युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि नायक-नायिका भेद मूलतः रति संबंध पर आधारित है किन्तु कन्या और उसके पिता के बीच पोषक-पोष्य सम्बन्ध के बल पर कन्या को परकीया कहना खटकता है, उसे स्वतंत्र भेद मानना समुचित है।[182]

आचार्यों ने नायिका-भेद में तृतीय स्थान पर वेश्या अथवा गणिका को रखा है लेकिन मृच्छकटिक को छोड़कर किसी भी काव्य अथवा साहित्य में इसे नायिका नहीं बनाया गया है। निस्सन्देह सामाजिक व्यवस्था के परिपालन के लिए तथा लोक-निन्दित होने के कारण ही ऐसा आचार्यों द्वारा किया गया है। वस्तुतः 'कामसूत्र' में नायिका-भेद[183] आया है और वहाँ उसका उद्देश्य उन स्त्रियों की गणना और विवेचना है जिनसे पुरुष को कामसुख की प्राप्ति हो सकती है; किन्तु काव्यशास्त्र में नायिका-भेद का उद्देश्य नारी मनोविज्ञान का समझाना है। संभवतः इसलिए आचार्यों ने नायिका के भेदों-प्रभेदों पर अपने-अपने दृष्टिकोण के आधार पर अपनी कलम चलाई है। रुद्रट ने नायिकाएँ384, भोजराज ने 143, विश्वनाथ ने 384, भानुमिश्र ने 354, रूपगोस्वामी ने 360, रुद्रभट ने 384, हेमचन्द्र ने 128, भावप्रकाशन में 384 भेद माने गई है।

नायिका-भेद और पुरुष

नायिका-भेद निरूपण में पुरुष का स्वार्थ पद-पद पर अंकित है। नारी उसके विलासमय उपभोग की सामग्री के रूप में चित्रित की गई है। एकाधिक नारियों के साथ रतिप्रसंग तो मानो पुरुष का जन्मसिद्ध अधिकार है। 'परकीया' नायिका पर भी यह आरोप लगाया जा सकता है कि वह पर पुरुष से प्रेम-सम्बन्ध रखती है, पर शास्त्रीय अधार पर उसका परकीयात्व इसी में है कि वह अपने पति को स्नेह से वंचित रखकर केवल एक ही पर पुरुष की वासना-तृप्ति का साधन बने, भले ही स्वयं वही पुरुष अनेक स्त्रियों का भोक्ता क्यों न हो। 'एकाधिक पुरुषों के साथ रति प्रसंग करने पर काव्यशास्त्र नारी को तो 'कुलटा' कहता है लेकिन पुरुष के एकाधिक नारी के साथ संबंध होने पर शास्त्र में कोई तिरस्कार-सूचक भाव प्रकट नहीं किया। निस्सन्देह यह पुरुष के प्रति अनुचित पक्षपात है।[184]

निरपराध भी सौत स्वकीया नायिका पुरुष के विमुक्त नहीं हो सकी। वह अपने समादर के लिए पति के प्रेम की भिखारिणी है। 'ज्येष्ठा' कहलाने का अधिकार उसे तभी मिलेगा जब उसे दूसरी सौत की अपेक्षा पति का अधिक स्नेह प्राप्त है, अन्यथा वह 'कनिष्ठा' ही बनी रहेगी-चाहे वह आयु में ज्येष्ठा भी क्यों न हो और उसका विवाह पहले भी क्यों न सम्पन्न हो चुका हो।[185]

पुरुष के स्वार्थ का साक्षी 'मुग्धा स्वकीया' नायिका का 'अज्ञात-यौवना' नामक उपभेद भी है। 'अज्ञात यौवना मुग्धा' तो नायक के विलास का साधन बनकर सरस काव्य का विषय बन सकती है, परन्तु 'सांकेतिक चेष्टाज्ञान शून्य अनभिज्ञ' नायक का वर्णन काव्य में रसाभास का विषय माना गया हैः 'अनभिज्ञो नायको नायकाभास एव।' (र.म. पृष्ठ 187) 'अज्ञातयौवना' के विषय में आचार्यों का ऐसा दृष्टिकोण क्यों?[186]

नारी की दुर्दशा का एक दृश्य यह भी है कि 'यह पुरुष का ही साहस हो सकता है कि रात-भर-पर-नारी के साथ उपभोग के उपरान्त प्रातः काल होते ही रतजगे के कारण आँखों की कालिमा तथा अन्य रति-चिन्हों के साथ स्वकीया के सम्मुख ढीठ बनकर खड़ा हो जाए और 'उत्तमा' नायिका को इतना भी अधिकार न हो कि वह उसके अनिष्ट की जरा भी कल्पना कर सके, अन्यथा वह 'मध्यमा' अथवा 'अधमा' के निम्न स्तर पर जा गिरेगी।[187]

आचार्यों ने ऐसी नारियों को मान करने का अधिकार अवश्य दिया है किन्तु इसमें भी पुरुष का स्वार्थ छिपा हुआ है। इच्छापूर्ति के लिए पादस्पर्शन-पूर्वक नायिका को मनाना नायक को और भी अधिक आनन्द देता है। धीरा, अधीरा और धीराधीरा नायिकाओं के मानमिश्रित विभिन्न कोप-प्रदर्शनों में भी नायक विभिन्न प्रकार के सुखों का अनुभव करता है। 'वक्रोक्तिगर्विता' और 'सौन्दर्यगर्विता' नायिकाओं का गर्व इन नायिकाओं को मानसिक शान्ति दे अथवा न दे किन्तु नायक की वासना को प्रदीप्त करने का साधन अवश्य बन जाता है। मानवती नायिका चाहे जितना भी तड़पा ले किन्तु शास्त्रीय दृष्टिकोण से अन्त में उसे मान की शान्ति अवश्य कर लेनी चाहिए अन्यथा काव्य का यह प्रसंग रसाभास और अनौचित्य का विषय बन जाएगा : असाध्वस्तु रसाभासः (र.मं. पृष्ठ 83) आवेशाधिक्य के वशीभूत होकर यदि वह क्रोध में आकर नायक को कभी बाहर निकाल देती है तो उसके चले जाने के बाद 'कलहान्तरिता' के रूप में पश्चाताप करना और झुँझलाना भी 'नायिका' के ही भाग्य में लिखा है। 'खण्डिता' और 'अन्यसंभोग दुःखिता' बनना, 'क्रूर' नायक की वासना का शिकार बनकर नखक्षत, दन्तक्षत आदि जन्य 'पीड़ा' को सहन करना भी नायिका के ही भाग्य में लिखा है।[188]

(ख) आधुनिक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नायिका अथवा स्त्री पात्रों की अवधारणा

जिस प्रकार पूर्ववर्ती आचार्यों भरत आदि ने तथा धनंजय आदि ने अपने नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नायिका के जिन भेदों-प्रभेदों को प्रदर्शित और विवेचित किया है उसी प्रकार से आधुनिक काव्यशास्त्रकारों के द्वारा नहीं किया गया है। नायिका-भेद निरुपण को काव्यशास्त्रकारों ने अपने ग्रन्थों में स्थान नहीं दिया है। यह विषय आचार्यों के द्वारा उपेक्षणीय रह गया है अतः यहाँ वर्तमानकालीन/आधुनिक प्रमुख काव्यशास्त्रकार तथा उनकी कृतियों[189] का नामोल्लेख मेरे द्वारा किया जा रहा है, वे इस प्रकार है-

1. वेणदत्त शर्मन तर्क वागीश कृत अलंकार चन्द्रोदय
2. राजचूड़ामणि दीक्षित कृत अलंकार चूड़ामणि
3. श्रीकरमिश्र कृत अलंकार तिलक
4. पं. श्रीपाद शास्त्री हसूरकर कृत साहित्यमंजरी
5. श्री कौत्स अप्पल्ल सोमेश्वर शर्मा कृत साहित्यविमर्श
6. महाकवि सर्वेश्वर कृत साहित्यसार
7. आचार्य छज्जूरामशास्त्री कृत साहित्यबिन्दु
8. डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा कृत काव्यसत्यालोक
9. पं. गिरिधरलालव्यासशास्त्री कृत अभिनवकाव्यप्रकाश
10. प्रो. शिवजी उपाध्याय कृत साहित्यसन्दर्भ-काव्यस्वरूप विमर्श
11. डॉ. हरिश्चन्द्र दीक्षित कृत काव्यतत्त्व विमर्श, काव्यात्मनिर्णय
12. डॉ. रमाशंकर तिवारी कृत चमत्कारविचारचर्चा
13. डॉ. रेवाप्रसादद्विवेदी कृत काव्यालंकारसूत्र
14. प्रो. राजेन्द्रमिश्र कृत अभिराजयशोभूषण
15. प्रो. रहसबिहारी द्विवेदी कृत नव्यकाव्यतत्त्वमीमांसा
16. ब्रह्मानन्द शर्मा कृत अभिनवरसमीमांसा

17. हरिशास्त्रीदाधीच कृत अलंकार कौतुभ

18. कल्याण सुब्रह्मण्य सूरि कृत अलंकार कौतुभ

19. विश्वेश्वर पण्डित कृत अलंकार कौतुभ

20. वेंकटाचार्य तर्कालंकार वागीश्वर कृत अलंकार कौतुभ

21. काशी अथवा काशीकर लक्ष्मणकवि कृत अलंकार ग्रन्थ (शाहराजीय)

इन आधुनिक काव्यशास्त्रीय आचार्यों के ग्रन्थों के देखने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि इनके ग्रन्थ काव्य के अन्य लक्षणों की ही प्रमुख रूप से व्याख्या करते है। जिस प्रकार मम्मट कृत काव्यप्रकाश में काव्य के समस्त तत्त्वों का सांगोपांग विवेचन है परन्तु नायिका अथवा सामान्य नारी के ऊपर कोई महत्त्वपूर्ण चर्चा नहीं है। वही स्थिति इन आधुनिक काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों की है अतः इनमें इनके माध्यम से नायिका के ऊपर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। प्राचीन भरत से लेकर विश्वनाथ भोज तक के आचार्यों ने नायिका भेद को सांगोपांग उपस्थित किया है परन्तु उनके ऊपर भी मेरा यह विमर्श है कि भारत की व्याख्या अधिक विस्तृत है और नारी के अन्य पक्षों को भी प्रस्तुत करती है। भरत ने अंगरचना और अन्तः प्रवृत्ति के आधार पर नारी के दिव्यसत्वा, मनुष्यता आदि 22 भेद किए और प्रकृति भेद से उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन भेद, आचरण की दृष्टि से पुनः तीन भेद, सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से पुनः 4 भेद किए है। उन्होंने प्रकृति की भिन्नता के आधार पर भी देव, असुर, गन्धर्व राक्षस आदि नारी के भेद किये है। ये भेद प्रकृति के आधार पर है; कामचेष्टाओं के आधार पर नहीं। भरत ने इसके बाद स्त्रियों के प्रति किये जाने वाले व्यवहार तथा उपचार का भी वर्णन किया है।

इस प्रकार हम कह सकते है कि भरत के अतिरिक्त पश्चादवर्ती आचार्य केवल रति के आधार पर ही नायिकाओं के भेद प्रस्तुत करते है। नारी जीवन का बहुआयामी और जो विशाल फलक है, उसमें से केवल काम प्रसंग की दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत करना, मैं मानती हूँ कि नारी का समग्रता के साथ वर्णन नहीं है। वह बालिका है, किशोरी है, पिता-माता से प्रेम में अभिन्न है और वय प्राप्त होने के बाद ही आचार्यों ने केवल नायक के प्रसंग में ही उसके एक रूप को (चाहे धीरा, अधीरा, स्वकीया, परकीया, वेश्या) प्रस्तुत किया है। नारी माता बनकर

स्नेह और ममता की मूर्ति बनती है। अधिक वय हो जाने पर भी पुत्र से संरक्षण प्राप्त करने पर भी उसका प्रेम प्रायः अविच्छिन्न ही रहता है।

इस प्रकार इतने बड़े फलक में रहने वाली नारी को केवल काम या उपभोग की वस्तुत बनाकर आचार्यों ने कितना न्याय किया है? यह मैं विज्ञ पाठकों के ऊपर ही छोड़ती हूँ। मेरे शोध का विषय प्रमुख रूप से सम्पूर्ण नारी चरित्र की अवधारणा है, उसके एक खण्डित अंग की नहीं परन्तु नाट्यशास्त्रीय आचार्यों की इस परम्परा में जो भेद प्रस्तुत किये गये हैं, हम उनकी भी उपेक्षा नहीं कर सकते। उन्हें हम समग्र नारी जीवन का एक अंश कह सकते हैं। नाट्यकारों, नाटककारों, गद्यकारों आदि ने इन भेदों को देखकर अपनी नायिकाओं को प्रस्तुत नहीं किया है। शकुन्तला, सीता आदि पर रचित नाटक और काव्यों को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि इन नायिकाभेदों के प्रति प्रायः उदासीन ही हैं। वहाँ तो शुद्ध नारीत्व के ही चित्र उपस्थित होते हैं जो कि इन नायिका-भेद के चित्रों से भिन्न और अधिक व्यापक हैं।

♦♦♦♦

सन्दर्भ

1. भूयिष्ठमेव लोकोऽये सुखमिच्छति सर्वदा।
   सुखस्य हि स्त्रियो मूलं नानाशीलाश्च ता पुनः।।
   98वाँ श्लोक, 24वाँ अध्याय, पृ.सं.-202, नाट्यशास्त्र

1.1. स्त्रीपुंसयोस्तु योगो यः स तु काम इति स्मृतः।।95।।
   सर्वस्यैव हि लोकस्य सुखदुःखनिर्वहणः।।96।।
   95-96वाँ श्लोक, 24वाँ अध्याय, पृ.सं.-202, नाट्यशास्त्र

2. देवतासुरगन्धर्वरक्षोनागपतत्रिणाम्
   पिशाचयक्षव्यालानां नर-वानर-हस्तिनाम्।।
   मृगमीनोष्ट्रमकरखरसूकरवाजिनाम्।
   महिषाजगवादीनां तुल्यशीला स्त्रियः स्मृताः।।
   99-100वाँ श्लोक, 24वाँ अध्याय, पृ.सं.-203, नाट्यशास्त्र
   शारदातनयकृत भाव प्रकाशन में भी स्त्रियों के स्वरूप बताये गये है-पृ.सं.-109-12-15

3. 101-142 तक श्लोक, 24वाँ अध्याय, पृ.सं.-203-215 नाट्यशास्त्र

4. 144-150 तक श्लोक, 24वाँ अध्याय, पृ.सं.-215-217 नाट्यशास्त्र

5. 151-152वाँ श्लोक, 24वाँ अध्याय, पृ.सं.-217, नाट्यशास्त्र

6. तत्र वासकसज्जा च विरहोत्कण्ठितापि वा।
   स्वाधीनभर्तृका चापि कलहान्तरितापि वा।।
   खण्डिता विप्रलब्धा वा तथा प्रोषितभर्तृका।
   तथाभिसारिका चैव ज्ञेयास्त्वष्टौ तु नायिकाः।।
   श्लोक सं. 210-211, पृ.सं.-231, 24वाँ अध्याय, नाट्यशास्त्र
   दशरूपक 2/3-27 तथा साहित्यदर्पण 3 तथा भावप्रकाशन में पृ.-99 पर भी नायिकाओं के आठ भेदों का उल्लेख है।

7. श्लोक सं.-212, पृ.सं.-232, 24वाँ अध्याय, नाट्यशास्त्र

8. श्लोक सं.-213, पृ.सं.-232, 24 वाँ अध्याय, नाट्यशास्त्र
   दशरूपक 2/25 तथा साहित्यदर्पण 3/86 में विरहोत्कण्ठिता नायिका का लक्षण दिया है।

9. श्लोक सं.-214, पृ.सं.-232, 24वाँ अध्याय नाट्यशास्त्र
देखिए दशरूपक 2/24 तथा साहित्यदर्पण 3/74 में

10. श्लोक सं.-215, पृ.सं.-232, 24वाँ अध्याय, नाट्यशास्त्र
देखिए दशरूपक 2/26 तथा साहित्यदर्पण 3/82 में

11. श्लोक सं.-216, पृ.सं.-233, 24वाँ अध्याय, नाट्यशास्त्र
देखिए दशरूपक 2/25 तथा साहित्यदर्पण 3/75

12. श्लोक सं.-217, पृ.सं.-233, 24वाँ अध्याय, नाट्यशास्त्र
देखिए दशरूपक 2/26 साहित्यदर्पण 3/83 में

13. 218वाँ श्लोक, पृ.सं.-233, 24वाँ अध्याय नाट्यशास्त्र
देखिए दशरूपक 2/27 तथा साहित्यदर्पण 3/84 में

14. श्लोक सं.-219, पृ.सं.-234, 24वाँ अध्याय, नाट्यशास्त्र
देखिए दशरूपक 2/27 तथा साहित्यदर्पण 3/76

15. 221-224 तक श्लोक, पृ.सं.-235 24वाँ अध्याय नाट्यशास्त्र
देखिए दशरूपक 2/28 तथा साहित्यदर्पण 3/78 में

16. श्लोक सं.-19, पृ.सं.-265, 25वाँ अध्याय, नाट्यशास्त्र
स्वभावभावातिशयैर्या नारी मदनार्दिता।
करोति निभृतां लीलां ज्ञेया सा मदनातुरा।।

17. श्लोक सं. 20-23, पृ.सं.-266, 25वाँ अध्याय, नाट्यशास्त्र
देखिए भावप्रकाशन पृ.सं.-115 तथा साहित्यदर्पण 3/111-126

18. श्लोक सं.-24-27, पृ.सं.-267, 25वाँ अध्याय, नाट्यशास्त्र
भावप्रकाशन पृ.-116/1-4-5 तथा 7-12, 14-19 में भी विरक्ता नारी के गुण बतलाए है।

19. श्लोक सं.-23, पृ.सं.-266, 25वाँ अध्याय, नाट्यशास्त्र

20. श्लोक सं.-36, पृ.सं.-270, 25वाँ अध्याय, नाट्यशास्त्र
सर्वासामेव नारीणां त्रिविधा प्रकृतिः स्मृता
उत्तमा मध्या नीचा वेश्यानान्तु स्वभावजाः।।36।।

21. या विप्रियेऽपि तिष्ठन्तं प्रियं वदति नाप्रियम्।
न दीर्घरोषा च तथा कलासु च विचक्षणा।।37।।

श्लोक सं.-37-39 पृ.-270, 25वाँ अध्याय, नाट्यशास्त्र

भावप्रकाशन पृ.सं.-102-(1-1-5) में भी उत्तमा स्त्री का स्वरूप-वर्णन है।

22. श्लोक सं.-40-41, पृ.सं.-271, 25वाँ अध्याय, नाट्यशास्त्र

भावप्रकाशन पृ.सं.-102 (1-6-9) में

23. श्लोक सं.-42, पृ.सं.-272, 25वाँ अध्याय, नाट्यशास्त्र

भावप्रकाशन पृ.सं.-102, (1, 10-13) श्लोक में

24. श्लोक सं. 43-48, पृ.सं.-273, 25वाँ अध्याय नाट्यशास्त्र

25. श्लोक सं. 10-13, पृ.सं.-450-451, 34वाँ अध्याय नाट्यशास्त्र

26. श्लोक सं.-26, पृ.सं.-454 34वाँ अध्याय, नाट्यशास्त्र

दिव्या च नृपपत्नी च कुलस्त्री गणिका तथा

एतास्तु नायिका ज्ञेया नानाप्रकृतिलक्षणाः।।

27. श्लोक सं.-27, पृ.सं.-454, 34वाँ अध्याय, नाट्यशास्त्र

28. श्लोक सं.-32, पृ.सं.-455, 34वाँ अध्याय, नाट्यशास्त्र

29. श्लोक सं.-33-34, पृ.सं.-455, 34वाँ अध्याय, नाट्यशास्त्र

प्राचीन भारत के अन्तःपुर का एक व्यवस्थित रूप इस विवरण में वियमान है। इस विवरण से प्राचीनभारत में राजाओं के बहुविवाह का भी संकेत मिलता है जो कई शताब्दियों तक प्रचुरता से चलता रहा था।

30. श्लोक सं.-9-10, पृ.सं.-263, 25वाँ अध्याय, नाट्यशास्त्र

30.1 रंगोपजीवता का अर्थ अभिनवगुप्ताचार्य ने चारण या रंजक-स्त्री किया है। अभि.भा. भाग-3 पृ.सं.-234 में 'रंगोपजीवनी रंजक स्त्री चारणस्त्री'।

30.2 कारु तथा शिल्पिनी के साहित्यदर्पण में क्रमशः, धोबिन तथा चित्रकार की भार्या अर्थ किए गए है। सा.द. 3/128 की वृत्ति तथा दशरूपक में भी 2/19 द्रष्टव्य है।

31. श्लोक सं.-11, पृ.सं.-263, 25वाँ अध्याय, नाट्यशास्त्र

32. श्लोक सं.-13-15, पृ.सं.-264, 25वाँ अध्याय, नाट्यशास्त्र

भावप्रकाशन पृ.-94 (1-15) तक में

33. श्लोक सं.-240-244, 24वाँ अध्याय, पृ.सं.-239-240 नाट्यशास्त्र

34. पिता-पुत्र-स्नुषा-श्वश्रू-दृश्यं यस्मात्तु नाटकम्।

तस्मादेतानि सर्वाणि वर्जनीयानि यत्नतः।।

श्लोक सं.-298-299, पृ.-252, 24वाँ अध्याय, नाट्यशास्त्र

35. दशरूपक 2/24, पृ.सं.-134

साहित्य दर्पण 3/56, काव्यानुशासन 7/23 में भी नायिका भेद का इसी तरह वर्णन मिलता है।

36. दशरूपक 2/25, पृ.सं.-135

स्वकीया नायिका के लक्षण में संस्कृत के साहित्यशास्त्र में आदर्शवादिता की झलक मिलती है किन्तु परकीया और साधारण स्त्री के वर्णन में उनका दृष्टिकोण यथार्थवादी रहा है।

37. दशरूपक 2/103, पृ.सं.-125, हॉल का 871वाँ पद्य

38. दशरूपक 2/104, पृ.सं.-135, हॉल का 869वाँ पद्य

39. दशरूपक 2/105, पृ.सं.-136, हॉल का 866वाँ पद्य

40. नाट्यदर्पण, 4/257

41. साहित्यदर्पण, 3/57

42. भावप्रकाशन, पृ.सं.- 94

43. दशरूपक 2/26, पृ.सं.-136 'मुग्धा नववयः कामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि'

44. दशरूपक 2/26, पृ.सं.-136-137, उदा. श्लोक सं.-106-108

भावप्रकाशन में मुग्धा का स्वरूप-

शीलसत्यार्जवोपेता रहः सम्भोगलालसा।

मुग्धा नववयः कामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि।।

यतते रतिचेष्टासु पत्युर्व्रीडामनोहरम्।

अपराधे रुदत्येव न वदत्यप्रियं प्रिये।।

45. दशरूपक 2/27, पृ.सं.-139

"मध्योद्यद्यौवनानंगा मोहान्तसुरतक्षमा।"

46. दशरूपक 2/उदा. 112-113, पृ.सं.-139

47. दशरूपक 2/पृ.सं.-140 पर

48. दशरूपक 2/28, पृ.सं.-140-141, उदा. श्लोक सं.-115-117

49. दशरूपक 2/उदा.श्लोक सं.-117 के नीचे, पृ.सं.-141

50. दशरूपक 2/29, पृ.सं.-142

यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयितांगके।

विलीयमानेवानन्दाद्रतारम्भेऽप्चेतना।।

51. दशरूपक 2/उदा. श्लोक सं.-117 के नीचे, पृ.सं.-141

52. दशरूपक 2/29, पृ.सं.-142, टिप्पणी भाग में

53. दशरूपक 2/30, पृ.सं.-144

सहावहित्थेन=आकारसंवरणेनादरेण

54. दशरूपक 2/31, पृ.सं.-146

साहित्यदर्पण 3.64-65 में तथा रसार्णवसुधाकर 1.105 में भी प्रगल्भा के ज्येष्ठा, कनिष्ठा ये दो भेद कहे है।

55. दशरूपक 2/32, पृ.सं.-147

56. दशरूपक 2/32, पृ.सं.-148 वृत्ति भाग में

साहित्यदर्पण 3/66-67 तथा भावप्रकाशन में पृ.सं.-95 पर परकीया का यही लक्षण दिया है।

57. दशरूपक 2/33, पृ.सं.-148

58. दशरूपक 2/36, पृ.सं.-150

नायिका की आठ अवस्थाओं का वर्णन नाट्यदर्पण 4.261 तथा आगे, भावप्रकाशन, पृ.सं.-98, ना.शा. 210-211वाँ श्लोक, प्रतापरुद्रीय 1.41-42, साहित्यदर्पण 3.72-73 में भी प्राप्त होता है।

59. दशरूपक 2/37, पृ.सं.-152

60. दशरूपक 2/38, पृ.सं.-153

61. दशरूपक 2/39, पृ.सं.-154

62. दशरूपक 2/40, पृ.सं.-154

नाट्यशास्त्र 24/216, भावप्रकाशन पृ.सं.-98, ना. दर्पण 4.263 प्रतापरुद्रीय 1.49, साहित्यदर्पण 3.75 में भी खण्डिता का यही लक्षण है।

63. दशरूपक 2/41, पृ.सं.-155

भावप्रकाशन, पृ.सं.-95, ना.द. 4.264, प्रतापरुदीय 1.51, साहित्यदर्पण 3.82 में भी कलहान्तरिता का यही लक्षण है।

64. दशरूपक 2/42, पृ.सं.-155

भावप्रकाशन पृ.सं.-99, ना.द. 4.262, प्रतापरुद्रीय 1.47, सा.उ. 3.83 में भी

65. दशरूपक 2/43, पृ.सं.-156

66. दशरूपक 2/44, पृ.सं.-156

67. दशरूपक 2/पृ.सं.-158-159 पर

68. दशरूपक 2/46, पृ.सं.-160

69. दशरूपक 2/190

इसी प्रकार दूती वर्णन भावप्रकाशन, पृ.सं.-94, नाट्यदर्पण 4.288, प्रतापरुद्रीय 1.55, सा.द. 3.128-129, 3.47-49 में भी प्राप्त होता है।

70. नाट्यदर्पण, चतुर्थ विवेक, 19वीं कारिका, पृ.सं.-159

71. नाट्यदर्पण, चतुर्थ विवेक, पृ.सं.-159

72. 'मुग्धा वामा रते स्वल्म-माना रोहद्-वयः स्मरा।' नाट्यदर्पण, चतुर्थ विवेक, कारिका-21, पृ.सं.-159

73. 'मध्या मध्यवयः काम-माना मूर्च्छान्तमोहना'। नाट्यदर्पण, चतुर्थ विवेक, कारिका-21, पृ.सं.-160

74. 'प्रगल्भेद्धवयो-मन्यु-कामा, स्पर्शेप्यचेतना।' नाट्यदर्पण, चतुर्थ विवेक, कारिका-22, पृ.सं.-160

75. नाट्यदर्पण, चतुर्थविवेक, कारिका-23-26, पृ.सं.-160-161

76. भावप्रकाशन, चतुर्थ अधिकार, कारिका-135 पृ.सं.-132

77. भावप्रकाशन, चतुर्थ अधिकार, कारिका-136, पृ.सं.-132-133

78. भावप्रकाशन, चतुर्थ अधिकार, कारिका-137 पृ.सं.-133

79. भावप्रकाशन, चतुर्थ अधिकार, कारिका-138, पृ.सं.-133

80. भावप्रकाशन, चतुर्थ अधिकार, कारिका-145, पृ.सं.-135

81. भावप्रकाशन, चतुर्थ अधिकार, कारिका-145, पृ.सं.-135

82. भावप्रकाशन, चतुर्थ अधिकार, कारिका-147-152, पृ.सं.-135-137

83. भावप्रकाशन, चतुर्थ अधिकार, कारिका-154-157, पृ.सं.-137-138

84. भावप्रकाशन, चतुर्थ अधिकार, कारिका-158-167 तक, पृ.सं.-139-141

85. भावप्रकाशन, चतुर्थ अधिकार, कारिका-175-178, पृ.सं.-143-144

86. भावप्रकाशन, चतुर्थ अधिकार, कारिका-130, पृ.सं.-132

87. काव्यालंकार, द्वादश अध्याय, कारिका-6, पृ.सं.-367

88. काव्यालंकार, द्वादश अध्याय, कारिका-16, पृ.सं.-381

89. काव्यालंकार, द्वादश अध्याय, कारिका-17, पृ.सं.-381

90. काव्यालंकार, द्वादश अध्याय, कारिका-18-20, पृ.सं.-381-382

91. काव्यालंकार, द्वादश अध्याय, कारिका-21-22, पृ.सं.-382

92. काव्यालंकार, द्वादश अध्याय, कारिका-24, पृ.सं.-382

93. काव्यालंकार, द्वादश अध्याय, कारिका-28, पृ.सं.-383

94. काव्यालंकार, द्वादश अध्याय, कारिका-23,26-27, पृ.सं.-382-383

95. काव्यालंकार, द्वादश अध्याय, कारिका-30, पृ.सं.-384

96. काव्यालंकार, द्वादश अध्याय, कारिका-32-35, पृ.सं.-384-385

97. काव्यालंकार, द्वादश अध्याय, कारिका-36-38, पृ.सं.-385

98. काव्यालंकार, द्वादश अध्याय, कारिका-39-40, पृ.सं.-385-386

99. काव्यालंकार, द्वादश अध्याय, कारिका-41, पृ.सं.-389

100. काव्यालंकार, द्वादश अध्याय, कारिका-45, पृ.सं.-390

101. काव्यालंकार, द्वादश अध्याय, कारिका-46, पृ.सं.-391

102. काव्यालंकार, द्वादश अध्याय, कारिका-42-43, पृ.सं.-389

103. काव्यालंकार, द्वादश अध्याय, कारिका-44, पृ.सं.-390

104. काव्यालंकार, द्वादश अध्याय, कारिका-6, पृ.सं.-368

105. काव्यालंकार, द्वादश अध्याय, कारिका-पृ.सं.-368

106. काव्यालंकार, द्वादश अध्याय, कारिका-पृ.सं.-368

107. काव्यालंकार, द्वादश अध्याय, कारिका-6, पृ.सं.-369-370

108. शृंगारप्रकाश, 15वाँ अध्याय, पृ.सं.-880

109. शृंगारप्रकाश, 15वाँ अध्याय, पृ.सं.-880, 884-908

110. शृंगारप्रकाश, 15वाँ अध्याय, पृ.सं.-882
111. शृंगारप्रकाश, 15वाँ अध्याय, पृ.सं.-883
112. शृंगारप्रकाश, 15वाँ अध्याय, पृ.सं.-883
113. शृंगारप्रकाश, 15वाँ अध्याय, पृ.सं-932
114. शृंगारप्रकाश, 15वाँ अध्याय, पृ.सं.-934
115. शृंगारप्रकाश, 21वाँ अध्याय, पृ.सं.-1088
116. शृंगारप्रकाश, 21वाँ अध्याय, पृ.सं.-1091
117. शृंगारप्रकाश, 21वाँ अध्याय, पृ.सं.-1094
118. शृंगारप्रकाश, 28वाँ अध्याय, पृ.सं.-1246-1251 तक
119. शृंगारप्रकाश, 30वाँ अध्याय, पृ.सं.-1323 से 1325 तक, 32 वाँ अध्याय, पृ.सं.-1481-1482
120. शृंगारप्रकाश, 33वाँ अध्याय, पृ.सं.-1534-1535
121. शृंगारप्रकाश, 33वाँ अध्याय, पृ.सं.-1535-1537
122. शृंगारप्रकाश, 33वाँ अध्याय, पृ.सं.-1537-1538
123. शृंगारप्रकाश, 33वाँ अध्याय, पृ.सं.-1538-1540
124. कामसूत्र, चतुर्थ अधिकरण, द्वितीय अध्याय, श्लोक-28
125. शृंगारतिलक-1/46
126. शृंगारतिलक-1/47, पृ.सं.-11
127. शृंगारतिलक-1/48, पृ.सं.-12
128. शृंगारतिलक-1/58, पृ.सं.-15
129. शृंगारतिलक-1/69, पृ.सं.-18
130. शृंगारतिलक-1/52,56,59- 63
131. शृंगारतिलक-1/65, पृ.सं.-17
132. शृंगारतिलक-1/86, पृ.सं.-23
133. शृंगारतिलक-1/82, पृ.सं.-22
134. 'रुद्रट' के टीकाकार नमिसाधु का कहना है कि- 'अक्षतयोनित्वात् पुनर्विवाहिता पुनर्भू' अर्थात् यहाँ पुनर्भू उस स्त्री के लिए है जो अक्षतयोनि है अर्थात जिसका विवाह तो हो

चुका है किन्तु उसका समागम (पति के साथ) नहीं हुआ। यथा बालविवाहादि के मामले में जब समागम से पहले ही पति की मृत्यु हो जाये और फिर उसका पुनर्विवाह हो। (यह मुग्धा के सदृश होती है।)

काव्यालंकार 12/40 की व्याख्या

'पुनर्भू' के तीन भेद वात्स्यायन मुनि ने भी बतलाए है-

1. प्रथम वह है जब विधवा इन्द्रिय की दुर्बलता के कारण (असंयम के कारण) धनवान व गुणवान पति को फिर से प्राप्त करे। (विधवात्विद्रियदोर्बल्यात् आतुरा भोगिनं गुणसम्पन्नं च या पुनर्विन्देन सा पुनर्भूः) कामसूत्र भार्याधिकरिकं चतुर्थमधिकरणम् द्वितीय अध्याय, श्लोक-28 वस्तुतः यही वात्स्यायन का अपना मत है क्योंकि इसके बाद द्वितीय लक्षण बाभ्रवीय के मतानुसार है तथा तीसरा मत साधारणीकरण रूप में है।
2. 'यतस्तु स्वेच्छया पुनरपि निष्क्रमणं निर्गुणोऽयमिति तदान्यकांक्षेदिति बाभ्रवीयाः। (वहीं 29) अर्थात् विवाह के अनन्तर भी घर से निकल जाती है और अन्य को चाहती है, वे पुनर्भूः कहलाती हैं।
3. सौख्यार्थिनी सा किलान्यं पुनर्विन्देत् अर्थात् सुख की इच्छा से जो अन्य को प्राप्त होती है, वह पुनर्भू है, ऐसा भी लक्षण है। पृ.सं.-212

135. शृंगारतिलक-1/83, पृ.सं.-22
136. वात्स्यायन कामसूत्र, पृ.सं.-189
137. शृंगारतिलक-1/87, पृ.सं.-23
138. वही-1/119
139. वही-1/120-123, पृ.-32-33
140. And from sringartilak 1, 129 fs (cfr 1.7) we must conclude that the was a great admirer of courtesans- Sringartilak Edited by R. Pisohel Introduction P.-6
141. Rudrate (12-39-40) has not one good word to say abut courtesans, but the Sringanrilak while admitting the justice of the strictures Passed by some against them pats in a defince on their behalf. History of sanskrit Poetics by P.V. Kane P-158
142. शृंगारतिलक-1/128, पृ.सं.-114

143. वेश्यानां पुरुषाधिगमे रतिवृत्तिश्च सगति। रतितः प्रवर्तन स्वाभाविकं, कृत्रिमं अर्थार्थम्। तदपि स्वाभाविकवद् रूपयेत्। वात्स्यायन कामसूत्र, अथ वैशिकं नाम प्रष्ठमधिकरणम् तत्र प्रथमोऽध्यायः तथा शृंगारतिलक 1/124-126, पृ.सं.-114

144. शृंगारतिलक-1/131 से 151 तक, पृ.सं.-115-118

145. शृंगारतिलक-1/151, पृ.सं.-117

146. शृंगारतिलक-1/155, पृ.सं.-118

147. शृंगारतिलक-1/162, पृ.सं.-119

148. काव्यानुशासन, सप्तमोऽध्यायः, कारिका-22, पृ.सं.-589

भोज ने कथावस्तु, गुण, वयः, धैर्य, परिग्रह, प्रेम, मान, वृत्ति, आजीविका और अवसथा-इन दश आधारों पर नायिकाओं का वर्णन किया है (सरस्वतीकण्ठाभरण-5/110-112)

149. काव्यानुशासन, सप्तमोऽध्यायः, कारिका-23, पृ.सं.-590

150. काव्यानुशासन, सप्तमोऽध्यायः, कारिका-24, पृ.सं.-591

151. काव्यानुशासन, सप्तमोऽध्यायः, कारिका-24, पृ.सं.-592

152. काव्यानुशासन, सप्तमोऽध्यायः, कारिका-24, पृ.सं.-592

153. काव्यानुशासन, सप्तमोऽध्यायः, कारिका-25, पृ.सं.-596

154. काव्यानुशासन, सप्तमोऽध्यायः, कारिका-26, पृ.सं.-597

155. काव्यानुशासन, सप्तमोऽध्यायः, कारिका-26, पृ.सं.-597

मुनि वात्स्यायन ने कामसूत्र, चतुर्थ अधिकरण, द्वितीय अध्याय में पूर्वपत्नी को 'ज्येष्ठा' और नवविवाहिता को 'कनिष्ठा' कहा है।

156. काव्यानुशासन, सप्तमोऽध्यायः, कारिका-27

157. काव्यानुशासन, सप्तमोऽध्यायः, कारिका-29, पृ.-603

158. काव्यानुशासन, सप्तमोऽध्यायः, कारिका-30, पृ.-605

159. काव्यानुशासन, सप्तमोऽध्यायः, कारिका-30, पृ.सं.-605

गणिका, वेश्या का उत्कृष्टतम रूप है। राजकीय उत्सवों पर उसे अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करना होता था। एकनिष्ठ वेश्याएँ भी होती थी, जिन्हें राजकीय सुविधाएँ प्राप्त होती थी। मुनि वात्स्यायन (कामसूत्र, 1/3/17-18) तथा भरतमुनि (नाट्यशास्त्र 24/106-10) में 'गणिका' की गुणावली का विस्तार से कथन किया है।

160. काव्यानुशासन, सप्तमोऽध्यायः, कारिका-31

आचार्य हेमचन्द्र ने सूत्र से पूर्व शीर्षबन्ध में 'स्वपर' स्त्रियों के भेद बताये हैं और सूत्र में 'स्वस्त्रीणाम्' कहा है। इससे यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि ये अवस्थानुसार आठ भेद केवल स्वकीया के होते हैं या स्वकीया और परकीया होनो के? सप्तम अध्याय, पृ.सं.-609

161. काव्यानुशासन, सप्तमोऽध्यायः, कारिका-32, पृ.सं.-614

162. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका-56, पृ.सं.-127

163. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका-57, पृ.सं.-128

164. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका-57, पृ.सं.-128

165. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका-58, पृ.सं.-129

यहाँ पाँच प्रकार की मुग्धा को बतलाया है (वृत्ति भाग में)

166. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका-59, पृ.सं.-131

यहाँ मध्या के पाँच प्रकारों की उल्लेख है। (वृत्ति भाग में)

167. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका-60, पृ.सं.-132

यहाँ प्रगल्भा के 6 प्रकारों का उल्लेख है। (वृत्ति भाग में)

168. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, पृ.सं.-135

169. कनिष्ठज्येष्ठरूपरवान्नायकप्रणयं प्रति। साहित्यदर्पण,

तृतीय परिच्छेद, पृ.सं.-140, कारिका-64

170. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका-66, पृ.सं.-141

171. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका-66, पृ.सं.-141

172. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका-66, पृ.सं.-144

173. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका-67, पृ.सं.-144

174. साहित्यदर्पण, 3/68-71, पृ.सं.-144-145

175. साहित्यदर्पण, 3/72-73 कारिका, पृ.सं.-146

साहित्यदर्पण, तृतीयपरिच्छेद, पृ.सं.-154

176. साहित्यदर्पण, कारिका-88, पृ.सं.-159

177. साहित्यदर्पण, कारिका-128, पृ.सं.-181

178. साहित्यदर्पण, कारिका-129-130, पृ.सं.-182
179. काव्यालंकार, द्वादशोऽध्यायः, पृ.सं.-371-370
180. काव्यालंकार, पृ.सं.-372
181. काव्यालंकार, पृ.सं.-604
182. काव्यालंकार, पृ.सं.-373
183. कामसूत्र, चतुर्थ अधिकरण
184. काव्यालंकार, द्वादशोऽध्यायः, पृ.सं.-377
185. काव्यालंकार, पृ.सं.-377
186. काव्यालंकार, पृ.सं.-377
187. काव्यालंकार, पृ.सं.-378
188. काव्यालंकार, पृ.सं.-378
189. संस्कृत का अर्वाचीन समीक्षात्मक काव्यशास्त्र, अभिराजराजेन्द्रमिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2010

तृतीय अध्याय

महाभारत का महत्त्व

तृतीय अध्याय

महाभारत का महत्त्व

महर्षि वेदव्यास द्वारा रचित कालजयी ग्रन्थ 'महाभारत' समस्त भारतीयों के लिये अतिशय ज्ञान का आगार है। महर्षि ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से उन सभी महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का अपनी रचना में समावेश किया है, जिनकी अनुपालना से प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन को सुखमय और अनुशासित बनाने में समर्थ हो सकता है। 'ऋषि' उसे कहा गया है जिसने सूक्ष्म अर्थों का दर्शन किया हो। यास्काचार्य ने अपने ग्रन्थ में 'ऋषि' शब्द को परिभाषित करते हुये लिखा है ''ऋषिर्दर्शनात् अर्थात् सूक्ष्म अर्थों को देखने वाला होने से 'ऋषि' कहलाता है तथा जो इन तपस्या करने वालों के पास स्वयं उत्पन्न अर्थात् नित्य वेद का अर्थ पहुँचा, उसी से ये ऋषि हुये। यही ऋषियों का ऋषित्व है।''[1] महर्षि व्यास ने भी अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देते हुये 'महाभारत महाकाव्य' में 'सम्पूर्ण वेदों का गूढतम रहस्य तथा अन्य समस्त शास्त्रों का सार-सार संकलित करके स्थापित कर दिया है। केवल वेदों का ही नहीं, उनके अंग एवं उपनिषदों का भी इसमें विस्तार से निरूपण किया है।'[2] इसमें इतिहास और पुराणों का प्रशस्त रूप, वर्णाश्रम कत्र्तव्य, भूत, वर्तमान और भविष्यकाल की तीन संज्ञाओं, न्याय, शिक्षा, चिकित्सा, दान, लोकपावन तीर्थों, देशों, नदियों, पर्वतों, वनों, समुद्रों, दिव्य नगर एवं दुर्गों के निर्माण का कौशल, भिन्न-भिन्न भाषाओं और जातियों की विशेषताओं तथा लोकोपयोगी पदार्थों का प्रतिपादन किया गया है।[3] इसकी तीनों लोकों में महान् ज्ञान के रूप में प्रतिष्ठा है।[4] यह अज्ञानान्धकार से आवृत्त सांसारिक जीवों के नेत्रों का उन्मीलन करने वाली ज्ञानांजन की शलाका है।[5] महाभारत में ही ग्रन्थ की महिमा का प्रतिपादन करते हुये कहा गया है कि ''यह धर्म और अर्थ के उपदेश से परिपूर्ण है। इससे मोक्षबुद्धि प्राप्त होती है। जिनके स्वभाव और विचार तुच्छ नहीं हैं, जो दानशील, सत्यवादी और आस्तिक हैं, ऐसे मनुष्यों को इस ग्रन्थ का श्रवण कराने वाले विद्वान् को अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है। साथ ही वह भ्रूणहत्या जैसे पाप को भी नष्ट कर देता हैं, इसमें संशय नहीं है। इस इतिहास को श्रवण करके अत्यन्त क्रूर

मनुष्य भी राहु से छूटे हुये चन्द्रमा की भाँति सब पापों से मुक्त हो जाता है। यह 'जय' नामक इतिहास विजय की इच्छा वाले पुरुष को अवश्य सुनना चाहिये। इसका श्रवण करने वाला राजा भूमि पर विजय पाता और शत्रुओं को पराजित कर देता है। यह पुत्र की प्राप्ति कराने वाला और महान् मंगलकारी श्रेष्ठ साधन है।''[6] इसे पुण्यमय धर्मशास्त्र, उत्तम अर्थशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र भी कहा गया है, यथोक्तम्-

धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम्।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना।।[7]

''जो मनुष्य इस महाभारत का श्रवण करता है, वह शरीर, वाणी और मन के द्वारा किये हुये सम्पूर्ण पापों को त्याग देता है। यह ग्रंथ धन, यश, आयु, पुण्य तथा स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाला है। इसका श्रवण करने और कराने से राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है। इसका श्रवण कानों को सुख देने वाला, अन्तःकरण को पवित्र करने वाला और उत्तमशील स्वभाव की वृद्धि करने वाला है। इस ग्रंथ का दान करने वाला व्यक्ति समुद्र से घिरी हुयी सम्पूर्ण पृथ्वी को दान करने के तुल्य पुण्य को प्राप्त हो जाता है।[8] जैसे ऐश्वर्यपूर्ण समुद्र और महागिरि मेरु दोनों रत्नों की खान कहे गये हैं, वैसे ही महाभारत रत्नस्वरूप कथाओं और उपदेशों का भण्डार कहा जाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध में जो इस ग्रंथ में कहा गया है, वही अन्यत्र भी है। जो इसमें नहीं है, वह कहीं भी नहीं है। यथोक्तम्-

यथा समुद्रो भगवान् यथा मेरुर्महागिरिः। उभौ ख्यातौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते।।[9]
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ। यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।।[10]

महाभारत के महत्त्व को देखते हुये ही प्रभाकर श्रोत्रिय का कथन है कि ''महाभारत धर्म की कविता नहीं, मानवता का महाकाव्य है, मानवता के विकास की कथा है।''[11] भारतीय विद्वान् रमेशचंद्र दत्त ने 'महाभारत' को 'एशिया की प्रतिभा का सबसे महान् ग्रंथ' माना है।[12]

अत्यन्त विशाल स्वरूप वाले तथा जीवनोपयोगी विविध विषयों से संयुक्त और उनके विस्तृत विवेचन से युक्त अद्भुत महाकाव्य 'महाभारत' के महत्त्व को निम्नांकित दृष्टियों से समझा जा सकता है-

ऐतिहासिक दृष्टि से - 'इतिहास' शब्द से 'ऐतिहासिक' शब्द की रचना हुयी है, जिसका अर्थ है 'इतिहास से सम्बन्धित'।[13] 'इतिहास' शब्द का उल्लेख 'अथर्ववेद' (तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्य चलन्)[14] और 'छान्दोग्योपनिषद्' (अथ येऽस्योदंचो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वांगिरस एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं ता अमृता आपः)[15] में प्राप्त होता है अतः यह शब्द प्राचीन है। काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने 'इतिहास' के दो प्रकार बताये हैं 'परिक्रिया और पुराकल्प'। इनमें अन्तर बताते हुये आचार्य का कहना है कि 'परिक्रिया वाले इतिहास में किसी एक ही नायक का वर्णन किया जाता है परन्तु पुराकल्प वाले भेद में अनेक नायकों के चरितों का वर्णन होता है।' यथोक्तम्-

परिक्रिया पुराकल्प इतिहासगतिद्रि्वधा।
स्यादेकनायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका।।[16]

राजशेखर ने 'महाभारत' को 'पुराकल्प इतिहास' के अन्तर्गत माना है।[17] महाभारत ग्रन्थ में भी 'महाभारत' को 'इतिहास' कहा गया है (इतिहासमिमं चक्रे पुण्यं सत्यवतीसुतः)[18] प्राचीन भारतीय विद्वान् सी.वी. वैद्य का कथन है कि ''देवताओं और दैत्यों की कथाएँ पुराणों में पायी जाती हैं परन्तु इतिहास में केवल राजाओं की ही कथाओं का समावेश हो सकता है। आख्यान शब्द से एक विशिष्ट कथा के ग्रन्थ का बोध होता है। स्वयं महाभारत के सम्बन्ध में इतिहास, पुराण और आख्यान तीनों शब्दों का व्यवहार किया जाता है।''[19] जहाँ भारतीय मनीषी 'महाभारत' को 'ऐतिहासिक काव्य' के रूप में स्वीकार करते है, वहीं कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मानना है कि 'प्राचीन भारत ने हमें कोई ऐतिहासिक कृति नहीं दी है' (Ancient India has bequeathed to us no historical words)[20] पाश्चात्य विद्वान् मैक्डानेल का कथन है कि 'इतिहास भारतीय साहित्य में एक कमजोर बिन्दु है, यह वास्तव में अस्तित्वहीन है, 'ऐतिहासिक अर्थ की पूर्ण रूप से न्यूनता' यह इतनी विशिष्ट है कि संस्कृत साहित्य की कार्यप्रणाली इस दोष पीड़ा की छाया से काली हो जाती है क्योंकि यह कालक्रम की पूर्ण अनुपस्थिति से होता है (History is the one weak point in Indian literature. It is in fact non exsistent. The total lack of historical sense is so characteristic, that the whole course of

Sanskrit Literature is darkened by the shadow of this defect, suffering as it does from and entire absence of chronology.)[21]

प्रो. कैथ का भी यही मानना है कि 'वैदिक संहितायें और ब्राह्मण ऐतिहासिक पुस्तकें नहीं हैं।'[22] पाश्चात्य विद्वानों का यह विचार संस्कृत साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित तिथिक्रम और घटनाओं के कारण है किन्तु उनके इतिहास सम्बन्धित विचारों से भारतीय विद्वान् सहमत नहीं हैं। 'नलिनविलोचन शर्मा' ने अपने ग्रन्थ में इनके मत का खण्डन करते हुये लिखा है 'इनके खण्डन के लिये कल्हण की राजतरंगिणी पर्याप्त है, किन्तु इससे बहुत पहले के पुराणों में निबद्ध ऐतिहासिक परम्परा इतिहास क्यों नहीं है, यह इन विद्वानों के द्वारा नहीं बताया गया है। वस्तुतः प्राचीन भारतीय विद्वानों के द्वारा प्रस्तुत ऐतिहासिक सामग्री का अभाव नहीं है। इस सम्बन्ध में पाश्चात्यों की भ्रान्ति का कारण है, भारतीयों का इतिहास विषयक विभाजन। 19वीं शताब्दी में इतिहास लेखन की जो प्रणाली पश्चिम में प्रचलित थी उससे भारतीय प्रणाली सर्वथा भिन्न थी। पश्चिम के तत्कालीन स्वीकृत प्रतिमानों के सहारे पाश्चात्य विद्वान् न तो भारतीय-साहित्य और कलाओं के साथ न्याय कर सके और न यहाँ की प्राचीन इतिहास लेखन प्रणाली की विशेषता ही समझ पाये।'[23] इसी विषय में प्रसिद्ध विद्वान् 'वासुदेवशरण अग्रवाल' ने अपने ग्रन्थ में लिखा है ''महाभारत उस प्रकार का इतिहास-ग्रन्थ कदापि नहीं है, जिसमें ऐतिहासिक घटनाओं के तिथिक्रम और आँकड़ों को इकट्ठा कर शुद्ध इतिहास लिखा गया हो। उस प्रकार का नीरस ग्रन्थ, यदि वह कभी लिखा गया होता तो क्या 3000 से भी अधिक वर्षों तक जीवित रह सकता था? कौन नहीं जानता कि इतिहास के पण्डितों द्वारा कठोर परिश्रम से रचे गये सैंकड़ों ग्रन्थ लोकजीवन में अपना प्रभाव खोकर पुस्तकालयों की धूल चाटते हैं?....महाभारत उस प्रकार की शुद्ध पद्धति से रचा हुआ इतिहास न कभी था और न उसे ऐसा कभी समझना चाहिए।''[24] महाभारत के प्रसिद्ध विद्वान् सी.वी. वैद्य ने भी कहा है कि ''वर्तमान समय में इतिहास शब्द से केवल महाभारत का ही बोध होता है।''[25]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि महाभारत की ऐतिहासिकता संदेह से परे है क्योंकि महाभारत में अनेक राजर्षियों, राजवंशों, देवताओं, महर्षियों, पौराणिक कथाओं इत्यादि

का वर्णन है। महाभारत में वर्णित घटनाएँ अतिशयोक्तिपूर्ण अवश्य हैं किन्तु उनमें यथार्थता का पुट भी विद्यमान है। इसमें सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी राजा (यथा पुरू, श्रीकृष्ण, कौरव, पाण्डव, दुरपद, शूरसेन, शिशुपाल, ययाति इत्यादि) तथा नाग जाति का वर्णन है।[26] इनमें से कुछ का उल्लेख वेद और पुराणों में भी प्राप्त होता है।[27] इन सभी से महाभारत की ऐतिहासिकता ही प्रमाणित होती है। 'महाभारत-इतिहास' की विशेषता और श्रेष्ठता को प्रकट करते हुये महाभारत ग्रन्थ में ही कहा गया है कि ''यह भारत-इतिहास एक जाज्वल्यमान दीपक है। यह मोह का अन्धकार मिटाकर लोगों के अन्तःकरणरूप सम्पूर्ण अन्तरंग गृह को भलीभाँति ज्ञानालोक से प्रकाशित कर देता है। जैसे दही में नवनीत, मनुष्यों में ब्राह्मण, वेदों में उपनिषद्, औषधियों में अमृत, सरोवरों में समुद्र और चैपायों में गाय सबसे श्रेष्ठ है, वैसे ही उन्हीं के समान इतिहासों में यह महाभारत भी है। जो द्विज अंगों और उपनिषदों सहित चारों वेदों को जानता है, परन्तु इस महाभारत-इतिहास को नहीं जानता, वह विशिष्ट विद्वान् नहीं है।'', यथोक्तम्-

इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना। लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत् सम्प्रकाशितम्।।
नवनीतं यथा दध्नो द्विपदां ब्राह्मणो यथा। आरण्यकं च वेदेभ्य ओषधिभ्योऽमृतं यथा।
ह्रदानामुदधिः श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम्।। यथैतानीतिहासानां तथा भारतमुच्यते।
यो विद्याच्चतुरो वेदान् सांगोपनिषदो द्विजः। न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः।।[28]

वहाँ यह भी कहा गया है ''जैसे लौकिक और वैदिक सब प्रकार के ज्ञान को प्रकाशित करने वाली सम्पूर्ण वाणी स्वरों एवं व्यंजनों में समायी रहती है, वैसे ही सम्पूर्ण उत्तम विद्या-बुद्धि इस श्रेष्ठ इतिहास में भरी हुयी है।[29] इस महान् पुण्यदायक इतिहास को सुनने मात्र से ही मनुष्य को जो संतोष प्राप्त होता है, वह स्वर्गलोक प्राप्त कर लेने से भी नहीं मिलता।''30 अतः महाभारत से हमें उन तथ्यों के बारे में जानकारी मिलती है, जिनका परिचय हमें या तो नहीं था अथवा अल्प मात्रा में था। महाभारत में आये हुये ऐतिहासिक वृत्तों से उस समय की समृद्धि और विसंगतियों का ज्ञान प्राप्त होता है।

धार्मिक दृष्टि से - महाभारत का ऐतिहासिक महत्त्व होने के साथ ही धार्मिक महत्त्व भी है। इसे धर्मशास्त्र के रूप में भी मान्यता प्राप्त है। महाभारत में ही कहा गया है कि ''इस ग्रन्थ में जरा, मृत्यु, भय, व्याधि और पदार्थों के सत्यत्व और मिथ्यात्व का विशेष रूप से

निश्चय किया गया है तथा अधिकारी-भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार के धर्मों एवं आश्रमों का भी लक्षण बताया गया है।[31] परलोक में गये हुये जीव का बन्धु एकमात्र धर्म ही है।[32] धर्म की इच्छा रखने वाले मनुष्य के द्वारा यह सम्पूर्ण महाभारत इतिहास पूर्णरूप से श्रवण करने योग्य है। ऐसा करने से मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।[33] इसमें अर्थ और धर्म का पूर्णरूप से उपदेश किया गया है।'' अतः व्यास जी ने स्वयं इसे पुण्यमय धर्मशास्त्र की संज्ञा दी है।[34]

महाभारत में धर्म के उदार स्वरूप के दर्शन होते हैं क्योंकि उसमें मानवता मुख्य कारण है और साथ ही देवोपासना भी भारतीय धर्म का एक आवश्यक अंग है। भारतीय विद्वान् सी.वी. वैद्य ने अपने ग्रन्थ 'महाभारत मीमांसा' में कहा है कि ''धर्म और नीति का उपदेश इस ग्रन्थ में बार-बार अनेक स्थानों पर किया गया है इसलिये इस ग्रन्थ को अपूर्व महत्त्व प्राप्त हो गया है। सौति ने महाभारत में सनातन धर्म का पूर्ण रीति से उद्घाटन करने का यत्न किया है।''[35] मराठी विद्वान् वी.एस. सुक्थणकर ने अपने ग्रंथ ON THE MEANING OF MAHABHARATA में भी धर्म को महाभारत का मुख्य तत्त्व स्वीकार किया है और कहा है कि उसके अभाव में महाभारत प्राणरहित शरीर हो जायेगा।[36] उन्होंने कहा है कि ''महाकाव्य-संसार मानवीय आचरण और अनुष्ठान का पालन करने वाले पुरुषों में धर्म, न्याय और शुद्धता के निश्चित अक्ष के चारों ओर चक्कर लगाता प्रतीत होता है जिसका कत्र्तव्य अपने पड़ोसियों और भगवान के प्रति है'' (The epic universe seems to gyrate round the fixed axis of Dharam-Justness and restitude in human conduct and ritual observance, man's whole duty towards his neighbours and towards God.)[37] न केवल भारतीय विद्वान् अपितु पाश्चात्य विद्वानों ने भी महाभारत को एक धर्मशास्त्र के रूप में भी स्वीकार किया है। मैक्डोनल ने अपने ग्रंथ 'A HISTORY OF SANSKRIT LITERATURE' में उल्लेख किया है कि ''उज्जैन के महाकाल मंदिर में महाभारत का पाठ किया जाता था'' (Mahabharata was recited in the temple of Mahakal at Ujjain)[38] और यह भी लिखा है कि ''महान् वेदान्ती दार्शनिक शंकराचार्य ने अपने भाष्य में स्मृति के रूप में महाभारत से प्रायः उद्धरण दिये हैं'' (The great Vedantist Philosopher Shankaracharya who wrote his commentary in 804 A.D.,

often quotes the Mahabharata as a Smriti.....Book XII.)[39] उन्होंने यह भी लिखा है कि ''450-500 ईस्वी के मध्य के कई भूमि अनुदान भी हैं, और भारत के विभिन्न हिस्सों में पाये जाते हैं जो महाभारत को पवित्र दाताओं के पुरस्कार और अधर्मी, नष्ट करने वालों को सबक सिखाने वाले एक अधिकार के रूप में उद्धृत करते हैं'' ((There are also several land grants, dated between 450 and 500 A.D., and found in various parts of India, which quote the Mahabharata as an authority teaching the rewards of pious donors and the punishments of impious despoilers.)[40] इससे ज्ञात होता है कि पाँचवीं शताब्दी के मध्य में महाभारत, स्मृति और धर्मशास्त्र के रूप में अधिकृत थी। पाश्चात्य विद्वान् 'विन्टरनित्स' तथा भारतीय विद्वान् 'वरदाचारी' ने भी इसे एक धर्मशास्त्र के रूप में भी स्वीकार किया है।[41] महाभारत में कहा गया है कि इस ग्रंथ का मुख्य विषय है, 'सनातन परब्रह्म-स्वरूप वासुदेव श्रीकृष्ण'[42] किन्तु वहाँ केवल श्रीकृष्ण का संकीर्तन ही नहीं किया गया है बल्कि वहाँ शिव, रूद्र, कार्तिकेय, दत्तात्रेय तथा दुर्गा देवी की स्तुति का भी वर्णन किया गया है।[43] 'दानधर्मपर्व'[44] में 'धर्म के विविध प्रकार बताये गये हैं यथा- प्रवृत्तिरूपधर्म, निवृत्तिरूपधर्म, श्रौतधर्म, स्मार्तधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, राजधर्म, आपद्धर्म, मोक्षधर्म, योद्धाधर्म, स्त्रीधर्म आदि। 'धर्म के ये भेद इस जगत् में रहने वाले मनुष्यों के द्वारा ही किये गये हैं। ये सभी धर्म स्वर्गप्राप्ति के साधन कहे गये हैं।'[45] विविध धर्मों तथा उसके विभिन्न स्वरूपों से युक्त होने के कारण महाभारत एक व्यापक धर्मशास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है। वहाँ धर्म को परिभाषित करते हुये कहा गया है-

धारणाद् धर्ममित्याहुधर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद् धारणसंयुक्त स धर्म इति निश्चयः।।[46]

अर्थात् 'धर्म' का नाम धर्म इसलिये कहा गया है कि वह सबको धारण करता है, अधोगति में जाने से बचाता है और जीवन की रक्षा करता है। धर्म ने ही सम्पूर्ण प्रजा को धारण किया हुआ है अतः जिससे धारण और पोषण सिद्ध होता है, वही धर्म है।' धर्म की यही विशिष्टता उसकी सर्वश्रेष्ठता को प्रमाणित करती है। 'एक ही क्रिया देश और काल के भेद से धर्म या अधर्म हो जाती है। चोरी करना, असत्य कहना और हिंसा करना आदि अधर्म भी अवस्थाविशेष में धर्म माने गये हैं। इस प्रकार धर्म और अधर्म दोनों ही देश-काल के भेद से

दो-दो प्रकार के हैं। धर्माधर्म में जो अप्रवृत्ति और प्रवृत्ति होती हैं, ये भी लोक और वेद के भेद से दो प्रकार की है।'[47] शरीर का नाश होने पर भी धर्म का पालन श्रेष्ठ माना गया है।[48] धर्म को वेदों या तर्कों द्वारा नहीं जाना जा सकता है। शास्त्र-वचनों के अनुशीलन से ही उसका बोध होता है।[49] जो धर्म दूसरे धर्म का बाधक हो, वह धर्म नहीं, कुधर्म है। जो किसी दूसरे धर्म का विरोध न करके प्रतिष्ठित होता है, वही वास्तविक धर्म है।[50] अतः प्राणसंकट काल में, विवाह में, समस्त कुटुम्बियों के प्राणान्त का समय उपस्थित होने पर तथा हास-परिहास के अवसरों पर धर्म के लिये मिथ्या बोलने पर मनुष्य असत्यभाषण के दोष का भागी नहीं होता।[51] जो धर्म के विषय में सन्देह करता है, उन्हें उत्तम लोकों की प्राप्ति नहीं होती और उसकी शुद्धि के लिये कोई प्रायश्चित्त भी नहीं है।[52] धर्म के आठ मार्गों का वर्णन करते हुये शौनक ऋषि ने कहा है ''यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, मन-इन्द्रियनिग्रह तथा लोभ का परित्याग-ये धर्म के आठ मार्ग हैं'', यथोक्तम्-

इज्याध्ययनदानादि तपः सत्यं क्षमा दमः।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मास्याष्टविध स्मृतः।।[53]

आदिपर्व में धर्म की दस पत्नियों का उल्लेख किया गया है 'कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, मति, जहाँ-जहाँ धर्म होता है वहाँ इनका निवास होता है।'[54] महाभारत में कहा है कि ''धर्म के अनन्त भेद और अनन्त शाखाएँ हैं।''[55] वहाँ नाना प्रकार के धर्मों का वर्णन किया गया है यथा-

प्रवृत्तिरूपधर्म - इस धर्म का विधान गृहस्थों के लिए किया गया है। वह सब प्राणियों का हितकारी और शुभ है। इसके अन्तर्गत कल्याण चाहने वाले पुरुष को यथाशक्ति दान करना, सदा यज्ञ करना और पुष्टिजनक कर्म करना, धर्म के द्वारा धन का उपार्जन करना, धर्मप्रधान कर्म का अनुष्ठान करना तथा धर्म से उपार्जित हुये धन के तीन भाग कर उनमें से एक भाग के द्वारा धर्म और अर्थ की सिद्धि करनी चाहिये, दूसरे भाग का उपभोग करना चाहिये और तीसरे भाग को बढ़ाना चाहिये।[56]

निवृत्तिरूपधर्म - यह धर्म मोक्ष का साधन है। मोक्षाभिलाषी पुरुष को सम्पूर्ण प्राणियों पर दया करनी चाहिये। उन्हें सदा एक ही गाँव में नहीं रहना चाहिये और अपने आशा रूपी

बन्धनों को तोड़ने का प्रयत्न करना चाहिये। उसे न तो कुटी में, न जल में, न वस्त्र में, न आसन में, न त्रिदण्ड में, न शय्या में, न अग्नि में और न किसी निवासस्थान में ही आसक्त होना चाहिये। उसे अध्यात्म ज्ञान का ही चिंतन, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये तथा निरन्तर योगाभ्यास में प्रवृत्त होकर तत्त्व का विचार करते रहना चाहिये।[57]

सनातनधर्म - वेदोक्त धर्म, स्मार्त धर्म और शिष्ट पुरुषों द्वारा आचरित धर्म; ये तीनों धर्म सनातन धर्म के अन्तर्गत आते हैं। इनमें से वेदोक्त धर्म (श्रोतधर्म) और स्मार्त धर्म (स्मृतिशास्त्रों में वर्णित) प्रकृत धर्म कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त देशधर्म, कुलधर्म, जातिधर्म तथा समुदाय धर्म भी दृष्टिगोचर होते हैं।[58] शरीर और काल की विषमता से आपद्धर्म भी होते हैं।[59]

वर्णधर्म - इसके अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों के आचरण योग्य धर्म के स्वरूप का सूक्ष्म विवेचन किया गया है इन्द्रियसंयम, वेद-शास्त्रों का स्वाध्याय, यज्ञ करना और दान लेना-ये ब्राह्मणों का धर्म कहा गया है।[60] दान देना, यज्ञ करना, स्वाध्याय करना, प्रजा की रक्षा करना इत्यादि ये क्षत्रियों का धर्म है।[61] पशुपालन, कृषि, व्यापार, अग्निहोत्र कर्म, दान, अध्ययन, सदाचारपालन, शम, दम, त्याग, अतिथि-सत्कार और ब्राह्मणों का स्वागत करना- ये सब वैश्यों के सनातन धर्म हैं।[62] तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्र का परमधर्म है। वाणिज्य, कारुकर्म, शिल्प, तथा नाट्य भी शूद्र का धर्म है। उसे अहिंसक, सदाचारी और देवताओं तथा ब्राह्मणों का पूजक होना चाहिये।[63] इसके अतिरिक्त किसी पर क्रोध न करना, सत्य बोलना, धन को बाँटकर भोगना, क्षमाभाव रखना, अपनी ही पत्नी से सन्तति उत्पन्न करना, पवित्र रहना, किसी से द्रोह न करना, सरल भाव रखना और भृत्यों का भरण-पोषण करना- ये सभी वर्णों के लिये उपयोगी धर्म कहे गये हैं, यथोक्तम्-

अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा। प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च।।

आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः।[64]

आश्रम धर्म - इसके अन्तर्गत ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों के धर्मों का परिगणन किया गया है। 'धर्म का रहस्य सुनना, वेदोक्त व्रत का पालन करना, होम करना, गुरुसेवा करना, भैक्षचर्या से जीवन निर्वाह करना, नित्य यज्ञोपवीत धारण किये रहना,

स्वाध्याय करना तथा नियम पालन में लगे रहना' ये ब्रह्मचारी के प्रधान कर्म हैं।[65] 'अग्निस्थापनपूर्वक अग्निहोत्र करना, स्वाध्यायशील होना, होमपरायण होना, मिताहारी, सत्यवादी और पवित्र होना, नित्य पंचमहायज्ञों (देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ) का संपादन करना, जीवहिंसा से दूर रहना, विघसाशी होना अर्थात् कुटुम्बीजनों के भोजन कर लेने के बाद ही बचे हुये अन्न का भोजन करना, गृह को स्वच्छ और पवित्र बनाये रखना तथा स्वयं जितेन्द्रिय रहना', ये गृहस्थाश्रम के प्रमुख धर्म हैं।[66] वन में रहना तथा वहाँ प्राप्त होने वाले उत्तम आहारों से ही जीवन निर्वाह करना, मृगचर्म और वल्कल वस्त्र धारण करना, भूमि पर शयन करना, जटा और श्मश्रु धारण करना, देवताओं और अतिथियों का सत्कार करना, प्रतिदिन अग्निहोत्र और त्रिकाल-स्नान करना, क्षमाशील होना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, कष्टसहिष्णु होना और पवित्र रहना', ये वानप्रस्थ आश्रम के प्रमुख धर्म हैं।[67] यतिधर्म के अन्तर्गत 'संन्यासी गृह का त्यागकर इधर-उधर विचरता रहे। वह अपने पास किसी वस्तु का संग्रह न करे। कर्मों के आरंभ से दूर रहे। सब ओर से पवित्र और सरल रहे। सभी स्थानों से विलग रहे। भिक्षा से जीविका चलाये। सदा ध्यान में तत्पर रहे, क्षमाशील और दयालु हो, दोष की शुद्धि करे और बुद्धि को तत्त्व के चिन्तन में लगाये रखे।[68]

राजधर्म - इन्द्रियसंयम, स्वाध्याय, अग्निहोत्र कर्म, दान, अध्ययन, यज्ञोपवीत धारण, यज्ञानुष्ठान, धार्मिक क्रियाओं का सम्पादन, पोष्यवर्ग का भरण-पोषण, प्रजा का पालन, प्रजारक्षण, अपराध के अनुसार उचित दण्ड देना, व्यहवार में न्याय की रक्षा करना, सत्यभाषण में अनुरक्त होना- ये सभी कार्य राजा के लिये धर्म ही हैं।[69]

ऋषिधर्म - इसके अन्तर्गत फेनप, वालखिल्य, चक्रचर[70], सोमलोक में रहने वाले[71] पितृलोक के समीप निवास करने वाले[72], सम्प्रक्षाल[73], अश्मकुट्ट[74], दन्तोलूखलिक[75] ऋषियों के द्वारा निर्वाह किये जाने वाले धर्म, ऋषिधर्म हैं। 'नित्य अग्निहोत्र का संपादन, धर्मसत्र में स्थिति, सोमयज्ञ का अनुष्ठान, यज्ञविधि का ज्ञान, यज्ञ में दक्षिणा देना, संयतेन्द्रिय होकर आत्मज्ञान प्राप्त करना, श्राद्ध करना, पंचमहायज्ञों का अनुष्ठान, आतिथ्य करना, योगाभ्यास, भूमि पर शयन, विषय-भोगों से निवृत्ति, फल-मूल खाना, वायु-जल-सेवार का आहार करना' ये सभी ऋषियों के सनातन धर्म हैं।[76] इनमें से वालखिल्य ऋषि का शरीर अंगूठे के सिरे के बराबर होता है और

वे उच्छवृत्ति का आश्रय लेकर पक्षियों की भाँति एक-एक दाना चुनकर उसी से जीवन-निर्वाह करते हैं।[77] फेनप ऋषि ब्रह्माजी के द्वारा पान किये हुये अमृत में से शेष अमृत के फेन का निरन्तर पान करते रहते हैं।[78] इसी प्रकार यायावरं[79], चक्रचर तथा वैखानसं[80] ऋषियों के धर्म का वर्णन भी वहाँ पर किया गया है।

स्त्रीधर्म - 'प्रतिदिन प्रातःकाल उठना, गृह को स्वच्छ रखना, पति के साथ प्रतिदिन अग्निहोत्र करना, देवताओं को पुष्प और बलि अर्पण करना, अतिथि और पोष्यवर्ग को भोजन से तृप्त करके न्यायपूर्वक अन्न ग्रहण करना, कुटुम्बीजनों को सेवाकार्य से सन्तुष्ट रखना, पति का हित-चिन्तन करना, पति में अनुरक्त रहना, पति को प्रसन्न रखना, पति की आज्ञा के अधीन रहना, मधुर संभाषण करना, प्रसन्नवदना, पुत्रवती होना इत्यादि स्त्री के धर्म कहे गये हैं।[81] वहाँ कहा गया है कि ''पति ही नारियों का देवता, पति ही बंधु और पति ही उनकी गति है। नारी के लिये पति के समान न कोई गति है और न कोई देवता।'' यथोक्तम्-

पतिर्हि देवो नारीणां पतिर्बन्धुः पतिर्गतिः।
पत्या समा गतिर्नास्ति दैवतं वा यथा पतिः।।[82]

इनके अतिरिक्त भ्रातृधर्म[83], माता-पिता का गौरव[84], शुभ-अशुभ कर्मों का वर्णन85, योद्धाधर्म[86] आदि का तथा विष्णु, बलदेव, देवगण, अग्नि, विश्वामित्र, गौसमुदाय, ब्रह्मा, लक्ष्मी, अंगिरा, गाग्र्य, धौम्य, जमदग्नि, वायु, लोमश, अरुन्धती, महादेव, स्कंददेव के द्वारा धर्म के गूढ रहस्यों का वर्णन भी महाभारत में किया गया है।[87] महाभारत को एक धर्मशास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित करने में भगवद्गीता का महत्त्वपूर्ण योगदान है। महाभारत के युद्ध के समय श्रीकृष्ण ने स्वजनों के प्रति मोह से युक्त होने के कारण युद्ध से पराङ्मुख होने वाले अर्जुन के लिये गीता का उपदेश प्रदान किया था जिसका श्रवण कर अर्जुन कत्र्तव्यबोध से युक्त हो क्षत्रियधर्म के पालन में प्रवृत्त हुआ। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने 'नित्यानित्य वस्तु के विवेचनपूर्वक सांख्ययोग, कर्मयोग, निष्कामकर्मयोग, ज्ञानयोग, योगी महात्मा पुरुषों के आचरण, स्वधर्मपालन की आवश्यकता तथा महिमा, भक्तिसहित ध्यानयोग, भगवद्स्वरूप, फलसहित वर्णधर्म, आहार, यज्ञ, तप और दान के पृथक्-पृथक् भेद इत्यादि का वर्णन किया है। उन्होंने आसक्ति का त्याग कर कर्म में प्रवृत्त होने के लिये कहा है।'[88] श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्मयोग

का उपदेश देते हुये कहते हैं कि 'तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, उसके फलों में कभी नहीं। इसलिये तू कर्मों के फल का हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो। तू आसक्ति को त्याग कर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित हो कत्र्तव्य कर्मों को कर।'[89] प्रसिद्ध विद्वान् सी.वी. वैद्य ने अपने ग्रन्थ में भगवद्गीता के विषय में कहा है कि ''इस परमतत्त्व ज्ञान के ग्रंथ में श्रीकृष्ण ने जिस कर्मयोग का उपदेश दिया है, वह सर्वकाल में तथा सब देशों में सब लोगों के आदर की वस्तु रहेगा। कर्म की सिद्धि हो या न हो, इस विचार से मन को चंचल न होने देकर अपना कत्र्तव्यकर्म इस भावना से करना चाहिये कि मैं परमेश्वर पर भरोसा रखकर परमेश्वर की इच्छा से उसे करता हूँ और उसे परमेश्वर को ही अर्पण करता हूँ। यह सिद्धान्त अत्यन्त उदात्त है और इतना उदात्त सिद्धान्त आज तक किसी तत्त्ववेत्ता ने नहीं सिखाया।''[90] रामधारीसिंह 'दिनकर' जी का कथन है कि 'गीता मुक्ति का दरवाजा सबके लिये खोलती है और यह भी कहती है कि गृहस्थी का काम करते हुये भी आदमी मोक्ष पा सकता है। गीता गृहस्थों का उपनिषद् है।'[91] भगवद्गीता के अतिरिक्त महाभारत में मंकिगीता[92], पराशरगीता[93], हंसगीता[94], अनुगीता[95], ब्राह्मणगीता96 इत्यादि के द्वारा भी धर्म का प्रतिपादन किया गया है। 'भारत-सावित्री' के नाम से प्रसिद्ध महाभारत के सारभूत उपदेश में कहा गया है 'कामना से, भय से, लोभ से अथवा प्राण बचाने के लिये भी धर्म का त्याग न करें। धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य। इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है और उसके बन्धन का हेतु अनित्य, यथोक्तम्-

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्, धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये, जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।।[97]

'अपनी असामान्य विशेषताओं और अपने गुण-बाहुल्य के कारण 'महाभारत' को 'पंचम वेद' के रूप में याद किया जाता है। महासागरस्वरूप इस महाभारत के गर्भ से ही गीता, विष्णुसहस्रनाम, अनुगीता, भीष्मस्तवराज और गजेन्द्रमोक्ष नामक पंचरत्नों की सृष्टि हुयी है। 'भगवद्गीता' जैसी अद्वितीय जगद्व्यापी ख्याति की महाकृति का उद्गम होने के कारण महाभारत का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।'[98] महाभारत, अखिल धर्म के मूल वेदों के समान ही अत्यन्त पवित्र है।[99] इसकी अपर संज्ञा 'काष्र्णवेद' है।[100]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि महाभारत प्रत्येक मनुष्य के लिये आचरण करने योग्य धर्म का प्रतिपादन करता है, जो मनुष्यों के उत्तरोत्तर प्रगति और सौहार्दपूर्ण समाज के लिये आवश्यक भी है।

साहित्यिक दृष्टि से - महाभारत इतिहास और धर्मशास्त्र होने के साथ ही साथ एक काव्य भी है। महर्षि व्यास ने स्वयं ही इसे 'काव्य' संज्ञा से अभिहित किया है। वह कहते हैं 'कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम्' अर्थात् मैंने यह सम्पूर्ण लोकों से अत्यन्त पूजित महाकाव्य की रचना की है।[101] महाभारत की काव्यगत विशेषताओं को बतलाते हुये कहा गया है कि 'वह आख्यानों में सर्वश्रेष्ठ है, उसका एक-एक पद, वाक्य एवं पर्व विचित्र शब्दविन्यास और रमणीय अर्थ से परिपूर्ण है, उसमें आत्मा-परमात्मा के सूक्ष्म स्वरूप का निर्णय एवं उनके अनुभव के लिये अनुकूल युक्तियाँ भरी हुयी हैं और वह संपूर्ण वेदों के तात्पर्यानुकूल अर्थ से अलंकृत है, उस भारत-इतिहास की परम पुण्यमयी, ग्रंथ के भावों को स्पष्ट करने वाली, पदों-वाक्यों की व्युत्पत्ति से युक्त, सब शास्त्रों के अभिप्राय के अनुकूल है।[102] यह शुभ शब्दविन्यास से अलंकृत है तथा वैदिक-लौकिक या संस्कृत-प्राकृत संकेतों से सुशोभित है। विविध प्रकार के छंदों से युक्त यह ग्रंथ विद्वानों को प्रिय है, यथोक्तम्-

अलंकृतं शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्यमानुषैः।
छन्दोवृत्तैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियम्।।[103]

ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्धन ने महाभारत को काव्य के रूप में स्वीकार किया है (चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्। अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयनाम्आनन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते)[104] भारतीय विद्वान् सी.वी. वैद्य ने कहा है कि ''महाभारत न केवल इतिहास और धर्म का ही ग्रंथ है अपितु वह एक उत्तम महाकाव्य भी है। महाभारत की वर्णन-शैली ऊँचे दर्जे की है। उसमें दिये हुये वर्णन होमर अथवा मिल्टन से किसी प्रकार शक्ति में कम नहीं है। शब्द सरल और जोरदार हैं। भाषा गंभीर और प्रौढ़ होने के साथ ही सरलता से युक्त है। सृष्टि-सौन्दर्य के वर्णन महाभारत में बहुत नहीं हैं और जो हैं वे भी रामायण के वर्णन के समान सरस नहीं हैं। इतना होने पर भी महाभारत का दर्जा अन्य

काव्यों से श्रेष्ठ ही है। महाभारत की रचना मुख्यतः अनुष्टुप-वृत्त में की गयी है और अनेक स्थानों पर उपजाति-वृत्त का भी उपयोग किया गया है। गम्भीर कथा-वर्णन और महाकाव्य के लिये ये वृत्त सब प्रकार से योग्य हैं[105] तथा महाभारत के युद्ध-प्रसंगों की कथाओं में ये वीर रस को स्वीकार करते हैं।''[106] मम्मट ने अपने ग्रंथ काव्य प्रकाश में महाभारत के स्त्रीपर्व का 'अयं स रशनोत्कर्षी.....करः' नामक श्लोक उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।[107] वरदाचारी ने महाभारत की भाषा को सरल, गम्भीर और प्रभावशाली बताया है।[108] डा. सुक्थणकर ने महाभारत के काव्यसौन्दर्य की बहुत प्रशंसा की है तथा द्रौपदी, कर्ण, भीष्म, दुर्योधन इत्यादि चरित्रों के उदाहरण भी दिये हैं।[109] वे कहते हैं कि-

'For, it is the strength and fulness of imaginative faculty which makes a poet's work 'real', as we might say. It is the intensity of imagination which works the miracle of bringing past scences and characters before the mind of the reader with a wondrous reality..... It is this intensity of imagination which is the secret of the popular appeal of the Mahabharat.'[110]

एस.एन. दास गुप्त 'रामायण और महाभारत को काव्यशैली में लिखे गये महान् कार्यों का सबसे पहला नमूना' मानते हैं तथा उनका कहना है कि ''महाभारत को काव्य नहीं कहा जाता है, उसे इतिहास कहा जाता है और काव्य के मानक के अनुसार यह व्यापक रूप से विशाल और फैला हुआ है।''[111] पाश्चात्यविद्वान् विन्टरनित्स ने महाभारत को प्रबन्धगत व्यस्तता के कारण 'अनगढ़ काव्य'[112] तथा 'काव्य-वन'[113] और साहित्यिक दानव[114] की संज्ञा दी है; किन्तु यह कहना उचित नहीं है। यद्यपि विषयों, कथाओं और घटनाओं की विविधता वहाँ प्रचुर मात्रा में विद्यमान है और उनमें अलौकिकता का सन्निवेश भी है तथापि महाभारत की घटनाओं का प्राकट्य सत्य के धरातल पर हुआ है। ''वस्तुतः तपोवनों के सौन्दर्य और संस्कृति से अनभिज्ञ पाश्चात्य समालोचक उस साधन तक पहुँच ही नहीं सकते, उस भावभूमि का स्पर्श तक नहीं कर सकते, जो उन महर्षियों ने कृपापूर्वक हमें उपहृत किया है। पाश्चात्य आलोचकों का परिचय हमारी भारतीय देवात्मपरम्परा से भी नहीं है अन्यथा वे महाभारत को 'दानवोपम' न कहकर 'देवोपम' कहते।''[115] प्राचीन आचार्यों ने जो काव्य-लक्षण किये हैं, तथा काव्य के जो प्रयोजन बताये हैं, वे सभी महाभारत में सिद्ध होते हैं। जैसा कि कहा गया है

'सहितयोर्भावः साहित्यम्' अर्थात् (शब्द और अर्थ) सहित का भाव साहित्य कहलाता है[116] अतः महाभारत की गणना 'साहित्य' के अन्तर्गत होती है। 'तस्य (कवेः) कर्मस्मृतं काव्यम्' अर्थात् 'काव्य' कवि की कृति या कर्म है[117] और 'महाभारत' भी महर्षि व्यास की कृति है अतः काव्य है। जैसा कि वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने कहा है-

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ। अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः।।
शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि। बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लाद्कारिणि।।[118]

अर्थात् 'अत्यन्तसौन्दर्य द्वारा प्रशंसा प्राप्त करने के प्रति इन शब्द और अर्थ दोनों की विपुल तथा परस्परस्पर्धा से रमणीय यह अपूर्व स्थिति साहित्य कहलाती है। शब्द तथा अर्थ के उपनिबन्धन से भिन्न कविव्यापार से शोभित काव्यतत्वज्ञों को आनन्दित करने वाले काव्य में विशेष रूप से स्थित सहभाव से युक्त शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य होता है।' महाकाव्य की परिभाषा देते हुये कहा है 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्'[119] और महाभारत भी अट्ठारह पर्वों में निबद्ध रचना है।[120] महाभारत अनेक नायकों, 'वीर, अद्भुत, शान्त' इत्यादि रसों, इतिहास प्रसिद्ध कथानकों से युक्त, पुरुषार्थचतुष्ट्य, प्रकृतिचित्रण (हिमालयवर्णन, गन्धमादनपर्वतवर्णन), छन्दों, अलंकारों और भावों से परिपूर्ण है। साहित्यिक दृष्टि से महाभारत में 'किसी अतीत काल की संस्कृत भाषा का अत्यन्त समृद्ध स्वरूप पाया जाता है, भाषा की ऐसी विलक्षण शक्ति अन्यत्र दुर्लभ है। उपाख्यान शैली, छोटी कहानियों की गल्प शैली (जिसमें पंचतंत्र की अनागत विधाता, प्रत्युत्पन्न मति और दीर्घसूत्री इन तीन मछलियों की कहानी भी है) दर्शन और अध्यात्म के निरूपण की संवादात्मक शैली (सनत्सुजातपर्व, उद्योगपर्व 42-46, अनुगीता, अश्वमेध अध्याय 16-51), प्रश्नोत्तर शैली (वनपर्व 180-181, यक्ष-युधिष्ठिर प्रश्नोत्तरी, वनपर्व अ. 313), केवल प्रश्नात्मक शैली (नारद के मुख से राजधर्मानुशासन, सभापर्व 5), नीतिकथन शैली (विदुरनीति, उद्योगपर्व 33-40), स्तोत्र शैली (नारदकृत महापुरुषस्तव शान्तिपर्व 338, भीष्मकृत कृष्णस्तवराज, शांति. 47, भगवन्नामनिरुक्त, शान्ति. 341, व्यासोक्त शतरुद्रिय, अनु. 161, शिवसहस्रनाम (शांति 284) इत्यादि अनेक प्रकार की साहित्यिक शैलियों का अक्षय भण्डार महाभारत में है।'[121] आदिपर्व के अन्तर्गत आने वाला पौष्यपर्व भाषा और शैली की दृष्टि से महाभारत के सबसे विलक्षण अध्यायों में से है। यह

पर्व गद्य शैली में लिखा हुआ है। बीच-बीच में लगभग पन्द्रह शैली के वैदिक छन्द भी हैं।[122] महाभारत में साधारण रूप से अनुष्टुप्, अपरवक्त्रा, आर्या, मालिनी, शार्दूलविक्रीडित, पुष्पिताग्रा, रथोद्धता, गीति, उपगीति छन्दों का प्रयोग हुआ है।[123] किन्तु मुख्य रूप से अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है, उदाहरणस्वरूप-

एको रथो गजश्चैको नराः पंच पदातयः। त्रयश्च तुरगास्तज्ज्ञैः पत्तिरित्यभिधीयते।।[124]

महाभारत में अलंकारों की विद्यमानता भी सहज रूप से दृष्टिगोचर होती है। वहाँ शब्दालंकारों में मुख्यतः अनुप्रास अलंकार तथा अर्थालंकारों में मुख्यतः उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास का प्रयोग हुआ है। यथा उपमा अलंकार का प्रयोग द्रष्टव्य है-

पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत्। मालाकार इवारामे न यथाऽगांरकारकः।।[125]

इसमें 'प' वर्ण, 'व' वर्ण, 'क' वर्ण, 'न' वर्ण, 'र' वर्ण की यहाँ पुनरावृत्ति होने से अनुप्रास अलंकार भी है।[126] इसमें पांचाली रीति का प्रयोग हुआ है, जिसका लक्षण है 'शब्दार्थयोः समो गुम्फः पांचालीरीतिरिष्यते'।[127] इस काव्य में ओज, माधुर्य, प्रसाद गुण विद्यमान हैं। इसमें उद्योग, भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य पर्व में वीर, रौद्र आदि रस प्रवाहित हुये हैं तथा स्त्रीपर्व करुणरस से परिपूर्ण है।[128] मुख्यतः महाभारत में शान्त रस को अंगी रस के रूप में स्वीकार किया गया है। ध्वन्यालोककार का कथन है कि ''प्रबन्ध (काव्य) में एक ही प्रधान रस उपनिबद्ध होकर अर्थविशेष की सिद्धि तथा सौन्दर्यातिशय की पुष्टि करता है। जैसे रामायण में अथवा महाभारत में। शास्त्र और काव्यरूप की छाया से युक्त महाभारत में भी यादवों और पाण्डवों के विरस विनाश के कारण वैमनस्यजनक समाप्ति की रचना कर महामुनि ने अपने काव्य के वैराग्योत्पादनरूप तात्पर्य को मुख्यतया प्रदर्शित करते हुये मोक्षरूप पुरुषार्थ तथा शान्तरस मुख्य रूप से विवक्षा का विषय है, यह सूचित किया जाता है। ये दोनों अनुक्रमणी में अपने वाचक शब्दों से नहीं दिखलाये गये हैं परन्तु व्यंग्य रूप से दिखलाये गये हैं।'' (प्रबन्धे चांगी रस एक एवोपनिबध्यमानोऽर्थविशेषलाभं छायातिशयं च पुष्णाति, यथा रामायणे यथा वा महाभारते। महाभारतेऽपि शास्त्रकाव्यरूपच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डव-विरसावसानवमनस्यदायिनीं समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचितः।

स्वशब्दाभिधेयत्वेन अनुक्रमण्यां दर्शितम्।)[129] काव्य की भाषा सरल, सुबोध और प्रभावोत्पादक है। वाचस्पति गैरोला ने अपने ग्रंथ में लिखा है कि ''महाभारत से सामान्यतया कौरव-पाण्डवों के सुप्रसिद्ध महायुद्ध या मार-काट, रक्तपात का आभास होता है किन्तु महाभारत का वास्तविक उद्देश्य हैः मनुष्यजाति को भौतिक जीवन की निस्सारता को दिखाकर, उसे मोक्षमार्ग पर निर्दिष्ट करना। काव्यशास्त्रज्ञों ने इसीलिये महाभारत को शांतरस प्रधान ग्रंथ माना है।''[130]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महाभारत का साहित्यिक पक्ष काव्यशास्त्रीय नियमों के पूर्णतया अनुरूप है; यह इसका एक पक्ष है। किन्तु साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से इसका एक पक्ष और है कि महाभारत परवर्ती कवियों के लिये काव्यसृजन का स्रोत बन गया है।

स्वयं महर्षि व्यास ने महाभारत में कहा है जैसे ''मोक्ष चाहने वाले पुरुष वैराग्य की शरण ग्रहण करते हैं, वैसे ही प्रज्ञावान् मनुष्य अलौकिक अर्थ, विचित्र पद, अद्भुत आख्यान और भाँति-भाँति की परस्पर विलक्षण मर्यादाओं से युक्त इस महाभारत का आश्रय ग्रहण करते हैं। जैसे भोजन किये बिना शरीर निर्वाह संभव नहीं है वैसे ही इस इतिहास का आश्रय लिये बिना पृथ्वी पर कोई कथा नहीं है। जैसे अपनी उन्नति चाहने वाले सेवक अपने कुलीन स्वामी की सेवा करते हैं, इसी प्रकार संसार के श्रेष्ठ कवि इस महाभारत की सेवा करके ही अपने काव्य की रचना करते हैं।''[131] जैसे पंचभूतों से त्रिविध लोकसृष्टियाँ प्रकट होती है, उसी प्रकार इस उत्तम इतिहास से कवियों को काव्य रचना विषयक बुद्धियाँ प्राप्त होती हैं। संसार में जितने भी श्रेष्ठ कवि होंगे, उनके काव्य के लिये यह मूल आश्रय होगा जैसे मेघ सम्पूर्ण प्राणियों के लिये जीवनदाता है, वैसे ही यह अक्षय भारत वृक्ष है। यथोक्तम्-

इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः। पंचभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः।।

सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति। पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः।।[132]

महर्षि व्यास ने तो यह भी कह दिया है कि ''जैसे शेष तीन आश्रम गृहस्थाश्रम से बढ़कर नहीं हो सकते उसी प्रकार संसार के कवि इस काव्य से बढ़कर काव्य रचना करने में समर्थ नहीं हो सकते।''[133] महाभारत में पात्र और घटनाओं की विविधता ने ही परवर्ती साहित्यकारों को सृजन की प्रेरणा दी है और इस काव्य से प्रेरणा पाकर अनेक रचनाधर्मियों

ने न केवल संस्कृतभाषा में अपितु अन्य भारतीय भाषाओं यथा हिन्दी, कन्नड़, तमिल, गुजराती, मराठी, ओडिया, बांग्ला, असमिया, उर्दू, मलयालम, तेलुगु, पंजाबी, मणिपुरी, अंग्रेजी, सिन्धी, नेपाली, कश्मीरी इत्यादि भाषाओं में भी विविध शैलियों यथा काव्य, नाटक, कथा, उपन्यास, कविता, रेडियो एकांकी, पद्य रूपक, चम्पूकाव्य इत्यादि में ख्यात और सुन्दर रचनाओं का प्रणयन किया है। प्रभाकर श्रोत्रिय ने अपने ग्रंथ 'भारत में महाभारत' में विविध भाषायी ग्रंथों के नाम और इनके परिचय का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है।[134] महाभारत न केवल भारतीय भाषाओं में पुनः पुनः सृजित हुआ है अपितु विश्व की अनेक भाषाओं में भी महाभारत को उपजीव्य बनाकर अनेक रचनाओं को रचा गया है। दक्षिणपूर्व एशिया के अनेक देशों जैसे इण्डोनेशिया, थाई, बालिद्वीप, जावाद्वीप, दक्षिणी वियतनाम, कंपूचिया, जापान, चीन इत्यादि देशों में महाभारत पर आधारित कई रचनाओं का निर्माण किया गया है तथा रंगमंच पर भी महाभारत की कथायें अभिनीत होती हैं।[135]

महाभारत के महत्त्व से परिचित होकर ही वाचस्पति गैरोला ने अपने ग्रंथ में लिखा है ''महाभारत का महत्त्व न केवल कौरव-पाण्डव के युद्ध तक ही सीमित रहा वरन् वह भारतीय जीवन का एक ऐसा विश्वकोश बन गया जिसमें अनायास धर्म, दर्शन, इतिहास, पुराण, स्मृति और काव्य प्रभृति विषयों का भी समावेश हो गया। 'महाभारत' के इस बृहद् विश्वकोश रूप पर सारे यूरोपीय विद्वान् मुग्ध हैं। इसमें कविबुद्धि को प्रेरणा देने वाले तत्त्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। इसी दृष्टि से पाश्चात्य पण्डितों ने महाभारत को 'एपिक विद इन एपिक' कहकर संबोधित किया है।''[136] 'महाप्रस्थान' काव्य में नरेश मेहता ने भी कहा है ''महाभारत काव्यमात्र की भृगुसंहिता है। किसी भी देश-काल में मनुष्य कैसा ही वैयक्तिक अथवा सामाजिक आचरण करे, महाभारत में उसकी प्रतिकृति अवश्य मिल जाती है।''[137]

अतः उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विविध चरित्रों, वृत्तान्तों और दशाओं की निरन्तरता और परिवर्तनशीलता लिये हुये 'महाभारत' शाश्वत मूल्यों और शाश्वत घटकों से समन्वित एक ऐसा ग्रन्थ है, जो काव्यकर्म करने वालों को देश और काल के अनुरूप नवीन चिन्तन दृष्टि और साहित्य-सृष्टि सृजन की प्रेरणा देता है।।

सांस्कृतिक दृष्टि से - संस्कृति मानवजाति को संतुलन एवं दृढ़ता प्रदान करती है। प्रत्येक संस्कृति के कुछ आधारभूत लक्षण होते हैं, जो उस संस्कृति को स्वरूप, गुण, विशेषता एवं श्रेष्ठता प्रदान करते हैं। हमारी संस्कृति की विशेषता मानवतावाद है। क्योंकि यह श्रेष्ठ मानवीय सिद्धान्तों, मूल्यों एवं आदर्शों की प्रतीक है।[138] व्याकरण की दृष्टि से सम् उपसर्गपूर्वक कृ धातु से भूषण अर्थ में क्तिन् प्रत्यय करने से संस्कृति शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है- 'भूषणभूत सम्यक् कृति या चेष्टा।'[139] 'संस्कृति शब्द परिष्कृत या परिमार्जित करने के भाव का भी सूचक है अतः संस्कृति मानव की सहज प्रवृत्तियों, नैसर्गिक शक्तियों तथा उनके परिष्कार की द्योतक है। संस्कृति के प्रभाव से ही समाज में उसका घटक ऐसे कार्यों में प्रवृत्त होता है जिनसे सामाजिक, साहित्यिक, कलात्मक, राजनीतिक और वैज्ञानिक क्षेत्रों में उन्नति हुयी है।'[140] डा. राधाकृष्णन् के दृष्टिकोण से 'संस्कृति अपने सदस्यों को विपरीत दिशाओं में क्रियाशील बलों को अत्यन्त सूक्ष्म संतुलन के फलस्वरूप उत्पन्न संतुलन और दृढ़ता प्रदान करती है। सभ्यता का कठोर हो जाना ही संस्कृति है।'[141] राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक संस्थायें, दर्शन, विज्ञान, साहित्य, नाटक, काव्य, चित्रकला, मूर्तिकला, गृहनिर्माण, उपासनागृह, वस्त्राभूषण, बर्तन, जीवनोपयोगी उपकरण, विविध पर्व एवं संस्कार, मनोरंजन के साधन, पुस्तकालय, नाट्य संग्रहालय, उद्योगशालायें, विद्यालय आदि संस्कृति के विभिन्न उपकरण हैं।[142] आचार्य बलदेव उपाध्याय के शब्दों में 'भारतीय संस्कृति के मूलतत्व महाभारत में सुन्दर और प्रभावशाली रूप में अभिव्यक्त है। महाभारत के अनेक स्थल समस्त विश्व-समुदाय के लिये आदर्श आचारसंहिता हैं। महाभारत आर्यधर्म को समन्वित करने वाली एक सांस्कृतिक शृंखला है, महाभारत एक अपूर्व सांस्कृतिक निधि है।'[143] महाभारत प्रत्येक मनुष्य के लिये जीवनविकास की अवस्थाओं के अनुरूप कत्र्तव्यों का निर्धारण तो करता ही है और साथ ही जीवन-समस्याओं की जटिलताओं पर ध्यान केन्द्रित करने की सामर्थ्य प्रदान कर उनसे निवारण के लिये अनेक मार्ग भी प्रस्तुत करता है। महाभारत मानव मात्र को कल्याण भावना से ओत-प्रोत करने के लिये चिन्तन दृष्टि प्रदान करता है। मनुष्य-जीवन के विविध पक्ष महाभारत में समाहित हैं यथा वर्णाश्रमकत्र्तव्य[144], संस्कार[145] (जातकर्म, चैलकर्म, उपनयन, विवाह, और्ध्वदैहिक), पंच महायज्ञ[146]

(ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृ यज्ञ, नृयज्ञ, बलिवैश्वदेव यज्ञ), ऋण त्रय[147] (पितृ ऋण, देव ऋण, ऋषि ऋण), अतिथि पूजा का माहात्म्य[148], भोजन के नियम[149], 'नित्य सूर्य और अग्नि की उपासना, संध्यावंदन और होम करना, देवस्तुति'[150] दान क्रिया (नियम) तथा अनेक प्रकार के दान यथा भूमिदान, गोदान, तिलदान, अन्नदान, कन्यादान, सुवर्णदान, वस्त्रदान आदि[151] श्राद्ध क्रिया[152], गोसेवा का महत्त्व[153], विषय सेवन से होने वाली हानि[154], नृशंस के लक्षण[155], गुरु-माता-पिता की सेवा का माहात्म्य[156], गृहस्थाश्रम की महत्ता[157], वैवाहिक जीवन की सफलता, पति-पत्नी का एक-दूसरे के प्रति सम्मान की भावना और कत्र्तव्य[158], सत्संग का महत्त्व [159], वृक्षारोपण का महत्त्व तथा नाना प्रकार के वृक्षों का वर्णन[160], परोपकार का महत्त्व[161], पारिवारिक सदस्यों का एक-दूसरे के प्रति कत्र्तव्य और व्यवहार[162], शरणागत-रक्षाधर्म[163], मानवीय गुणों यथा क्षमा[164], त्याग एवं सत्य[165], अहिंसा[166], तितिक्षा एवं धृति[167], इन्द्रियसंयम (दम)। दम को परिभाषित करते हुये कहा गया है कि 'क्षमा, धीरता, अहिंसा, समता, सत्यवादिता, सरलता, इन्द्रिय-विजय, दक्षता, प्रियवचन बोलने का स्वभाव, किसी भी प्राणी को कष्ट न देना और दूसरों के दोष न देखना इन सद्गुणों का उदय होना ही दम है।[168] इस गुण की प्रशंसा करते हुये महर्षि व्यास का कथन है कि 'जिसने अपने मन और इन्द्रियों का दमन कर लिया है, वह सुख से सोता, सुख से ही जागता और सुखपूर्वक ही लोकों में विचरता है। उसका मन सदा प्रसन्न रहता है।[169] सत्य, समता, दम, मत्सरता का अभाव, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा, अनसूया (दूसरों के दोष न देखना), त्याग, परमात्मा का ध्यान, आर्यता (श्रेष्ठ आचरण), निरन्तर स्थिर रहने वाली धृति, अहिंसा- ये तेरह सत्य के स्वरूप बतलाये गये हैं।'[170] इसके अतिरिक्त 'वाणिज्य (कृषि, पशुपालन आदि), परिच्छेद और प्रसाधन, शिल्प (सुवर्ण, चाँदी, ताँबे, काँसे, लौह, मणि-मुक्ता, दन्तशिल्प, धर्मशिल्प, वास्तुशिल्प, काष्ठशिल्प, वस्त्रशिल्प), प्रकीर्ण व्यवहार, प्रायश्चितों, तप की महिमा, पुरुषार्थचतुष्ट्य[171], राजा के कत्र्तव्यों, दण्डनीति, राष्ट्र की रक्षा तथा वृद्धि के उपायों[172], मनुष्य के स्वभाव की पहचान[173], सैन्यसंचालन की रीति-नीति तथा भिन्न-भिन्न देश के योद्धाओं के स्वभाव, रूप, बल, आचरण, लक्षणों[174], लक्ष्मी के रहने और न रहने के स्थान का वर्णन[175], काम-क्रोध-शोक-मोह-विधित्सा (शास्त्र-विरुद्ध काम करने की इच्छा), परासुता (दूसरों को मारने की इच्छा), मद, लोभ, मोह,

मात्सर्य, ईष्र्या, निन्दा, दोषदृष्टि और दैन्यभाव - इन तेरह दोषों का वर्णन[176], अहंकार एवं कृतघ्नता का वर्णन[177], विभिन्न प्रकार के मतों (सांख्य[178], योग[179], वेदान्त[180], पांचरात्र[181], पाशुपत[182], आन्वीक्षिकी विद्या[183]) का वर्णन, यज्ञ के प्रकारों (अश्वमेध, राजसूय, साधस्क, सर्पसत्र आदि)[184], दैव की अपेक्षा पुरुषार्थ की श्रेष्ठता का वर्णन[185], तप और उपवास का वर्णन[186], तीर्थों (बलाका अश्विनी-महागंगा-कृतिकांगारक-सलिलह्रद-बिल्वक-शरस्तम्ब-कुशस्तम्ब आदि)के माहात्म्य का वर्णन[187], कन्या के विवाह-सम्बन्ध में पात्रविषयक विचारों एवं कन्या और दौहित्र आदि के दायभाग का वर्णन[188], पतिव्रतास्त्रियों के कर्तव्यों का वर्णन[189], शिक्षा[190], नगरों (हस्तिनापुर-इन्द्रप्रस्थ, वारणावत, उपलव्य आदि)[191] तथा देशों (मल्लराष्ट्र-कोसल- अयोध्या-गोपालकक्ष-अनघ-मलद आदि)[192] का वर्णन, पुनर्जन्म[193] और आत्मतत्त्व[194] का वर्णन महाभारत ग्रन्थ में किया गया है। वहाँ स्वर्ग-नरक की कल्पना पाप-पुण्य से जोड़कर की गयी थी।[195] ब्रह्महत्या, सुरापान, गुरू-तल्प-गमन, स्तेय आदि ये महापातक माने गये हैं तथा अपने या दूसरे के प्राण बचाने के लिये, गुरु के लिये, एकान्त में अपनी स्त्री के पास विनोद करते समय अथवा विवाह के प्रसंग में असत्य भाषण करना पाप नहीं समझा जाता था।[196] ये सभी तत्त्व मिलकर तत्कालीन संस्कृति का दिग्दर्शन कराते हैं क्योंकि किसी भी संस्कृति के निर्माण में उस स्थानविशेष के वस्त्र-आभूषण, रीति-रिवाज, रहन-सहन, भाषा, व्यवहार, आचार, आहार, शासन-नीति, साहित्य, देवता तथा उपासना विधि, व्यापार क्रिया, परिवार-व्यवस्था इत्यादि तत्त्वों का समेकित योगदान होता है।

आर्थिक दृष्टि से - महाभारत में अर्थ का स्वरूप तथा उसकी प्रधानता का कारण स्पष्ट करते हुये उल्लेख है कि 'जीविका के साधनभूत कृषि, वाणिज्य, गोपालन तथा विविध प्रकार के शिल्प-ये सभी अर्थप्राप्ति के साधन हैं। अर्थ ही समस्त कर्मों की मर्यादा के पालन में सहायक है। अर्थ के बिना धर्म और काम भी सिद्ध नहीं होते। संसार के सभी मनुष्य अर्थ की अभिलाषा रखते हैं। अर्थ की प्रधानता को न जानना तमोमय अज्ञान है। अर्थ की प्रधानता का ज्ञान प्रकाशमय है। अर्थवान् वही है जो अपने भृत्यों को उत्तम भोग और शत्रुओं को दण्ड देकर उनको वश में रखता है।[197] अर्थ की प्रधानता को स्वीकार करते हुये कहा गया है कि

''मनुष्य को बैठते, सोते, घूमते अथवा खड़े होते समय भी छोटे-बड़े हर तरह के उपायों से धन की आय को सुदृढ़ बनाना चाहिये।'' यथोक्तम्-

आसीनश्च शयानश्च विचरन्नपि वा स्थितः।
अर्थयोगं दृढं कुर्याद् योगैरुच्चावचैरपि।।[198]

''धन अत्यन्त प्रिय और दुर्लभ वस्तु है। इसकी प्राप्ति या सिद्धि हो जाने पर मनुष्य संसार में अपनी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण कर सकता है किन्तु धनहीन मनुष्य की सारी क्रियाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। निर्धन के लिये तो न यह लोक सुखदायक होता है, न परलोक। अर्थ से धर्म का पालन, धर्म की वृद्धि, कामनाओं की पूर्ति, स्वर्ग की प्राप्ति, कुल की प्रतिष्ठा, हर्ष की वृद्धि, क्रोध की सफलता, शास्त्रों का श्रवण और अध्ययन तथा शत्रुओं का दमन-ये सभी कार्य सिद्ध होते हैं।''[199] अर्थ से सम्बन्धित अनेक बातें महाभारत में वर्णित हैं, जो उसके विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालती हैं एवं मनुष्यों के अर्थसंबंधी निर्णय लेने में भी पूर्णरूप से सहायक हैं। इसीलिये महर्षि ने महाभारत को अर्थशास्त्र भी कहा है।

इसके अतिरिक्त महाभारत में 'काम' के गुण और दोषों की भी चर्चा की गयी है।[200] इस विषय में 'कामगीता' का भी वहाँ उल्लेख किया गया है।[201] त्रिवर्ग में अन्तर्निहित 'काम' को धर्म और अर्थ का हेतु बताया गया है[202] तथा पुरुषार्थचतुष्ट्य के अन्तर्गत परिगणित मोक्षधर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुये उसकी प्राप्ति के उपाय[203], उसमें आने वाले विघ्नों का[204] वर्णन भी महाभारत में किया गया है। 'महाभारत' में प्रत्येक मनुष्य को प्रेरणा देने वाले अनेक प्रकार के ऐसे तत्त्वों का समावेश है, जिनकी पालना करने से स्वस्थ और सुन्दर समाज का सृजन संभव है तथा जो भारतीयों के उच्च आदर्शों को वैश्विक पटल पर उचित ढंग से व्याख्यायित करने में भी समर्थ है। 'महाभारत' ग्रन्थ की प्रशंसा करते हुये 'वी.एस. सुक्थणकर' का कथन है 'The Mahabharata is the Golden Treasury of the ideals of the Indians at their best.'[205] (महाभारत भारतीयों के आदर्शों की स्वर्णिम निधि है) तथा उन्होंने महाभारत को 'एक दैवीय कार्य' और 'दैवीय प्रेरणा की स्मारिका पुस्तक' की संज्ञा से भी उपमित किया है।[206]

निष्कर्ष -

संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ के रूप में वेद को मान्यता दी गयी है। वेद संख्या में चार हैं किन्तु साहित्यजगत् में पाँचवें वेद के रूप में महर्षि वेदव्यास विरचित महाकाव्य 'महाभारत' की गणना की जाती है, जो स्वतः ही वेदों में समाहित सम्पूर्ण ज्ञान-राशि एवं भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता को नवीन संतति तक प्रेषण के सशक्त माध्यम के उच्च मानदण्डों की प्रतिपुष्टि करने वाले एक प्रमुख आधार ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित है। भारतीय विद्वानों और पाश्चात्य विद्वानों ने भी भारतीय आदर्शों को प्रतिबिम्बित करने वाले इस महान् ग्रन्थ की महत्ता को प्रमाणित किया है। यह ग्रंथ आदर्श एवं सच्चरित्र मनुष्यों के सदाचारी जीवन का प्रतिबिम्बदर्शी है। इस ग्रन्थ में समाविष्ट मानवोपयोगी समस्त कत्र्तव्य वैदिक काल से पुष्ट होकर सम्प्रति भी शाश्वत रूप में निरंतर परम्परा एवं आदर्श नियम के रूप में मान्य एवं व्यवहृत हैं। यह एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें विभिन्न वर्णों के द्वारा और आश्रमों के अन्तर्गत निर्वाह किये जाने वाले करणीय कर्मों को विभिन्न पात्रों के जीवन में घटित घटनाओं, ऋषि-मुनियों के संवादों तथा पशु-पक्षियों के उपाख्यानों के माध्यम से भी सत्य के धरातल पर चित्रित किया गया है तथा यह ग्रन्थ प्रत्येक मनुष्य के लिये कत्र्तव्य निर्धारण और सरलतापूर्वक तत्त्वों को आत्मसात् करने में पूर्ण सहायक हो सकता है। प्राणिमात्र को प्राप्त होने वाली उच्च और उत्तम गति हेतु प्रत्येक धर्म के लिये इस ग्रन्थ में आगत आत्मगुणों यथा सत्य, अहिंसा, त्याग, क्षमा, इन्द्रिय-संयम, सहिष्णुता इत्यादि को जीवन का आवश्यक एवं अनिवार्य अंग बताया है। भारतीय संस्कृति के महान् पोषक एवं व्याख्याता महर्षि व्यास ने अपने महान् काव्य द्वारा तत्कालीन समाज में घटित होने वाले यथा ऐतिहासिक, धार्मिक, साहित्यिक, आर्थिक, नैतिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि परिस्थितियों का विवेचन कर तत्सम्बन्धी प्रभावी, भावानुकूल, विषयानुकूल, अवसरानुकूल यथार्थ उपदेश प्रदान किया है। इस ग्रन्थ में अनेक राजर्षियों, राजवंशों, महर्षियों, विभिन्न लोकों का तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सम्बन्धी तत्त्वों का समावेश होने से और परवर्ती कवियों के लिये उपजीव्य ग्रन्थ बन जाने से महाभारत का ऐतिहासिक, धार्मिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक इत्यादि महत्त्व स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

♦♦♦♦

सन्दर्भ

1. श्रीमद्भागवतमहापुराण, 6/1/40
2. सम्पूर्ण मनुस्मृति, 2/6
3. ऋग्वेद, 10/191/4
4. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, पृ.सं.-70
5. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, पृ.सं.-73
6. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, पृ.सं.-98
7. मनुस्मृति (2/7); वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृ.सं.-4
8. मनुस्मृति, 12/102
9. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, वेदखण्ड (बलदेव उपाध्याय), भूमिका भाग, पृ.सं.-29
10. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृ.सं.-170
11. ईशावास्योपनिषद्, पृ.सं.-6
12. ईशावास्योपनिषद्, पृ.सं.-6
13. ईशावास्योपनिषद्, पृ.सं.-6
14. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, वेदखण्ड (बलदेव उपाध्याय), पृ.सं.-512
15. संस्कृत साहित्य का इतिहास (वाचस्पति गैरोला), पृ.सं.-286
16. संस्कृत साहित्य का इतिहास, (वाचस्पति गैरोला), पृ.-287; ब्रह्माण्ड पुराण, सौदास चरित्र में (पृ.सं.-184)
17. छान्दोग्योपनिषद् (7/1/2); पृ.सं.-713; नारद पुराण, 1/9/97
18. पौराणिक साहित्य और संस्कृति (पौराणिक कथाओं में चरित्र उत्कर्ष की भावना), पृ.सं.-1-3
19. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, पुराण खण्ड (बलदेव उपाध्याय), पृ.सं.-4
20. ऋग्वेद संहिता, प्रथम मण्डल, पृ.सं.-272, यजुर्वेद संहिता (17/11), (36/20)
21. ऋग्वेद संहिता, 1/179/1
22. ऋग्वेद संहिता, 1/179/2
23. ऋग्वेद संहिता, 1/179/3
24. ऋग्वेद संहिता, 1/179/4

25. बृहद्देवता, 4/57, 59
26. बृहद्देवता, 4/60
27. ऋग्वेद संहिता, पृ.सं.-194
28. ऋग्वेद संहिता, पृ.सं.-194
29. बृहद्देवता, 3/156
30. बृहद्देवता, 3/156
31. बृहद्देवता, 4/3
32. ऋग्वेद संहिता, 1/126/6
33. ऐतरेय आरण्यक, 1/3/6, पृ.सं.-81-82
34. बृहद्देवता, 4/2
35. ऋग्वेद संहिता, 1/26/7
36. ऋग्वेद संहिता, भाग-2, 5/61, पृ.सं.-78
37. बृहद्देवता, 5/53
38. ऋग्वेद संहिता, 5/61/5
39. ऋग्वेद संहिता, 5/61/7-8
40. संस्कृत निबन्ध मन्दाकिनी, पृ.सं.-67
41. ऋग्वेद संहिता, 5/28
42. यजुर्वेद संहिता, 33/12
43. मनुस्मृति, 11/87
44. ऋग्वेद संहिता, 5/28/3
45. तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3/7/7/11, पृ.सं.-514 पर सायण व्याख्या
46. ऋग्वेद संहिता, 8/91
47. बृहद्देवता, 6/100
48. ऋग्वेद संहिता, 8/91/5
49. ऋग्वेद संहिता, 8/91/7
50. बृहद्देवता, 6/105-106
51. ऋग्वेद संहिता, 10/10

52. बृहद्देवता, 6/163, श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 6/6/40
53. ऋग्वेद संहिता, 10/10/2
54. ऋग्वेद संहिता, 10/10/4
55. ऋग्वेद संहिता, 10/10/1
56. ऋग्वेद संहिता, 10/10/3, 5, 11
57. ऋग्वेद संहिता, 10/10/12
58. मनुस्मृति, 2/214
59. अथर्ववेद संहिता, 18/1/1-16
60. ऋग्वेद संहिता, दशममण्डल, परिशिष्ट 1/81
61. बृहद्देवता, 7/42-45
62. ऋग्वेद संहिता, 10/39/6
63. ऋग्वेद संहिता, 10/40/11-13
64. बृहद्देवता, 7/47 (भत्रारं ददतुस्तस्यै सुहस्त्य च सुतं मुनिम्) ऋग्वेद संहिता, 10/40/9 (जनिष्ट योषा पतयत्कनीनको वि चारु हन्वीरूधो दंसना अनु)
65. ऋग्वेद संहिता, 10/39/8, वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृ.सं.-260
66. ऋग्वेद संहिता, 1/112/10
67. ऋग्वेद संहिता, 10/85/8
68. ऋग्वेद संहिता, 10/102/2
69. वाल्मीकि रामायण, 2/9/162
70. ऋग्वेद संहिता, 10/134/6, यजुर्वेद संहिता (24/35) सामवेद संहिता पूर्वार्चिक, 1/7/2
71. तैत्तिरीयसंहिता, 5/5/15/1
72. वायुपुराणम्, 69/51-52, पृ.सं.-608
73. निरुक्तम्, 5/13, पृ.सं.-540
74. ऋग्वेद संहिता, 10/95
75. ऋग्वेद संहिता, 10/95/16
76. स्वप्नवासवदत्तम्, 4/6
77. ऋग्वेद संहिता, 10/95/1-2

78. ऋग्वेद संहिता, 10/95/11
79. श्रीविष्णुपुराण, 6/35
80. श्रीविष्णुपुराण, 6/40-47
81. श्रीविष्णुपुराण, 6/59
82. ऋग्वेद संहिता, 10/95/3, 14
83. ऋग्वेद संहिता, 10/95/10
84. ऋग्वेद संहिता, 10/95/13, 15, 18
85. मत्स्यमहापुराण, 24वाँ अध्याय
86. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृ.सं.-135
87. केनोपनिषद्, 3/17
88. केनोपनिषद्, 4/18
89. बृहदारण्यकोपनिषद्, 3/6/1
90. बृहदारण्यकोपनिषद्, 3/8/2
91. बृहदारण्यकोपनिषद्, 3/8/11
92. बृहदारण्यकोपनिषद्, 3/8/12
93. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/5/2
94. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/5/3
95. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/5/4
96. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/5/5
97. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/5/1
98. स्कन्दपुराण (नागरखण्डपूर्वार्द्ध), 127वाँ अध्याय/11-13, पृ.सं. 710-715
99. स्कन्दपुराण (नागरखण्डपूर्वार्द्ध), 127वाँ अध्याय/20-22
100. स्कन्दपुराण, 127वाँ अध्याय/42-47
101. संस्कृति के चार अध्याय, पृ.सं.-62
102. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-413 (40/5,7)
103. संक्षिप्त स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्ड (केदारखण्ड), पृ.सं.-35
104. स्कन्दपुराण, पृ.सं.-413 (840/6)

105. स्कन्दपुराण, पृ.सं.-413 (40/8)

106. स्कन्दपुराण, पृ.सं.-414 (40/20-25)

107. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/22

108. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-414, (40/27-30)

109. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-415 (40/32-33)

110. स्वप्नवासवदत्तम्, पृ.सं.-73

111. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-415 (40/39-41, 44)

112. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-415 (40/45)

113. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-416 (40/56-57, 60)

114. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-416 (40/62-63)

115. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-416 (40/68-71)

116. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-416 (40/73)

117. हारीतस्मृति, 8/197

118. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-416 (40/74)

119. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-417 (40/123)

120. ब्रह्मपुराण, पृ.सं.-417 (40/110-113)

121. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-83

122. प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी, पृ.सं.-133

123. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-83

124. जानकीहरणम्, 9/6

125. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-83

126. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-83, (16/19-25)

127. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-83, (16/26)

128. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-83, (16/31)

129. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-84

130. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-85 (16/55)

131. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-16/51-52)

132. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-85 (16/53, 65)

133. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-85 (16/61-62)

134. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-85 (16/63)

135. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-85-86 (16/73-76)

136. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-86-87 (16/78-79, 82, 85)

137. याज्ञवल्क्यस्मृति, आचार अध्याय, श्लोक सं.-87

138. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, पृ.सं.-87 (16/87)

139. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, पृ.सं.-87

140. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, पृ.सं.-87 (17/11)

141. संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-197

142. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/20/16; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-379

143. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/20/29,31; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-380

144. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/20/35; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-381

145. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/20/39, संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-381

146. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/21/6, 19, 27; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-382

147. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/22/12-15; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-382

148. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/22/17; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-382

149. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/22/20-22; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-383

150. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/22/27; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-383

151. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/25/33; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-386

152. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/25/10-11; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-387

153. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/25/27-28; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-387-388

154. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/25/61-64; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-389

155. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/25/76,89; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-390

156. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/26/18-19; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-391

157. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/26/54-56; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-392

158. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/27/1; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-393

159. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/27/4,13; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-393

160. श्रीमद्देवीभागवतम्, 7/28/34-36; संक्षिप्त देवीभागवत् पुराण, पृ.सं.-394

161. शंखस्मृति, 5/8

162. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/22/9, 23

163. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/22/11,18

164. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/22/14

165. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/22/19

166. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/22/15, 22

167. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/22/23

168. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/22/24-25

169. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/23/1

170. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/23/2-3

171. मनुस्मृति, 9/22

172. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/23/7-8

173. जानकीहरणम्, 9/14

174. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/68

175. याज्ञवल्क्यस्मृति, आचार अध्याय, 74वाँ श्लोक

176. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/23/48 तथा 3/24/6

177. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/24/10, 16

178. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/24/38-47

179. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/25/7

180. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/25/11, 28, 31 तथा 3/33/30

181. श्रीमद्भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, 3/23/1

182. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/131

183. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/25, 30

184. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/130, 133

185. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/134-135

186. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/140-142

187. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/1; सं. ब्रह्मवैवर्तपुराण, पृ.सं.-122

188. स्कन्दपुराण, ब्राह्मखण्ड (धर्मारण्य-माहात्म्य), 7/48, पृ.सं.-619

189. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/2-12, सं. ब्रह्मवैवर्तपुराण, पृ.सं.-123

190. प्रमुख पुराणों में नारी चित्रण, पृ.सं.-121

त्रैलोक्यभस्मसात् कर्तुम् क्षणेनैव पतिव्रता।

स्वतेजसा समर्था सा महापुण्यवती सदा।।

191. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/14-17, सं. ब्रह्मवैवर्तपुराण, पृ.सं.-123

192. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/18-30

193. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/34, सं. ब्रह्मवैवर्तपुराण, पृ.सं.-123

194. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/36-39, 47

195. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 42/58-64

196. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, श्रीकुष्णजन्मखण्ड, 24/6, 10-11

197. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 24/6,10

198. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, 24/12

199. दक्ष स्मृति, 4/7

200. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, 24/16, 25

201. ऋग्वेद संहिता, सूर्या सूक्त (10/85)

202. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, 24/33-41

203. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, 24/49-51

204. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, 24/52-55

205. दक्ष स्मृति, 4/5

206. मनुस्मृति, 5/166

207. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, 24/57-69

208. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, 24/72

209. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, 24/83

210. ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, 24/84

211. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 48/4-7, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-282

212. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 48/11-12, 1, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-282

213. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 48/19, 23, 26-27, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-282

214. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 49/15-16, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-283

215. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 49/26, 32, 37-38, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-283

216. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 49/41-44, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-283

217. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 49/51, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-284

218. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 50/1-56, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-284

219. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 50/60, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-285

220. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 51/1-8, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-285

221. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 51/26-27, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-285

222. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 51/29-30, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-282

223. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 47/47-64, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-282

224. महाभारत, आदिपर्व, 74/12

225. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 42/4, 6, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-275

226. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 42/5, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-275

227. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/62-63, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-274

228. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/65, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-274

229. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 42/4, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-275

230. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 42/8-9, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-275-278

231. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 46/12, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-278

232. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 47/5-7, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-279

233. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 52/36-38, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-287

234. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 52/46, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-287

235. शुक्रनीति, 1/5

236. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/75, संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-274

237. पद्मपुराण, (सा च साध्वी महाभागा पतिव्रतपरायणा, 18/5); संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-238

238. वाल्मीकि रामायण, अरण्यकाण्ड, 117/24

239. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 11/6-8; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-238

240. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 11/11; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-238

241. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 11/23-26; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-238

242. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 12/44-45; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-240

243. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 12/35; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-239

244. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 12/37-38; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-240

245. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 12/48-49; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-240

246. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 16/3,5 तथा 19/40; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-254

247. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 20/30

248. विष्णुपुराण, 2/6, 28-29

249. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/3-4; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-272

250. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/9; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-272

251. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/14; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-272

252. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/15; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-272

253. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/19-27; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-273

254. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/41-44; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-273

255. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/45-47; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-273

256. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 4/3

257. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/56-59; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-273

258. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/68, 78; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-274

259. याज्ञवल्क्यस्मृति, आचार अध्याय, 84वाँ श्लोक

260. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 41/68-69; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-274

261. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 53-55वाँ अध्याय; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-287-291

262. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 56वाँ अध्याय; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-292

263. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 58/31-32; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-293

264. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 58/35-36; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-293

265. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 58/38; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-293

266. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 59/4-7; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-293

267. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 59/8, 30, 33; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-294

268. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 60/9, 10, 20; संक्षिप्त पद्मपुराण, पृ.सं.-294

269. योगवासिष्ठ, पूर्वार्द्ध, 6/109/27-28

270. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 59/24

271. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 21/28, पृ.सं.-106

272. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 21/81, (21/61-65), पृ.सं.-106

273. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 28/8-9, पृ.सं.-107

274. मार्कण्डेयपुराण, 26/6, पृ.सं.-108

275. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 26/6, पृ.सं.-108

276. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 26/3, 5-7, पृ.सं.-108

277. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 25/11-14, पृ.सं.-107-108

278. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 26/15-23, पृ.सं.-108-109

279. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, (26/24-36), 27-28वाँ अध्याय, पृ.सं.-109-125

280. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 36/3-4,8, पृ.सं.-125

281. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 37/10-18, 20, पृ.सं.-126

282. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 37/23-24, पृ.सं.-126

283. संक्षिप्त मार्कण्डेय- ब्रह्मपुराणांक, 37/29, 38-39वाँ अध्याय, पृ.सं.-126-127

284. पद्मपुराण, सृष्टि खण्ड, 49/31-32

चतुर्थ अध्याय

अवान्तर कथाओं में आये स्त्री पात्रों का संक्षिप्त सर्वेक्षण

चतुर्थ अध्याय

अवान्तर कथाओं में आये स्त्री पात्रों का संक्षिप्त सर्वेक्षण

शकुन्तला

'शकुन्तला' मेनका और विश्वामित्र की पुत्री थी जिसका पालन-पोषण कण्व ऋषि ने किया था।[1] उत्तमव्रत का पालन करने वाली वह रूप, यौवन, शील और सदाचार से सम्पन्न थी। वह सर्वांगसुन्दरी, मधुरभाषिणी, विशाल एवं श्यामल नेत्रों वाली, अपूर्व शोभा से सम्पन्न तथा मनोहर मुस्कान से सुशोभित थी। उसका शरीर सौन्दर्य की प्रभा से प्रकाशित हो रहा था।[2] शकुन्तला ने पुरूवंश का विस्तार करने वाले ईलिन-रथन्तरी के पुत्र दुष्यन्त का पतिरूप में वरण किया और ऐसे महान् चक्रवर्ती सम्राट् भरत को जन्म दिया जिसके नाम से 'कौरववंश', 'भरतवंश' के नाम से विख्यात हुआ।[3]

जीवनमार्ग की विषम परिस्थितियों में कत्र्तव्यपथ पर अग्रसर होती हुयी शकुन्तला का चरित्र जिन गुणों से समन्वित है, वे निम्न हैं-

अतिथिसत्कारपरायणा - एक दिन राजा दुष्यन्त मृगया की इच्छा से किसी हिंसक पशु का पीछा करते हुये मालिनी नदी के किनारे महर्षि कण्व के आश्रम के समीप आये। तब महर्षि के दर्शन की इच्छा से दुष्यन्त ने आश्रम के भीतर प्रवेश किया।[4] वहाँ आस-पास किसी को न देखकर उन्होंने 'यहाँ कौन है?' कहकर पुकारा। तब वह स्वर सुनकर शकुन्तला उनके समक्ष आयी। अतिथि को आया हुआ देखकर उसने सम्मान का भाव प्रदर्शित करते हुये शीघ्रतापूर्वक कहा 'आपका स्वागत है।'[5] फिर आसन, पाद्य और अघ्र्य अर्पित करके उनका समादर करने के पश्चात् उसने राजा से उनका अनामय और कुशल पूछा फिर मुस्कुराते हुये बोली 'आप की क्या सेवा की जाये?' (आसनेनार्चयित्वा च पाद्येनाघ्र्येण चैव हि, प्रपच्छानामयं राजन् कुशलं च नराधिपम्। उवाच स्मयमानेव किं कार्यं क्रियतामिति।)[6]

धर्मज्ञा और स्पष्टवादिनी - शकुन्तला के अपूर्व सौन्दर्य और तेज को देखकर राजा दुष्यन्त ने उसका परिचय पूछा और यह जानने पर कि वह महर्षि कण्व की पुत्री है तो राजा ने कहा कि 'महर्षि कण्व तो नैष्ठिक धर्मचारी हैं। तो ऐसी दशा में तुम उनकी पुत्री कैसे हो सकती हो?'[7] तब शकुन्तला अपना जन्मवृत्तान्त बतलाते हुये स्वयं के महर्षि विश्वामित्र और मेनका

अप्सरा से उत्पन्न होने की कथा सुनाती है[8] और कहती है 'इस तरह आप मुझे कण्व की ही पुत्री समझिये। मैं अपने जन्मदाता पिता को तो जानती नहीं, कण्व को ही पिता मानती हूँ।'[9] यह ज्ञात होने पर कि शकुन्तला एक क्षत्रिय कन्या है; दुष्यन्त ने शकुन्तला से कहा 'मेरी भार्या बन जाओ। गान्धर्वविवाह के द्वारा मुझे अंगीकार करो। विवाहों में गान्धर्व विवाह श्रेष्ठ कहलाता है।'[10] यह सुन्कर शकुन्तला ने कहा 'मेरे पिता कण्व फल लाने के लिये इस आश्रम से बाहर गये हैं। कुछ क्षण प्रतीक्षा कीजिये। वे ही मुझे आपकी सेवा में समर्पित करेंगे। पिता ही मेरे प्रभु हैं। उन्हें ही मैं सदा अपना सर्वोत्कृष्ट देवता मानती हूँ। पिताजी मुझे जिसको सौंप देंगे, वही मेरा पति होगा। कुमारावस्था में पिता, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र रक्षा करता है अतः स्त्री को कभी स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिये। मैं अपने तपस्वी पिता की अवहेलना करके अधर्मपूर्वक पति का वरण कैसे कर सकती हूँ?'

फलाहारो गतो राजन् पिता मे इत आश्रमात्। मुहूर्तं सम्प्रतीक्षस्व स मां तुभ्यं प्रदास्यति।।
पिता हि मे प्रभुर्नित्यं दैवतं परमं मतम्। यस्य वा दास्यति पिता स मे भर्ता भविष्यति।।
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।।
अमन्यमाना राजेन्द्र पितरं मे तपस्विनम्। अधर्मेण हि धर्मिष्ठ कथं वरमुपास्महे।[11]

उसके ये वचन उसके सुशीला, धर्मज्ञा और स्पष्टवादिनी होने तथा उसका अपने पिता कण्व के प्रति आदरभाव को भी प्रकट करते हैं। उसका स्वभाव प्रशंसा के योग्य था। शकुन्तला के वचनों को सुनकर जब दुष्यन्त ने कहा कि 'तपोराशि कण्व बड़े ही दयालु हैं'[12] तब शकुन्तला ने ब्राह्मण स्वभाव के बारे में बताते हुये कहा 'राजन्! ब्राह्मण क्रोध के द्वारा ही प्रहार करते हैं। कुपित ब्राह्मण अपने क्रोध से अपराधी को वैसे ही नष्ट कर देता है, जैसे वज्रधारी इन्द्र असुरों को' (मन्युप्रहरणा विप्रा न विप्राः शस्त्रपाणयः। क्रोधितो मन्युना हन्ति वज्रपाणिरिवासुरान्)[13] उसके वचन सुनकर दुष्यन्त ने नाना प्रकार के धर्मानुकूल वचन कहकर उसके समक्ष पुनः विवाह का प्रस्ताव रखा।[14] उनके वचनों से प्रभावित शकुन्तला ने कहा 'यदि यह गान्धर्व विवाह धर्म का मार्ग है, यदि आत्मा स्वयं ही अपना दान करने में समर्थ है तो इसके लिये मैं तैयार हूँ; किन्तु मेरी एक शर्त है उसे सुनिये और उसका पालन करने के लिये सच्ची प्रतिज्ञा कीजिये।'[15] उसने कहा 'मेरे गर्भ से आपके द्वारा जो पुत्र उत्पन्न हो, वही आपके बाद युवराज हो, यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ। यदि शर्त इसी रूप में स्वीकार हो तो आपके साथ मेरा समागम हो सकता है' (मयि जायेत यः पुत्रः स भवेत्

त्वदनन्तरः युवराजो महाराज सत्यमेतद् ब्रवीमि ते। यद्येतदेवं दुष्यन्त अस्तु मे संगमस्त्वया)[16]

उसके वचनों में उसकी स्पष्टवादिता के साथ उसकी पुत्र के भविष्य को सुरक्षित रखने की इच्छा भी दृष्टिगत होती है। राज दुष्यन्त ने 'ऐसा ही होगा' यह कहकर गान्धर्व विधि से उसके साथ विवाह करके, एकान्तवास किया तत्पश्चात् 'उसे शीघ्र ही बुलाने का आश्वासन देकर' उससे विदा लेकर नगर में चले गये। शकुन्तला ने भी उनकी परिक्रमा करके उन्हें अश्रुपूर्ण नेत्रों से विदा किया।[17]

लज्जाशीला - जब महर्षि कण्व पुनः आश्रम पर आये तब शकुन्तला लज्जावश पहले के समान पिता के समीप नहीं गयी (शकुन्तला च पितरं ह्रिया नोपजगाम तम्)[18] तत्पश्चात् वह डरती हुयी ब्रह्मर्षि के निकट धीरे-धीरे गयी। फिर उसने उनके लिये आसन लेकर बिछाया। शकुन्तला इतनी लज्जित हो गयी थी कि महर्षि से कोई बात तक न कर सकी। वह अपने धर्म से गिर जाने के कारण भयभीत हो रही थी।[19] उस समय उसे लज्जाशील देख महर्षि ने उससे इसका कारण पूछा तब उसने दुष्यन्त के साथ अपने विवाह-सम्बन्ध के बारे में बता दिया।[20] कण्व ने भी दिव्य दृष्टि से देखकर उसकी तात्कालिक अवस्था जान ली और प्रसन्न होकर बोले 'आज तुमने मेरी अवहेलना करके जो एकान्त में किसी पुरुष के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है, वह तुम्हारे धर्म का नाशक नहीं है। तुमने योग्य पति के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है; इसलिये लोक में तुम्हारे गर्भ से एक महाबली और महात्मा पुत्र उत्पन्न होगा, जो समुद्र से घिरी हुयी इस समूची पृथ्वी का उपभोग करेगा।'[21] तदनतर शकुन्तला ने उनके लाये हुये फल के भार को लेकर यथास्थान रख दिया फिर उनके दोनों पैर धोये।[22]

यहाँ उसकी लज्जाशीलता का गुण तो प्रकट होता ही है साथ ही पुत्री के रूप में उसकी कत्र्तव्यपरायणता तथा महर्षि के वचनों से उसके सदाचारिणी होने का भी ज्ञान होता है।

पतिहितैषिणी - महर्षि कण्व के द्वारा शकुन्तला को आशीर्वाद दिये जाने के पश्चात् वह अपने पिता से कहती है कि 'मैंने पुरुषों में श्रेष्ठ राजा दुष्यन्त का पतिरूप में वरण किया है अतः मन्त्रियों सहित उन नरेश पर आपको कृपा करनी चाहिये।[23] तब महर्षि कण्व ने उससे इच्छित वर माँगने को कहा। तब शकुन्तला ने दुष्यन्त के हित की इच्छा से यह वर माँगा कि 'पुरूवंशी नरेश सदा धर्म में स्थिर रहें और वे कभी राज्य से भ्रष्ट न हों (ततो धर्मिष्ठतां

वव्रे राज्याच्चास्खलनं तथा, शकुन्तला पौरवाणां दुष्यन्तहितकाम्यया।)[24] उसके इन वचनों से ज्ञात होता है कि विवाह के अवसर पर राजा दुष्यन्त के साथ शर्त रखते समय पुत्रहित की इच्छा का ध्यान रखने वाली शकुन्तला पतिहित के प्रति भी सजग थी।

पतिव्रता - शकुन्तला एक पतिव्रता स्त्री थी। शकुन्तला से पूर्वोक्त प्रतिज्ञा करके राजा दुष्यन्त के चले जाने पर उन्हीं का चिन्तन करते हुये उसने तीन वर्ष बाद सर्वदमन नामक पुत्र को जन्म दिया जो दुष्यन्त के वीर्य से उत्पन्न हुआ था।[25] उसके पुत्र की आयु बारह वर्ष की होने पर महर्षि कण्व ने उसे युवराज पद के योग्य जानकर शकुन्तला को पतिगृह जाने के लिये आज्ञा दी।[26] कण्व से आज्ञा पाकर वह मन ही मन अत्यन्त प्रसन्न हुयी।[27] गर्भावस्था से लेकर पुत्र की बाल्यावस्था तक, इन पन्द्रह वर्षों की दीर्घावधि में उसने कभी भी परपुरुष का चिन्तन नहीं किया और दुष्यन्त के वचन को सत्य मानकर उनकी प्रतीक्षा करती रही।

कर्त्तव्याकर्त्तव्यज्ञा - जब शकुन्तला पुत्र सहित राज्यसभा में प्रविष्ट हुयी तब शिष्यगण राजा को महर्षि का सन्देश सुनाकर पुनः आश्रम को लौट गये।[28] और शकुन्तला ने न्यायपूर्वक महाराज के प्रति सम्मान का भाव प्रकट करते हुये पुत्र से कहा कि 'दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रत का पालन करने वाले ये महाराज तुम्हारे पिता है; इन्हें प्रणाम करो।'[29] पुत्र से ऐसा कहकर शकुन्तला लजाते हुये एक स्तम्भ का सहारा लेकर खड़ी हो गयी और महाराज से कहा 'हे देव! प्रसन्न हों।' फिर राजा दुष्यन्त ने उससे आगमन का उद्देश्य पूछा, तब शकुन्तला ने कहा 'यह आपका पुत्र है। इसे आप युवराज पद पर अभिषिक्त कीजिये। यह देवोपम कुमार आपके द्वारा मेरे गर्भ से उत्पन्न हुआ है। इसके लिये आपने मेरे साथ जो शर्त स्वीकार की थी, उसका पालन कीजिये।'[30] यह सुनकर दुष्यन्त ने शकुन्तला से कहा 'तुम्हारे साथ मेरा धर्म, काम अथवा अर्थ को लेकर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुआ है, इस बात का मुझे तनिक भी स्मरण नहीं है। तुम इच्छानुसार जाओ या रहो अथवा जैसी तुम्हारी रूचि हो, वैसा करो।'[31] दुष्यन्त के ये वचन सुनकर वह लज्जित हो दुःख से संज्ञाहीन-सी हो गयी। क्रोध और अमर्ष से उसकी आँखें लाल हो गयीं, ओष्ठ फड़कने लगे और मानो जला देगी, इस भाव से टेढ़ी चितवन के द्वारा वह राजा की ओर देखने लगी। और तपस्या द्वारा संचित किये हुये तेज को वह अपने भीतर ही धारण किये रही।[32] तत्पश्चात् क्षणभर विचार कर वह दुःख और अमर्ष में भरकर पति की ओर देखती हुयी क्रोधपूर्वक बोली 'महाराज! आप जान-बूझकर भी दूसरे

निम्न कोटि के मनुष्यों की भाँति निःशंक होकर ऐसी बातें क्यों कहते हैं कि 'मैं नहीं जानता।' इस विषय में यहाँ क्या झूठ है और क्या सच, इस बात को आपका हृदय ही जानता होगा। उसी को साक्षी बनाकर कल्याणकारी बात कहिये। आप अपनी आत्मा की अवहेलना न कीजिये।[33] फिर वह कहते हैं 'आप समझ रहे हैं कि उस समय मैं अकेला था परन्तु आपको पता नहीं कि वह सनातन मुनि सबके हृदय में अन्तर्यामी रूप से विद्यमान हैं। वह सबके पाप-पुण्य को जानता है और आप उसी के निकट रहकर पाप कर रहे हैं। जो स्वयं अपनी आत्मा का तिरस्कार करके कुछ का कुछ समझता और करता है, देवता भी उसका भला नहीं कर सकते और उसका आत्मा भी उसके हित का साधन नहीं कर सकता। यथोक्तम्-

एकोऽहमस्मीति च मन्यसे त्वं, न ह्यच्छयं वेत्सि मुनिं पुराणाम्।
यो वेदिता कर्मणः पापकस्य, तस्यान्तिके त्वं वृजिनं करोषि।।
योऽवमन्यात्मनाऽऽत्मानमन्यथा। न तस्य देवाः श्रेयांसो यस्यात्मापि न कारणम्।।[34]

राजन्! मैं स्वयं आपके पास आयी हूँ, ऐसा समझकर मुझ पतिव्रता पत्नी का तिरस्कार न कीजिये। मैं आपके द्वारा आदर पाने योग्य हूँ और स्वयं आपके निकट आयी हुयी आप ही की पत्नी हूँ तथापि आप मेरा आदर नहीं करते हैं। आप किसलिये नीच पुरुष की भाँति सभा में मुझे अपमानित कर रहे हैं?[35] यदि मेरे उचित याचना करने पर भी आप मेरी बात नहीं मानेंगे तो आज आपके सिर के सैंकड़ों टुकड़े हो जायेंगे (यदि मे याचमानाया वचनं न करिष्यसि, दुष्यन्त शतधा मूर्धा ततस्तेऽद्य स्फुटिष्यति)[36] तत्पश्चात् वह भार्या के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुये कहती है कि 'पति ही पत्नी के भीतर गर्भ रूप से प्रवेश करके पुत्र रूप में जन्म लेता है। यही जाया का जायात्व है जिसे पुराणवेत्ता विद्वान् जानते हैं। वही भार्या है जो गृहकार्यों में दक्ष हो। वही भार्या है जो संतानवती हो। वही भार्या है और वही भार्या है जो अपने पति को प्राणों के समान प्रिय मानती हो और वही भार्या है जो पतिव्रता हो। भार्या पुरुष का आधा अंग है। भार्या उसका सबके उत्तम मित्र है। भार्या धर्म, अर्थ और काम का मूल है और संसार-सागर से तरने की इच्छा वाले पुरुष के लिये भार्या ही प्रमुख साधन है। पतिव्रता स्त्री पति के मरने पर उसका अनुसरण करती है तथा पति से पहले मरने पर उसकी परलोक में प्रतीक्षा करती है। इसीलिये सुशीला स्त्री का पाणिग्रहण करना सभी के लिये अभीष्ट होता है। क्योंकि पति अपनी पतिव्रता स्त्री को इहलोक में तो पाता ही है, परलोक में भी प्राप्त करता है। रति, प्रीति तथा धर्म पत्नी के ही अधीन हैं ऐसा सोचकर पति को

चाहिये कि वह कुपित होने पर भी पत्नी के साथ कोई अप्रिय व्यवहार न करे।[37] तत्पश्चात् उनके हृदय में पुत्र के प्रति प्रेमभाव जाग्रत करने की इच्छा से वह कहती हैं-

स त्वं स्वयमभिप्राप्तं साभिलाषमिमं सुतम्। प्रेक्षमाणं कटाक्षेण किमर्थमवमन्यसे।।

अण्डानि बिभ्रति स्वानि न भिन्दन्ति पिपीलिकाः। न भरेथाः कथं नु त्वं धर्माः सन स्वमात्मजम्।।[38]

अर्थात् 'आपका यह पुत्र स्वयं आपके पास आया है और प्रेमपूर्ण तिरछी चितवन से आपकी ओर देखता हुआ आपकी गोद में बैठने के लिये इच्छुक है। फिर आप किसलिये इसका तिरस्कार करते हैं। चींटियाँ भी अपने अण्डों का पालन ही करती हैं; उन्हें फोड़ती नहीं फिर आप धर्मज्ञ होकर भी अपने पुत्र का भरण-पोषण क्यों नहीं करते?' संसार में पुत्र के स्पर्श से बढ़कर सुखदायक स्पर्श और किसी का नहीं है।[39] तत्पश्चात् वह अपने जन्म की कथा सुनाती है और स्वयं का और पुत्र का परित्याग न करने के लिये कहती है।[40] परन्तु दुष्यन्त उसकी किसी बात पर विश्वास नहीं करता और उसे अपमानित कर वहाँ से जाने के लिये कहता है।[41] यह सुनकर शकुन्तला कहती है 'आप दूसरों के सरसों बराबर दोष को तो देखते हैं किन्तु अपने बैल के समान बड़े-बड़े दोषों को देखकर भी नहीं देखते। नरेश्वर! मेरे प्रभाव को देख लो। मैं इन्द्र, कुबेर, यम और वरूण सभी के लोकों में निरन्तर आने-जाने की शक्ति रखती हूँ। पितरों ने पुत्र को कुल और वंश की प्रतिष्ठा बताया है। अतः पुत्र सब धर्मों में उत्तम है इसीलिये पुत्र का त्याग नहीं करना चाहिये।[42] तत्पश्चात् वह सत्य की महिमा बताते हुये कहती है कि 'सत्य के समान कोई धर्म नहीं है, सत्य से उत्तम कुछ भी नहीं है और झूठ से बढ़कर तीव्रतर पाप इस जगत् में दूसरा कोई नहीं है। सत्य परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप है। सत्य सबसे बड़ा नियम है। आप अपनी सत्यप्रतिज्ञा को न छोड़िये। सत्य आपका जीवनसंगी हो (नास्ति सत्यसमो धर्मो न सत्याद् विद्यते परम्, न हि तीव्रतरं किंचिदनृतादिह विद्यते। राजन् सत्यं परं ब्रह्म सत्यं च समयः परः, मा त्याक्षीः समयं राजन् सत्यं संगतमस्तु ते।।)[43] फिर वह कहती है 'यदि आपकी झूठ में ही आसक्ति है और मेरी बात पर श्रद्धा नहीं करते हैं तो मैं स्वयं ही चली जाती हूँ। आप जैसे के साथ रहना मेरे लिये उचित नहीं है।'[44] तत्पश्चात् देवता आकाशवाणी के माध्यम से शकुन्तला की पवित्रता और उस बालक की शुद्धता प्रमाणित करते हैं। तब दुष्यन्त शकुन्तला को अपनी धर्मपत्नी के रूप में स्वीकार कर उसका आदर-सत्कार करके, स्वयं द्वारा उसके प्रति किये गये दुर्व्यव्यवहार पर क्षमा माँगते हैं।[45]

इस प्रकार शकुन्तला ने धर्मपालन करने के लिये दुष्यन्त के समक्ष दृढ़ता के साथ अपने विचार रखे हैं। वह चाहती थी कि दुष्यन्त अपनी पूर्वोक्त प्रतिज्ञा को सत्य सिद्ध करे क्योंकि ऐसा न करने पर वह पाप का भागी बनेगा; एक ओर जहाँ पुत्र को न अपनाकर उससे प्राप्त होने वाले कल्याण से भी वह वंचित हो जायेगा, वहीं पतिव्रता पत्नी का परित्याग करके उससे प्राप्त होने वाले फलों से भी वह वंचित हो जायेगा। अपने पति द्वारा किये गये दुर्व्यवहार पर वह केवल उन्हें कठोर शब्द कहकर उनकी निन्दा कर मौन धारण नहीं करती बल्कि अपने और अपने पुत्र के अधिकारों के लिये भी वह सजग दिखायी देती है। इसीलिये वह भार्या और पुत्र के महत्त्व का वर्णन करती हुयी दुष्यन्त से सत्य की महिमा का प्रतिपादन कर उन्हें सत्यप्रतिज्ञ बनने के लिये कहती है। मनुस्मृति में भी भार्या के महत्त्व को दर्शाया गया है।[46] जब उसे लगता है कि मेरे वचनों पर राजा को विश्वास नहीं है तो वह अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिये वहाँ से चले जाना ही उचित समझती है। उसके वचनों में अनेक वर्षों तक पति से दूर रहने के कारण उत्पन्न दुःख और अब भी जबकि वह स्वयं ही उनके पुत्र को लेकर उनके समीप आयी है तथापि उसे न अपनाने पर उसकी वेदना और निराशा स्पष्ट रूप से प्रकट हुयी है। उसके चरित्र पर सन्देह करने और अपमान करने पर दुष्यन्त के प्रति क्रोध और अमर्ष भली-भाँति प्रस्फुटित हुये हैं। एकान्त में स्थापित किये गये विवाह-सम्बन्ध का कोई साक्षी न होने के कारण दुष्यन्त के द्वारा जो उसके वचनों पर अविश्वास प्रकट किया गया तब वह भगवान् की शरण लेकर उन्हें ही साक्षी बताकर स्वयं की और पुत्र की सत्यता सिद्ध करने का प्रयत्न करती दिखायी देती है। यदि वह एकान्त में प्रेम-सम्बन्ध स्थापित नहीं करती तो उसे प्राप्त होने वाले कष्टों और अपमान से वह बच सकती थी अतः महाकवि कालिदास द्वारा अपने ग्रन्थ में एकान्त-प्रेम सम्बन्ध को लक्ष्य करके कहा गया यह कथन उचित ही प्रतीत होता है कि 'इसलिये एकांत मिलन विशेष रूप से परीक्षा करके करना चाहिये। अज्ञात हृदय वाले व्यक्तियों के प्रति की गयी मित्रता इसी प्रकार वैर के रूप में बदल जाती है' यथोक्तम्-

अतः परीक्ष्य कर्त्तव्यं विशेषात् संगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम्।।[47]

देवयानी

'देवयानी' दैत्यगुरु शुक्राचार्य और विश्वकर्मा की पुत्री ऊर्जस्वती की प्रिय पुत्री थी।[48] उसे गीत, नृत्य-वादन में रूचि थी (गायन् नृत्यन् वादयंश्च देवयानीमतोषयत्)[49] वह शुक्राचार्य के शिष्य कच के साथ रहकर गाती और आमोद-प्रमोद करती हुयी एकान्त में उनकी सेवा करती थी (गायन्ती च ललन्ती च रहः पर्यचरत् तथा)[50] वह कच से अत्यधिक प्रेम करती थी इसीलिये बार-बार राक्षसों द्वारा कच का वध किये जाने पर वह अपने पिता से कहकर संजीवनी विद्या द्वारा उसे जीवित करा देती थी।[51] किन्तु तीसरी बार भी दैत्यों ने कच का वध कर दिया तब शुक्राचार्य ने पुनः उसे जीवित करने में रूचि नहीं दिखायी[52] तब देवयानी ने कहा 'वे सदा मेरे मन के अनुरूप थे इसीलिये कच मुझे बहुत प्रिय थे। अब मैं भोजन का त्याग कर दूँगी और कच के मार्ग का अनुसरण करूँगी' (कचस्य मार्गं प्रतिपत्स्ये न भोक्ष्ये, प्रियो हि मे तात कचोभिरूपः)[53] पुत्री के ये वचन सुनकर शुक्राचार्य ने संजीवनी विद्या के प्रयोग द्वारा कच को बुलाया, तब कच ने उनके उदर में स्थित होकर ही उनसे कहा 'असुरों ने मुझे मारकर, मेरे शरीर को जलाकर, चूर्ण बनाकर, फिर उसे मदिरा में मिलाकर आपको पिला दिया'[54] यह सुनकर शुक्राचार्य ने देवयानी से कहा 'पुत्री! अब तुम्हारे लिये कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? मेरे उदर को विदीर्ण करने के सिवा और कोई ऐसा उपाय नहीं हैं, जिससे मेरे शरीर में स्थित कच बाहर दिखायी दे।'[55] यह सुनकर देवयानी ने कहा 'कच का नाश और आपका वध ये दोनों ही शोक अग्नि के समान मुझे जला देंगे। कच के नष्ट होने पर मुझे शान्ति नहीं मिलेगी और आपका वध हो जाने पर मैं जीवित नहीं रह सकूँगी' यथोक्तम्-

द्वौ मां शोकावग्निकल्पौ दहेतां, कचस्य नाशस्तव चैवोपघातः।
कचस्य नाशे मम नास्ति शर्म, तवोपघाते जीवितुं नास्मि शक्ता।।''[56]

तब शुक्राचार्य ने कच को संजीवनी विद्या सिखाकर उसे जीवित कर दिया और जब कच उनके उदर को विदीर्ण करके बाहर आये तो उन्होंने भी उसी विद्या से अपने गुरू को जीवित कर दिया।[57] तत्पश्चात् विद्या समाप्ति के बाद जब कच घर लौटने लगे तब देवयानी ने उनके समक्ष प्रणय निवेदन कर विवाह का प्रस्ताव रखा किन्तु इस प्रस्ताव को धर्मतः अनुचित बताकर कच ने मना कर दिया।[58] देवयानी ने उस समय कहा 'सौहार्द और अनुराग के अवसर पर मेरी उत्तम भक्ति का परिचय आपको मिल चुका है।' (सौहार्दे चानुरागे च वेत्थ मे भक्तिमुत्तमाम्)[59] किन्तु कच ने मना कर दिया। उस समय क्रोधित होकर देवयानी ने कच

को शाप दे दिया। उसने कहा 'कच! मैंने धर्मानुकूल काम के लिये आपसे प्रार्थना की है। यदि आप मुझे अस्वीकार कर देंगे, तो आपकी यह संजीवनी विद्या सिद्ध नहीं हो सकेगी' यथोक्तम्-

यदि मां धर्मकामार्थे प्रत्याख्यास्यसि याचितः।
तत कच न ते विद्या सिद्धिमेषा गमिष्यति।।[60]

यह सुनकर कच ने भी उसे शाप दे दिया 'कोई भी ऋषिपुत्र कभी तुम्हारा पाणिग्रहण नहीं करेगा।'[61] ऐसा कहकर कच वहाँ से चला गया।

उपर्युक्त विवरण में देवयानी का कच के प्रति प्रेम-भाव तो दिखायी देता है किन्तु प्रेम से ज्यादा उसकी 'स्व-इच्छा' ही यहाँ अधिक प्रतीत होती है। उसके प्रेम में त्याग और समर्पण का भाव नहीं है प्रत्युत् काम की भावना और अहं की प्रवृत्ति ही अधिक है इसीलिये वह कच से उसके द्वारा किये गये उपकारों का स्मरण करने के लिये कहती है। उसमें क्षमाशीलता का अभाव था। अतः शर्मिष्ठा को भी देवयानी ने अपनी दासी बनने के लिये विवश कर दिया था। एक दिन इन्द्र ने वन में जल विहार करने वाली सभी कन्याओं के वस्त्र परस्पर मिला दिये।[62] त्रुटिवश शर्मिष्ठा ने देवयानी के वस्त्र ले लिये तब देवयानी ने शर्मिष्ठा से कहा 'मेरी शिष्या होकर तू मेरा वस्त्र कैसे ले रही है? तू सज्जनों के उत्तम आचार से शून्य है, अतः तेरा भला न होगा।'[63] यह सुनकर शर्मिष्ठा ने उससे अपशब्द कहे। तत्पश्चात् देवयानी उसके शरीर से अपना वस्त्र खींचने लगी यह देखकर शर्मिष्ठा ने उसे कुएँ में धकेल दिया और वहाँ से चली गयी।[64] तदनतर नहुष पुत्र ययाति ने उसे कुएँ में देखा और उससे परिचय पूछा। परिचय बताने के पश्चात् उसने ययाति से कहा 'आप मेरा दाहिना हाथ पकड़कर इस कुएँ से मेरा उद्धार कीजिये।'[65] ययाति ने वैसा ही किया और उसे बाहर निकाला। उस समय देवयानी ने उनसे कहा 'तुम मुझे शीघ्र अपने साथ ले चलो; क्योंकि तुम मेरे प्रियतम हो। तुमने मेरा हाथ पकड़ा है अतः तुम्हीं मेरे पति होओगे।' (उवाच मां त्वमादाय गच्छ शीघ्रं प्रियो हि मे। गृहीताहं त्वया पाणौ तस्माद् भत्र्ता भविष्यसि)[66] यह सुनकर ययाति ने देवयानी से यह कहकर मना कर दिया कि 'तुम ब्राह्मण कन्या हो। मुझे तुम्हारे पिता से भी भय लगता है।' तब देवयानी ने कहा 'यदि तुम मेरे कहने से आज मुझे साथ ले जाना नहीं चाहते, तो मैं पिताजी के द्वारा भी तुम्हारा ही वरण करूँगी।' तत्पश्चात् राजा ययाति तो चले गये किन्तु देवयानी घर नहीं गयी।[67] वहीं रोती हुयी एक वृक्ष का आश्रय लेकर बैठ गयी। जब पुत्री के घर लौटने में विलम्ब हुआ तब शुक्राचार्य ने धाय को

उसे बुलाने भेजा किन्तु उसने धाय से पिता के लिये ही संदेश भेज दिया कि 'अब मैं वृषपर्वा के नगर मैं पैर नहीं रखूँगी। वृषपर्वा की पुत्री ने मुझे मृततुल्य कर दिया है।[68] यह सुनकर शुक्राचार्य ने देवयानी को क्रोध न करने के लिये बहुत समझाया किन्तु उसका हृदय तो शर्मिष्ठा के दुर्व्यवहार से अत्यन्त विषाद से भर गया था, वह क्रोध और ग्लानि से अत्यन्त कष्ट पा रही थी।[69] जब शुक्राचार्य ने कहा, 'अबोध बालक-बालिकाएँ अज्ञानवश आपस में बैर रखते हैं, उनका अनुकरण समझदार मनुष्यों को नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे दूसरों के बलाबल को नहीं जानते।'[70] तब देवयानी ने कहा 'पिताजी! यद्यपि मैं अभी बालिका हूँ फिर भी धर्म-अधर्म का अन्तर समझती हूँ। क्षमा और निन्दा की सबलता और निर्बलता का भी मुझे ज्ञान है' यथोक्तम्-

वेदाहं तात बालापि धर्माणां यदिहान्तरम्।
अक्रोधे चातिवादे च वेद चापि बलाबलम्।।[71]

परन्तु जो शिष्य होकर भी शिष्योचित व्यवहार नहीं करता, अपना हित चाहने वाले गुरु को उसकी धृष्टता क्षमा नहीं करनी चाहिये। इसलिये इन संकीर्ण वृत्ति वाले असुरों के मध्य निवास करना अब मुझे अच्छा नहीं लगता।[72] उसकी ये बातें सुनकर शुक्राचार्य ने बहुत क्रोधित होकर वृषपर्वा से कहा 'तुम्हारे द्वारा पहले वध के अयोग्य ब्राह्मण का वध किया गया है और अब मेरी पुत्री देवयानी का भी वध करने के लिये उसे कुएँ में ढकेला गया है। अतः मैं तुमको और तुम्हारे बन्धुजनों को त्याग दूँगा।[73] तब वृषपर्वा ने उन्हें ऐसा न करने के लिये कहा। इस पर शुक्राचार्य ने कहा 'तुम देवयानी को प्रसन्न करो, क्योंकि उसी में मेरे प्राण बसते हैं।'[74] तब वृषपर्वा ने देवयानी को प्रसन्न करने के उद्देश्य से कहा 'तुम जिस वस्तु को पाना चाहती हो, वह यदि दुर्लभ हो तो भी तुम्हें अवश्य दूँगा।'[75] यह सुनकर देवयानी ने कहा 'मैं चाहती हूँ, शर्मिष्ठा एक हजार कन्याओं के साथ मेरी दासी होकर रहे और पिताजी, जहाँ मेरा विवाह करें, वहाँ भी वह मेरे साथ जाये। (दासीं कन्यासहस्त्रेण शर्मिष्ठामभिकामये। अनु मां तत्र गच्छेत् सा यत्र दद्याच्च मे पिता।)[76]

जब शर्मिष्ठा दासीरूप में देवयानी के समक्ष उपस्थित हुयी तब देवयानी ने उससे कटाक्षपूर्वक कहा 'मैं तो स्तुति करने वाले और दान लेने वाले भिक्षुक की पुत्री हूँ और तुम उस पिता की पुत्री हो, जिसकी मेरे पिता स्तुति करते हैं; फिर तुम मेरी दासी बनकर कैसे रहोगी।'[77] तब शर्मिष्ठा ने अपने इस कार्य को उचित ही बताया और वह देवयानी की

आज्ञानुसार उसकी सेवा करने लगी। एक दिन वनविहार के समय जब देवयानी पुनः ययाति से मिली तो उसे पहचानकर पुनः विवाह का प्रस्ताव उसके समक्ष रखा तो शुक्राचार्य के भय से ययाति ने उसके विवाह प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।[78] यह सुनकर देवयानी ने कहा 'मैंने आपका वरण कर लिया है, अब आप मेरे पिता के देने पर ही मुझसे विवाह करें। आप स्वयं तो उनसे याचना करते नहीं हैं; उनके देने पर ही मुझे स्वीकार करेंगे। अतः आपको उनके कोप का भय नहीं है। राजन्! क्षणभर ठहर जाइये। मैं अभी पिताजी के पास सन्देश भेजती हूँ।'[79] यह कहकर उसने धाय से सन्देश भिजवाया कि 'मेरे ब्रह्मतुल्य पिता को शीघ्र बुला लाओ और कहना कि देवयानी ने स्वयंवर की विधि से नहुषनन्दन ययाति का पतिरूप में वरण किया है।'[80] धाय के संदेश देने पर शुक्राचार्य के उपस्थित होने पर देवयानी उनसे ययाति के साथ विवाह के लिये कहती है और शुक्राचार्य उनका विवाह करवा देते हैं।[81] उस समय देवयानी शर्मिष्ठा को एक हजार दासियों के साथ राजा ययाति के यहाँ ले जाती है।[82] कालान्तर से उसने यदु-तुर्वसु नामक दो पुत्रों को जन्म दिया।[83] जब उसको ज्ञात हुआ कि शर्मिष्ठा ने भी एक पुत्र को जन्म दिया है तो वह दुःखी होकर उसके व्यवहार पर चिन्तित हुयी और उसे कामलुब्धा समझकर उसके समीप जाकर उसकी निन्दा करती है और उसके पति का परिचय प्राप्त करने का प्रयत्न करती है।[84] शर्मिष्ठा से यह सुनकर कि किसी धर्मात्मा ऋषि से सन्तान प्राप्त हुयी है तो वह कहती है कि 'अब तुम्हारे ऊपर मेरा क्रोध नहीं रहा।'[85] कुछ समय पश्चात् जब उसे यह ज्ञात होता है कि शर्मिष्ठा ने राजा ययाति से ही समागम करके तीन श्रेष्ठ सन्तानें प्राप्त की हैं। तब वह क्रोधित होकर शर्मिष्ठा के समक्ष उसके इस कार्य की निन्दा करती है और स्वयं को वंचित समझकर अपने पिता शुक्राचार्य के घर जाकर उन्हें सम्पूर्ण वृत्तान्त से अवगत करवाकर अपना दुःख प्रकट करती है और इस कार्य के लिये राजा ययाति को दोषी ठहराती है।[86] अपनी पुत्री के दुःख से दुःखी होकर शुक्राचार्य ययाति को शीघ्र ही वृद्धावस्था से युक्त हो जाने का शाप देते हैं।[87]

देवयानी के चरित्र का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि वह परमरूपवती, गीत-नृत्य-वाद्य में रूचि रखने वाली, धर्म को जानने वाली, हठधर्मिता के स्वभाव वाली, स्व को अत्यधिक महत्त्व देने वाली, व्यंग्य में निपुण, निर्भीक, तेजस्विनी, और असहिष्णु स्त्री थी। पुत्री देवयानी के प्रति पिता शुक्राचार्य का जैसा अनन्य वात्सल्य यहाँ दिखायी देता है, वैसा

देवयानी में दृष्टिगोचर नहीं होता है। देवयानी की वाणी में संयम का गुण भी विद्यमान था। उसने क्रोध की स्थिति में भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया।

शर्मिष्ठा

'शर्मिष्ठा' दैत्यराज वृषपर्वा की रूपवती पुत्री थी।[88] एक दिन वन विहार के समय वस्त्रों की अदला-बदली को लेकर शर्मिष्ठा और देवयानी में विवाद हो गया था। इस पर देवयानी के द्वारा शर्मिष्ठा की निन्दा करने पर क्रोधाविष्ट होकर शर्मिष्ठा ने उसे कटुवचन सुनाते हुये कहा 'मेरे पिता बैठे हों या सो रहे हों, उस समय तेरे पिता विनयशील सेवक के समान नीचे खड़े होकर बन्दीजनों की भाँति उनकी स्तुति करते हैं। तू याचक की पुत्री है, तेरे पिता स्तुति करते और दान लेते हैं। मैं उनकी पुत्री हूँ, जिनकी स्तुति की जाती है, जो दूसरों को दान देते हैं और स्वयं किसी से कुछ भी नहीं लेते हैं। अरी भिक्षुकि! तू दुःखी होकर विलाप कर अथवा मुझसे ईर्ष्या कर अथवा क्रोध कर। तू खाली हाथ है, तेरे पास कोई अस्त्र-शस्त्र भी नहीं है और देख, मेरे पास आयुध है इसलिये तू मेरे ऊपर व्यर्थ ही क्रोध कर रही है। यदि लड़ना ही चाहती है तो मुझ जैसा योद्धा तुझे मिल जायेगा। मैं तुझे कुछ भी नहीं गिनती।[89] तत्पश्चात् देवयानी ने उसके शरीर से अपना वस्त्र खींचा और शर्मिष्ठा ने उसे कुएँ में गिरा दिया और स्वगृह लौट गयी।[90] शर्मिष्ठा के इस कृत्य से उसके क्रोधी और दम्भी स्वभाव का परिचय मिलता है और इसके साथ ही दैत्यगुरु शुक्राचार्य के प्रति यथोचित आदर का अभाव भी प्रकट होता है।

जब शर्मिष्ठा के इस दुर्व्यवहार से दुःखी होकर देवयानी ने उनके नगर में न रहने का निश्चय किया, तब शुक्राचार्य ने भी पुत्री की इच्छानुसार वृषपर्वा से यही बात कही। उस समय अपने गुरु को रोकने के लिये उन्होंने गुरु की आज्ञानुसार देवयानी को प्रसन्न करने के लिये उसकी शर्तानुसार अपनी पुत्री शर्मिष्ठा से उसकी दासी बनने के लिये कहा। पिता के वचनों का मान रखते हुये तथा ज्ञातिजनों को सुख पहुँचाने हेतु वह शिबिका पर आरुढ़ हो एक हजार कन्याओं के साथ देवयानी के समीप पहुँची और उससे कहा 'मैं एक सहस्र दासियों के साथ तुम्हारी दासी बनकर सेवा करूँगी और तुम्हारे पिता जहाँ भी तुम्हारा विवाह करेंगे, वहाँ तुम्हारे साथ चलूँगी' यथोक्तम्-

अहं दासीसहस्रेण दासी ते परिचारिका।

अनु त्वां तत्र यास्यामि यत्र दास्यति ते पिता।।[91]

शर्मिष्ठा के ऐसा कहने पर देवयानी ने उस पर कटाक्ष किया कि 'मैं तो स्तुति करने वाले और दान लेने वाले याचक की पुत्री हूँ और तुम तो उसकी पुत्री हो, जिसकी मेरे पिता स्तुति करते हैं, तब मेरी दासी बनकर कैसे रहोगी' तब शर्मिष्ठा ने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया कि 'जिस किसी उपाय से भी सम्भव हो, अपने विपत्तिग्रस्त बन्धुजनों को सुख पहुँचाना चाहिये।' (येन केनचिदार्तानां ज्ञातीनां सुखमावहेत्)[92]

उसके ये वचन उसके आज्ञाकारिणी होने और विनम्र होने के साथ ही उसके जाति-प्रेम को भी प्रकट करते हैं। ययाति के साथ देवयानी का विवाह होने पर शर्मिष्ठा भी उसके साथ जाती है और उसकी परिचर्या में संलग्न रहती है किन्तु एक हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर स्वयं को रजस्वलावस्था में देखकर वह चिन्तित हो गयी और उसके मन में पति-दर्शन की उत्कण्ठा जाग उठी।93 देवयानी को पुत्रवती देखकर उसके मन में भी पुण्य का भागी होने की इच्छा से पुत्रवती बनने का विचार आया। उस समय उसने ययाति को ही अपना पति बनाने की इच्छा की।[94] उसी समय राजा ययाति महल से बाहर निकले। उन्हें देखकर शर्मिष्ठा ने 'अपने ऋतुकाल को सफल बनाने की' उनसे प्रार्थना की किन्तु ययाति ने उसकी प्रार्थना यह कहकर अस्वीकार कर दी कि शुक्राचार्य ने मुझसे स्पष्ट कहा था कि 'वृषपर्वा की पुत्री को अपनी शय्या पर न बुलाना'।[95] तब शर्मिष्ठा ने कहा 'राजन्! परिहास युक्त वचन असत्य हो तो भी वह हानिकारक नहीं होता। अपनी स्त्रियों के प्रति, विवाह के समय, प्राणसंकट के समय तथा सर्वस्व अपहरण होते समय यदि कभी विवश होकर असत्य भाषण करना पड़े तो वह दोषकारक नहीं होता। ये पाँच प्रकार के असत्य पापशून्य बताये गये हैं, यथोक्तम्-

न नर्मयुक्तं वनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन् न विवाहकाले।

प्राणात्यये सर्वधनापहारे पंचानृतान्याहुरपातकानि।।[96]

फिर भी ययाति ने उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं कि तब शर्मिष्ठा ने पुनः कहा 'राजन्! अपना पति और सखी का पति दोनों समान माने गये हैं। सखी के साथ ही उसकी सेवा में

रहने वाली दूसरी कन्याओं का विवाह भी हो जाता है। मेरी सखी ने आपको अपना पति बनाया है, अतः मैंने भी बना लिया।'[97]

उसकी बातें सुनकर ययाति ने उसका अभीष्ट कार्य पूछा तब शर्मिष्ठा ने कहा 'मुझे अधर्म से बचाइये और धर्म का पालन कराइये। मैं चाहती हूँ, आपसे संतानवती होकर इस लोक में उत्तम धर्म का आचरण करूँ।' (अधर्मात् पाहि मां राजन् धर्मं च प्रतिपादय। त्वत्तोऽपत्यवती लोके चरेयं धर्ममुत्तमम्)[98]

शर्मिष्ठा के ये वचन उसकी पवित्र मनोवृत्ति, उसके धर्माचारिणी होने, धर्मानुरागिणी होने और पुत्रवती होने की इच्छा को दर्शाते हैं। वह देवयानी से प्रतिशोध लेने की भावना से युक्त होकर ययाति से समागम की इच्छा नहीं करती है प्रत्युत् उत्तम धर्म का आचरण करने की भावना ही उसमें दृष्टिगोचर होती है। शर्मिष्ठा के वचनों को उचित मानकर राजा ययाति ने उसका सत्कार किया और उसे धर्मानुसार अपनी भार्या बनाया।[99] उनसे समागम के पश्चात् उसने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया।[100] पुत्र-जन्म की बात सुनकर देवयानी ने उससे कहा तुमने कामलोलुप होकर यह कैसा पापकर्म कर दिया 'तब शर्मिष्ठा ने कहा 'सखी कोई वेदों में पारंगत धर्मात्मा ऋषि थे। मैंने उनसे धर्मानुसार काम की याचना की। मैं न्यायविरुद्ध काम का आचरण नहीं करती। उन्हीं ऋषि से मुझे सन्तान की प्राप्ति हुयी है।'[101] शर्मिष्ठा ने भी कालक्रम से तीन सन्तानों द्रुह्यु, अनु और पूरू को जन्म दिया।[102] उन बालकों के प्रति ययाति का विशेष प्रेम देखकर देवयानी सब समझ गयी। उसने शीघ्र शर्मिष्ठा के पास जाकर कहा 'तुमने मेरे अधीन होकर भी मुझे अप्रिय लगने वाला व्यवहार क्यों किया? तुम फिर उसी असुर धर्म का आचरण करने लगी। मुझसे भयभीत भी नहीं हुयी?[103] यह सुनकर शर्मिष्ठा ने कहा 'मैंने जो ऋषि कहकर मेरे स्वामी का परिचय दिया था, वह सत्य ही है। मैं न्याय और धर्म के अनुकूल आचरण करती हूँ अतः तुमसे नहीं डरती।

तुम ज्येष्ठ हो, ब्राह्मण की पुत्री हो, अतः मेरे लिये माननीय एवं पूजनीय हो; परन्तु यह राजर्षि मेरे लिये तुमसे भी अधिक पूजनीय हैं। क्या यह बात तुम नहीं जानती? यथोक्तम्-

यदुक्तमृषिरित्येव तत् सत्यं चारुहासिनि। न्यायतो धर्मतश्चैव चरन्ती न बिभेमि ते।।
पूज्यासि मम मान्या च ज्येष्ठा च ब्राह्मणी ह्यसि। त्वत्तोऽपि मे पूज्यतमो राजर्षिः किं न वेत्थ तत्।।[104]

शर्मिष्ठा के ये वचन उसके धर्माचारिणी स्वभाव, विनम्रता, शिष्टता, देवयानी के प्रति आदरभाव एवं निर्भीकता को दर्शाते हैं।

शर्मिष्ठा के चरित्र का अवलोकन करने पर यह परिलक्षित होता है कि वह स्वभावतः धर्मज्ञा, धर्माचारिणी, बुद्धिमती, विनम्र, शिष्ट, परिचर्या-कार्य में कुशल, धर्मानुरागिणी, ईष्र्यारहिता, सन्तोषी प्रवृत्ति की स्त्री थी। वह एक आज्ञाकारिणी पुत्री होने के साथ ही अपने बन्धुजनों के कल्याण के प्रति भी पूर्णतः समर्पित थी। शर्मिष्ठा के द्वारा देवयानी के प्रति पूर्व में किये गये दुव्र्यवहार में उसकी बाल्यावस्था ही कारण थी क्योंकि तब तक उसमें ऋतु का प्रादुर्भाव भी नहीं हुआ था किन्तु बाल्यावस्था में ही दासी बनने के पश्चात् उसके द्वारा देवयानी के प्रति सर्वदा मर्यादित आचरण ही किया गया; यह उसके गम्भीर स्वभाव को भी दर्शाता है। धैर्य, त्याग, सन्तोष, संयम इत्यादि गुण उसके चरित्र की श्रेष्ठता को प्रकट करते हैं।

दमयन्ती

'दमयन्ती' विदर्भ देश के राजा भीम की कन्या थी। वह सुन्दर कटि प्रदेश से युक्त रूप, तेज, यश, श्री और सौभाग्य के द्वारा तीनों लोकों में विख्यात यशस्विनी थी।[105] वह लक्ष्मी के समान अत्यन्त सुन्दर रूप से सुशोभित और विशाल नेत्रों वाली थी। देवताओं, यक्षों, मनुष्यों और अन्य वर्ग के लोगों में भी वैसी सुन्दरी कन्या कहीं देखने में नहीं आती थी।[106]

उसमें सुन्दरता का गुण तो विद्यमान था ही; अन्य विशेषताएँ भी उसके चरित्र में निहित थीं, जो इस प्रकार हैं-

विशुद्ध प्रेमपूर्णा - जैसा कि कवि श्रीहर्ष ने अपने ग्रन्थ 'नैषधीयचरितम्' में लिखा है कि 'अवश्यम्भावी विषयों में निर्बाध विधाता की इच्छा जिस दिशा की ओर जाती है, उसी ओर अत्यन्त परवश चित्त वाले व्यक्तियों का चित्त भी जाता है, जैसे वात्य का अनुगमन तृण करता है' (अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा, तृणेन वात्येव तयानुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना)[107] ठीक वैसा ही नल और दमयन्ती के साथ भी हुआ। जब लोगों ने दमयन्ती और नल के समीप बार-बार एक-दूसरे के रूप और गुणों की प्रशंसा की तो इस प्रकार निरन्तर एक-दूसरे के गुणों को सुनते-सुनते उन दोनों में बिना देखे ही परस्पर अनुराग उत्पन्न हो गया। उनका वह अनुराग प्रतिदिन बढ़ता ही गया।[108] एक दिन उपवन में बैठे हुये नल ने, उपवन में स्थित एक सुवर्णमय पंखों वाले एक हंस को पकड़

लिया जिसने मनुष्यवाणी में नल से कहा 'आप मुझे न मारे। मैं आपका प्रिय कार्य करूँगा। मैं दमयन्ती के निकट आपकी ऐसी प्रशंसा करूँगा जिससे वह आपके सिवा दूसरे किसी पुरुष को मन में स्थान नहीं देगी।'[109] तब वे हंस उड़कर विदर्भदेश पहुँचे। उस समय सखियों से घिरी हुयी दमयन्ती प्रमदावन में विचरण कर रही थी। ऐसे सुन्दर हंसों को देखकर वे सभी अत्यन्त प्रसन्न हुयीं और उन्हें पकड़ने की इच्छा से उनके पीछे दौड़ीं।[110] तब उसी हंस ने दमयन्ती के समीप मनुष्यवाणी में नल की अत्यधिक प्रशंसा की और कहा कि 'तुम रमणियों में रत्नस्वरूपा हो और नल पुरुषों के मुकुटमणि हैं। यदि किसी विशिष्ट नारी का विशिष्ट पुरुष के साथ संयोग हो तो वह विशेष गुणकारी होता है (त्वं चापि रत्नं नारीणां नरेषु च नलो वरः, विशिष्टया विशिष्टेन संगमो गुणवान् भवेत्)[111] नैषधीयचरितम् में भी उल्लिखित है कि 'योग्य का योग्य से मेल शोभित होता है' (चकास्ति योग्येन हि योग्यसंगमः)[112] हंस के ये वचन सुनकर उसने हंस से कहा कि तुम नल के निकट भी ऐसा ही निवेदन करना। जब उसके पिता ने स्वयंवर का आयोजन किया तब देवताओं ने भी उसके साथ विवाह की इच्छा से, राजा नल को अपना दूत बनाकर दमयन्ती के पास यह कहने के लिये भेजा कि 'वह इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम में से किसी एक देवता को पति रूप में वरण कर ले।'[113] देवताओं के प्रभाव से नल महल में दमयन्ती के समीप पहुँच गया। अचानक उसे वहाँ देखकर दमयन्ती ने उससे उसका परिचय और आने का प्रयोजन पूछा और उसने देवताओं का सन्देश यथावत् कह सुनाया।[114] सन्देश सुनकर दमयन्ती ने अपनी श्रद्धा के अनुसार देवताओं को नमस्कार करके नल से कहा 'राजन्! आप ही मेरा पाणिग्रहण कीजिये। मैं तथा मेरा जो कुछ दूसरा धन है, वह सब आपका है। आप ही के लिये मैंने यहाँ सब राजाओं का सम्मेलन कराया है।[115] आपके चरणों में भक्ति रखने वाली मुझे आप स्वीकार नहीं करेंगे तो मैं आपके ही कारण विष, अग्नि, जल अथवा रज्जु को निमित्त बनाकर अपने प्राण त्याग दूँगी-

यदि त्वं भजमानां मां प्रत्याख्यास्यसि मानद।
विषमग्निं जलं रज्जुमास्थास्ये तव कारणात्।।[116]

दमयन्ती के ऐसा कहने पर राजा नल ने उससे कहा 'लोकपालों के होते हुये तुम एक साधारण मनुष्य को कैसे अपना पति बनाना चाहती हो। देवताओं के विरुद्ध चेष्टा करने वाला मानव मृत्यु को प्राप्त हो जाता है; अतः तुम मुझे बचाओ और उन श्रेष्ठ देवताओं का ही वरण

करो।'[117] उसने रोते हुये, नल से कहा 'मैं सम्पूर्ण देवताओं को नमस्कार करके आप ही को अपना पति चुनती हूँ। आप सभी देवताओं के साथ उस स्वयंवर में पधारें, मैं उन्हीं के समक्ष आपका वरण कर लूँगी। ऐसा करने से आपको कोई दोष नहीं लगेगा।'[118]

दमयन्ती देवताओं के सन्देश से भी प्रभावित नहीं हुयी। देवता भी उसे अपनी पत्नी बनाना चाहते हैं, यह सुनकर भी उसके मन में नलविषयक अनुराग कम नहीं हुआ और न ही वह देवविरुद्ध कार्य को सम्पन्न करने से उसके भावी परिणाम पर विचार करके भयभीत हुयी। जब स्वयंवर के अवसर पर दमयन्ती ने पाँच पुरुषों को नल के ही समान आकृति वाला देखा तो वह भाविनी बुद्धि से सोच-विचारकर मन-ही-मन तर्क करने लगी। वह देवताओं की पहचान कराने वाले लक्षणों पर बार-बार विचार करके देवताओं को पहचानने का प्रयत्न करने लगी किन्तु वह किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सकी।[119] फिर उसने देवताओं को नमस्कार करके कहा 'यदि मैं मन, वाणी एवं क्रिया द्वारा कभी सदाचार से च्युत नहीं हुई हूँ तो उस सत्य के प्रभाव से देवता मुझे राजा नल की ही प्राप्ति करावें। यदि देवताओं ने नल को ही मेरा पति निश्चित किया हो, यदि मैंने नल की आराधना के लिये ही यह व्रत आरम्भ किया हो तो महेश्वर लोकपाल अपना रूप प्रकट कर दें, जिससे मैं पुण्यश्लोक राजा नल को पहचान सकूँ (मनसा वचसा चैव यथा नाभिचराम्यहम्, तेन सत्येन विबुधास्तमेव प्रदिशन्तु मे। यथा देवैः स मे भर्ता विहितो निषधाधिपः, यथेदं व्रतमारब्धं नलस्याराधने मया, स्वं चैव रूपं कुर्वन्तु लोकपाला महेश्वराः, यथाहमभिजानीयां पुण्यश्लोकं नराधिपम्)[120] तब दमयन्ती का नल के प्रति विशुद्ध प्रेम देखकर देवताओं ने उसे वह शक्ति प्रदान की जिससे वह देवताओं को पहचान सके। तब दमयन्ती ने पति रूप में नल का वरण कर लिया और भीम ने अपनी पुत्री का उसके साथ शास्त्रोक्त विधि से विवाह कराया।[121]

यहाँ दमयन्ती के वचनों से उसकी निर्भीकता, तर्कशीलता विनयशीलता, स्पष्टवादिता, सदाचरण के साथ ही उसका नलविषयक वास्तविक अनुराग, उत्तम बुद्धि, विशुद्ध हृदय, नल के प्रति भक्ति भी प्रकट होती है।

पतिव्रता - दमयन्ती एक पतिव्रता पत्नी थी। वह सदैव उनके हितकर कार्यों में संलग्न रहती थी। राज नल अक्षप्रिय थे। 'कलि' उनमें सदैव छिद्र ढूँढने का प्रयास करता रहता था। एक दिन नल लघुशंका करके बिना पैर धोये ही सन्ध्योपासना करने बैठ गये, यह छिद्र देखकर कलियुग उनके भीतर प्रविष्ट हो गया और उसके प्रभाव से अपने भ्राता पुष्कर के साथ

द्यूतक्रीड़ा में वे अपनी धन सम्पत्ति हारने लगे।[122] ये देख पुरवासी प्रजा मन्त्रियों के साथ राजा से मिलने की प्रार्थना लेकर दमयन्ती के पास आयी। उनकी बात सुनकर वह बहुत दुःखी हुयी और उसने नल से प्रजा और मन्त्रियों से मिलने की प्रार्थना की किन्तु उसने नहीं सुना।[123] उन्हें उन्मत्त की भाँति द्यूतक्रीड़ा में आसक्त देख, भय और शोक से व्याकुल हो, राज्य पर आने वाले संकट की आशंका से उसने अपनी धाय को बुलाकर कहा 'तुम मन्त्रियों के पास जाओ तथा राजा की आज्ञा से उन्हें बुला लाओ फिर उन्हें यह बताओं कि अमुक द्रव्य हारा जा चुका है और अमुक धन अवशिष्ट है।' उसने पुनः राजा नल को यह सूचना दी कि 'वे सारी प्रकृतियाँ द्वितीय बार राजद्वार पर उपस्थित हुयी हैं' किन्तु नल नहीं आये।[124] तब उसने अपनी धाय से कहकर वाष्र्णेय सूत को बुलवाया और उससे मधुर वाणी में समयोचित वचन कहा, 'तुम जानते हो कि महाराज तुम्हारे प्रति सम्यग् व्यवहार करते थे। आज वे विषम स्थिति में हैं अतः तुम्हें भी उनकी सहायता करनी चाहिये। जुएँ से मोहित होने के कारण वे किसी की बात नहीं सुनते हैं अतः ऐसा लगता है कि राजा का राज्य से च्युत होना संभव है अतः तुम इन दोनों बच्चों को कुण्डिनपुर में मेरे बन्धुओं की देख-देख में सौंपकर या तो वहीं रह जाओ या अन्यत्र चले जाओ।[125]

दमयन्ती के ये वचन उसकी दूरदर्शिता, गंभीरता, बुद्धिमानिता, उसके सावधान होने, सजगता, पति के लिये हितकारी कार्य करने की इच्छा और माता के रूप में उसका सन्तान के प्रति प्रेम और हित-चिन्ता तथा उसके कत्र्तव्यनिष्ठ होने को प्रकट करते हैं। जब राजा नल अपनी समस्त धन-सम्पत्ति द्यूत में हार गये तो वे विशाल सम्पत्ति का त्यागकर मात्र अधोवस्त्र धारण कर राजभवन से निकल गये।[126] दमयन्ती भी उनके साथ गयी, उसके शरीर पर भी एक ही वस्त्र था (दमयन्त्येकवस्त्राथ गच्छन्तं पृष्ठतोऽन्वगात्)[127] वे तीन रात तक नगर के समीप केवल जल का आहार करके रहे। फल-मूल खाकर ही अपनी क्षुधा को शान्त करने का प्रयत्न किया। फिर बहुत दिनों से क्षुधा से पीड़ित नल ने एक दिन स्वर्णमय पंख वाले पक्षियों को देखा। उन्हें अपनी क्षुधा मिटाने और धन-प्राप्ति का साधन मानकर उनके ऊपर अपना अधोवस्त्र फेंका किन्तु वे उस वस्त्र को लेकर उड़ गये।[128] जाते हुये उन पक्षियों ने कहा कि 'हम पासे हैं और तुम्हारा वस्त्र-हरण करने की इच्छा से ही यहाँ आये थे।'[129] अपने को नग्न अवस्था में पाकर अत्यन्त दुःखी नल ने उससे सारी घटना कह दी और उसे चारों दिशाओं में पड़ने वाले स्थानों के बारे में बताने लगे[130] तब दमयन्ती ने अत्यन्त दुःख

से अश्रू बहाते हुये नल से कहा 'आपके मानसिक संकल्प के बारे में विचार कर मेरा हृदय उद्विग्न हो रहा है। मैं आपको ऐसी अवस्था में निर्जन वन में असहाय छोड़कर कैसे जा सकती हूँ। चिकित्सकों का मत है कि समस्त दुःखों की शान्ति के लिये पत्नी के समान दूसरी कोई औषध नहीं है। आप मुझे त्यागना नहीं चाहते तो मुझे विदर्भ देश का मार्ग क्यों बता रहे हैं? आपकी सम्मति हो तो हम साथ ही वहाँ चलें।'[131] ऐसा कहने वाली दमयन्ती को नल ने सान्त्वना दी और उसे लेकर वे एक धर्मशाला पहुँचे और वहीं भूतल पर सो गये किन्तु राजा नल को नींद नहीं आयी। अपने ऊपर आये संकट के बारे में विचार कर तथा दमयन्ती को प्राप्त होने वाले दुःखों के बारे में सोचकर नल ने उसे त्याग देने का विचार किया।[132] फिर अपनी वस्त्रहीनता का विचार कर एक तलवार से दमयन्ती का आधा वस्त्र काटकर नल ने उसी से अपना शरीर ढँक लिया और अचेत सुप्तावस्था में ही उसे वहीं छोड़कर चले गये।[133]

जब दमयन्ती की निद्रा पूर्ण हो गयी तो उसने नल को वहाँ न देखकर बहुत विलाप किया तभी एक अजगर ने उसे अपने समीप देखकर उसे निगलना आरंभ कर दिया। उसका करुण क्रन्दन सुनकर एक व्याध ने उसकी उस अजगर से रक्षा की किन्तु दमयन्ती के सौन्दर्य को देखकर वह कामवेदना से पीड़ित हो गया।[134] सती दमयन्ती ने उसकी चेष्टाओं से उसके दूषित मनोभाव को समझकर क्रोधित होकर उसे शाप देते हुये कहा-

यद्यहं नैषधादन्यं मनसापि न चिन्तये।
तथायं पततां क्षुद्रो परासुर्मृगजीवनः।।[135]

अर्थात् 'यदि मैं निषधराज नल के सिवा दूसरे किसी पुरुष का मन से भी चिन्तन नहीं करती हूँ तो इसके प्रभाव से यह तुच्छ व्याध प्राणशून्य होकर गिर पड़े।' ऐसा कहते ही वह व्याध प्राणशून्य होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।[136] दमयन्ती की पातिव्रत्य शक्ति का यह साक्षात्प्रमाण है। दमयन्ती वन में अकेली विचरती हुयी नल को ढूँढने का प्रयत्न करती है। वह मृग, पर्वत, अशोक वृक्ष से नल का पता पूछती हुयी तीन दिन तीन रात लगातार चलने के बाद वह व्यापारियों के एक दल के सम्पर्क में आती है तथा उनके साथ यात्रा करते हुये सुबाहु के जनपद में पहुँचती है[137] किन्तु मार्ग में व्यापारियों के दल पर हाथियों का आक्रमण होने से, उसका कारण उस दमयन्ती को समझकर उसे मारने की इच्छा होना, स्वामी के राज्य का अपहरण, आत्मीयजनों से पराजित होना, पतिवियोग, सन्तानदर्शन से वंचित होना,

वन में अनाथ की सी दशा में रहना-इन सबका कारण वह अपने पूर्वजन्मों में किये हुये पापकर्मों और विधाता को मानती है।[138] जनसाधारण से घिरी हुयी उसे राजमाता ने ऐसी दयनीय अवस्था में देखा तो उसे महल में बुलाकर उसका परिचय पूछा।[139] उसने बड़ी चतुराई से उत्तर दिया कि 'मैं सैरन्ध्री जाति से हूँ और सेविका हूँ, जहाँ इच्छा होती है, वहीं रहती हूँ। पथिक से अनुगत छाया के समान मैं अपने वीर पति में भक्तिभाव रखकर उन्हीं का अनुसरण करती हूँ।[140]

उसने सम्पूर्ण घटना महारानी को बतायी तब उन्होंने उसे वहीं रूकने को कहा। यह सुनकर दमयन्ती ने कहा कि 'मैं एक नियम के साथ आपके यहाँ रह सकती हूँ। मैं किसी का उच्छिष्ट नहीं खाऊँगी, किसी के पैर नहीं धोऊँगी और किसी भी परपुरुष से किसी तरह भी वार्तालाप नहीं करूँगी। यदि कोई पुरुष मुझे प्राप्त करना चाहे तो वह आपके द्वारा दण्डनीय हो और बार-बार ऐसे अपराध करने वाले मूढ को आप प्राणदण्ड दें, यही मेरा निश्चित व्रत है। मैं अपने पति की खोज के लिये केवल ब्राह्मणों से मिल सकती हूँ। यदि यहाँ ऐसी व्यवस्था हो सके तो निश्चय ही आपके निकट निवास करूँगी, इसमें संशय नहीं है। यथोक्तम्-

उच्छिष्टं नैव भुंजीयां न कुर्यां पादधावनम्। न चाहं पुरुषानन्यान् प्रभाषेयं कथंचन।।
प्रार्थयेद् यदि मां कश्चिद् दण्ड्यस्ते स पुमान् भवेत्। वध्यश्च तेऽसकृन्मन्द इति मे व्रतमाहितम्।।
भर्तुरन्वेषणार्थं तु पश्येयं ब्राह्मणानहम्। यद्येवमिह वत्स्यामि त्वत्सकाशे न संशयः।।[141]

राजमाता ने उसकी सभी बातें मान लीं और वह आदर-सत्कारपूर्वक वहीं रहने लगी।[142] दूसरी और राजा भीम ने अपनी पुत्री दमयन्ती तथा नल की खोज में ब्राह्मणों को लगा रखा था। तब सुदेव नामक ब्राह्मण ने दमयन्ती की खोज की। राजमाता ने उसका वास्तविक परिचय जानकर उसे वहीं सुखपूर्वक रहने के लिये कहा लेकिन वह अपनी सन्तान का स्मरण कर उनसे अनुमति लेकर अपने पिता के यहाँ चली जाती है।[143] वहाँ रात्रि में विश्राम करके प्रातःकाल अपनी लज्जा छोड़कर उसने अपनी माँ से कहा कि 'यदि मुझे जीवित देखना चाहती हो तो राजा नल की खोज कराने का पुनः प्रयत्न करो।[144] महारानी से प्रेरित होकर भीम ने पुनः नल की खोज के लिये ब्राह्मणों को सब दिशाओं में भेजा। खोज के लिये जाने वाले ब्राह्मणों से दमयन्ती ने कहा कि सभी देशों में घूमकर जनसमुदाय में आप लोग बार-बार मेरी यह बात बोलें, यथोक्तम्-

क्व नु त्वं कितवच्छित्त्वा वस्त्रार्धं प्रस्थितो मम।

उत्सृज्य विपिने सुप्तामनुरक्तां प्रियां प्रिय।। सा वै यथा त्वया दृष्टा तथाऽऽस्ते त्वत्प्रतीक्षिणी। दह्यमाना भृशं बाला वस्त्रार्धेनाभिसंवृता।।[145]

अर्थात् 'ओ जुआरी प्रियतम! तुम वन में सोयी हुयी और अपने पति में अनुराग रखने वाली मुझ प्यारी पत्नी को छोड़कर तथा मेरे आधे वस्त्र को फाड़कर कहाँ चल दिये? उसे तुमने जिस अवस्था में देखा था, उसी अवस्था में वह आज भी है और तुम्हारे आगमन की प्रतीक्षा कर रही है। आधे वस्त्र से अपने शरीर को ढँककर वह युवती तुम्हारी विरहाग्नि में निरन्तर जल रही है।' जो कोई भी इसका उत्तर दे, उसकी वह बात आप मुझसे आकर कहें।[146]

वनगमन से सुबाहु जनपद तक की यात्रा में दमयन्ती का त्याग, धैर्य, पतिप्रेम, दृढ़निश्चय, निडरता, कष्टसहिष्णुता, वाक्चातुर्य, गंभीरता, पतिवियोग से उत्पन्न दुःख और नैराश्य तथा स्वाभिमान इत्यादि स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुये हैं। वहीं अपने पिताजी के घर आकर उसके मन में पति से पुनर्मिलन की आशा तथा माँ से कहे गये वाक्यों में नल के प्रति अनन्यप्रेम और ब्राह्मणों से कहे गये उसके वचनों से उसकी बुद्धिमानी प्रकट होती है।

जब कुछ समय पश्चात् पर्णाद नामक ब्राह्मण ने विदर्भ देश आकर दमयन्ती से कहा कि बाहुक नामधारी एक पुरुष ने तुम्हारी बातों का उत्तर दिया है और उसके रंग-रूप और गुणों के बारे में भी उससे कहा तो दमयन्ती ने अपनी माता से कहा कि 'पिताजी को यह बात कदापि नहीं ज्ञात होनी चाहिये। मैं आपके ही सामने सुदेव ब्राह्मण को इस कार्य में लगाऊँगी। आप ऐसी चेष्टा करो जिससे पिताजी को मेरा विचार ज्ञात न हो।'[147] फिर दमयन्ती ने अपनी माता के सामने ही सुदेव ब्राह्मण को बुलाकर कहा कि 'आप शीघ्र अयोध्या नगरी जाकर राजा ऋतुपर्ण से कहियेगा कि भीमकुमारी दमयन्ती पुनः स्वयंवर करेंगी। उसमें बहुत से राजा और राजकुमार आयेंगे। उसके लिये समय नियत हो चुका है। कल ही स्वयंवर होगा। कल सूर्योदय के पश्चात् वह दूसरे पति का वरण कर लेगी; क्योंकि वीरवर नल जीवित हैं या नहीं, इसका कुछ पता नहीं है।'[148] यह सुनकर सुदेव शीघ्र ही अयोध्या पहुँचकर राजा ऋतुपर्ण से वह समाचार निवेदन करता है जिसके कारण ऋतुपर्ण बाहुक को सारथि बनाकर उसके साथ एक ही दिन में विदर्भ राज्य में पहुँच गये।[149] तब रथ के गम्भीर घोष को सुनकर दमयन्ती को लगा कि यह घोष तो राजा नल के रथ जैसा था किन्तु राजा ऋतुपर्ण, वार्ष्णेय और बाहुक को वहाँ देखकर और नल को न देखकर उसे संशय होता है।[150] तब वह अपनी दूती केशिनी को बाहुक के विषय में ठीक-ठीक बातें जानने के

लिये उसके पास भेजती है क्योंकि उसे शंका थी कि इस वेष में राजा नल ही हों।[151] जब दमयन्ती दूती के मुख से वहीं उत्तर सुनती है जो बाहुक ने सुदेव ब्राह्मण को दिया था[152], तब वह पुनः बाहुक की परीक्षा करने के लिये दूती को उसके चरित्र पर दृष्टि रखने के लिये कहती है। वह कहती है कि 'वह आग्रह करे तो भी उसे आग न देना और माँगने पर भी किसी प्रकार जल्दी में आकर जल भी न देना। बाहुक में यदि तुम्हें कोई दिव्य अथवा मानवोचित विशेषताएँ दिखायी दे तथा और भी जो कोई विशेषता दृष्टिगोचर हो तो उस पर भी दृष्टि रखना और मुझे आकर बताना' यथोक्तम्-

न चास्य प्रतिबन्धेन देयोऽग्निरपि केशिनि। याचते न जलं देयं सर्वथा त्वरमाणया।।
निमित्तं यत् त्वया दृष्टं बाहुके दैवमानुषम्। यच्चान्यदपि पश्येथास्तच्चाख्येयं त्वया मम।[153]

तब केशिनी ने आकर बताया कि 'वह छोटे-से-छोटे द्वार पर जाकर भी झुकता नहीं है, द्वार ही ऊँचा हो जाता है। फलों को धोने के लिये जो घड़े रखे थे वे स्वतः ही जल से भर गये। खाद्य पदार्थों को चूल्हे पर चढ़ाया तो अग्नि स्वयं ही प्रकट हो गयी। पुष्पों को हाथ से मसलने पर भी वे विकृत नहीं हुये अपितु और भी सुगन्धित और विकसित हो गये।'[154] यह सुनकर उसे विश्वास हो गया कि वे नल ही हैं क्योंकि स्वयंवर के समय इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण ने नल को क्रमशः उत्तम गति, इच्छानुसार अग्नि की उपलब्धता, सर्वोत्तम स्वादयुक्त रसोई और उत्तम गन्ध का वर प्रदान किया था।[155] फिर उसने केशिनी से नल के द्वारा पकाया हुआ गूदा मँगवाकर उसका स्वाद लिया। वह उस स्वाद से परिचित थी। फिर अपने बच्चों को भी बाहुक के पास भेजा, उनके प्रति उसका प्रेम देखकर उसे पूर्ण विश्वास हो गया कि वह नल ही है लेकिन नल का स्वरूप पूर्ववत् नहीं था अतः इसकी पहचान करने हेतु उसने माता-पिता की आज्ञा से बाहुक को राजमहल के भीतर बुलवाया[156] और उससे पूर्वोक्त वचन कहे जिसे सुनकर नल ने कहा कि 'मेरा जो राज्य नष्ट हो गया और मैंने जो तुम्हें त्याग दिया, वह सब कलियुग का कार्य था। मैंने स्वयं कुछ नहीं किया था। मेरे व्यवसाय तथा तपस्या से कलियुग परास्त हो चुका है अतः अब हमारे दुःखों का अन्त हो जाना चाहिये।'[157] ऐसा कहकर नल पुनः दमयन्ती से कहते हैं 'कोई भी स्त्री कभी अपने अनुरक्त पति को त्यागकर दूसरे पुरुष का वरण कैसे कर सकती है? जैसा कि तुम करने जा रही हो।'[158] नल के ये वचन सुनकर दमयन्ती दुःखी होकर कहती है आपको मुझ पर दोषारोपण करते हुये मेरे चरित्र पर सन्देह नहीं करना चाहिये। आपका पता लगाने के लिये

ही चारों ओर ब्राह्मण भेजे गये और उन्होंने मेरे कहे हुये वाक्यों को दसों दिशाओं में गाथा के रूप में गाया।[159] फिर वह उन्हें सम्पूर्ण घटना से अवगत कराती है।[160] तत्पश्चात् अपने पतिव्रता होने का प्रमाण प्रस्तुत करते हुये वह वायु, सूर्य और चन्द्रमा इन तीनों देवताओं का साक्षी बनाकर कहती है कि 'यदि मैंने पाप किया है तो ये मेरे प्राणों का हरण कर लें। मेरे कथनों की सत्यता को स्वयं देवतागण प्रमाणित करें अन्यथा देवता मेरा त्याग कर दें, यथोक्तम्- एष मे मुंचतो प्राणान् यदि पापं चराम्यहम्।

विब्रुवन्तु यथा सत्यमेतद् देवास्त्यजन्तु माम्।।[161]

तब वायुदेवता ने अपने वचनों से दमयन्ती की चारित्रिक शुद्धता को प्रमाणित किया और वायुदेव के ऐसा कहते ही आकाश से फूलों की वर्षा होने लगी, देवताओं की दुन्दुभियाँ बजने लगीं और मंगलमय वायु प्रवाहित होने लगी। यह अद्भुत दृश्य देखकर नल ने उसके विरुद्ध शंका को त्याग दिया[162] और नागराज कर्कोटक द्वारा दिये गये अजीर्ण वस्त्र को धारणकर अपने पूर्वस्वरूप में आ गये।[163] इस प्रकार पतिव्रता दमयन्ती ने अपने पति को पुनः प्राप्त कर लिया।

यहाँ दमयन्ती के चरित्र में उसका नल के प्रति अलौकिक अनुराग, पतिहितचिन्तन और पतिभक्ति तो प्रकट होती ही है, उसके साथ ही अपने पति से पुनर्मिलन के लिये उसके द्वारा किये महान् प्रयत्न भी दृष्टिगोचर होते हैं। वह अप्रतिम सौन्दर्य, मधुरवाणी, विनम्रता, गम्भीरता, सजगता, निर्भीकता, धैर्य, साहस, कष्टसहिष्णुता, संयमशीलता, त्याग, तर्कशीलता, दृढ़निश्चय, सत्यवादिता, आज्ञाकारिता, स्पष्टवादिता, लज्जाशीलता, विद्वत्ता, बुद्धि-चातुर्य, विशुद्ध हृदय, स्वाभिमान, दूरदर्शिता और पातिव्रत्य-शक्ति जैसे सतीनारियों के आदर्श गुणों से युक्त थी। वह देश-काल-परिस्थिति के अनुरूप व्यवहार करने वाली, सदाचारिणी पतिव्रता स्त्री थी। अपने इन्हीं गुणों के कारण उसने विषम से विषम परिस्थितियों में भी धैर्य बनाये रखा और स्वधर्म का परित्याग नहीं किया तथा अपने पति नल मिलन रूप अभीष्ट कार्य को सिद्ध करने में सफल हुयी। महाकवि भवभूति ने उचित ही कहा है कि 'शास्त्र में प्रतिष्ठा, स्वाभाविक ज्ञान, वाणी की प्रगल्भता, गुणों के अनुशीलन से सम्पन्न हुयी वाणी, कार्य के उचित अवसर का ज्ञान तथा नवीन उन्मेष युक्त प्रतिभा- ये गुण मनोरथ को पूर्ण करने वाले हैं। यथोक्तम् -

शास्त्रे प्रतिष्ठा, सहजश्च बोधः प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी।

कालानुरोधः, प्रतिभानवत्त्वमेते गुणाः कामदुधाः क्रियासु।।[164]

लोपामुद्रा

'लोपामुद्रा' विदर्भराज की पुत्री तथा महातपस्वी अगस्त्य मुनि की पतिव्रता पत्नी थी। स्वयं अगस्त्य मुनि ने ही पितरों को सद्गति प्रदान करने के लिये सन्तानोत्पादन की इच्छा से एक-एक जन्तु के उत्तमोत्तम अंगों का भावना द्वारा संग्रह करके उन सबके द्वारा एक परम सुन्दर स्त्री का निर्माण किया और उसे विदर्भराज को दे दिया।[165] राजा विदर्भ ने भी उसे अपनी पुत्री मानकर उसका नाम लोपामुद्रा रखा और प्रसन्नतापूर्वक उसका पालन-पोषण किया। जब उसने युवावस्था में पदार्पण किया उस समय उसे वस्त्राभूषणों से विभूषित सौ सुन्दरी कन्यायें और सौ दासियाँ उसकी आज्ञा के अधीन होकर उसे घेरे रहतीं और उसकी सेवा किया करती थीं। वह तेजस्विनी कन्या थी जो शील तथा सदाचार से सम्पन्न थी।[166] वह सत्यवती कन्या रूप में अप्सराओं से भी बढ़कर थी। उसने अपने शील से पिता तथा स्वजनों को सन्तुष्ट कर दिया था। (सा तु सत्यवती कन्या रूपेणाप्सरसोऽप्यति। तोषयामास पितरं शीलेन स्वजनं तथा)।[167]

पिता का भी अपनी पुत्री के प्रति अत्यधिक प्रेम था। इसीलिये जब अगस्त्य ऋषि, लोपामुद्रा के साथ अपने विवाह का प्रस्ताव लेकर विदर्भराज के समीप आये तो उनके शाप से भयभीत होकर वे अत्यन्त दुःखी हो गये। उन्हें दुःखी और किंकत्र्तव्यविमूढ देखकर लोपामुद्रा ने समयोचित वचन कहा कि 'आपको मेरे लिये दुःखी नहीं होना चाहिये। पिताजी! आप मुझे अगस्त्य जी की सेवा में दे दें और मेरे द्वारा अपनी रक्षा करें।' (न मत्कृते महीपाल पीडामभ्येतुमर्हसि। प्रयच्छ मामगस्त्याय त्राह्यात्मानं मया पितः)।[168]

लोपामुद्रा के कहे गये ये वचन उसका माता-पिता के प्रति प्रेम, पुत्री के रूप में उसकी कत्र्तव्यनिष्ठा और परिस्थिति के अनुरूप उसके निर्णय लेने की सामथ्र्य को दर्शाते हैं। पुत्री के ये वचन सुनकर विदर्भराज ने उसका विवाह अगस्त्य मुनि के साथ कर दिया। पत्नीरूप में वरण करने के पश्चात् अगस्त्यमुनि ने उससे उसके बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण त्यागने के लिये कहा तत्पश्चात् पति के वचन का पालन करते हुये रम्भोरू और विशाल नेत्रों वाली लोपामुद्रा ने अपने बहुमूल्य एवं दर्शनीय वस्त्र उतार दिये तथा वल्कल वस्त्र और मृगचर्म धारण कर लिये। वह पति के समान ही व्रत और आचार का पालन करने वाली हो गयी।[169] सुख-वैभव में पली-बढ़ी वह राजकुमारी एक ऐसे तपस्वी की पत्नी बनी जो केवल तपस्या में ही संलग्न थे। वह बड़ी ही प्रसन्नता और विशेष आदर के साथ पति की सेवा करने लगी।

महर्षि भी अपनी पत्नी के प्रति अत्यधिक प्रेम रखते थे।[170] महर्षि ने उसकी सेवा, पवित्रता, इन्द्रियसंयम, शोभा तथा रूप-सौन्दर्य से प्रसन्न होकर तपस्या के तेज से प्रकाशित लोपामुद्रा को समागम के लिये अपने समीप बुलाया[171] तब अपने पति के प्रति अनुराग रखने वाली उसने लज्जापूर्वक उन्हें प्रणाम करके कहा कि 'महर्षे! इसमें सन्देह नहीं है कि पतिदेव ने अपनी इस पत्नी को सन्तान के लिये ही ग्रहण किया है परन्तु आपके प्रति मेरी जो प्रीति है, वह भी आपको सफल करनी चाहिये। मैं अपने पिता के घर उनके महल में जैसी शय्या पर सोया करती थी वैसी ही शय्या पर आप मेरे साथ समागम करें। मैं चाहती हूँ कि आप आभूषणों से विभूषित हों और मैं भी दिव्य अलंकारों से अलंकृत हो इच्छानुसार आपके साथ समागमसुख का अनुभव करूँ।[172] अन्यथा मैं यह काषाय वस्त्र पहनकर आपके साथ समागम नहीं करूँगी। तपस्वीजनों का यह पवित्र आभूषण किसी प्रकार अपवित्र नहीं होना चाहिये। यथोक्तम्- अन्यथा नोपतिष्ठेयं चीरकाषायवासिनी।

नैवापवित्रो विप्रर्षे भूषणोऽयं कथंचन।।[173]

उसके ये वचन न केवल मुनिव्रत के प्रति उसकी उच्च आस्था को दर्शाते हैं अपितु साधारण स्त्री की हृदयगत भावनाओं को भी प्रतिबिम्बित करते हैं। मुनि ने उसकी इच्छानुसार जब उससे कहा 'तुम्हारे पिता के घर में जैसे धन, वैभव हैं, वे न तो तुम्हारे पास हैं और न मेरे ही पास; तो फिर यह कैसे सम्भव होगा।' तब लोपामुद्रा ने कहा कि 'इस जीवलोक में जो कुछ भी धन है, वह सब क्षणभर में आप अपनी तपस्या के प्रभाव से लाने में समर्थ हैं।'[174] यह सुनकर अगस्त्यमुनि ने कहा कि 'ऐसा करने से तपस्या का क्षय होगा। मुझे ऐसा कोई उपाय बताओ जिससे मेरी तपस्या क्षीण न हो।'[175] यह सुनकर लोपामुद्रा ने स्पष्ट रूप से कहा 'मेरे ऋतुकाल का थोड़ा ही समय शेष रह गया है। मैं जैसा कह चुकी हूँ उसके सिवा और किसी तरह आपसे समागम नहीं करना चाहती और न ही यह चाहती हूँ कि किसी प्रकार आपके धर्म का लोप हो। इस प्रकार अपने तप एवं धर्म की रक्षा करते हुये जिस तरह सम्भव हो उसी तरह आप मेरी इच्छा पूर्ण करें।'[176] उसके ये कथन अपने पति के तप सामथ्र्य के प्रति उसके विश्वास को प्रकट करने के साथ ही उसके पतिहितचिन्तन को तथा उसके मितभाषिणी और स्पष्टवादिनी होने के गुण को भी प्रकट करते हैं। तदनन्तर लोपामुद्रा को धर्माचरण के लिये कहकर अगस्त्य मुनि उसकी अभीष्ट की पूर्ति करने के लिये वहाँ से चले जाते हैं।[177] जब लोपामुद्रा की पूर्वोक्त समस्त इच्छायें पूर्ण हो जाती हैं तब वह

मुनि से एक अत्यन्त शक्तिशाली पुत्र उत्पन्न करने के लिये कहती है तब मुनि ने उसके समक्ष पुत्र सम्बन्धित एक विचार रखा।[178] उन्होंने कहा कि 'क्या तुम्हारे गर्भ से एक हजार या एक सौ पुत्र उत्पन्न हों जो दस के ही समान हों? अथवा दस ही पुत्र हों, जो सौ पुत्रों की समानता करने वाले हों? अथवा एक ही पुत्र हो जो सहस्रजित् हो?'[179] यह सुनकर लोपामुद्रा ने गुणवान् पुत्र की अभिलाषा रखते हुये उनसे कहा 'तपोधन! मुझे सहस्रों की समानता करने वाला एक ही श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त हो; क्योंकि बहुत से दुष्ट पुत्रों की अपेक्षा एक ही विद्वान् एवं श्रेष्ठ पुत्र उत्तम माना गया है, यथोक्तम्-

सहस्रसम्मितः पुत्र एकोऽप्यस्तु तपोधन।
एको हि बहुभिः श्रेयान् विद्वान् साधुरसाधुभिः।।[180]

तदनन्तर कालान्तर से उसने महातपस्वी और तेजस्वी दृढस्यु नामक पुत्र को जन्म दिया जो 'इध्मवाह' नाम से विख्यात हुआ।[181]

लोपामुद्रा रूपवती, कुलीना, धर्मज्ञा, धर्माचारिणी, पुत्री-धर्म का पालन करने वाली, तपोनिष्ठ पतिव्रता स्त्री थी। वह अलंकारप्रिय भी थी। उसमें धैर्य, इन्द्रियसंयम, त्याग, विनयशीलता, स्पष्टवादिता, मितभाषिता, बुद्धिमत्ता, निर्लोभ जैसे गुण विद्यमान थे, जो उसके चरित्र की शोभा में अभिवृद्धि करने वाले हैं। स्कन्दपुराण में लोपामुद्रा के पातिव्रत्यधर्म की प्रशंसा की गयी है। स्वयं बृहस्पति ने लोपामुद्रा को अगस्त्य के अंगों की छाया के तुल्य बताया है और कहा है कि इनकी कथा भी पुण्य प्रदान करने वाली है। यह पतिव्रताओं में अग्रगण्य है। लोपामुद्रा को श्रुति, क्षमा, सत्क्रिया और पातिव्रत्य का मूर्तिमान् तेज कहा गया है।[182]

सत्यवती

कान्यकुब्ज प्रदेश में शासन करने वाले महाराज गाधि की परम रूपवती कन्या का नाम 'सत्यवती' था। भृगुपुत्र ऋचीक मुनि ने उसका वरण किया था।[183] एक दिन महर्षि भृगु, ऋचीक मुनि के आश्रम पर आये तब उन दोनों पति-पत्नी ने उन्हें पवित्र आसन पर विराजमान कर उनका पूजन किया और उनकी उपासना में संलग्न हो वे अंजलि बाँधे खड़े रहे।[184] सत्यवती ने अपने श्वसुर को अपने और अपनी माता के लिये पुत्र-प्राप्ति का उद्देश्य रखकर प्रसन्न किया तब भृगुजी ने उस पर कृपादृष्टि की। उससे कहा 'सुभगे! वर माँगो, मैं तुम्हारा ईप्सित वर प्रदान करूँगा।[185]

भृगुजी ने सत्यवती की इच्छा को पूर्ण करने के लिये उसे तथा उसकी माता को पुत्र-प्राप्ति के उद्देश्य से क्रमशः गूलर और पीपल के वृक्ष का आलिंगन करने के लिये कहकर तथा उन दोनों के लिये पृथक्-पृथक् चरु का निर्माण कर उसका भक्षण करने के लिये कहकर वहाँ से अन्तर्धान हो गये।[186] इधर सत्यवती और उसकी माता ने वृक्षों के आलिंगन और चरु भक्षण में व्यतिक्रम कर दिया, जिसे भृगु मुनि ने अपनी दिव्यदृष्टि से जान लिया[187] अतः वे पुनः अपनी पुत्रवधू के पास आकर उसे उसकी माता द्वारा किये गये छल के विषय में बताते हैं और कहते हैं कि इस व्यतिक्रम के कारण तुम्हारा पुत्र ब्राह्मण होकर भी क्षात्रवृत्ति वाला होगा तथा तुम्हारी माता का पुत्र क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मण आचार वाला होगा।[188] यह सुनकर सत्यवती ने बारम्बार प्रार्थना करके अपने श्वसुर को प्रसन्न किया और कहा 'भगवन्! मेरा पुत्र ऐसा न हो। भले ही, पौत्र क्षत्रिय स्वभाव का हो जाय (न मे पुत्रों भवेदीदृक् कामं पौत्रो भवेदिति)[189] तब 'एवमस्तु' कहकर भृगुजी ने अपनी पुत्रवधू का अभिनन्दन किया। तत्पश्चात् प्रसव का समय आने पर सत्यवती ने जमदग्नि नामक पुत्र को जन्म दिया।[190] विष्णुपुराण में उल्लेख है कि सत्यवती बाद में कौशिकी नामकी नदी हो गयी।[191]

गाधिकन्या सत्यवती धैर्य, संयम, त्याग, विनम्रता इत्यादि गुणों से युक्त, सौन्दर्यशालिनी, शीलाचारवती, अतिथिसत्कारपरायणा, सेवाकार्यों में कुशल, पुत्रकामा, ब्राह्मणधर्म के प्रति अनुराग रखने वाली पतिव्रता पत्नी थी।

रेणुका

'रेणुका' प्रसेनजित् की पुत्री तथा महातपस्वी जमदग्नि की भार्या थी।[192] ब्रह्मपुराण और विष्णुपुराण में 'रेणुका' को इक्ष्वाकुवंशीय राजा 'रेणु' की पुत्री बताया गया है।[193] इनका अपर नाम कामली भी था।[194] वह अपने पति के साथ तपस्या करने वाली तथा सब प्रकार से पति के अनुकूल थी (आश्रमस्थस्तया सार्धं तपस्तेपेऽनुकूलया)[195] उन्होंने अपने गर्भ से रूमण्वान्, सुषेण, वसु, विश्वावसु और परशुराम नामक पाँच पुत्रों को उत्पन्न किया था।[196] वह नियमपूर्वक उत्तम व्रत का पालन करने वाली थी।[197] एक दिन नदी-तट पर स्नान करके लौटते समय उन्होंने मार्तिकावत देश के राजा चित्ररथ को अपनी पत्नी के साथ जल में क्रीड़ा करते देखा तो उसके मन में भी ऐसी इच्छा जगी।[198] उस समय इस मानसिक विकार से द्रवित हुयी वह जल में अचेत-सी हो गयी। फिर त्रस्त होकर उसने आश्रम के भीतर प्रवेश किया परन्तु पतिदेव वह सब बात जान गये (व्यभिचाराच्च तस्मात् सा क्लिन्नाम्भसि

विचेतना, प्रविवेशाश्रमं त्रस्ता तां वै भर्तान्वबुध्यत)[199] उसे धैर्य से च्युत और ब्रह्मतेज से वंचित हुयी देखकर महर्षि ने धिक्कारपूर्ण वचनों द्वारा उनकी निन्दा की और अपने सभी पुत्रों से एक-एक करके अपनी माता का वध करने के लिये कहा तब परशुराम जी ने अपने पिता के आज्ञा का पालन किया।[200] इससे प्रसन्न होकर महर्षि ने परशुरामजी की कामनानुसार रेणुका को पुनजीर्वित कर दिया।[201] रेणुका अतिथि-सत्कार करने में भी कुशल थी। उन्होंने कार्तवीर्य अर्जुन के आश्रम में आने पर उनका यथोचित आतिथ्य-सत्कार किया।[202] महर्षि का भी अपनी पत्नी के प्रति अत्यन्त अनुराग था। एक दिन महर्षि धनुष चलाने की क्रीड़ा कर रहे थे तब रेणुका उनके द्वारा चलाये गये सम्पूर्ण तेजस्वी बाणों को लाकर उन्हें दे रही थी।[203] क्रीड़ा करते-करते मध्याह्न का समय हो गया। उस समय वह बाणों को लाने के लिये वृक्षों की छाया का आश्रय लेकर कुछ क्षण के लिये ठहर जाती थी क्योंकि उसके सिर और पैर तप गये थे।[204] पैरों के जलने से जो दुःख होता था, उसको किसी तरह सहती हुयी और पति के भय से काँपती हुयी वह उनके पास आयी। उस समय महर्षि ने कुपित होकर रेणुका से उसकी देरी का कारण पूछा।[205] तब रेणुका ने कहा-

शिरस्तावत् प्रदीप्तं मे पादौ चैव तपोधन।
सूर्यतेजोनिरुद्वाहं वृक्षच्छायां समाश्रिता।।
एतस्मात् कारणाद् ब्रह्ममंश्चिरायैतत् कृतं मया।
एतच्छ्रुत्वा मम विभो मा क्रुधस्त्वं तपोधन।।[206]

अर्थात् 'तपोधन! मेरा सिर तप गया, दोनों पैर जलने लगे और सूर्य के तेज ने मुझे आगे बढ़ने से रोक दिया; इसीलिये वृक्ष की छाया में स्थित होकर विश्राम लेने लगी थी, इसी कारण से मैंने आपका यह कार्य कुछ विलम्ब से पूरा किया है। मेरी इस बात को सुनकर आप मुझ पर क्रोध न करें। अपनी धर्मपत्नी रेणुका की यह बात सुनकर उन्हें सूर्य पर बहुत क्रोध आया और वे सूर्य को उसके स्थान से च्युत करने के लिये उद्यत हो गये, जिससे भयभीत होकर सूर्यदेव ने उनसे क्षमायाचना की।[207] तब महर्षि जमदग्नि ने सूर्यदेव को अभयदान देकर कहा 'इस समय तुम्हारे द्वारा जो यह अपराध हुआ है, उसका कोई समाधान सोचो, जिससे तुम्हारी किरणों द्वारा तपा हुआ मार्ग सुखपूर्वक चलने योग्य हो सके।' तब सूर्य ने उन्हें छत्र और उपानह प्रदान किये।[208]

रेणुका पातिव्रत्यधर्म का पालन करने वाली आर्यस्त्री थी। वह धैर्य और ब्रह्मतेज से सम्पन्न, तपस्या में रत रहने वाली, सत्यवादिनी, सुकुमारी और अतिथिसत्कारपरायणा स्त्री थी। उसमें त्याग, विनम्रता, संयम, कष्टसहिष्णुता और आज्ञाकारिता का गुण विद्यमान था। ब्रह्मवैवर्तपुराण में उल्लिखित है कि कार्तवीर्य द्वारा जमदग्नि का वध होने पर रेणुका अपने पति के साथ ही चिता पर आरुढ़ हो गयी थी।[209]

सुकन्या

देवराजसुता के समान दर्शनीयांगी, अतिशय सौन्दर्य से युक्त, उदार हृदय वाली कल्याणमयी 'सुकन्या' राजा शर्याति की कन्या थी।[210] किन्तु एक दिन इसी सुन्दर रूप, नयी युवावस्था, कामभाव के उदय से, यौवनमद से प्रेरित होकर सुकन्या ने कौतूहलवश और मोह के वशीभूत हुयी बुद्धि के कारण अपनी सखियों और पिता के साथ वन विहार के समय, तपस्या में संलग्न रहने के कारण लताओं आदि से आच्छादित मृत्पिण्ड के समान दिखायी देने वाले, महर्षि च्यवन के नेत्रों को एक काँटे से छेद दिया जो कि वल्मीक में से खद्योत के समान चमक रहे थे।[211] तब मुनि ने क्रोधित होकर राज शर्याति की सेना को मलमूत्र के अवरोध द्वारा पीड़ित किया।[212] यह देखकर राजा ने इसका कारण जानने का प्रयत्न किया।[213] तब अपनी पुत्री सुकन्या के कहने पर उसके द्वारा किये गये इस अपराध का ज्ञान होने पर राजा मुनि से क्षमायाचना करते है।[214] तब मुनि ने कहा 'तुम्हारी इस पुत्री ने अहंकारवश अपमानपूर्वक मेरे नेत्रों को विद्ध किया है अतः रूप और उदारता से युक्त तथा लोभ और मोह के वशीभूत हुयी तुम्हारी इस कन्या को पत्नी रूप में प्राप्त करके ही मैं इसका अपराध क्षमा कर सकता हूँ।'[215] मुनि का यह वचन सुनकर राज ने बिना कुछ विचार किये ही अपनी पुत्री उन्हें दे दी।[216] सुकन्या ने भी पिता की आज्ञा का पालन करते हुये और अपनी गलती को स्वीकार करके उनके साथ विवाह कर लिया। सुकन्या के इस कार्य से उसका पिता के प्रति प्रेम, आज्ञाकारिणी होने तथा अपराध होने पर उसे स्वीकार करने का साहस और सत्यवादिनी होने का ज्ञान होता है।

सुकन्या भी तपस्वी च्यवन को पतिरूप में पाकर प्रतिदिन प्रेमपूर्वक तप और नियम का पालन करती हुयी उनकी परिचर्या करने लगी। सुमुखी सुकन्या किसी के गुणों में दोष नहीं देखती थी। वह त्रिविध अग्नियों और अतिथियों की सेवा में तत्पर हो शीघ्र ही च्यवनमुनि की आराधना में लग गयी, यथोक्तम्-

सुकन्यापि पतिं लब्ध्वा तपस्विनमनिन्दिता।नित्यं पर्यचरत् प्रीत्या तपसा नियमेन च।।

अग्नीनामतिथीनां च शुश्रूषुरनसूयिका। समाराधयत क्षिप्रं च्यवनं सा शुभानना।।[217]

एक दिन अश्विनीकुमार देवताओं ने उस सुन्दरी सुकन्या को देखा और उससे उसका परिचय पूछा।[218] परिचय जानने के पश्चात् देवताओं ने उससे कहा तुम सुन्दर वस्त्रों और आभूषणों तथा शृंगार रहित होकर भी इस वन की शोभा बढ़ा रही हो और यदि तुम इन सबसे युक्त हो जाओ तो उस समय जो तुम्हारी शोभा होगी, वह मलपंक से युक्त वेश में नहीं हो रही है। तुम ऐसी अनुपम सुन्दरी होकर कामभोग से शून्य इस जरा-जर्जर पति की उपासना कैसे करती हो? वह तुम्हारी रक्षा और पालन-पोषण में समर्थ नहीं है अतः तुम उन्हें छोड़कर हम दोनों में से किसी एक को अपना पति चुन लो।'[219] तब पतिव्रता सुकन्या यह कहकर मना कर देती है कि 'मैं अपने पतिदेव में पूर्ण अनुराग रखती हूँ अतः आप मेरे विषय में इस प्रकार की अनुचित आशंका न करें, यथोक्तम्-

रताहं च्यवने पत्यौ मैवं मां पर्यशंकतम्।

तावब्रूरतां पुनस्त्वेनामावां देवभिषग्वरौ।।[220]

यह सुनकर अश्विनीकुमार उसे प्रलोभन देते हैं कि 'हम तुम्हारे पति को तरुण और मनोहर रूप से सम्पन्न बना देंगे। तब तुम हम तीनों में से किसी एक को अपने पति रूप में वरण कर लेना।'[221] उन दोनों की यह बात सुनकर सुकन्या अपने पति के पास गयी और उन्होंने जो कहा था, वह सब उन्हें कह सुनाया।[222] तब मुनि ने उसे देववैद्यों के अनुसार ही कार्य करने को कहा।[223] अश्विनीकुमारों ने जैसा कहा था, उसी के अनुसार च्यवन मुनि को रूप-यौवन से सम्पन्न कर दिया और स्वयं भी उसी दिव्यरूप से सम्पन्न हो गये।[224] फिर तीनों ने एक साथ कहा 'हममें से किसी एक को इच्छानुसार अपना पति बना लो या जिसको तुम मन से चाहती हो, उसी को पति बनाओ।'[225] तदनन्तर देवी सुकन्या ने उन सबको एक-जैसा रूप धारण किये खड़े देख मन और बुद्धि से निश्चय करके अपने पति को ही स्वीकार किया, यथोक्तम्-

सा समीक्ष्य तु तान् सर्वांस्तुल्यरूपधरान् स्थितान्।

निश्चित्य मनसा बुद्धया देवी वव्रे स्वकं पतिम्।।[226]

वस्तुतः सुकन्या एक सदाचारिणी स्त्री थी। वृद्ध च्यवन मुनि से विवाह करके उसने न केवल अपने पिता के निर्णय का सम्मान किया अपितु उत्तमवस्त्राभूषणों एवं शृंगार का

परित्याग कर एक तपस्विनी की भाँति जीवनचर्या अपनाकर अपने पति के प्रति ही पूर्ण श्रद्धा-भक्ति के साथ स्वकत्र्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन किया। पूर्व में उसमें स्त्री-सुलभ स्वाभाविक चंचलता अवश्य विद्यमान थी किन्तु उस पतिव्रता ने समस्त सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति का त्यागकर, मन-निग्रह द्वारा धैर्य को अपनाकर वाणी, शरीर और क्रिया द्वारा अपने पति की सेवा करके अपने चरित्र को गौरवशालिनी बनाया। उसमें त्याग, धैर्य, संयम, साहस, सत्यवादिता, बुद्धिमानी, आज्ञाकारिता का गुण विद्यमान था। पद्मपुराण में सुकन्या के चरित्र का अधिक विस्तार के साथ वर्णन प्राप्त होता है। वहाँ उसे सम्पूर्ण प्राणियों का हित साधन करने में अनुरागिणी बताया गया है।[227] स्कन्दपुराण के प्रभासखण्ड़ में भी सुकन्या की कथा प्राप्त होती है।[228]

पतिव्रता ब्राह्मणी

कौशिक नाम का एक तपस्वी ब्राह्मण था, जो क्रोधी स्वभाव का था। एक दिन किसी वृक्ष के नीचे बैठकर वह तपस्या कर रहा था। उसी समय उस वृक्ष पर स्थित बगुली ने उस पर बीट कर दी। यह देखकर वह ब्राह्मण उसके अनिष्ट का चिन्तन करने लगा और तत्क्षण वह बगुली निष्प्राण होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी।[229] उसे उस अवस्था में देखकर तपस्वी ब्राह्मण को अपने कुकृत्य पर पश्चाताप हुआ और अपने इस अनुचित कृत्य पर विचार करता हुआ ही वह भिक्षा लेने एक ब्राह्मणी के द्वार पर पहुँचा।[230] गृहकार्य में व्यस्त उस ब्राह्मणी ने उसे रूकने के लिये कहा लेकिन उसी समय अपने पति को आया हुआ देखकर उस ब्राह्मण को तो उसी दशा में छोड़ दिया और अत्यन्त विनीत भाव से वह पति की सेवा में लग गयी।[231] वह सती स्त्री प्रतिदिन पति को भोजन कराकर उनके उच्छिष्ट को प्रसाद मानकर ग्रहण करती थी। वह पति को देवता मानती और उनके चित्त के अनुकूल ही चलती थी। उसका मन कभी भी परपुरुष की ओर नहीं जाता था। वह मन, वाणी और क्रिया से पतिपरायणा थी। पति के लिये जो हितकर कार्य होता, उसमें वह सदा संलग्न रहती थी। देवपूजा, अतिथिसत्कार, भृत्यों के भरण-पोषण और श्वश्रू-श्वसुर की सेवा में सर्वदा वह तत्पर रहती थी। अपने इन्द्रियों पर वह निरन्तर पूर्ण संयम रखती थी, यथोक्तम्-

उच्छिष्टं भाविता भर्तुर्भुङ्क्ते नित्यं युधिष्ठिर। दैवतं च पतिं मेने भर्तुश्चित्तानुसारिणी।
कर्मणा मनसा वाचा नान्यचित्ताभ्यगात् पतिम्।। भर्तुश्चापि हितं यत् तत् सततं सानुवर्तते।
देवतातिथिभृत्यानां श्वश्रूश्वशुरयोस्तथ।। शुश्रूषणपरा नित्यं सततं संयतेन्द्रिया।[232]

पति की सेवा करते-करते उसे ब्राह्मण की याद आयी और वह उसके लिये भिक्षा लेकर घर से बाहर निकली तब ब्राह्मण ने क्रोधित होकर उससे कहा कि 'तुम्हें इतना विलम्ब करना था तो मुझे रोक क्यों लिया?' तब उस ब्राह्मणी ने बड़ी शान्ति से उत्तर दिया 'क्षमा करें! मेरे लिये सबसे बड़े देवता पति हैं। वे भूखे और थके हुये घर पर आये थे, उन्हीं की सेवा में लग गयी।'[233] यह सुनकर ब्राह्मण ने कहा 'क्या ब्राह्मण बड़े नहीं हैं, तुमने पति को ही सबसे बड़ा बना दिया? गृहस्थधर्म में रहकर भी तुम ब्राह्मणों का अपमान करती हो? क्या तुम ब्राह्मणों का प्रभाव नहीं जानती? वे चाहें तो इस पृथ्वी को भी जलाकर भस्म कर सकते हैं।'[234] यह सुनकर ब्राह्मणी ने कहा- (नाहं बलाका विप्रर्षे त्यज क्रोधं तपोधन।। अनया क्रुद्धया दृष्ट्या क्रुद्धः किं मां करिष्यसि। जानामि तेजो विप्राणां महाभाग्यं च धीमताम्।। पतिशुश्रूषया धर्मो यः स मे रोचते द्विज। दैवतेष्वपि सर्वेषु भर्ता मे दैवतं परम्।)[235]

अर्थात् 'तपोधन! क्रोध न करो। मैं बगुली नहीं जो तुम्हारी इस क्रोधपूर्ण दृष्टि से जल जाऊँगी। तुम इस तरह कुपित होकर मेरा क्या करोगे? मैं बुद्धिमान् ब्राह्मणों के तेज और महत्त्व को जानती हूँ। विप्रवर! मुझे तो पति की सेवा से जो धर्म प्राप्त होता है, वही रूचिकर है। सम्पूर्ण देवताओं में भी पति ही मेरे सबसे बड़े देवता हैं।' फिर वह ब्राह्मणों के लिये कहे गये सनातन धर्म का वर्णन करती है।[236] तत्पश्चात् वह ब्राह्मण से कहती है कि 'तुम भी धर्मज्ञ, स्वाध्यायपरायण और पवित्र हो; तो भी मेरा विचार है कि तुम्हें धर्म का यथार्थ ज्ञान नहीं है। यदि तुम परम धर्म क्या है, यह नहीं जानते तो मिथिलापुरी में धर्मव्याध के पास जाकर पूछो। यदि मेरे मुख से कोई अनुचित बात निकल गयी हो तो उन सबके लिये मुझे क्षमा करें।'[237] उस ब्राह्मणी के द्वारा बलाका वाली घटना जान लेने से तथा उसके द्वारा कहे गये धर्मानुकूल शुभवचनों से कौशिक ब्राह्मण को उस पर श्रद्धा हो गयी थी अतः उसके वचनों को परमकल्याणकारी मानकर वह धर्मव्याध के यहाँ जाने का निश्चय करता है।[238]

पतिव्रता ब्राह्मणी के चरित्र से पतिसेवा के फलस्वरूप प्राप्त पातिव्रत्य तेज के दर्शन होते हैं। वह गृहकार्यों में दक्ष, अतिथि-सत्कार और देव-पूजा करने वाली, सेवा-शुश्रूषा में तत्पर रहने वाली, पति को ही देवता मानकर उनके अनुकूल चलने वाली, उनके हित में सर्वदा संलग्न रहने वाली तथा ब्राह्मणधर्म का ज्ञान रखने वाली पतिपरायणा स्त्री थी। वह क्षमाशीला, इन्द्रियसंयमी, विनम्र और शिष्ट होने के साथ ही उसमें व्यंग्य करने की क्षमता भी विद्यमान थी।

सीता

'सीता' विदेहराज जनक की पुत्री थी। त्रेतायुग में जहाँ श्रीराम जगत को त्रास देने वाले दशानन रावण का नाश करने हेतु अवतरित हुये[239] और संसार में मर्यादापुरुषोत्तम के नाम से प्रसिद्ध होकर मर्यादा निर्वहन का आदर्श प्रस्तुत किया वहीं 'सीता' ने उनकी सहधर्मिणी होकर अपने आचार-विचार से स्त्री-जाति के गौरव को बढ़ाते हुये स्वयं को स्त्री जाति के आदर्श तथा पूजनीय रूप में स्थापित किया है।

महाभारत के रामोपाख्यानपर्व में संक्षिप्त रूप से ही राम-कथा का उल्लेख किया गया है अतः वाल्मीकिरामायण के समान यहाँ सीता का चरित्र विस्तृत नहीं है तथापि इस उपाख्यान में सीता के चरित्र की निम्नलिखित विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती है-

पतिव्रता - सीता को स्वयं विधाता ने ही श्रीराम की प्रिय रानी होने के लिये रचा था (विदेहराजो जनकः सीता तस्यात्मजा विभो। यां चकार स्वयं त्वष्टा रामस्य महिषीं प्रियाम्)[240] सीता के राम के साथ परिणय-सूत्र में बँधने के पश्चात् राम के राज्याभिषेक के अवसर पर कैकेयी के द्वारा राम को वनवास मिलने पर सीता ने भी अपने पति राम का अनुसरण किया।[241] वहाँ वन में निवास करते हुये एक दिन रत्नयुक्त शृंग और रत्न के समान ही चित्र-विचित्र तनूरुह वाले अद्भुत् मृग को देखकर सीता ने उसे लाने के लिये राम को भेजा। तब सीता का प्रिय करने की इच्छा से वे लक्ष्मण को सीता की रक्षा का भार सौंपकर मृग को लाने की इच्छा से वन में चले गये।[242] कुछ समय पश्चात् सीता ने राम के आर्तस्वर को सुना। उनका स्वर सुनकर जिस ओर से वह स्वर आया था, उसी ओर वे दौड़ पड़ीं। तब लक्ष्मण ने उनसे कहा 'शंका करने की कोई बात नहीं है। ऐसा कौन है, जो राम पर प्रहार कर सकेगा? तुम क्षणभर में अपने पति राम को यहाँ उपस्थित देखोगी।'[243] लक्ष्मण की यह बात सुनकर रोती हुयी सीता ने उन्हें संदेह की दृष्टि से देखा। यद्यपि शुद्ध आचार ही उनका भूषण था। वे साध्वी और पतिव्रता थीं; स्त्री स्वभाववश उस समय उनकी बुद्धि नष्ट हो गयी। उन्होंने लक्ष्मण को परुष वचन सुनाने आरम्भ किये। सीता ने कहा-

> नैष कामो भवेन्मूढ यं त्वं प्रार्थयसे हृदा। अप्यहं शस्त्रमादाय हन्यामात्मानमात्मना।।
> पतेयं गिरिशृंगाद् वा विशेयं वा हुताशनम्। रामं भर्तारमुत्सृज्य न त्वहं त्वां कथंचन।।
> निहीनमुपतिष्ठेयं शार्दूली क्रोष्टुकं यथा।[244]

अर्थात् 'ओ मूढ! तुम मन-ही-मन जिस वस्तु को प्राप्त करना चाहते हो, तुम्हारा वह मनोरथ कभी पूर्ण न होगा। मैं स्वयं शस्त्र लेकर अपने आपको मार लूँगी, पर्वतशिखर से गिर जाऊँगी अथवा अग्नि में समा जाऊँगी; परन्तु राम जैसे पति को छोड़कर तुम जैसे पुरुष का कदापि वरण न करूँगी। जैसे सिंहिनी सियार को नहीं स्वीकार कर सकती, उसी प्रकार मैं तुम्हें नहीं ग्रहण करूँगी।' उनके ये कठोर वचन सुनकर लक्ष्मण, राम की खोज करने के लिये चले गये।[245] उस समय अवसर पाकर राक्षस रावण साध्वी सीता को हरण करने की इच्छा से संन्यासी के वेष में आश्रम पर आया।[246] सीता अतिथि-सत्कारपरायणा स्त्री थी अतः यति को अपने आश्रम पर देखकर सीता ने फल-मूल के भोजन आदि के लिये उसे आमन्त्रित किया[247] (सा तमालक्ष्य सम्प्राप्तं धर्मज्ञा जनकात्मजा। निमन्त्रयामास तदा फलमूलाशनादिभिः।।)[248] तब रावण सीता की दी हुयी उन सभी वस्तुओं की अवहेलना करके अपने यथार्थ रूप में प्रकट हो गया और अपना परिचय देने के बाद उससे कहा 'वहाँ नर-नारियों के मध्य रहकर मेरे साथ तुम बड़ी शोभा पाओगी। तुम मेरी पत्नी हो जाओ और इस तपस्वी राम को छोड़ दो।'[249] रावण के ऐसे वचन सुनकर सीता ने अपने दोनों कान बंद कर लिये और उससे कहा 'ऐसे वचन मत बोल। नक्षत्रों सहित आकाश गिर पड़े, पृथिवी टुकड़े-टुकड़े हो जाय और अग्नि अपनी उष्णता का त्याग करके शीतल हो जाय, परन्तु मैं रघुनन्दन का त्याग नहीं कर सकती, यथोक्तम्-

एवमादीनि वाक्यानि श्रुत्वा तस्याथ जानकी। पिधाय कर्णौ सुश्रोणी मैवमित्यब्रवीद् वचः।।
प्रपतेद् द्यौः सनक्षत्रा पृथिवी शकली भवेत्। शैत्यमग्निरियान्नाहं त्यजेयं रघुनन्दनम्।।[250]

उस समय क्रोधित होने से उनके ओष्ठ फड़क रहे थे और वे अपने दोनों हाथों को बार-बार हिला रही थीं।[251] उस समय आश्रम में प्रवेश करते समय रावण ने उनके कश पकड़ लिये और आकाशमार्ग से लंका ले गया और वहाँ अशोकवाटिका के निकट रमणीय भवन में ठहराया।[252] वहाँ पति का निरन्तर चिन्तन करते-करते सीता का शरीर दुर्बल हो गया था। वे तपस्विनी वेष में वहाँ रहती थीं। उपवास और तपस्या करने का उनका स्वभाव सा बन गया था। वे वहाँ फलमूल खाकर बड़े दुःख से दिन व्यतीत करती थीं। (भर्तृस्मरणतन्वंगी तापसीवेषधारिणी। उपवासतपः शीला तत्रास पृथुलेक्षणा। उवास दुःखवसतिं फलमूलकृताशना।)[253]

रावण ने सीता की रक्षा के लिये कुछ राक्षसियों को नियुक्त कर दिया था, जो भयंकर स्वरूप वाली थी। वे सदा सीता को कठोर वचन कहकर उन्हें पीड़ा दिया करती थी।[254] उस समय पतिवियोग से सन्तप्त सीता ने उनसे कहा 'तुम लोग शीघ्र मुझे मारकर खा जाओ। अब इस जीवन के लिये मुझे तनिक भी लोभ नहीं है। मैं अपने स्वामी के बिना जीना ही नहीं चाहती। मैं अपने शरीर को सुखा डालूँगी परन्तु परपुरुष का सेवन नहीं करूँगी।'[255]

सीता के ये वचन राम के प्रति उसकी अनन्य भक्ति को पतिवियोगजन्य कष्ट को तथा उसके जीवन-सर्वस्व होने को दर्शाते हैं। एक दिन कामपीड़ित हो रावण ने सीता के समीप जाकर अपने ऐश्वर्य का गुणगान करते हुये उसे शृंगार धारण करने और अपनी भार्या बनने के लिये कहा[256] तो तिनके की ओट करके अश्रूपूर्ण नेत्रों से सीता ने कहा 'राक्षसेश्वर! तुम्हारे मुख से ऐसी दुःखदायिनी बातें अनेक बार निकली हैं और मुझ अभागिनी को वे सारी बातें बार-बार सुननी पड़ी हैं। भद्रसुख! तुम्हारा भला हो। तुम अपना मन मेरी ओर से हटा लो। मैं परायी स्त्री हूँ, पतिव्रता हूँ। तुम कभी किसी तरह मुझे नहीं पा सकते। एक दीन मानवकन्या होने के कारण मैं तुम-जैसे निशाचर की भार्या होने योग्य नहीं हूँ। मुझ विवश अबला को बलपूर्वक अपमानित करके तुम्हें क्या सुख मिलेगा? तुम्हारे पिता ब्राह्मण हैं। ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण वे ब्रह्मा के ही समान हैं। तुम भी लोकपालों के समान हो, फिर धर्म का पालन क्यों नहीं करते?[257]

सीता के इन वचनों में उसका दुःख, विवशता, निरीहता स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है और वह रावण को धर्ममार्ग पर लाने का प्रयत्न भी करती है।

राम द्वारा रावण का वध किये जाने के बाद अविन्ध्य विभीषण सहित भगवती सीता को आगे करके लंकापुरी से बाहर निकलकर आये और जब उन्होंने श्रीराम से सीता को ग्रहण करने के लिये कहा[258] तब श्रीराम के मन में यह संदेह हुआ कि संभव है, सीता पर पुरुष के स्पर्श से अपवित्र हो गयी हो अतः उन्होंने सीता से कहा 'विदेहकुमारी! मैंने तुम्हें मुक्त कर दिया। अब तुम जाओ। मेरा जो कर्त्तव्य था, उसे मैंने पूरा कर दिया। धर्म के सिद्धान्त को जानने वाला मेरे जैसा कोई भी पुरुष दूसरे के हाथ में गयी हुयी नारी को मुहूर्त भर के लिये भी कैसे ग्रहण कर सकता है? तुम्हारा आचार-विचार शुद्ध हो अथवा अशुद्ध, अब मैं तुम्हें अपने उपयोग में नहीं ला सकता।'[259] अपने पति के मुख से सहसा ऐसे कठोर वचन सुनकर सीता

व्यथित हो पृथिवी पर गिर पड़ीं।[260] उस समय ब्रह्मा आदि समस्त देवता, सप्तर्षिगण, राजा दशरथ, गन्धर्व सभी वहाँ आ गये। उन सबके मध्य खड़ी होकर सीता ने कहा-

राजपुत्र न ते दोषं करोमि विदिता हि ते। गतिः स्त्रीणां नराणां न श्रृणु चेदं वचो मम।।
अग्निरापस्तथाऽऽकाशं पृथिवी वायुरेव च। विमुंचन्तु मम प्राणान् यदि पापं चराम्यहम्।।
यथाहं त्वदृते वीर नान्यं स्वप्नेऽप्यचिन्तयम्। तथा मे देवनिर्दिष्टस्त्वमेव हि पतिर्भव।।[261]

अर्थात् राजपुत्र! मैं आपको दोष नहीं देती, क्योंकि आप स्त्रियों और पुरुषों की कैसी गति है, यह अच्छी तरह जानते हैं। केवल मेरी यह बात सुन लीजिये। यदि मैं पाप का आचरण करती होऊँ तो अग्नि, जल, आकाश, पृथ्वी और वायु-ये सब मिलकर मुझसे मेरे प्राणों का वियोग करा दें। यदि मैंने आपके सिवा दूसरे पुरुष का स्वप्न में भी चिन्तन न किया हो तो देवताओं के दिये हुये एकमात्र आप ही मेरे पति हों।' उसके ये वचन सुनकर वायु, अग्नि, वरुण और ब्रह्माजी ने सीता के चरित्र को शुद्ध बताया और उन्हें ग्रहण करने को कहा। तब श्रीराम ने जनकनन्दिनी सीता को ग्रहण किया।[262]

श्रीमद्वाल्मीकिरामायण में सभी देवताओं की उपस्थिति में ब्रह्माजी द्वारा राम को उनके वास्तविक रूप तथा सीता के भी यथार्थ स्वरूप का वर्णन करके तथा सीता के अग्नि परीक्षा द्वारा उनकी चरित्रशुद्धि का वर्णन किया गया है।[263]

उपर्युक्त विवरण में सीता का अपने पति राम के प्रति अनन्य प्रेम और भक्तिभाव, पतिहितचिन्तन, तथा उसका दुःख, वेदना, परवशता, निरीहता आदि भाव और स्वाभिमान, धैर्य, सहिष्णुता, त्याग, संयम, तप, तेजस्विता, गम्भीरता, मनस्विता इत्यादि गुण सहज रूप से ही परिलक्षित हो रहे हैं। वह धर्मज्ञा, धर्माचारिणी, अतिथिसत्कार-परायणा, तपस्विनी और पतिव्रता स्त्री थी।

बुद्धिमती - जब रावण सीता का अपहरण करके आकाशमार्ग से लंकापुरी की ओर प्रस्थान कर रहा था उस समय साध्वी सीता ने जहाँ-जहाँ कोई आश्रम, सरोवर या नदी देखी, वहाँ-वहाँ अपना कोई-न-कोई आभूषण गिरा दिया तथा आगे जाने पर उन्होंने पर्वत के शिखर पर बैठे हुये पाँच श्रेष्ठ वानरों को देखा। तब वहाँ सीता ने अपना एक दिव्य वस्त्र गिरा दिया, यथोक्तम्-

यत्र यत्र तु वैदेही पश्यत्याश्रममण्डलम्।
सरो वा सरितो वापि तत्र मुंचति भूषणम्।।

सा ददर्श गिरिप्रस्थे पंच वानरपुंगवान्।
तत्र वासो महद्दिव्यमुत्ससर्ज मनस्विनी।।[264]

सीता का यह कार्य उनकी बुद्धिमत्ता को प्रकट करता है।

सशंकिता - जब हनुमान् अशोक वाटिका में सीता से मिले तब उन्होंने सीता को अपना परिचय दिया और राम के सकुशल होने का समाचार सुनाया।[265] उस समय सीता ने हनुमान् के कहते ही उन पर विश्वास नहीं किया अपितु मुहूर्त भर कुछ विचार कर हनुमान से कहा 'मैं अविन्ध्य के कहने से यह विश्वास करती हूँ कि तुम हनुमान् हो। अविन्ध्य राक्षसकुल में उत्पन्न होते हुये भी वृद्ध एवं आदरणीय है। उन्होंने ही तुम्हारे-जैसे मन्त्रियों से युक्त सुग्रीव का परिचय दिया है।'[266] सीता का हनुमान पर एकाएक विश्वास न करना उनके सशंकित होने को प्रकट करता है संभवतः वह उस वानर में रावण के होने या उसके अनुचर होने का संदेह कर रही थी किन्तु हनुमान् के प्रति विश्वस्त होने पर वह उसे एक मणि भी देती है और विश्वास दिलाने के लिये एक कथा भी सुनाती है कि कैसे राम ने चित्रकूट में रहते समय किसी कौए के ऊपर सींक का बाण चलाया था और उसे एक आँख से वंचित कर दिया था।[267]

पूर्व में भी दो अवसरों पर सीता शंका भाव से युक्त दिखायी देती हैं। प्रथम, जब स्वर्णमृग की खोज में गये हुये राम का आर्तस्वर उन्हें सुनायी देता है तो अपने स्वामी राम के स्म्भावित अनिष्ट की आशंका से युक्त दिखायी देती हैं। द्वितीय, जब लक्ष्मण से भ्राता राम की रक्षार्थ वन में गमन करने के लिये कहने पर भी जब वे प्रस्थान नहीं करते तो वे लक्ष्मण के चरित्र और मनोवृत्ति को लेकर सशंकित होकर उन पर आरोप लगाने लगती हैं।

सीता के चरित्र का अवलोकन करने पर यह ज्ञात होता है कि वह सती-साध्वी पतिव्रता स्त्री थी, जिसका अपने पति के प्रति एकनिष्ठ प्रेम था। वह धर्म के प्रति अक्षय अनुराग रखने वाली, धर्मज्ञा, सदाचारपरायणा और तपस्विनी स्त्री थी। वह अनिष्ट की आशंका से भयभीत होने वाली सुकुमारी थी। परुष वचन कहते समय भी उसकी वाणी संयमित थी। उसमें धैर्य, त्याग, संयाम, सहिष्णुता, सरलता, विनम्रता, गम्भीरता, स्पष्टवादिता का गुण विद्यमान था। वह मनस्विनी, तेजस्विनी, सत्यवादिनी, बुद्धिशलिनी अतिथिसत्कारपरायणा स्त्री थी। सीता के चरित्र की उदात्ता ने उसे देवी के पद पर प्रतिष्ठित किया है। आज भी सीता का चरित्र स्त्री जाति में आदर्श और पूजनीय है। श्रीमद्वाल्मीकिरामायण में वर्णित सीता स्वयंवर, राम के

वनगमन के समय सीता का उनके साथ चलने के लिये आग्रह करना, सीता का वल्कल धारण करना, कौशल्या द्वारा सीता को पतिसेवा का उपदेश देना, वन में अनसूया द्वारा सीता का सत्कार, सीता-अनसूया सम्वाद, उनका वनवासी जीवन, राम के द्वारा सीता की चरित्र-शुद्धि पर सन्देह करने पर सीता का राम को उपालम्भ देना, सीता का अग्नि प्रवेश, लोकापवाद के भय से राम द्वारा सीता का परित्याग, गर्भवती सीता का वाल्मीकि आश्रम में जीवनचर्या, सीता के दुःखपूर्ण वचन और श्रीराम के लिये सन्देश, राम-सीता के पुनर्मिलन पर श्रीराम का उनकी शुद्धता प्रमाणित करने के लिये कहना तत्पश्चात् सीता का शपथग्रहण और रसातल में प्रवेश इत्यादि प्रसंगों का महाभारत में अभाव है।[268] अतः सीता के चरित्र में निहित विशेषतायें यहाँ का अभाव दृष्टिगोचर होती हैं।

सावित्री

मद्रदेश के राजा अश्वपति की कन्या का नाम 'सावित्री' था। उसका रूप देवकन्या के समान था। वह सुवर्णमयी प्रतिमा के समान जान पड़ती थी।[269] उसका विवाह सत्यवान् के साथ हुआ था। उसने जिन चारित्रिक गुणों से उसके पितृकुल और श्वसुरकुल को गौरवान्वित किया है, वे इस प्रकार हैं-

आस्थावती - सावित्री देवताओं के प्रति श्रद्धा भावना से युक्त थी। एक दिन किसी पर्व के अवसर पर उपवासपूर्वक शिर से स्नान करके वह देवता के दर्शन के लिये गयी थी और वहाँ विधिपूर्वक अग्नि में आहुति देकर ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराया। (अथोपोष्य शिरः स्नाता देवतामभिगम्य सा। हुत्वाग्निं विधिवद् विप्रान् वाचयामास पर्वणि)[270] फिर वह इष्टदेवता का प्रसाद लेकर अपने पिता के समीप गयी।[271] इससे उसका आस्थावती होना सूचित होता है।

आज्ञाकारिणी पुत्री - विवाह योग्य अवस्था होने पर भी जब उसका किसी ने वरण नहीं किया तो अश्वपति ने अपनी पुत्री से कहा 'तू स्वयं ही ऐसे वर की खोज कर ले जो गुणों में तेरे समान हो। क्योंकि विवाह के योग्य हो जाने पर कन्या का दान न करने वाला पिता निन्दनीय है अतः ऐसी चेष्टा कर, जिससे मैं देवताओं की दृष्टि में अपराधी न बनूँ।'[272] अपने पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करके बिना कुछ विचार किये उसने वृद्ध मन्त्रियों के साथ प्रस्थान किया।[273] जब वह शुभलक्षणा अनेक देशों में भ्रमण करके पुनः अपने महल में आयी तो उस समय वहाँ नारदमुनि भी उपस्थित थे जिन्होंने सावित्री की यात्रा के बारे में प्रश्न किया था तब पिता के आज्ञा देने पर वह उन्हें बताती है कि 'द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान् का

मैंने मन से पति रूप में वरण किया है। वे मेरे योग्य पति है।'[274] इससे उसका आज्ञाकारिणी होना सूचित होता है।

स्थिरबुद्धियुक्ता - जब नारद जी ने कहा कि 'आज से लेकर एक वर्ष पूर्ण होने तक सत्यवान् की आयु पूर्ण हो जायेगी और वह शरीर त्याग देगा' तो यह सुनकर अश्वपति ने अपनी पुत्री से कहा 'तू पुनः यात्रा कर और दूसरे किसी पुरुष का वरण कर ले।'[275] सावित्री धर्म का ज्ञान रखने वाली और धर्म के प्रति स्थिर बुद्धि से युक्त थी। उसने अपने पिता से कहा 'भाइयों में धन का बँटवारा एक ही बार होता है, कन्या एक ही बार दी जाती है तथा श्रेष्ठ दाता 'मैं दूँगा', यह कहकर एक ही बार वाग्दान करता है। ये तीनों दानकार्य एक-एक बार ही होते हैं। सत्यवान् दीर्घायु हों या अल्पायु, गुणवान् हों या गुणहीन, मैंने उन्हें एक बार अपना पति चुन लिया। अब मैं दूसरे पुरुष का वरण नहीं कर सकती। पहले मन से निश्चय करके फिर वाणी द्वारा कहा जाता है तत्पश्चात् उसे कार्य रूप में परिणत किया जाता है, अतः इस विषय में मेरा मन ही प्रमाण है (सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते, सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्। दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणों निर्गुणोऽपि वा, सकृद वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम्। मनसा निश्चयं कृत्वा ततो वाचाभिधीयते, क्रियते कर्मणा पश्चात् प्रमाणं मे मनस्ततः)[276] सावित्री ने जिन तीन दान कार्यों के विषय में स्वविचार प्रकट किये हैं, उनका उल्लेख मनुस्मृति में भी किया गया है।[277] सावित्री और उसके पिता इस बात को भली प्रकार जानते थे कि सुख और दुःख तो उत्पन्न और नष्ट होने वाले हैं अतः अश्वपति ने अपनी पुत्री का विवाह सत्यवान् के साथ विधिवत् सम्पन्न कराया।[278]

सदाचारिणी - सावित्री सर्वसद्गुणसम्पन्ना और सदाचारिणी स्त्री थी। विवाह के पश्चात् सावित्री ने अपने सभी आभूषण उतारकर वल्कल तथा काषाय वस्त्र धारण कर लिये। उसने सेवा, गुण, विनय, दम और सबके मन के अनुसार कार्य करके सभी को प्रसन्न कर लिया।[279] शारीरिक सेवा तथा वस्त्राभूषण आदि के द्वारा श्वश्रू को और वाणी के संयमपूर्वक देवोचित सत्कार द्वारा श्वसुर को सन्तुष्ट किया। इसी प्रकार मधुर सम्भाषण, कार्यकुशलता, शान्ति तथा एकान्त सेवा द्वारा पति को भी सदा सन्तुष्ट रखा।[280]

दृढ़निश्चयी - जब सावित्री को यह निश्चय हो गया कि मेरे पति को आज से चैथे दिन मरना है, तब उसने तीन रात का निराहार व्रत धारण किया और उसमें वह दिन-रात खड़ी ही रही।[281] द्युमत्सेन को सावित्री के इस कठोर व्रत को सुनकर बहुत दुःख हुआ और उन्होंने

उससे कहा कि 'यह अत्यन्त दुष्कर कार्य है।'[282] तब सावित्री ने कहा 'पिताजी! आप चिन्ता न करें। मैं इस व्रत को पूर्ण कर लूँगी। दृढ़ निश्चय ही व्रत के निर्वाह में कारण हुआ करता है, अतः मैंने भी दृढ़ निश्चय से ही इस व्रत को आरम्भ किया है' (न कार्यस्तात संतापः पारयिष्याम्यहं व्रतम्, व्यवसायकृतं हीदं व्यवसायच कारणम्)[283] नियम धारण के तीन दिन पश्चात् द्युमत्सेन और शैब्या ने कहा 'अब व्रत के पारण करने का समय हो गया है अतः जो कत्र्तव्य है, वह करो।'[284] तब सावित्री ने कहा 'सूर्यास्त होने पर जब मेरा मनोरथ पूर्ण हो जायगा तभी मैं भोजन करूँगी। यह मेरे हृदय का संकल्प है और मैंने ऐसा करने की प्रतिज्ञा कर ली है' यथोक्तम्-

अस्तं गते मयाऽऽदित्ये भोक्तव्यं कृतकामया।
एष मे हृदि संकल्पः समयश्च कृतो मया।।[285]

पतिव्रता - सावित्री सदैव पति के हितकर कार्य में तत्पर रहा करती थी। इसीलिये चैथे दिन मृत्यु का समय उपस्थित होने पर जब सत्यवान् फल-फूल, समिधा आदि लाने के लिये वन की ओर चले तब सावित्री ने भी साथ चलने की इच्छा व्यक्त की।[286] यह सुनकर सत्यवान् ने कहा 'वनमार्ग दुःखदायक है, तुम व्रत-उपवास करने से दुर्बल हो रही हो, ऐसे में पैदल कैसे चल सकोगी।' तब सावित्री ने कहा 'उपवास के कारण मुझे किसी प्रकार की शिथिलता और थकावट नहीं है अतः आप मुझे मत रोकिये।'[287] वन में लकड़ी चीरते समय सत्यवान् के सिर में दर्द होने लगा; उसने यह बात सावित्री को बतायी और कहा 'अब मैं सोना चाहता हूँ। मुझमें खड़े रहने की शक्ति नहीं रह गयी है।[289] यह सुनकर सावित्री उनका सिर गोदी में लेकर पृथ्वी पर बैठ गयी (उत्संगेऽशिरः कृत्वा निषसाद महीतले)[290] फिर वह नारद जी की बात याद करके उस मुहूर्त, क्षण, समय और दिन का योग मिलाने लगी। उसी समय उसने रक्तवर्ण का वस्त्र धारण किये हुये, हाथ में पाश लिये हुये भयानक स्वरूप वाले एक पुरुष को देखा जो सत्यवान् की ओर ही देख रहे थे। उन्हें देखते ही वह काँपते हुये उन्हें प्रणाम कर उनसे उनका परिचय पूछती है।[291] तब वह स्वयं को यमराज बताकर कहते हैं कि 'तू पतिव्रता और तपस्विनी है इसलिये मैं तुझसे वार्तालाप कर सकता हूँ।'[292] फिर यमराज सत्यवान् के शरीर से जीव को निकालकर और उसे बाँधकर दक्षिण दिशा की ओर चल दिये। तब सावित्री भी दुःख से आतुर हो यमराज के पीछे-पीछे चल दी।[293] यह देखकर यमराज ने उसे लौटने के लिये कहा किन्तु सावित्री ने दृढ़तापूर्वक कहा 'जहाँ मेरे पति ले जाये जाते हैं

अथवा ये स्वयं जहाँ जा रहे हैं, वहीं मुझे भी जाना चाहिये; यही सनातनधर्म है। तपस्या, गुरुभक्ति, पतिप्रेम, व्रतपालन तथा आपकी कृपा से मेरी गति कहीं भी रूक नहीं सकती, यथोक्तम्-

यत्र मे नीयते भर्ता स्वयं वा यत्र गच्छति। मया च तत्र गन्तव्यमेष धर्मः सनातनः।।

तपसा गुरुभक्त्या च भर्तुः स्नेहाद् व्रतेन च। तव चैव प्रसादेन न ये प्रतिहता गतिः।।[294]

उसके ये वचन पतिव्रता स्त्री के धर्म और उसके आत्मविश्वासी होने को प्रकट करते हैं। वह कहती है कि 'विद्वानों ने कहा है कि सात पग साथ चलने मात्र से मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो जाता है' अतः उसी मित्रता को सामने रखकर मैं आपसे कुछ निवेदन करूँगी फिर वह सत्पुरुषों के धर्म का वर्णन करती है।[295] तब उसके स्वर, अक्षर, व्यंजन एवं युक्तियों से युक्त वाणी से तथा बुद्धिवर्धन और मनोनुकूल वचनों से प्रसन्न होकर यमराज उससे सत्यवान् के जीवन को छोड़कर अन्य अभिलषित वर माँगने को कहते हैं।[296] तब सावित्री ने वर के रूप में अपने श्वसुर की नेत्रज्योति, उनका बल तथा अग्नि और सूर्य के समान उनकी तेजस्विता, श्वसुर का राज्य और उनकी धर्म में दृढ़ता माँगी।[297] तत्पश्चात् वह पुनः यमराज के पीछे-पीछे जाने लगी और उनकी स्तुति करने लगी, इससे प्रसन्न होकर यमराज ने सावित्री को पुनः अभिलषित वर प्रदान किये। जिनमें सावित्री ने अपने पिता अश्वपति के लिये सौ औरसपुत्रों की प्राप्ति के साथ ही अपने और सत्यवान् के संयोग से भी कुलवृद्धि करने वाले, बलवीर्य से सम्पन्न सौ औरस पुत्रों की प्राप्ति का वरदान माँगा था।[298] वरदान देने के पश्चात् यमराज उसे पुनः लौटने के लिये कहते है किन्तु सावित्री सन्तों की महिमा का वर्णन करती है, जिसे सुनकर यमराज उससे कहते हैं 'जैसे-जैसे तू गम्भीर अर्थ से युक्त और सुन्दर पदों से विभूषित, मन के अनुकूल धर्मसंगत बातें मुझे सुनाती जा रही है, वैसे-ही-वैसे तेरे प्रति मेरी उत्तम भक्ति बढ़ती जाती है; अतः तू मुझसे कोई अनुपम वर माँग ले।'[299] तब सावित्री ने कहा, 'आपने मुझे जो पुत्र प्राप्ति का वर दिया है, वह पुण्यमय दाम्पत्य-संयोग के बिना सफल नहीं हो सकता। अन्य वरों की जैसी स्थिति है, वैसी इस अन्तिम वर की नहीं है। इसीलिये मैं पुनः यह वर माँगती हूँ कि ये सत्यवान् जीवित हो जाय क्योंकि पति के बिना मैं मरी हुयी के ही समान हूँ। पति के बिना यदि कोई सुख मिलता है तो वह मुझे नहीं चाहिये। पति के बिना मैं स्वर्गलोक में भी जाने की इच्छा नहीं रखती। पति के बिना

मुझे धन-सम्पत्ति की भी इच्छा नहीं है। अधिक क्या कहूँ, मैं पति के बिना जीवित रहना भी नहीं चाहती।' यथोक्तम्-

न तेऽपवर्गः सुकृताद् विनाकृतस्तथा यथान्येषु वरेषु मानद।
वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं यथा मृता ह्येवमहं पतिं विना।।
न कामये भर्तृविनाकृता सुखं न कामये भर्तृविनाकृता दिवम्।
न कामये भर्तृविनाकृता श्रियं न भर्तृहीना व्यवसाभि जीवितुम्।।[300]

तदनन्तर 'तथास्तु' कहकर यमराज ने सत्यवान् का बन्धन खोल दिया और उसे वर दिया कि यह तेरे साथ रहकर चार सौ वर्षों की आयु प्राप्त करेगा। यह यशस्वी होगा और तेरे गर्भ से सौ पुत्र उत्पन्न करेगा। वे सभी राजकुमार राजा होने के साथ ही पुत्र-पौत्रों से सम्पन्न होंगे। वे सावित्र नाम से प्रसिद्ध होंगे और तेरे पिता के पुत्र भी मालव नाम से विख्यात होंगे।'[301] तत्पश्चात् सावित्री अपने पति के पास गयी। चेतना आने पर सत्यवान् ने दिव्य पुरुष का दर्शन होने की बात कही, जिसे सुनकर सावित्री ने समझदारी का परिचय देते हुये कहा 'कल प्रातः मैं आपको सम्पूर्ण वृत्तान्त बताऊँगी। अभी आप चलकर माता-पिता का दर्शन कीजिये। सूर्यास्त हो गया है और रात्रि भी अधिक हो गयी है।'[302] यह देखकर कि 'अब मैं स्वस्थ हो गया हूँ और आश्रम पर पहुँचने में देरी भी हो गयी है अतः मेरे माता-पिता मुझे न देखने से अत्यधिक सन्तप्त हो गये होंगे' सत्यवान् दुःखार्त हो रुदन करने लगता है।[303] अपने पति की यह अवस्था देखकर सावित्री ने कहा 'यदि मैंने कोई तपस्या की हो, दान दिया हो और होम किया हो तो मेरी श्वश्रू-श्वसुर और पति के लिये यह रात पुण्यमयी हो। मैंने पहले कभी इच्छानुसार किये जाने वाले क्रीडा-विनोद में भी असत्य कहा हो, मुझे इसका स्मरण नहीं है। उस सत्य के प्रभाव से इस समय मेरे श्वसुर-श्वश्रू जीवित रहें', यथोक्तम्-

यदि मेऽस्ति तपस्तप्तं यदि दत्तं हुतं यदि।। श्वश्रूश्वसुरभर्तृणां मम पुण्यास्तु शर्वरी।
न स्मराम्युक्तपूर्वं वै स्वैरेष्वप्यनृतां गिरम्।। तेन सत्येन तावद्य ध्रियेतां श्वसुरौ मम।[304]

उसके ये वचन श्वश्रू और श्वसुर के प्रति उसकी चिन्ता और श्रेष्ठ भावना को दर्शाने के साथ ही उसे एक श्रेष्ठ पुत्रवधू के रूप में भी प्रमाणित करते हैं। जब सत्यवान् और सावित्री आश्रम में पहुँचकर द्युमत्सेन और शैब्या से मिले, उस समय अन्य तपस्वीजन भी वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने उनसे विलम्ब से आने का कारण पूछा तब सावित्री ने उन्हें सम्पूर्ण

वृत्तान्त से अवगत करवाया।[305] द्युमत्सेन की नेत्रज्योति पुनः लौट आयी और अगले ही दिन उन्हें अपना राज्य भी पुनः मिल गया। दीर्घकाल के पश्चात् सावित्री के गर्भ से कीर्तिवर्धक सौ पुत्र उत्पन्न हुये। उसकी माता मालवी ने भी सौ पुत्रों को उत्पन्न किया। इस प्रकार सावित्री ने स्वयं को, माता-पिता को, श्वश्रू-श्वसुर को तथा पतिकुल को भी महान् संकट से उबार दिया।[306]

पतिव्रता स्त्रियों की प्रशंसा करते हुये स्कन्दपुराण में कहा गया है कि 'स्त्रियाँ अपने अच्छे लक्षणों और विशुद्ध आचरणों से अल्पायु पति को भी दीर्घायु एवं आनन्द का भागी बना देती है। पतिव्रता स्त्री के पुण्य से उसके पिता, माता और पति-इन तीनों कुलों की तीन-तीन पीढ़ियाँ स्वर्गीय सुख भोगती है', यथोक्तम्-

सुलक्षणैः सुचरितैरपि मन्दायुषम्पतिम्। दीर्घायुषम्प्रकुर्वन्ति प्रमदाः प्रमदास्पदम्।।

पितृवंश्या मातृवंष्याः पतिवंश्यास्त्रयस्त्रयः। पतिव्रतायाः पुण्येन स्वर्गसौख्यानि भुंजते।।[307]

सावित्री पतिव्रताओं में श्रेष्ठ स्त्रीरत्न है। उसका चरित्र अनेक विशेषताओं से उपमित है। वह पुत्री, सहधर्मिणी और पुत्रवधू के रूप में आदर्श है। वह स्त्री-जाति का गौरव है। वह आस्थावती, व्रतोपवासशीला, दृढ़ इच्छाशक्ति से युक्त, बुद्धिमती, धर्मज्ञा, परिस्थिति अनुरूप कार्य करने वाली, गम्भीर, मितभाषिणी, स्पष्टवादिनी, सत्यवादिनी, प्रियंवदा, धर्म में स्थिरबुद्धियुक्ता, विनीत, बड़ों का सम्मान करने वाली, अतिथि-सत्कार में निपुण, गृहकार्यों में दक्ष, परिचर्या में कुशल और तत्पर, भर्ताहितैषिणी, शान्तिप्रिय सदाचारिणी स्त्री थी। उसमें त्याग, सहिष्णुता, संयम, आत्मविश्वास, धैर्य का गुण विद्यमान था।

गुणकेशी

'गुणकेशी' इन्द्र के प्रिय सारथि मातलि की कन्या थी; जो अपने रूप के कारण सम्पूर्ण लोकों में विख्यात थी।[308] वह देवरूपिणी थी। वह अपनी शोभा तथा सुन्दर शरीर की दृष्टि से उस समय की सम्पूर्ण स्त्रियों से श्रेष्ठ थी।[309] उसका विवाह मातलि ने नागराज सुमुख के साथ विधिपूर्वक सम्पन्न किया था।[310] वह अपने पिता की प्रिय पुत्री थी।[311] वह सत्य, शील और सद्गुणों से सम्पन्न थी।[312] नारदी जी स्वयं मातलि के साथ नागराज आर्यक के पास उनके पौत्र सुमुख के लिये गुणकेशी के विवाह का प्रस्ताव लेकर आये थे।[313]

तपस्विनी शाण्डिली

'शाण्डिली' ब्राह्मणी एक तपस्विनी स्त्री थी। यह किसी के भी मन की बात जानने में समर्थ थी। जब गालव ऋषि, गरुड़ के साथ ऋषभ पर्वत पर स्थित इस सिद्धा तपस्विनी के आश्रम पर आते हैं तो गरुड़ तथा गालव ऋषि का ये अतिथि-सत्कार करती है।[314] उन्हें बलिवैश्वदेव से बचा हुआ अभिमन्त्रित सिद्धान्न अर्पण करती है जिसे खाकर वे दोनों तृप्त होकर वहीं भूमि पर ही सो गये।[315] कुछ क्षण पश्चात् जैसे ही गरुड़ जगे, उसने स्वयं को दोनों पंखों से रहित देखा।[316] तब गालव ने भी उन्हें उस दशा में देखा तो उनका मन खिन्न हो गया तब उन्होंने गरुड़ से पूछा 'तुमने अपने मन में कौन-सा अशुभ चिन्तन किया है, जो धर्म को दूषित कर रहा है?'[317] तब गरुड़ ने कहा, 'मैंने तो यही सोचा था कि इस सिद्ध तपस्विनी को वहाँ पहुँचा दूँ, जहाँ प्रजापति ब्रह्मा हैं, जहाँ महादेव हैं, जहाँ सनातन विष्णु है तथा जहाँ धर्म एवं यज्ञ है, वही इसे निवास करना चाहिये।[318] तब गरुड़ ने अपने कृत्य के लिये क्षमा याचना करते हुये शाण्डिली से कहा 'आपके प्रति विशेष आदर का भाव होने से ही मैंने इस स्थान पर ऐसा चिन्तन किया है, जो सम्भवतः आपको अभीष्ट नहीं रहा है अतः आप अपने माहात्म्य से मेरे इस अपराध को क्षमा कर दें।[319] यह सुनकर तपस्विनी बहुत संतुष्ट हुयी और उससे कहा, तुम्हारे पंख और भी सुन्दर हो जायेंगे, अतः तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिये। तुम घबराहट छोड़ो।'[320] उसने उन दोनों से पुनः कहा, 'तुमने मेरी निन्दा की है, मैं निन्दा नहीं सहन करती हूँ। जो पापी मेरी निन्दा करेगा, वह पुण्यलोकों से तत्काल भ्रष्ट हो जायेगा। समस्त अशुभ लक्षणों से हीन और अनिन्दित रहकर सदाचार का पालन करते हुये ही मैंने यह उत्तम सिद्धि प्राप्त की है। आचार ही धर्म को सफल बनाता है, आचार ही धनरूपी फल देता है, आचार से मनुष्य को सम्पत्ति प्राप्त होती है और आचार ही अशुभ लक्षणों का भी नाश कर देता है। न तो तुम्हें मेरी और न ही किसी अन्य स्त्री की निन्दा करनी चाहिये', यथोक्तम्-

निन्दितास्मि त्वया वत्स न च निन्दां क्षमाम्यहम्।
लोकेभ्यः सपदि भ्रश्येद् यो मां निन्देत पापकृत्।।
हीनयालक्षणैः सर्वैस्तथानिन्दितया मया। आचारं प्रतिगृह्णन्त्या सिद्धिः प्राप्तेयमुत्तमा।।
आचारः फलते धर्ममाचारः फलते धनम्। आचाराच्छ्रियमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणम्।।
न च ते गर्हणीयाहं गर्हितव्याः स्त्रियः क्वचित्।।[321]

शाण्डिली ब्राह्मणी तेजस्विता, क्षमाशीलता, विनम्रता जैसे उदात्त गुणों से समन्वित सदाचारिणी स्त्री थी। वह स्त्रियों के प्रति आदरणीय दृष्टि रखती थी; उनकी या अपनी निन्दा कभी भी सहन नहीं करती थी अतः स्त्रियों से सम्बन्धित कलुषित विचार भी उनकी दृष्टि में अपराध था।

माधवी

'माधवी' राजा ययाति की रूपगुणसंयुक्ता शीलाचारवती कन्या थी और उन्हें अपनी इस कन्या पर अत्यधिक गर्व था। वह स्वयं ऋषि गालव को अपनी प्रिय पुत्री का परिचय देते हुये कहते है कि 'मेरी पुत्री, चार कुलों की स्थापना करने वाली है। इसकी कान्ति देवकन्या के समान है। यह सम्पूर्ण धर्मों की वृद्धि करने वाली है। इसके रूप-सौन्दर्य से आकृष्ट होकर देवता, मनुष्य तथा असुर सभी जन सदा इसे प्राप्त करने की अभिलाषा रखते हैं।[322] वह अपने पिता की आज्ञाकारिणी पुत्री थी। जब गालव ऋषि ययाति के पास अपने कार्य सम्पादन के लिये आते हैं तो ययाति इसके लिए उन्हें अपनी पुत्री माधवी को सौंप देते हैं और वह सहर्ष अपने पिता की आज्ञानुसार गालव ऋषि के साथ चली जाती है। महर्षि विश्वामित्र ने अपने शिष्य गालव से 'आठ सौ श्यामकर्ण अश्व' गुरुदक्षिणा के रूप में माँगे थे[323] अतः गुरुदक्षिणा देने के लिये ही उन्होंने राजा ययाति के कहने पर ही उनकी पुत्री माधवी को ग्रहण किया था। ययाति ने कहा था कि 'इसके शुल्क के रूप में नृपजन निश्चय ही अपना राज्य भी आपको दे देंगे; फिर आठ सौ श्यामकर्ण अश्वों की तो बात ही क्या है? आप मेरी पुत्री को ग्रहण करें और मुझे यह वर दें कि मैं दौहित्रवान् होऊँ।'[324] ऋषि मालव माधवी को लेकर सर्वप्रथम राजा हर्यश्व के पास जाते हैं और कहते है कि 'मेरी यह कन्या अपनी सन्तानों द्वारा वंश की वृद्धि करने वाली है। तुम शुल्क देकर इसे अपनी भार्या बनाने के लिये ग्रहण करों।'[325] राज हर्यश्व भी उस शुभलक्षणा कन्या को अपनी भार्या के रूप में ग्रहण करना चाहते हैं किन्तु वह केवल दो सौ श्यामकर्ण अश्व ही शुल्क रूप में दे सकते थे अतः राजा ने यही बात ऋषि से कह दी[326] और कहा कि 'मैं इस कन्या से एक सन्तान उत्पन्न करुँगा।'[327] यह सुनकर माधवी ने महर्षि से कहा-मुने! मुझे किसी वेदवेत्ता महात्मा ने यह वर दिया था कि तुम प्रत्येक प्रसव के अन्त में पुनः कन्या ही हो जाओगी अतः आप दो सौ उत्तम अश्व लेकर मुझे राजा को सौंप दें। इस प्रकार चार राजाओं से दो-दो सौ अश्व लेने पर आपके आठ सौ अश्व पूरे हो जायेंगे और मेरे भी चार ही पुत्र होंगे। इसी तरह आप

गुरुदक्षिणा के लिये धन का संग्रह करें, यही मेरी मान्यता है। फिर आप जैसा उचित समझे, वैसा करें।' (मम दत्तो वरः कश्चित् केनचिद् ब्रह्मवादिना।। प्रसूत्यन्ते प्रसूत्यन्ते कन्यैव त्वं भविष्यसि। स त्वं ददस्व मां राज्ञे प्रतिगृह्य हयोत्तमान्।। नृपेभ्यो हि चतुर्भ्यस्ते पूर्णान्यष्टौ शतानि मे। भविष्यन्ति तथा पुत्रा मम चत्वार एव च।। क्रियातामुपसंहारो गुर्वर्थे द्विजसत्तम। एषा तावन्मम प्रज्ञा यथा वा मन्यसे द्विज।)[328]

उसने अपने पिता की आज्ञा का पालन तो किया ही था, साथ ही वह मन में भी यह भावना रखती थी कि गालव ऋषि का कार्य अवश्य पूर्ण होना चाहिये इसीलिये वह समस्या के समाधान के रूप में यह विकल्प प्रस्तुत करती है। यहाँ उसकी विनम्रता, हृदय की पवित्रता, पुत्रवती होने की इच्छा भी प्रकट होती है। महर्षि गालव ने वैसा ही किया। तदनन्तर जब राजा हर्यश्व के माधवी के गर्भ से 'वसुमना' नामक पुत्र की उत्पत्ति हो गयी तब गालव ऋषि शर्त के अनुसार माधवी को लेकर वहाँ से राजा दिवोदास के यहाँ गये।[329] उन्होंने भी दो सौ श्यामकर्ण अश्व शुल्क रूप में देकर, माधवी को पुत्र उत्पन्न होने तक अपने पास रखने की प्रतिज्ञा की। दिवोदास ने माधवी के गर्भ से 'प्रतर्दन' नामक पुत्र उत्पन्न किया[330] फिर माधवी पुनः गालव ऋषि के साथ काशीनरेश की राजलक्ष्मी को त्यागकर राजा उशीनर के पास गयी।[331] उन्होंने भी कन्या के शुल्क रूप में दो सौ अश्व ही देने का सामर्थय बताया। तब ऋषि ने माधवी को राजा उशीनर को यह कहकर सौंप दिया कि आपसे एक पुत्र उत्पन्न करने तक ही यह आपके साथ रहेगी। कालान्तर में माधवी ने उनसे शिबि नामक पुत्र को उत्पन्न किया और तब ऋषि 'वहाँ उपस्थित हुये'[332] और माधवी को लेकर वहाँ से गरुड़ के कथनानुसार ऋषि विश्वामित्र के पास चले गये।[333] माधवी को भी उन्हें ही सौंप दिया[334] क्योंकि शेष दो सौ श्यामकर्ण अश्व उनके अतिरिक्त किसी के पास नहीं थे। माधवी से 'अष्टक' नामक पुत्र की प्राप्ति हो जाने के पश्चात् विश्वामित्र ने उसे पुनः गालव ऋषि को ही लौटा दिया और वे स्वयं वन में चले गये।[335] इस प्रकार ऋषि गुरुदक्षिणा देकर मन-ही-मन बहुत संतुष्ट हुये और माधवी की प्रशंसा करते हुये कहा कि 'तुमने इन पुत्रों के द्वारा अपने पिता को तो तारा ही है, और साथ ही उन चार राजाओं का भी उद्धार कर दिया (तारितस्ते पिता सुतैः, चत्वारश्चैव राजानस्तथा चाहं सुमध्यमे)[336] तथा उसे पुनः उसके पिता ययाति को लौटाकर वह वन में चले गये।[337] ययाति ने पुनः उसके विवाह की इच्छा से स्वयंवर का आयोजन किया किन्तु उसने सभी वरों को छोड़कर तपोवन का ही वररूप में वरण कर

लिया।[338] वह रथ से उतरकर अपने पिता, भाई, बन्धु आदि कुटुम्बियों को नमस्कार करके पुण्यतपोवन में चली गयी और वहाँ तपस्या करने लगी। वह उपवास करके विविध प्रकार की दीक्षाओं तथा नियमों का पालन करती हुयी अपने मन को राग-द्वेषादि दोषों से रहित करके वन में मृगी के समान विचरण करने लगी। उसने ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक महान् धर्म का आचरण किया।[339]

कुछ समय पश्चात् राजा ययाति की मृत्यु हो गयी।[340] किन्तु मोह के वशीभूत होने के कारण मृत्यूपरान्त स्वर्गलोक पहुँचे हुये ययाति का स्वर्गलोक से पतन हो गया और वे पृथ्वी पर तपोवन में आ गिरे।[341] उसी तपोवन में ययाति के चारो दौहित्र एक यज्ञ कर रहे थे।[342] जब उन्होंने ययाति को देखा तो उनसे उनका परिचय पूछा[343] तब माधवी भी वहाँ आ गयी। अपनी माता को पहचानकर उन सभी ने उसे प्रणाम किया और पूछा कि 'आपके यहाँ आने का क्या प्रयोजन है?' 'हम आपकी किस आज्ञा का पालन करें?'[344] यह सुनकर माधवी को अत्यन्त प्रसन्नता हुयी।[345] सदाचारी पुत्रों को पाकर कौन माता प्रसन्न न होगी। उन पुत्रों के सिर पर हाथ रख कर माधवी ने अपने पिता से कहा 'ये सभी आपके दौहित्र और मेरे पुत्र है पराये नहीं है। ये आपको तार देंगे ऐसा पुरातन में देखा गया है। मैंने भी महान् धर्म का संचय किया है। उसका आधा भाग आप ग्रहण करें। सब मनुष्य अपनी सन्तानों के किये हुये सत्कर्मों के फल के भागी होते हैं। इसीलिये वे दौहित्रों की इच्छा करते हैं, जैसे आपने की थी' यथोक्तम्-

दौहित्रास्तव राजेन्द्र मम पुत्रा न ते पराः।। इमे त्वां तारयिष्यन्ति दृष्टमेतत् पुरातने।
ममाप्युपचितो धर्मस्ततोऽर्धं प्रतिगृह्यताम्। यस्माद् राजन् नराः सर्वे अपल्यफलभागिनः।।
तस्मादिच्छन्ति दौहित्रान् यथा त्वं वसुधाधिप।[346]

दौहित्रों ने अपना पुण्य देकर पुनः ययाति को स्वर्गलोक पहुँचा दिया।[347]

माधवी का चरित्र अत्यन्त तेजस्विता से युक्त था। वह साधारण कन्या होकर भी असाधारण बन गयी थी क्योंकि उसे प्रसव पश्चात् पुनः कन्या हो जाने का वर प्राप्त था। इसीलिये वह गालव ऋषि का कार्य सम्पादन करने में सफल हुयी। उसने अपना पुत्री धर्म और पत्नी धर्म का पालन निष्ठापूर्वक किया। सभी राजाओं को उसे भार्या के रूप में ग्रहण करने पर अत्यधिक प्रसन्नता हुयी। उसे योग्य जानकर ही राजाओं ने अपनी भार्या बनाया। किन्तु चार पुत्रों की माता बनकर भी उसका पुत्रवत्सला रूप यहाँ प्रकट नहीं हुआ। इससे

प्रतीत होता है कि वह ममता रहित और अहंकारहित होकर सत्यधर्म के पालन में ही तत्पर थी। अपने पिता द्वारा ऋषि गालव को दिये गये वचन पालन को ही धर्म समझकर उसने अपने कत्र्तव्य का निर्वाह किया। पुनः स्वयंवर का अवसर उपस्थित होने पर, उसने राजवैभव का त्यागकर तपस्या के लिये वन में प्रस्थान किया। उसके द्वारा लिया गया यह निर्णय उसके मन में सांसारिक बन्धनों के प्रति विरक्ति के भाव को दर्शाता है। पुत्री, पत्नी और माता के पद पर प्रतिष्ठित होकर भी वह मोह में नहीं बँधी बल्कि तपश्चर्या पूर्वक उसने महान् धर्म का संचय किया। उसने ऐसे महान् सदाचारी पुत्रों को उत्पन्न किया जिन्होंने उसके पिता को पुनः स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित किया। पद्मपुराण में कहा भी गया है 'पिता कीर्तिमवाप्नोति सुतायाः सुगुणैः प्रिय' अर्थात् पुत्री के उत्तमगुणों से पिता की कीर्ति बढ़ती है।[348]

वह शुभलक्षणों से सम्पन्न, बहुप्रसवधारिणी, ज्ञानवती, सदाचरण से युक्त, गन्धर्वविद्या का ज्ञान रखने वाली[349], सौन्दर्यशालिनी तपस्विनी स्त्री थी। वह धर्मानुरागिणी, सत्यधर्मपरायणा, अतितेजस्विनी थी। उसमें सत्य, धर्म, धैर्य, त्याग, इन्द्रियसंयम, विनयशीलता, सरलता, निर्लोभ, कत्र्तव्यनिष्ठा जैसे उदात्त गुण विद्यमान थे जो उसके चरित्र की शोभ में वृद्धि कर रहे थे।

विदुला

'विदुला' एक क्षत्रिय स्त्री थी, जो उत्तम कुल में उत्पन्न, यशस्विनी, तेजस्विनी, मानिनी, जितेन्द्रिया, क्षत्रियधर्मपरायणा और दूरदर्शिनी थीं। राजाओं की सभा में उनकी बहुत ख्याति थी। वह अनेक शास्त्रों को जानने वाली तथा महापुरुषों के उपदेश सुनकर उससे लाभ उठाने वाली थी, यथोक्तम्-

यशस्विनी मन्युमती कुले जाता विभावरी। क्षधर्मरता दान्ता विदुला दीर्घदर्शिनी।।
विश्रुता राजसंसत्सु श्रुतवाक्या बहुश्रुता।।[350]

एक समय सिन्धुराज से पराजित हो अत्यन्त दीनभाव से घर आकर शयन करने वाले अपने पुत्र की ऐसी अवस्था देखकर उसने अपने पुत्र की अत्यधिक भत्र्सना की और उसे कत्र्तव्यकर्म का उपदेश भी दिया।[351] उसने अपने पुत्र की निन्दा करते हुये कहा 'तू मेरे गर्भ से उत्पन्न हुआ है तो भी मुझे आनन्दित करने वाला नहीं है। तू तो शत्रुओं का ही हर्ष बढ़ाने वाला है, इसलिये मैं समझती हूँ कि तू मेरे गर्भ से उत्पन्न ही नहीं हुआ, तेरे पिता ने

भी तुझे उत्पन्न नहीं किया; फिर तुझ-जैसा कायर कहाँ से आ गया? तू सर्वथा क्रोधशून्य है, क्षत्रियों में गणना करने योग्य नहीं है। तू नाममात्र का पुरुष है। तेरे मन आदि सभी साधन नपुंसकों के समान हैं। क्या तू जीवनभर के लिये निराश हो गया? उठ, और कल्याण के लिये पुनः युद्ध का भार वहन कर। कायर! उठ, इस तरह शत्रु से पराजित होकर शयन न कर। ऐसा करके तू सब शत्रुओं को आनन्द दे रहा है और मान-प्रतिष्ठा से वंचित होकर बन्धु-बान्धवों को शोक में डाल रहा है।[352] जैसे- छोटी नदी थोड़े जल से अनायास ही भर जाती है और चूहे की अंजलि थोड़े अन्न से ही भर जाती है, उसी प्रकार कायर को सन्तोष दिलाना बहुत सुगम है। वह थोड़े से ही सन्तुष्ट हो जाता है। तू शत्रू रूपी साँप के दाँत तोड़ता हुआ तत्काल मृत्यु को प्राप्त हो जा। प्राण जाने का सन्देह हो तो भी शत्रु के साथ युद्ध में पराक्रम ही प्रकट कर। आकाश में निःशंक होकर उड़ने वाले श्येन की भाँति रणभूमि में निर्भय विचरता हुआ तू गर्जना करके अथवा मौन रहकर शत्रु के छिद्र देख।[353] तू तिन्दुक की जलती हुयी लकड़ी के समान थोड़ी देर के लिये भी प्रज्वलित हो उठ परन्तु जीने की इच्छा से भूसी की ज्वालारहित आग के समान केवल धुँआ न कर।[354] क्षणभर भी प्रज्वलित रहना अच्छा है परंतु दीर्घकाल तक धुँआ छोड़ते हुये सुलगना अच्छा नहीं। किसी भी राजा के घर में अत्यन्त कठोर अथवा अत्यन्त कोमल स्वभाव के पुरुष का जन्म न हो। पुत्र! तू धैर्य और स्वाभिमान का अवलम्बन कर। अपने पुरुषार्थ को जान और तेरे कारण डूबे हुये इस वंश का तू स्वयं ही उद्धार कर, यथोक्तम्-

मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्।
मा ह स्म कस्यचिद् गेहे जनि राज्ञः खरो मृदुः।।
कुरु सत्त्वं च मानं च विद्धि पौरुषमात्मानः।
उद्धावय कुलं मग्नं त्वत्कृते स्वयमेव हि।।[355]

वह कहती है कि दान, तपस्या, सत्यभाषण, विद्या तथा धनोपार्जन में जिसके सुयश का सर्वत्र बखन नहीं होता है, वह मनुष्य अपनी माता पुत्र नहीं, मल-मूल मात्र ही है। जो शास्त्रज्ञान, तपस्या, धन-सम्पत्ति अथवा पराक्रम के द्वारा दूसरे लोगों को पराजित कर देता है, वह उसी श्रेष्ठ कर्म के द्वारा पुरुष कहलाता है। लगता है, तेरे रूप में पुत्र के नाम पर मैंने कलि-पुरुष को ही जन्म दिया है।[356] जिस क्षत्रिय के हृदय में अमर्ष है और जो शत्रुओं के प्रति क्षमाभाव धारण नहीं करता, इतने ही गुणों के कारण वह पुरुष कहलाता है। जो

क्षमाशील और अमर्षशून्य है, वह क्षत्रिय न तो स्त्री है और न पुरुष ही कहलाने योग्य है। सन्तोष, दया, उद्योगशून्यता और भय-ये सम्पत्ति का नाश करने वाले हैं। निश्चेष्ट मनुष्य कभी कोई महत्त्वपूर्ण पद नहीं पा सकता, यथोक्तम्-

एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी। क्षमावान् निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुनः पुमान्।।
संतोषो वै श्रियं हन्ति तथानुक्रोश एव च। अनुत्थानभये चोभे निरीहो नाश्नुते महत्।।[357]

वह अपने पुत्र को युद्ध के लिये उत्साहित करते हुये कहती है कि 'जो क्षत्रिय अपने जीवन के लोभ से यशाशक्ति पराक्रम प्रकट करके अपने तेज का परिचय नहीं देता है, उसे सब लोग चोर मानते हैं। सिन्धुराज की प्रजा उससे सन्तुष्ट नहीं है तथापि तेरी दुर्बलता के कारण किंकत्र्तव्यविमूढ हो, उदासीन बैठी हुयी है और सिन्धुराज पर विपत्तियों के आने की प्रतीक्षा कर रही है। दूसरे राजा भी तेरा पुरुषार्थ देखकर इधर-उधर से विशेष चेष्टापूर्वक सहायक साधनों की वृद्धि करके सिन्धुराज के शत्रु हो सकते हैं। तू उन सबके साथ मैत्री करके यथा समय अपने शत्रु पर विपत्ति आने की प्रतीक्षा करता हुआ पर्वतों की दुर्गम गुफा में विचरता रह, क्योंकि वह कोई अजर-अमर तो नहीं है।[358] तेरा नाम तो संजय है परन्तु तुझमें इस नाम के अनुसार गुण मैं नहीं देख रही हूँ। पुत्र! युद्ध में विजय प्राप्त करके अपना नाम सार्थक कर, व्यर्थ संजय नाम न धारण कर (संजयो नामतश्च त्वं न च पश्यामि तत् त्वयि, अन्वर्थनामा भव मे पुत्र मा व्यर्थनामकः)[359] पुत्र! आज तक मैंने या मेरे पति ने किसी ब्राह्मण को उसकी अभीष्ट वस्तु देने से मना नहीं किया हैं हम सदा लोगों के आश्रयदाता रहे हैं, दूसरों के आश्रित कभी नहीं रहे परन्तु अब यदि दूसरे का आश्रय लेकर जीवनधारण करना पड़े तो मैं ऐसे जीवन का परित्याग ही कर दूँगी (सान्यमासाद्य जीवन्ती परित्यक्ष्यामि जीवितम्)[360] तू रूप, यौवन, विद्या और कुलीनता से सम्पन्न है, यशस्वी तथा लोक में विख्यात है। तुझ जैसा पुरुष यदि पराक्रम के अवसर पर भयभीत हो जाय, भारवहन के समय बिना नथे हुये बैल के समान बैठा रहे तो मैं इसे तेरा मरण ही समझती हूँ।[361] फिर विदुला क्षत्रियधर्म का आश्रय लेकर उसे समझाती हुयी कहती है कि 'इस जगत् में जो कोई भी क्षत्रिय उत्पन्न हुआ है और क्षत्रिय धर्म का ज्ञान रखता है, वह भय से अथवा आजीविका की ओर दृष्टि रखकर भी किसी के सामने नतमस्तक नहीं हो सकता। वह सर्वत्र निर्भय विचरण करे और सदा ब्राह्मणों को तथा धर्म को ही नमस्कार करे। वह ससहाय हो अथवा असहाय, पापियों को दण्ड देता हुआ जीवनपर्यन्त वैसा ही उद्यमशील बना रहे।'[362] उसके ऐसे वचन

सुनकर उसके पुत्र ने कहा कि 'माते! तेरा हृदय तो ऐसा जान पड़ता है, मानो काले लौहपिण्ड को पीटकर बनाया गया हो। तू मेरी माता होकर भी इतनी निर्दय है। तेरी बुद्धि वीरों के समान है और तू सदा अमर्ष में भरी रहती है। तू मुझे इस प्रकार युद्ध में लगा रही है मानो मैं किसी अन्य का पुत्र हूँ और तू अन्य की माँ हो। मुझ इकलौते पुत्र से तू ऐसी निष्ठुर बात कहे, आश्चर्य है! मुझे न देखने पर ये सारी पृथिवी भी तुझे मिल जाय तो इससे तुझे क्या सुख मिलेगा?'[363] तब विदुला ने कहा- 'संजय! विद्वानों की सारी अवस्था भी धर्म और अर्थ के निमित्त ही होती है। उन्हीं दोनों की ओर दृष्टि रखकर मैंने भी तुझे युद्ध के लिये प्रेरित किया है। यह तेरे लिये दर्शनीय पराक्रम करके दिखाने का मुख्य समय प्राप्त हुआ है। ऐसे समय में भी यदि तू अपने कत्र्तव्य का पालन नहीं करेगा, उस दशा में सर्वत्र तेरा अपयश फैल जायेगा। ऐसे अवसर पर भी यदि मैं तुझे कुछ न कहूँ तो मेरा यह वात्सल्य खरी (गदही) के स्नेह के समान शक्तिहीन तथा निरर्थक होगा।'[364] उसके ऐसे अनेक वचन सुनकर पुत्र ने कहा 'माते! तुझे अपने मुख से ऐसे विचार नहीं कहने चाहिये अतः तू जड़ और मूक की भाँति मुझ अपने पुत्र को करूणापूर्ण दृष्टि से ही देख।'[365] तब विदुला ने कहा 'तेरे इस कथन से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुयी है। तू इस प्रकार विचार तो करता है। मुझे मेरे कत्र्तव्य की प्रेरणा दे रहा है इसीलिये मैं भी तुझे बार-बार तेरा कत्र्तव्य बता रही हूँ। जब तू समस्त सैन्धवों को मारकर आयेगा, तब मैं तेरा स्वागत करूँगी। मुझे विश्वास है कि तेरी विजय मैं अवश्य देखूँगी।[366] तब विदुला के पुत्र ने उससे कहा कि 'माता! मेरे पास न तो खजाना है और न सहायता करने वाले सैनिक ही हैं। फिर मुझे विजय रूप अभीष्ट की सिद्धि कैसे प्राप्त होगी। तू कोई उत्तम उपाय बता दे। मैं तेरे सम्पूर्ण आदेशों का रीति से पालन करूँगा।'[367] तब विदुला ने उसे कर्ममार्ग की ओर प्रवृत्त कराते हुये कहा-

पुत्र नात्मावमन्तव्यः पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।अभूत्वा हि भवन्त्यर्था भूत्वा नश्यन्ति चापरे।।

सर्वेषां कर्मणां तातफले नित्यमनित्यता।अथ ये नैव कुर्वन्ति नैव जातु भवन्ति ते।।[368]

अर्थात् पुत्र! पहले की सम्पत्ति नष्ट हो गयी है, यह सोचकर तुझे अपनी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये क्योंकि धन-वैभव तो नष्ट होकर पुनः प्राप्त हो जाते हैं और प्राप्त होकर भी फिर नष्ट हो जाते हैं; सभी कर्मों के फल में सदा अनित्यता रहती है परन्तु जो कर्मों का आरम्भ ही नहीं करते, वे तो कभी अपने अभीष्ट की सिद्धि में सफल नहीं होते। अतः तू पुरुषार्थ कर।

जो लोग सिन्धुराज पर कुपित हो, जो लोभी हो, जो क्षीण हो गये, जिन्हें बल और पौरुष पर गर्व हो, जो तेरे शत्रुओं द्वारा अपमानित हो, उन सभी को तू सावधान होकर दान-मान के द्वारा अपने पक्ष में कर ले।[369] पुत्र! "कैसी भी आपत्ति क्यों न आ जाय, राजा को कभी भयभीत नहीं होना चाहिये। यदि वह भयभीत है तो भी डरे हुये के समान कोई व्यवहार न करे। राजा को भयभीत देखकर उसके पक्ष के सभी लोग भयभीत हो जाते है। राज्य की प्रजा, सेना और मन्त्री भी उससे भिन्न विचार रखने लगते है। अभी हमारे पास बहुत धनराशि विद्यमान है जो तुझे विदित नहीं हैं, उसे मैं ही जानती हूँ, वे सभी सुख-दुःख को सहन करने वाले तथा युद्ध से पीछे नहीं हटने वाले हैं।'[370] विदुला के ऐसे वचन सुनकर वह युद्ध के लिये प्रस्तुत हो जाता है तथा उसमें उत्साह और साहस का संचार हो जाता है।

विदुला का चरित्र एक माता के रूप में आदर्श है। उसने अपने पुत्र को कत्र्तव्य का उपदेश दिया, अनेक दृष्टातों के माध्यम से क्षत्रिय धर्म का पालन करने के लिये अपनी ओजस्वी वाणी द्वारा उसे उत्साहित किया। शत्रु से भयभीत होकर दीनभाव से बैठे हुये अपने पुत्र की न केवल उसने निन्दा की, बल्कि उसका उचित मार्गदर्शन कर उसे शत्रुओं को परास्त करनेके उपाय भी बताये। यहाँ उसका पुत्रप्रेम, पुत्र के प्रति चिंता, उसका हित करने की इच्छा स्पष्ट रूप से प्रकट होती है। वह क्षत्रिय धर्म की ज्ञाता, अपने धर्म के प्रति दृढ़ प्रतिज्ञ, कत्र्तव्यनिष्ठ, स्वाभिमानी, अतिथि-सत्कारपरायणा, ब्राह्मणों का आदर करने वाली, धर्माचारिणी, तेजस्विता और ओजस्विता से युक्त, कर्मयोग का ज्ञान रखने वाली, दीर्घदर्शिनी, नीतिनिपुणा, शास्त्रज्ञा, निर्भीक वीर क्षत्राणी थी। उसमें धैर्य, संयम, दृढ़ता, स्पष्टवादिता का गुण विद्यमान था।

अम्बा

'अम्बा' काशिराज कौसल की ज्येष्ठा कन्या तथा अम्बिका और अम्बालिका की अग्रजा थी।[371] काशिराज की कन्याओं के स्वयंवर में भीष्म ने पराक्रम शुल्क देकर अपने भ्राता विचित्रवीर्य के लिये इनका हरण कर लिया और इन्हें हस्तिनापुर लेकर आये।[372] वहाँ पहुँचने के पश्चात् अम्बा ने विवाह कार्य उपस्थित होने पर भीष्म से कुछ लज्जित होकर कहा 'भीष्म! तुम धर्म के ज्ञाता और सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञान में निपुण हो। मेरी बात सुनकर मेरे साथ धर्मपूर्ण व्यवहार करना चाहिये। मैंने अपने मन से पूर्व में ही शाल्वराज को अपने पति रूप में वरण कर लिया है। यह पहले की बात है जो मेरे पिता को भी ज्ञात नहीं है। मैं दूसरे

की कामना करने वाली राजकन्या हूँ। तुम विशेषतः कुरूवंशी होकर राजधर्म का उल्लंघन करके मुझे अपने घर में कैसे रखोगे? शाल्वराज निश्चय ही मेरी प्रतीक्षा करते होंगे; अतः तुम्हें मुझे उनकी सेवा में जाने की आज्ञा देनी चाहिये' यथोक्तम्-

भीष्म त्वमसि धर्मज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः। श्रुत्वा च वचनं धम्र्यं मह्यं कर्तुमिहार्हसि।।
मया शाल्वपतिः पूर्वं मनसाभिवृतो वरः। तेन चास्मि वृता पूर्वं रहस्यविदिते पितुः।।
कथं मामन्यकामां त्वं राजधर्ममतीत्य वै। वासयेथा गृहे भीष्म कौरवः सन् विशेषतः।।
स मां प्रतीक्षते व्यक्तं शाल्वराजो विशाम्पते। तस्मान्मां त्वं कुरुश्रेष्ठ समनुज्ञातुमर्हसि।।[373]

अम्बा ने स्पष्टता से और निडर होकर अपने मन की बात भीष्म के समक्ष रख दी। उसके इन वचनों को सुनकर भीष्म ने अपनी माता सत्यवती से आज्ञा लेकर तथा मन्त्रियों, ऋत्विजों और पुरोहितों से विचार-विमर्श करके उसे वृद्ध ब्राह्मणों के संरक्षण में तथा उसकी धाय के साथ शाल्वराज के यहाँ भेज दिया।[374] राजा शाल्व के यहाँ पहुँचकर अम्बा ने उनसे कहा 'महाबाहो! मैं तुम्हारे पास ही आयी हूँ। मैं सदैव तुम्हारे प्रिय और हित में तत्पर रहने वाली हूँ। मुझे अपनाकर आनन्दित करो। मुझे धर्मानुसार ग्रहण करके धर्म के लिये ही अपने चरणों में स्थान दो। मैंने मन-ही-मन सदा तुम्हारा ही चिन्तन किया है और तुमने भी एकान्त में मेरे साथ विवाह का प्रस्ताव किया था।'[375] किन्तु अम्बा के चरित्र के विषय में सन्देह होने के कारण शाल्व ने यह कहकर उसके प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया कि 'तुम पहले ही दूसरे की हो चुकी हो; अतः तुम्हारी जैसी स्त्री के साथ विवाह करने की मेरी इच्छा नहीं है। तुम पुनः भीष्म के पास जाओ। उसने तुम्हें बलपूर्वक पकड़ा था और तुम उस समय उसके साथ प्रसन्न थी।'[376] शाल्व के मुख से ऐसे वचन सुनकर वह अत्यधिक दुःखी हो जाती है और अपनी पवित्रता को सिद्ध करने के लिये वह कहती है कि 'मैं भीष्म के साथ प्रसन्नतापूर्वक नहीं गयी थी बल्कि उन्होंने मेरा बलपूर्वक अपहरण किया था और मैं रोती हुयी ही उनके साथ गयी थी। मैं निरपराध अबला हूँ। तुम्हारे प्रति ही अनुरक्त हूँ। मैं शपथपूर्वक कहती हूँ; तुम्हारे अलावा मैंने दूसरे किसी वर का चिन्तन नहीं किया है।'[377] ऐसे नाना प्रकार के वचनों द्वारा याचना करने पर भी शाल्व द्वारा अस्वीकार की गयी उस अम्बा ने क्रोध एवं दुःख से व्याप्त अश्रु बहाते हुये ये वचन कहा-

त्वया त्यक्ता गमिष्यामि यत्र तत्र विशाम्पते।
तत्र मे गतयः सन्तु सन्तः सत्यं यथा ध्रुवम्।।[378]

अर्थात् 'राजन्! यदि मेरी कही बात निश्चित रूप से सत्य हो तो तुमसे परित्यक्त होने पर मैं जहाँ-जहाँ जाऊँ, वहाँ-वहाँ साधु पुरुष मुझे सहारा देने वाले हों।' ऐसा कहकर वह नगर से बाहर चली गयी और मार्ग में चिन्तन करने लगी कि 'भाई-बन्धुओं से तो दूर हो ही गयी हूँ। राजा शाल्व ने भी मुझे त्याग दिया है। अब मैं हस्तिनापुर में भी नहीं जा सकती। अब मैं अपनी ही निन्दा करूँ या उस दुर्जय भीष्म की अथवा अपने मूढ पिता को दोष दूँ; जिन्होंने मेरा यह स्वयंवर किया। जिस समय यह युद्ध चल रहा था उसी समय मैं शाल्व के लिये भीष्म के रथ से कूद क्यों नहीं गयी। उसी का यह फल प्राप्त हुआ है कि मैं एक मूर्ख स्त्री की भाँति दारुण विपत्ति में फँस गयी हूँ।'[379] भीष्म को धिक्कार है, विवेकशून्य हृदय वाले मेरे मन्दबुद्धि पिता को भी धिक्कार है, जिन्होंने पराक्रम का शुल्क नियत करके मुझे पण्यस्त्री की भाँति जनसमूह में निकलने की आज्ञा दी है, यथोक्तम्-

धिग् भीष्मं धिक् च मे मन्दं पितरं मूढचेतसम्।
येनाहं वीर्यशुल्केन पण्यस्त्रीव प्रचोदिता।।[380]

अम्बा के इन वचनों में उसका दुःख, विवशता, क्रोध के भाव स्पष्ट रूप से व्यक्त हो रहे हैं। अपने दुःख का भीष्म को ही प्रधान कारण मानकर उसे पराजित करने की इच्छा से वह तपस्वी महात्माओं के आश्रम में जाकर कठोर तपस्या करने का विचार करती है किन्तु तपस्वियों ने विचार-विमर्श करके उसके लिये प्रव्रज्या को अत्यन्त दुःख साध्य मानकर उसे अपने पिता के ही यहाँ सुखपूर्वक निवास करने के लिये कहा।[381] तब अम्बा ने कहा 'मैं पुनः पिता के घर नहीं जाऊँगी क्योंकि वहाँ मुझे बान्धवों के मध्य अपमानित होकर रहना पड़ेगा। मैं तपस्या इसीलिये करना चाहती हूँ, जिससे परलोक में भी मुझे इस प्रकार महान् संकट एवं दुर्भाग्य का सामना न करना पड़े अतः मैं तपस्या ही करूँगी (न शक्यं कशिनगरं पुनर्गन्तुं पितुर्गृहान्। अवज्ञाता भविष्यामि बान्धवानां न संशयः।। यथा परेऽपि मे लोके न स्यादेवं महात्ययः। दौर्भाग्यं तापसश्रेष्ठास्तस्मात् तपस्याम्यहं तपः)[382] अम्बा के इन वचनों में बान्धवजनों से अपमानित होने का भय तथा परलोक में भी ऐसी विपत्ति से बचने की इच्छा स्पष्ट दिखायी देती है। तभी वहाँ अम्बा के मातामह होत्रवाहन आते हैं और उसकी समस्या सुनकर उसे परशुरामजी के पास जाने के लिये कहते हैं।[383] जब वह उनसे मिलती है तो वह उन्हें सम्पूर्ण वृत्तान्त से अवगत कराती है और फिर कहती है कि आप भीष्म और शाल्व इन दोनों के साथ जो उचित हो, वैसा करें।[384] किन्तु वह कहती है कि मेरे मन में सदा यही

इच्छा बनी रहती है कि मैं युद्ध में भीष्म का वध करा दूँ[385] और अन्त में वह परशुराम जी से कहती है कि आप भीष्म का वध कर दीजिये जैसे इन्द्र ने वृत्रासुर का वध किया था। आज आप मेरी इस कामना को पूर्ण कीजिये (तस्मात् कामं ममाद्येमं राम सम्पादयानघ, जहि भीष्मं महाबाहो यथा वृत्रं पुरंदरः)[386] तदनन्तद परशुराम जी ने अपनी शरण में आयी हुयी अम्बा के अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिये कुरुक्षेत्र में पहुँचकर भीष्म को वहाँ बुलाया और अम्बा को ग्रहण करने के लिये कहा किन्तु भीष्म ने अपने प्रतिज्ञा धर्म को अटल बतलाकर अम्बा को ग्रहण करने से मना कर दिया।[387] तब परशुराम और भीष्म के मध्य भयंकर युद्ध हुआ। देवताओं, पितरों और गंगा के कहने पर उनके इस युद्ध की समाप्ति हुयी[388] और परशुराम जी ने अम्बा से कहा कि 'तू भीष्म की ही शरण ले' किन्तु अम्बा ने भीष्म के साथ जाने से मना कर दिया[389] और कहा 'अब मैं वहीं जाऊँगी जहाँ ऐसा बन सकूँ कि समरभूमि में स्वयं ही भीष्म को मार गिराऊँ। यथोक्तम्-

गमिष्यामि तु तत्राहं यत्र भीष्मं तपोधन।
समरे पातयिष्यामि स्वयमेव भृगूद्वह।।[390]

ऐसा कहकर तपस्या का दृढ़ संकल्प लेकर वह वन में चली गयी और उसने वन में रहकर बारह वर्षों तक कठोर तपस्या की।[391] तदनन्तर वह सिद्धों और चारणों द्वारा सेवित वत्स देश की भूमि में गयी और वहाँ अनेक आश्रमों में विचरण करती हुयी, पुण्यतीर्थों में स्नान कर कठोर तपस्या में संलग्न रही।[392] कुछ काल के पश्चात् अम्बा उस तपस्या के प्रभाव से आधे शरीर से तो अम्बा नाम की नदी हो गयी और आधे अंग से वत्सदेश में ही एक कन्या होकर प्रकट हुयी (सा कन्या तपसा तेन देहार्धेन व्यजायत, नदी च राजन् वत्सेषु कन्या चैवाभवत् तदा)[393] उस जन्म में भी भीष्म के वध की इच्छा से, पुरुष शरीर की प्राप्ति के लिये दृढ़निश्चय लेकर तपस्या में प्रवृत्त हुयी[394] क्योंकि वह मानती थी कि उसकी इस दुःखमय स्थिति का कारण भीष्म है, भीष्म के द्वारा उसे अस्वीकार करने तथा पति की प्राप्ति और उसकी सेवा रूप धर्म से वंचित रहने से वह बहुत दुःखी थी।[395] तब भगवान् शिव ने उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर महर्षि समुदाय के बीच में अपने साक्षात् स्वरूप में आकर अम्बा को दर्शन दिये और उसकी इच्छानुसार यह वर दिया कि 'तू अवश्य भीष्म का वध करेगी'।[396] तब अम्बा एक विशाल चिता प्रज्वलित कर क्रोध से जलते हुये हृदय से भीष्म के वध का संकल्प लेकर उस आग में प्रवेश कर गयी (चितां कृत्वा सुमहतीं प्रदाय च

हुताशनम्, प्रदीप्तेऽग्नौ महाराज रोषदीप्तेन चेतसा। उक्त्वा भीष्मवधायेति प्रविवेश हुताशनम्)[397] और कालक्रमानुसार उसी अम्बा ने राजा द्रुपद की पुत्री शिखण्डिनी के रूप में जन्म लिया[398] और वह कालक्रम से स्थूणाकर्ण नामक यक्ष के कारण पुंसत्व को प्राप्त हुयी[399] और शिखण्डिनी से शिखण्डी बनकर भीष्म की मृत्यु का कारण बनी।[400]

साध्वी अम्बा दृढ़व्रता, धैर्यवती, स्वाभिमानिनी, सत्यवादिनी, सदाचारिणी तपस्विनी स्त्री थी। उसमें साहस, विनम्रता, व्रीडिता, वाक्पटुता, व्यंग्य स्पष्टवादिता का गुण विद्यमान था। वह दृढ़निश्चय की पराकाष्ठा का जीवन्त प्रतिमान है। भीष्म का वध करने का संकल्प इतना दृढ़ था कि अपने प्रथम और द्वितीय जन्म में उसने अपने इसी निश्चय को ध्यान में रखकर तपस्या की और तीसरे जन्म में उसे सफलता मिली। स्वयं भगवान् शंकर ने उसे साक्षात् दर्शन दिये और उसे उसका अभिलषित वर प्रदान किया। वह चाहती तो अपने पिता के यहाँ जा सकती थी किन्तु अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिये उसने महलों का सुख त्यागकर तपस्या के कठोर मार्ग का अवलम्बन किया। यहाँ उसके तपस्विनी रूप का ही दर्शन नहीं होता अपितु शाल्व द्वारा किये गये दुर्व्यवहार और भीष्म का उसको हरण करने, पिता द्वारा उसकी इच्छा न पूछने से, एक स्त्री होने के नाते उसे जिस अपमान और दुःख को सहना पड़ा तथा उसके मन में स्त्रीत्व के प्रति विरक्ति का भाव उत्पन्न हुआ और पुंस्त्व की अभिलाषा जगी ये सभी उसके मन के सन्ताप और नैराश्यपूर्ण जीवन को भी परिलक्षित करते हैं।

श्रुतावती

'श्रुतावती' भरद्वाज ऋषि की अप्रतिम सौन्दर्य से युक्त ब्रह्मचारिणी पुत्री थी।[401] एक श्रेष्ठ तीर्थ में निवास करते हुये वह भामिनी[402] बहुत से नियमों को धारण करके अत्यन्त उग्र तपस्या कर रही थी। उसने अपनी तपस्या का यही उद्देश्य निश्चित कर लिया था कि देवराज इन्द्र मेरे पति हों।[403] स्त्रियों के लिये जिनका पालन अत्यन्त दुष्कर एवं दुःसह है, उन-उन कठोर नियमों का पालन करते हुये श्रुतावती के वहाँ अनेक वर्ष व्यतीत हो गये। उसके उस आचरण, तपस्या तथा पराभक्ति से भगवान् इन्द्र बहुत प्रसन्न हुये। वे ब्रह्मर्षि वसिष्ठ का रूप धारण करके उसके आश्रम पर आये।[404] उन्हें देखकर श्रुतावती ने मुनिजनोचित आचारों द्वारा उनका पूजन किया।[405] उस समय कल्याणमयी श्रुतावती ने वसिष्ठ रूपधारी इन्द्र से कहा, 'प्रभो! मेरे लिये क्या आज्ञा हैं। आज मैं यथाशक्ति आपको सबकुछ दूँगी; परन्तु इन्द्र के प्रति

अनुराग रखने के कारण अपना हाथ आपको किसी प्रकार न दे सकूँगी। मुझे अपने व्रतों, नियमों तथा तपस्या द्वारा त्रिभुवनसम्राट् इन्द्र को ही सन्तुष्ट करना है', यथोक्तम्-

भगवन् मुनिशार्दूल किमाज्ञापयसि प्रभो।। सर्वमद्य यथाशक्ति तव दास्यामि सुव्रत।
शक्रभक्त्या च ते पाणिं न दास्यामि कथंचन।।व्रतैश्च नियमैश्चैव तपसा च तपोधन।
शक्रस्तोषयितव्यो वै मया त्रिभुवनेश्वरः।।[406]

उसके ये वचन सुनकर वसिष्ठ रूपधारी इन्द्र ने उसे सान्त्वना देते हुये कहा कि 'तुम्हारे हृदय में जो संकल्प है, वह सब यथार्थ रूप से सफल होगा। तपस्या से सबकुछ प्राप्त होता है। महान् सुख का मूल कारण तपस्या ही है।'[407] मनुस्मृति में भी कहा गया है 'देवों तथा मनुष्यों के सुख की जड़ तप ही है, वह सुख तप से स्थिर रहता है। औषध, नीरोगता, विद्या, देवो की अनेक लोकों में स्थिति- ये सब तप से ही प्राप्त होते हैं। अतएव तप ही इनकी प्राप्ति का कारण है। (तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम्, तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं। औषधान्यगदे विद्या दैवी च विविधा स्थितिः, तपसैव प्रसिध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम्)[408] तब इन्द्र ने श्रुतावती को पाँच बेर के फल देकर उन्हें पकाने के लिये कहा तत्पश्चात् वे वहाँ से चले गये।[409] तदनन्तर शौचाचार से सम्पन्न उस तपस्विनी ने थकावट से रहित हो मौनभाव से उन फलों को आग पर चढ़ा दिया। उन फलों को पकाते हुये उसका बहुत समय व्यतीत हो गया परन्तु वे फल पक न सके। इतने में ही दिन समाप्त हो गया।[410] देवराज इन्द्र ने उसके मनोभाव की परीक्षा लेने के लिये उन बेर के फलों को पकने नहीं दिया।[411] श्रुतावती ने जो ईंधन जमा कर रखा था, वे सब आग में जल गये। तब अग्नि को ईंधन रहित देखकर उसने अपने शरीर को जलाना आरम्भ किया।[412] पहले उसने अपने दोनों पैर आग में प्रक्षिप्त कर दिये। वे ज्यों-ज्यों जलने लगे, त्यों-हि-त्यों वह उन्हें अग्नि के भीतर बढ़ाती गयी। उस साध्वी ने अपने जलते हुये चरणों की किंचित् भी चिन्ता नहीं की (पादौ प्रक्षिप्य सा पूर्वं पावके चारूदर्शना, दग्धौ दग्धौ पुनः पादावुपावर्तयतानघ। चरणौ दह्यमानौ च नाचिन्तयदनिन्दिता)[413] उसके मन में वैमनस्य का भाव उत्पन्न नहीं हुआ और न ही उसकी मुख की कान्ति में कोई अन्तर आया। वह अपने शरीर को अग्नि में जलाकर भी ऐसी प्रसन्न थी, मानो जल के भीतर स्थित हो। उसके मन में निरन्तर इस बात का चिन्तन रहता था कि इन बेर के फलों को हर तरह से पकाना है।[414] श्रुतावती का यह कार्य देखकर इन्द्र बहुत प्रसन्न हुये और उसे अपना यथार्थ स्वरूप दिखाया और कहा कि 'मैं तुम्हारी

तपस्या, नियमपालन और भक्ति से अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ अतः तुम्हारा जो अभीष्ट मनोरथ है, वह पूर्ण होगा। तुम इस शरीर का परित्याग करके स्वर्गलोक में मेरे पास रहोगी। तुम्हारा यह श्रेष्ठ तीर्थ इस जगत् में सुस्थिर होगा, बदरपाचन नाम से प्रसिद्ध होकर सम्पूर्ण पापों का नाश करने वाला होगा।'[415] तत्पश्चात् ऐसा कहकर इन्द्र अपने धाम चले गये और श्रुतावती भी अपनी देह त्याग कर इन्द्र की भार्या हो गयी।[416]

'श्रुतावती' साध्वी, नियमों का ज्ञान रखने वाली, सुन्दरी, स्पष्टवादिनी, उत्तमव्रतधृता, अतिथि-सत्कार में कुशल, प्रियवचन बोलने वाली तपस्विनी स्त्री थी। उसके चरित्र में धैर्य, त्याग, संयम, विनम्रता, सत्यवादिता, चित्त की एकाग्रता, दृढ़निश्चय जैसे उदात्त शोभादायक गुण विद्यमान थे।

वृद्ध कन्या का चरित्र

महायशस्वी कुणिर्गर्ग ऋषि की एक सुन्दरी कन्या थी, जिसे उन्होंने अपने मन से उत्पन्न किया था।[417] कुछ काल के पश्चात् महर्षि का स्वर्गवास होने पर वह कन्या अपने लिये आश्रम बनाकर उग्र तपस्या करते हुये तथा उपवास के साथ-साथ देवताओं और पितरों का पूजन करती हुयी वहाँ रहने लगी (महता तपसोग्रेण कृत्वाऽऽश्रममनिन्दिता। उपवासैः पूजयन्ती पितॄन् देवांश्च सा पुरा)[418] उसके पिता ने अपने जीवनकाल में उसका किसी के साथ विवाह कर देने का प्रयत्न किया; परनतु उस अनिन्द्य सुन्दरी ने विवाह की इच्छा नहीं की। उसे अपने योग्य कोई वर ही नहीं दिखायी देता था।[419] तपस्या के कारण परिश्रम से थक जाने पर भी वह अपने-आपको कृतार्थ मानती रही। धीरे-धीरे वृद्धावस्था और तपस्या ने उसे दुर्बल बना दिया। जब वह स्वयं एक पद भी चलने में असमर्थ हो गयी, तब उसने परलोक में जाने का विचार किया (साऽऽत्मानं मन्यमानापि कृतकृत्यं श्रमान्विता। वार्धकेन च राजेन्द्र तपसा चैव कर्शिता।। सा नाशकद् यदा गन्तुं पदात् पदमपि स्वयम्। चकार गमने बुद्धिं परलोकाय वै तदा)[420] उसकी देहत्याग की इच्छा देख देवर्षि नारद ने उससे कहा, 'तुम्हारा तो अभी विवाह-संस्कार भी नहीं हुआ, तुम तो अभी कन्या हो। फिर तुम्हें पुण्यलोक कैसे प्राप्त हो सकते हैं? तुम्हारे सम्बन्ध में ऐसी बात मैंने देवलोक में सुनी है। तुमने तपस्या तो बहुत बड़ी की है; परन्तु पुण्य लोकों पर अधिकार नहीं प्राप्त किया है।'[421] नारद की यह बात सुनकर वह कन्या ऋषियों की सभा में उपस्थित होकर बोली, 'साधुशिरोमणे! आप में से जो कोई मेरा पाणिग्रहण करेगा, उसे मैं अपनी तपस्या का आधा भाग दे दूँगी' (तपसोऽर्धं प्रयच्छामि

पाणिग्राहस्य सत्तम)[422] उसके ऐसा कहने पर सर्वप्रथम गालव के पुत्र शृंगवान् ऋषि ने उसका पाणिग्रहण करने की इच्छा प्रकट की और उससे कहा कि 'मैं एक शर्त के साथ आज तुम्हारा पाणिग्रहण करूँगा। विवाह के पश्चात् तुम्हें एक रात्रि मेरे साथ रहना होगा। यदि यह स्वीकार हो तो मैं प्रस्तुत हूँ।'[423] उस ऋषिकन्या ने गालवपुत्र शृंगवान् की वह शर्त मान ली और शृंगवान् ने उसके साथ विधिपूर्वक विवाह-संस्कार किया।[424] रात्रि में वह दिव्य वस्त्राभूषणों से विभूषित और दिव्य गन्धयुक्त अंगराग से अलंकृत परम सुन्दरी तरुणी हो गयी। उसने गालवकुमार के साथ एक रात्रि निवास किया। उसके रूप-सौन्दर्य से शृंगवान् बहुत प्रसन्न हुये।[425] प्रातःकाल होते ही ऋषिकन्या ने मुनि से कहा, 'विप्रवर! आपने जो शर्त रखी थी, उसके अनुसार मैं आपके साथ रह चुकी। आपका मंगल हो, कल्याण हो। अब आज्ञा दीजिये, मैं जाती हूँ' (यस्त्वया समयो विप्र कृतो मे तपतां वर। तेनोषितास्मि भद्रं ते स्वस्ति तेऽस्तु व्रजाम्यहम्)[426] प्रस्थान करते समय उसने पुनः कहा, 'जो अपने चित्त को एकाग्र करके इस तीर्थ में स्नान और देवताओं का तर्पण करके एक रात निवास करेगा, उसे अट्ठावन वर्षों तक विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य पालन करने का फल प्राप्त होगा', यथोक्तम्-

सा निर्गताब्रवीद भूयो योऽस्मिंस्तीर्थे समाहितः। वसते रजनीमेकां तर्पयित्वा दिवौकसः।।
चत्वारिंशतमष्टौ च द्वौ चाष्टौ सम्यगाचरेत्। यो ब्रह्मचर्यं वर्षाणि फलं तस्य लभेत सः।।[427]

ऐसा कहकर वह साध्वी तपस्विनी देह त्यागकर स्वर्गलोक में चली गयी।[428] मनुस्मृति में 'तप' को परिभाषित करते हुये कहा गया है कि 'ब्रह्मचर्य, जप, हवन, यथासमय शुद्ध तथा स्वल्प भोजन, राग-द्वेष तथा लोभ का त्याग-इनको ब्रह्मा ने तप कहा है' (ब्रह्मचर्यं जपो होमः काले शुद्धाल्पभोजनम्, अरागद्वेषलोभाश्च तप उक्तं स्वयम्भुवा)[429] 'योग-दर्शन' में भी तप की व्याख्या करते हुये कहा गया है कि 'अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और योग्यता के अनुसार स्वधर्म का पालन करना और उसके पालन में जो शारीरिक और मानसिक अधिक से अधिक कष्ट प्राप्त हो, उसे सहर्ष सहन करना- इसका नाम तप है।'[430] ऋषिकन्या ने 'तप' के प्रभाव से ही अपनी अभीष्ट वस्तु को प्राप्त किया। उसका तपोबल इतना अधिक था कि शृंगवान् ऋषि को अपने तप का आधा भाग देने के पश्चात् भी वह अपने मनोरथ को पूर्ण करने में सफल हुयी तथा जिस स्थान पर उसने एक रात्रि निवास किया उसे भी पुण्यदायक तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध कर दिया। कुणिर्गर्ग की पुत्री के चरित्र की अवलोकन करने से यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि वह ऋषिकन्या तेज, बल, रूप से सम्पन्न थी। वह स्वभाव से

दृढ़ प्रतिज्ञ थी। वह धर्म को जानने वाली, सत्यवादिनी, सत्यप्रतिज्ञ, कर्त्तव्यनिष्ठ, स्वयं को जानने वाली, तपस्यानुरागिणी, यथार्थ को स्वीकार करने वाली, दृढ़निश्चयी स्त्री थी।

कौसल्या

विदेहराज जनक की पतिव्रता पत्नी 'कौसल्या' गृहस्थधर्मों का पालन करने वाली, नीतिनिपुणा स्त्री थी। एक दिन राजा जनक पर मूढ़ता छा गयी और वे धन, सन्तान, स्त्री, नाना प्रकार के रत्न, सनातन मार्ग और अग्निहोत्र का भी त्याग करके अकिंचन हो गये। उन्होंने भिक्षुवृत्ति अपना ली और वे मुष्टिपर्यन्त धान खाकर रहने लगे। उन्होंने सब प्रकार की चेष्टाएँ छोड़ दी। उनके मन में किसी के प्रति ईष्र्या का भाव नहीं रह गया था। इस प्रकार निर्भय स्थिति में पहुँचे हुये अपने स्वामी को देखकर कुपित हुयी कौसल्या ने एकान्त में अपने पति से युक्तियुक्त वचन कहे।[431] उसने कहा कि 'धन-धान्य से सम्पन्न अपना राज्य त्यागकर कापालीवृत्ति अपनाकर मुष्टिपर्यन्त धान आपको शोभा प्रदान नहीं कर रहा है।[432] आपकी प्रतिज्ञा तो कुछ और थी और चेष्टा कुछ और ही दिखायी देती है'। आपने विशाल राज्य का त्याग कर थोड़ी-सी वस्तु में सन्तोष कर लिया' (प्रतिज्ञा तेऽन्यथा राजन् विचेष्टा चान्यथा तव। यद् राज्यं महदुत्सृज्य स्वल्पे तुष्यसि पार्थिव)[433] वह कहती है 'राजन्! इस मुष्टिपर्यन्त धान से देवताओं, ऋषियों, पितरों तथा अतिथियों का आप भरण-पोषण नहीं कर सकते, अतः आपका यह परिश्रम व्यर्थ हैं तीनों वेदों के ज्ञान में बढ़े-चढ़े सहस्रो ब्राह्मणों तथा इस सम्पूर्ण जगत् के भर्ता होकर भी आज आप उन्हीं के द्वारा अपना भरण-पोषण चाहते हैं। आज आपके जीते-जी आपकी माता पुत्रहीन और यह कौसल्या पतिहीन हो गयी। ये धर्म की इच्छा रखने वाले क्षत्रिय जो सदैव आपकी सेवा में स्थित है, आपसे आशाएँ रखते हैं, इन कृपणों को सेवा का फल चाहिये। राजन्! मोक्ष की प्राप्ति संशयास्पद है और प्राणी प्रारब्ध के अधीन हैं। ऐसी अवस्था में उन अर्थार्थी सेवकों को यदि आप विफल-मनोरथ करते हैं तो पता नहीं किस लोक में जायेंगे? आप अपनी धर्मपत्नी का परित्याग करके जो अकेला जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, इससे आप पापकर्मा बन गये हैं; अतः आपके लिये न यह लोक सुखद होगा, न परलोक।'[434] वह पुनः कहती है, 'यदि यहाँ मुष्टिपर्यन्त धान की आवश्यकता बनी ही रह गयी तो सब कुछ त्याग देने की जो आपने प्रतिज्ञा की थी, वह नष्ट हो गयी। (सर्वत्यागी हो जाने पर) मैं आपकी कौन हूँ और आप मेरे कौन हैं आपका मुझ पर अनुग्रह

भी क्या है? यदि आपका मुझ पर अनुग्रह हो तो इस पृथ्वी का शासन कीजिये और प्रासाद, शयन, यान, वस्त्र तथा आभूषणों को भी उपयोग में लाइये।

धानामुष्टेरिहार्थश्चेत् प्रतिज्ञा ते विनश्यति। का वाहं तव को मे त्वं कश्च ते मय्यनुग्रहः।।

प्रशाधि पृथिवीं राजन् यदि तेऽनुग्रहो भवेत्। प्रासादं शयनं यानं वासांस्याभरणानि च।।[435]

वह 'दान' के विषय में बतलाते हुये कहती है कि 'जो निरन्तर दूसरों से दान लेता तथा जो निरन्तर स्वयं ही दान करता रहता है, उन दोनों में क्या अन्तर है और उनमें से किसको श्रेष्ठ कहा जाता है? यह आप समझिये। सदा ही याचना करने वाले को और दम्भी को दी हुयी दक्षिणा दावानल में दी गयी आहुति के समान व्यर्थ है। जैसे अग्नि काष्ठ को जलाये बिना नहीं बुझती, उसी प्रकार सदा ही याचना करने वाला ब्राह्मण कभी शान्त नहीं हो सकता।'[436] इस संसार में दाता का अन्न ही साधु पुरुषों की जीविका का निश्चित आधार है। यदि दान करने वाला राजा न हो तो मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले कैसे जीवनधारण कर सकते हैं? इस जगत् में अन्न से गृहस्थ और गृहस्थों से भिक्षुओं का निर्वाह होता है। अन्न से प्राणशक्ति प्रकट होती है; अतः अन्नदाता प्राणदाता होता है।[437] मार्कण्डेयपुराण में गृहस्थाश्रम की महिमा के विषय में कहा गया है कि 'गृहस्थाश्रम ही समस्त आश्रमों का आधारभूत तथा कामधेनु के समान है जिस पर सम्पूर्ण संसार प्रतिष्ठित है तथा जो विश्व का कारण है।' (सर्वस्याधारभूतेयं वत्स धेनूस्त्रयीमयी। यस्यां प्रतिष्ठितं विश्वं विश्वहेतुश्च या मता)[438] और मुण्डकोपनिषद् में 'अन्नशक्ति' की महिमा के विषय में कहा गया है कि 'तप के द्वारा ब्रह्म कुछ उपचय को प्राप्त हो जाता है, उसी से अन्न उत्पन्न होता है। फिर अन्न से क्रमशः प्राण, मन, सत्य, लोक, कर्म और कर्म से अमृतसंज्ञक कर्मफल उत्पन्न होता है' (तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते। अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्।।)[439] वह पुनः कहती है कि केवल मूढता से, त्याग से और याचना करने से किसी को भिक्षु नहीं समझना चाहिये। जो सरल भाव से स्वार्थ का त्याग करता है और सुख में आसक्त नहीं होता उसे ही भिक्षु जानिये (त्यागान्नं भिक्षुकं विद्यान्न मौढ्यान्न च याचनात्, ऋजुस्तु योऽर्थं त्यजति न सुखं विद्धि भिक्षुकम्)[440] बहुत से मूर्ख मनुष्य तीनों वेदों के अध्ययन, इनमें बताये गये कर्म, कृषि, गौरक्षा, वाणिज्य तथा अपने पुत्रों का परित्याग करके चले जाते हैं एवं त्रिदण्ड और भगवावस्त्र धारण कर लेते हैं।[441] यदि हृदय का कषाय दूर न हुआ हो तो काषाय वस्त्र धारण करना स्वार्थ-साधन की चेष्टा के लिये ही समझना चाहिये। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि धर्म

का ढोंग रचने वाले मुंडों के लिये यह जीविका चलाने का एक व्यापार मात्र है।'[442] महाराज! आप तो जितेन्द्रिय होकर नग्न रहने वाले मूड मुड़ाने और जटाधारी साधुओं का काषायवस्त्र, मृगचर्म एवं वल्कल वस्त्रों के द्वारा भरण-पोषण करते हुये पुण्यलोकों पर विजय प्राप्त कीजिये।[443] इस प्रकार अपनी मनस्विनी और धर्मपरायणा पत्नी के सांगोपांग वचनों को सुनकर राज जनक उसके प्रति दोष-दृष्टि न रखते हुये अपनी संन्यासी वृत्ति का त्यागकर पूर्ववत् स्वकार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं। यहाँ कौसल्या उनकी प्रेरक शक्ति के रूप दिखायी देती है।

रानी कौसल्या धर्मज्ञा, धर्माचारिणी, गुणवती, पतिव्रता, नियमज्ञा, परिस्थिति के अनुसार आचरण करने वाली, बुद्धिमती स्त्री थी। वह कत्र्तव्यपरायणा, धर्म के प्रति निष्ठा रखने वाली और दूरदर्शिनी थी। जब उसने अपने 'तत्त्वज्ञ पति की ऐसी अवस्था देखी तो उसने भली-भाँति विचार करके ही अपने पति से अवसरानुकूल वचन कहने का निश्चय किया। सर्वप्रथम उसने उन्हें उपालम्भ दिया फिर राजा के कत्र्तव्यों के बारे में बताकर, उस कत्र्तव्यपालन की आवश्यकता के बारे में बताया। तत्पश्चात् पतिधर्म को विस्मृत कर भिक्षुवृत्ति अपनाने वाले अपने पति के इस कार्य पर वह विरोध प्रकट करती है। फिर गृहस्थधर्मपालन और अन्नदान की महिमा का वर्णन करती हुयी वह 'भिक्षु' के वास्तविक स्वरूप का उन्हें परिचय कराती है। वह भिक्षुवृत्ति का आश्रय लेकर जीवन जीने वाले पाखण्डी जनों की भत्र्सना करती है फिर अपने पति से स्वधर्मपालन का आग्रह करती है। कौसल्या के चरित्र में स्वधर्मपालन के प्रति समर्पण का उदात्त गुण समाहित था।

सुवर्चला

सर्वशास्त्रार्थकोविद ब्रह्मर्षि देवल की पुत्री का नाम 'सुवर्चला' था। वह यशस्विनी कन्या समस्त शुभलक्षणों से सम्पन्न थी। वह न तो अधिक ह्रस्व थी, न अधिक कृश और न अधिक दीर्घ थी।[444] अपनी इस शुभलक्षणा पुत्री की विवाह योग्य अवस्था होने पर महर्षि देवल उसके विवाह के विषय में यह सोचकर चिन्तामग्न थे कि 'अपनी पुत्री के लिये योग्य वर कहाँ से सुलभ हो सकता है।'[445] एकान्त में बैठकर चिन्तन करते हुये अपने पिता के पास जाकर सुवर्चला ने कहा 'पिताजी! आप परम बुद्धिमान्, विद्वान् और मुनि हैं। आप मुझे ऐसे पति के हाथ में सौंपियेगा जो अन्धा भी हो और अनन्ध भी हो, मेरी इस प्रार्थना को सदा स्मरण रखियेगा, यथोक्तम्-

इत्येवं चिन्तयानं तं रहस्याह सुवर्चला।

अन्धाय मां महाप्राज्ञ देह्यनन्धाय वै पितः।।[446]

यहाँ एक पिता का अपनी कन्या के प्रति स्नेह और विवाह सम्बन्धी चिन्ता का भाव सहज रूप से प्रकट हो रहा है और साथ ही सुवर्चला की वर चयन सम्बन्धी विचारों की अभिव्यक्ति, इस तथ्य को प्रकट करती है कि तत्कालीन समय में ऋषि कन्या को विवाह के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करने की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। किसी भी मनुष्य के लिये स्वयं को जानना महत्त्वपूर्ण होता है और सुवर्चला इस बात को भली-भाँति जानती भी थी और इसे स्वीकार भी करती थी कि कोई वेदवेत्ता पति ही उसका भरण-पोषण कर सकता है। सुवर्चला के अपने पिता से कहे गये इस कथन की अभिव्यक्ति जितनी सहज और सरल थी, उससे कहीं अधिक कठिन था ब्रह्मर्षि देवल के लिये इसे वास्तविकता में क्रियान्वित करना क्योंकि महर्षि इस कथन की गम्भीरता समझते थे अतः उन्हें यह असम्भव प्रतीत हो रहा था। अतः उन्होंने दुःखी होकर सुवर्चला से कहा कि पुत्री! तुम्हारी यह प्रार्थना पूर्ण हो सके, ऐसा तो मुझे नहीं प्रतीत होता है क्योंकि एक ही व्यक्ति नेत्रवाला भी हो और नेत्रहीन भी हो, यह कैसे सम्भव है? तुम्हारी यह बात सुनकर मेरे मन में खेद होता है। तुम उन्मत्त सी होकर अशुभ बात कह रही हो।'[447] तब सुवर्चला ने अपने पिता से कहा 'पिताजी! मैं उन्मत्त नहीं हूँ। मैं बुद्धि से भलीभाँति विचारकर ही आप से ऐसी बात कह रही हूँ। यदि ऐसा कोई वेदवेत्ता पति प्राप्त हो जाये तो वह मेरा भरण-पोषण कर सकता है। आप जिन ब्राह्मणों के हाथ में मुझे देना चाहते हैं, उन सभी को यहाँ बुलवा लीजिये। मैं उन्हीं में से अपनी इच्छानुसार योग्य पति का वरण कर लूँगी। यथोक्तम्-

नाहमुन्मत्तभूताद्य बुद्धिपूर्वं ब्रवीमि ते। विद्यते चेत् पतिस्तादृक् स मां भरति वेदवित्।।

येभ्यस्त्वं मन्यसे दातुं मामिहानय तान् द्विजान्। तादृशं तं पतिं तेषु वरयिष्ये यथातथम्।।[448]

महर्षि देवल ने अपनी पुत्री की इच्छानुसार बहुत से योग्य ब्राह्मणों को अपने आश्रम पर आमन्त्रित किया। उस कन्या के प्रभाव को जानकर अनेक श्रेष्ठ ब्राह्मण महर्षि के आश्रम पर आये। तब महर्षि ने उनमें से किसी एक का अपने पतिरूप में वरण करने के लिये अपनी पुत्री से कहा। तब सुवर्चला ने पुनः अपनी वही बात दोहराई किन्तु सर्वलक्षणसम्पन्ना कल्याणमयी सुवर्चला के विचारों से अवगत होने पर उसे अबोध समझकर वे सभी श्रेष्ठ ब्रह्मण कुपित हो मन ही मन महर्षि की निन्दा करते हुये जैसे आये थे, वैसे ही लौट गये।[449]

तदनन्तर कुछ समय पश्चात् उद्दालकपुत्र श्वेतकेतु, सुवर्चला के अभिप्राय को समझकर महर्षि देवल के आश्रम पर आये तब उन्होंने अपनी पुत्री से कहा कि 'ये महाप्राज्ञ और वेद-वेदांगों के पारंगत विद्वान् हैं, तुम इनका वरण कर लो।' पिता की यह बात सुनकर सुवर्चला ने कुपित हो ऋषिकुमार की ओर देखा तब ब्रह्मर्षि श्वेतकेतु ने सुवर्चला से कहा 'भद्रे! मैं वही हूँ, तुम्हारे लिये ही आया हूँ। मैं अन्ध हूँ, यह यथार्थ है। मैं अपने मन में सदा ऐसा मानता भी हूँ। साथ ही मैं सन्देह रहित होने के कारण विशाल नेत्रों से युक्त भी हूँ। ऐसा ही तुम मुझे समझो। तत्पश्चात् ऋषिकुमार ने अन्धत्व और अनन्धत्व की व्याख्या की और कहा कि मैं तुम्हार उचित शुल्क चुकाने का निश्चय कर चुका हूँ और तुम्हारा भरण-पोषण करने में समर्थ हूँ। अतः तुम मेरा वरण करो।'[450] उसके वचनों से सन्तुष्ट होकर सुवर्चला ने ऋषिकुमार से कहा कि 'विद्वन्! मैंने अपने हृदय से आपका वरण कर लिया। शास्त्रों में कथित शेष कार्यों को करने वाले मेरे पिताजी हैं। आप, उनसे मुझे माँग लीजिये। यही वेदविहित मर्यादा है।' यथोक्तम्-

मनसासि वृतो विद्वन् शेषकर्ता पिता मम।
वृणीष्व पितरं मह्यमेष वेदविधिक्रमः।।[451]

तदनन्तर श्वेतकेतु ने विधिपूर्वक सुवर्चला का पाणिग्रहण किया और उससे कहा कि 'वेदों में जिन शुभकर्मों का विधान है, मेरे साथ रहकर उन सबका यथोचित रूप से अनुष्ठान करो और यथार्थ रूप से मेरी सहधर्मचारिणी बनो।' लोकव्यवहार की सिद्धि तथा आत्मकल्याण के लिये कर्मों के अनुष्ठान करने का उपदेश देकर श्वेतकेतु ने सुवर्चला के गर्भ से अनेक पुत्र उत्पन्न किये। अपने अनुरूप पत्नी को पाकर श्वेतकेतु उसी प्रकार सुशोभित होते थे, जैसे बुद्धि को पाकर क्षेत्रज्ञ। वे दोनों लोकान्तर में भी पहुँच जाते थे और इस जगत् में साक्षी की भाँति स्थित होकर प्रसन्नतापूर्वक विचरते थे।[452]

एक दिन सुवर्चला ने अपने पति से हृदय-गुफा में शयन करने वाले 'आत्मा' के विषय में पूछा (सा तमाह महात्मानं पृच्छामि हृदि शायिनम्)[453] तब श्वेतकेतु ने कहा 'आत्मा में अहम् यह भाव स्थापित किया गया है। तुममें भी वही भाव है। तुम भी अहम्, मैं भी अहम् और यह सब अहम् का ही रूप है। इसमें वह परमार्थतत्त्व नहीं है; फिर किसलिये पूछती हो?' यह सुनकर सुवर्चला बहुत प्रसन्न हुयी और उसने कहा, 'ब्रह्मर्षे! अनेक प्रकार के विरोध से क्या प्रयोजन? सदा इस नाना प्रकार के क्रिया-कलाप में पड़कर आपका ज्ञान लुप्त होता जा

रहा हैं अतः आप मुझे इसका कारण बताइये, क्योंकि मैं आपका अनुसरण करने वाली हूँ।' (किमनेकप्रकारेण विरोधेन प्रयोजनम्। क्रियाकलापैब्रह्मर्षे विरोधेन प्रयोजनम्।। तन्मे ब्रूरहि महाप्राज्ञ यथाहं त्वामनुव्रता।)[454]

तब श्वेतकेतु ने सुवर्चला के मन में उत्पन्न शंका को दूर करने के उद्देश्य से कहा कि 'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं, वहीं दूसरे लोक भी करते है; अतः हमारे कर्म त्याग देने से यह सारा जनसमुदाय संकरता के दोष से दूषित हो जायेगा। इस प्रकार धर्म में संकीर्णता आने पर प्रजा में वर्णसंकरता फैल जाती है और संकरता फैल जाने पर सर्वत्र मत्स्यन्याय की प्रवृत्ति हो जाती है। तुम्हें भी जगत् की रक्षा के लिये लोकमर्यादा का पालन करना चाहिये। इसमें संशय नहीं है। मैं भी इसी भाव से लोक-मर्यादा की रक्षा में स्थित हूँ।'[455] अपने पति के ये वचन सुनकर सुवर्चला ने आत्मतत्त्व को जानने की इच्छा से उनसे अनेक प्रश्न किये और उन सभी प्रश्नों के श्वेतकेतु ने उत्तर दिये। इस प्रकार अपने पति के यथार्थ उपदेश देने पर सुवर्चला आनन्दमग्न हो गयी। वह निरन्तर तत्त्वज्ञाननिष्ठ रहकर तदनुरूप आचरण करने लगी, यथोक्तम्-

एवं सुवर्चला हृष्टा प्रोक्ता भत्र्रा यथार्थवत्।
परिचर्यमाणा ह्यनिशं तत्त्वबुद्धिसमन्विता।।[456]

इस प्रकार दीर्घकाल तक परमात्मचिन्तन करके सुवर्चला ने अपने पति के साथ परमगति को प्राप्त किया।[457]

सुवर्चला के चरित्र का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि वह कोई साधारण कन्या नहीं थी। उसके द्वारा जो विवाह सम्बन्धी शर्त रखी गयी थी, उससे उसका ब्रह्मतत्त्वविषयक प्रेम भी सहज रूप से परिलक्षित हो रहा था। वह रूपवती, ज्ञानचक्षुसम्पन्ना और शुभचारिणी कन्या थी। उसमें निर्भीकता और स्पष्टवादिता का गुण विद्यमान था इसीलिये उसने वेदवेत्ता महर्षियों के मध्य निस्संकोच अपनी विवाह सम्बन्धी शर्त को उनके समक्ष रखा था। वेदवेदांग के ज्ञाता श्वेतकेतु को पति रूप में प्राप्त कर वह अत्यधिक प्रसन्न थी और उसने उनकी आज्ञा के अनुरूप ही उनकी वास्तविक रूप में सहधर्मचारिणी बनकर, ज्ञानाग्नि द्वारा 'अहं' भाव को नष्ट करके, ममता रहित होकर लोकव्यवहार की सिद्धि तथा आत्मकल्याण के लिये ही कर्मों का अनुष्ठान किया। पति के प्रिय तथा हितसम्पादन करती हुयी वह पति के साथ ही आत्मयोग में नित्य तत्पर रहकर निद्र्वन्द्व एवं परिग्रहशून्य हो

गयी और निरन्तर अपने पति के साथ परमात्मतत्त्वचिन्तन में लीन रहते हुये ही उसने अपने पति के साथ ही परागति प्राप्त की। इससे उसके पतिव्रता होने का ज्ञान होता है। महर्षि पतंजलि ने अपने ग्रन्थ 'योगदर्शन' में कहा है कि 'सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्'[458] अर्थात् सत्त्व और पुरुष जो कि दोनों परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, इन दोनों की जो प्रतीति का अभेद है, वही भोग है; परार्थ-प्रतीति से भिन्न जो स्वार्थ-प्रतीति है, उसमें संयम करने से पुरुष के स्वरूप का ज्ञान होता है। वहाँ उल्लेख है कि 'अपरिग्रह' योग के आठ अंगों के अन्तर्गत आता है (अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यपरिग्रहा यमाः)[459] पतिव्रतास्त्री के कत्र्तव्यों का उल्लेख करते हुये श्रीमद्भागवतमहापुराण में कहा गया है कि 'वह अपने पति की छोटी-बड़ी सभी इच्छाओं को समय के अनुसार पूर्ण करे। विनय, इन्द्रिय-संयम, सत्य एवं प्रिय वचनों से प्रेमपूर्वक पतिदेव की सेवा करे', यथोक्तम्-

कामैरुच्चावचैः साध्वी प्रश्रयेण दमेन च।
वाक्यैः सत्यैः प्रियैः प्रेम्णा काले काले भजेत् पतिम्।।[460]

अतः सुवर्चला शोभन आचार से युक्त, धैर्य, त्याग, संयम, विवेक, सन्तोष, सत्य, सरलता, ज्ञान जैसे उदात्त गुणों से युक्त, भगवत्परायणा पतिव्रता स्त्री थी।

सुलभा

मोक्षधर्म पर्व में 'सुलभा' नाम वाली एक संन्यासिनी का वर्णन प्राप्त होता है, जो योगधर्म के अनुष्ठान द्वारा सिद्धि प्राप्त कर अकेली ही इस पृथ्वी पर विचरण करती थी (योगधर्ममनुष्ठितामहीमनुचचारैका सुलभा नाम भिक्षुकी)[461] उस समय मिथिलापुरी में 'धर्मध्वज' नाम से प्रसिद्ध राजा जनक राज्य करते थे। उन्होंने वेद में, मोक्षशास्त्र में तथा अपने शास्त्र (दण्डनीति) में बहुत परिश्रम किया था। वे इन्द्रियों को एकाग्र करके वसुन्धरा का शासन करते थे। वेदों के ज्ञाता विद्वान् पुरुष उनकी उस साधुवृत्ति का समाचार सुनकर उन्हीं के समान सज्जन होने की इच्छा करते थे।[462] इस सम्पूर्ण जगत् में भ्रमण करती हुयी सुलभा ने यत्र-तत्र अनेक स्थानों में त्रिदण्डी संन्यासियों के मुख से मोक्षतत्त्व के सम्बन्ध में राज जनक की प्रशंसा सुनी। उनके परब्रह्मविषयक ज्ञान की वार्ता दूसरों के मुख से सुनकर उसके मन में यह सन्देह हुआ कि इनके विषय में जो बातें सुनी जाती हैं, वे सत्य है या नहीं।[463] अतः उसके मन में राज जनक के दर्शन का संकल्प उत्पन्न हुआ फिर उसने

योगशक्ति से अपना पूर्वरूप त्यागकर दूसरा परम सुन्दर रूप धारण कर लिया और जनसमुदाय से भरी हुयी मिथिलानगर में पहुँचकर सुलभा ने भिक्षा लेने का व्याज से राजा जनक के दर्शन किये।[464] उसके रूप को देखकर राजा आश्चर्यचकित हो उसके विषय में विचार करने लगे कि 'यह कौन है, किसकी है अथवा कहाँ से आयी है? तदनन्तर उसका यथोचित आदर-सत्कार कर उसे संतुष्ट किया। तत्पश्चात् अपने सन्देह के निवारण के लिये सुलभा ने मंत्रिसमुदाय से घिरे राजा से कुछ प्रश्न करने के उद्देश्य से अपनी सूक्ष्म बुद्धि द्वारा राजा की बुद्धि में प्रवेश किया।[465] उसने योगबल से अपने नेत्रों की किरणों द्वारा उनके नेत्रों की किरणों को संयत करके उनके चित्त को बाँधकर उन्हें वश में कर लिया, यथोक्तम्-

नेत्राभ्यां नेत्रयोरस्य रश्मीन् संयम्य रश्मिभिः।
सा स्म तं चोदयिष्यन्ती योगबन्धैर्बबन्ध ह।।[466]

राज जनक, 'सुलभा' के अभिप्राय को समझ गये। उन्होंने सुलभा से उनका परिचय और उद्देश्य पूछा।[467] फिर कहा कि 'किसी से पूछे बिना उसके शास्त्रज्ञान, अवस्था और जाति के विषय में यथार्थ बात नहीं ज्ञात होती; अतः मेरे साथ जो तुम्हारा समागम हुआा है, इस अवसर पर इन सब विषयों की जानकारी के लिये यथार्थ उत्तर जानना आवश्यक है।'[468] यह कहकर राजा पुनः साभिमान बोले, आप मुझे यथार्थ रूप से जान लें। महात्मा पंचशिख से शिक्षित होकर त्रिविध मोक्ष धर्म के ज्ञान द्वारा समस्त संसर्गों का त्यागकर गृहस्थ धर्म में रहते हुये ही मैं बुद्धि की परमनिद्र्वन्द्वता को प्राप्त कर चुका हूँ और अकेला ही परमपद में स्थित हूँ अतः आप मुझे जीवन्मुक्त समझें[469] किन्तु आपको देखकर मुझे गहन आश्चर्य हो रहा है क्योंकि सुकुमारता, सौन्दर्य, मनोहर शरीर तथा यौवनावस्था- ये सभी वस्तुएँ योग के विरुद्ध हैं; फिर भी आपमें इन सब गुणों के साथ-साथ योग और नियम भी हैं ही, यह कैसे सम्भव हुआ? यही मेरे मन में सन्देह है। संन्यासियों के जो लक्षण हैं, उनके अनुरूप आपकी कोई चेष्टा नहीं है।[470] 'मैं जीवनमुक्त हूँ या नहीं' यह भाव आपके हृदय में प्रच्छन्नभाव से विद्यमान था। मेरी परीक्षा के लिये ही आपने मेरे शरीर पर बलात् अधिकार करके स्वयं को अनेक दोषों से युक्त कर लिया है और इसके साथ ही आपका श्रवण किया हुआ शास्त्रज्ञान भी व्यर्थ हो गया है अतः मुझे आप दुष्टस्वभाव वाली स्त्री प्रतीत होती हैं अन्यथा किस उद्देश्य से आपने मेरे नगर में अथवा सभा में प्रवेश किया है। आप अपनी विजय चाहती हैं। आपने केवल मुझे ही जीतने की इच्छा नहीं की है अपितु यह जो मेरी सम्पूर्ण सभा यहाँ स्थित है,

इसे भी जीतना चाहती है। इस प्रकार अनेक वचन कहकर राज पुनः उससे उसका यथार्थ प्रयोजन पूछते हैं।[471] सुलभा तो योगिनी थी अतः शान्तचित्त होकर राजा के वचनों का ध्यानपूर्वक श्रवण कर रही थी। राजा जनक के इन दुःखजनक, अयोग्य और असंगत वचनों द्वारा तिरस्कृत होकर भी वह किंचित् मात्र भी विचलित नहीं हुयी (इत्यैतैरसुखैर्वाक्यैरयुक्तैसमंजसैः। प्रत्यादिष्टा नरेन्द्रेण सुलभा न व्यकम्पत)[472] उसने निर्विकार रहकर अत्यन्त मधुर वाणी में राजा से 'वाक्य, वाक्य के अर्थ इत्यादि की व्याख्या करते हुये कहा', 'आप स्थिरचित्त एवं एकाग्र होकर यह वाक्यसम्पत्ति से युक्त सार्थक वचन सुनिये।[473] आपने जो मुझसे मेरा परिचय और प्रयोजन पूछा था, उसके उत्तर में मेरा यह कथन सुनिये।' राजन्! जैसे काठ के साथ लाह और धूल के साथ जल की बूँदें मिलकर एक हो जाती हैं, उसी प्रकार इस जगत् में प्राणियों का जन्म कई तत्त्वों के मेल से होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तथा पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ-ये आत्मा से पृथक् होने पर भी काष्ठ में संश्लिष्ट लाह के समान आत्मा के साथ जुड़े हुये हैं; परन्तु इनमें स्वतन्त्र कोई प्रेरणा-शक्ति नहीं है। यही विद्वानों का मत है; यथोक्तम्-

यथा जतु च काष्ठं च पांसवश्चोदबिन्दवः। संश्लिष्टानि तथा राजन् प्राणिनामिह सम्भवः।
शब्दः स्पर्शो रसो रूपं गन्धः पंचेन्द्रियाणि च। पृथगात्मा आत्मानं संश्लिष्टा जतुकाष्ठवत्।।
न चैषां चोदना काचिदस्तीत्येष विनिश्चयः।[474]

ये सभी इन्द्रियाँ और विषय परस्पर एक-दूसरे से मिले होने पर भी एक-दूसरे को नहीं जान सकते। विद्वान् प्रकृति को ही सम्पूर्ण भूतों का उपादान कारण समझते हैं। राजन्! गर्भ में नौ मास पूर्ण हो जाने पर जीव जन्म ग्रहण करता है। उस समय उसे नाम और रूप प्राप्त होता है तथा वह विशेष प्रकार के चिह्न से स्त्री अथवा पुरुष समझा जाता है। उत्तरोत्तर जब वह बड़ा होता है तो उसका पूर्व अवस्था का रूप नहीं देखने में आता है।[475] फिर वह अनेक उदाहरण देती हुयी कहती है कि सभी प्राणियों में विभिन्न प्रयोजनों की सिद्धि के लिये जो पूर्वोक्त कलाएँ हैं, उनके स्वरूप में प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है; परन्तु वह इतना सूक्ष्म है कि जाना नहीं जाता। यह प्रभावशाली लोक निरन्तर वेगपूर्वक एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जा रहा है, अतः उसके विषय में यह प्रश्न नहीं बन सकता कि 'कौन कहाँ से आता है और कौन कहाँ से नहीं आता है, यह किसका है? किसका नहीं है? किससे उत्पन्न हुआ है? और किससे नहीं हुआ है? प्राणियों का अपने अंगों के साथ भी यहाँ क्या सम्बन्ध

है?[476] परस्पर संघर्षण से काष्ठ से अग्नि के प्रादुर्भाव के समान पूर्वोक्त कलाओं के समुदाय से जीव जन्म ग्रहण करते हैं। जैसे आप स्वयं अपने द्वारा अपने में ही आत्मा का दर्शन करते हैं उसी प्रकार अपने द्वारा दूसरों में आत्मा का दर्शन क्यों नहीं करते हैं? यदि आप अपने में और दूसरे में समभाव रखते हैं तथा 'यह मुझे प्राप्त हो जाय, यह न हो' इत्यादि रूप से जो द्वन्द्वविषयक चिन्ता प्राप्त होती है, उससे यदि आप मुक्त हैं तो 'आप कौन हैं?, किसकी हैं? अथवा कहाँ से आयी हैं?' इन वचनों द्वारा प्रश्न करने से आपका क्या प्रयोजन है?[477] वास्तव में आप योगयुक्त नहीं हैं तथापि आपको जो जीवनमुक्ति का अभिमान हो रहा है, वह आपके सुहृदों को दूर कर देना चाहिये।[478] तत्पश्चात् वह राजा जनक को आसक्ति के उन सूक्ष्मों के विषय में बताती है जिसे राजा जनक ने अपना रखा है।[479] फिर वह कहती है कि 'मेरी तो अपने ही शरीर में आसक्ति नहीं है फिर दूसरे के शरीर में कैसे हो सकती है। इस प्रकार योगयुक्त रहने वाली मुझ संन्यासिनी के प्रति आपको ऐसी बातें नहीं कहनी चाहिये।[480] जब आपने महर्षि पंचशिखाचार्य से सम्पूर्ण मोक्षशास्त्र का श्रवण किया है, आप आसक्तियों से मुक्त हो गये हैं और सम्पूर्ण बन्धनों को काटकर स्थित हैं। तब आपकी छत्र आदि विशेष वस्तुओं में आसक्ति कैसे हो रही है?' मैं समझती हूँ आपने शास्त्र का श्रवण करके भी श्रवण नहीं किया है अथवा सुनकर भी उसे मिथ्या कर दिया है अथवा आपने उनसे किसी अन्य शास्त्र का ही श्रवण किया हो।[481] यदि आप सर्वथा मुक्त हैं तो मैंने जो बुद्धि के द्वारा आपके भीतर प्रवेश किया है, इसमें आपका क्या अपराध किया है? इन सभी वर्णों में ये नियम प्रसिद्ध है कि संन्यासियों को एकान्त स्थान में रहना चाहिये। मैंने भी आपके शून्य शरीर में निवास करके किसकी किस वस्तु को दूषित कर दिया है? न तो हाथों से, न भुजाओं, न पैरों से, न जाँघों से और न शरीर के दूसरे ही अवयवों से मैं आपका स्पर्श कर रही हूँ-

सत्त्वेनानुप्रवेशो हि योऽयं त्वयि कृतो मया। किं तवापकृतं तत्र यदि मुक्तोऽसि सर्वशः।।

नियमो ह्येषु वर्णेषु यतीनां शून्यवासिता। शून्यमावेशयन्त्या च मया किं कस्य दूषितम्।।

न पाणिभ्यां न बाहुभ्यां पादोरुभ्यां न चानघ। न गात्रावयवैरन्यैः स्पृशामि त्वां नराधिप।।[482]

'मुण्डकोपनिषद्' में कहा गया है- 'ज्ञानमात्रे यद्यपि सर्वाश्रमिणाम् अधिकारस् तथापि संन्यासनिष्ठैव ब्रह्मविद्या मोक्षसाधनं न कर्मसहितेति' अर्थात् यद्यपि ज्ञानमात्र में सभी आश्रम वालों का अधिकार है तथापि ब्रह्मविद्या केवल संन्यासगत होने पर ही मोक्ष का साधन होती है।[483] आपस्तम्ब स्मृति में भी कहा गया है कि 'मोक्ष तो केवल एकान्तवासी और दृढ़व्रत

वाले ऐसे व्यक्तियों को प्राप्त होता है जो सांसारिक प्रीति को समाप्त कर चुका हो और मात्र अध्यात्म में रत रहने वाला हो'।[484]

वह राजा से कहती है कि 'आप महान् कुल में उत्पन्न, लज्जाशील तथा दीर्घदर्शी पुरुष हैं। हम दोनों ने परस्पर उचित या अनुचित जो कुछ भी किया है, उसे आपको इस सभा में नहीं कहना चाहिये। यहाँ ये सभी वर्णों के गुरु 'ब्राह्मण' विद्यमान हैं। इन गुरुओं की अपेक्षा भी उत्तम माननीय महापुरुष यहाँ स्थित हैं तथा आप भी राजा होने के कारण इन सबके लिये गुरु स्वरूप हैं। इस प्रकार आप सबका गौरव एक दूसरे पर अवलम्बित है।[485] अतः इस प्रकार विचार करके यहाँ क्या कथनीय है और क्या अकथनीय है, इसकी परीक्षा आवश्यक है। इस सभा में आपको स्त्री-पुरुषों के संयोग की चर्चा कदापि नहीं करनी चाहिये (तदेवमनुसंदृश्य वाच्यावाच्यं परीक्षता, स्त्रीपुंसोः समवायोऽयं त्वया वाच्यो न संसदि)[486] राजन्! यद्यपि मैं स्पर्श नहीं कर रही हूँ तो भी यदि आप मेरे स्पर्श का अनुभव करते हैं तो मुझे ये कहना पड़ता है कि उन महात्मा ने आपको ज्ञान का उपदेश कैसे कर दिया? क्योंकि आपने उसे निर्बीज कर दिया। परस्त्री के स्पर्श का अनुभव करने के कारण आप गार्हस्थ्यधर्म से तो गिर ही गये और दुर्बोध एवं दुर्लभ मोक्ष भी नहीं पा सके। अतः केवल मोक्ष की बात करते हुये आप गार्हस्थ्य और मोक्ष दोनों के बीच में लटक रहे हैं।[487] जीवनमुक्त का जीवनमुक्त के साथ, एकत्व का पृथक्त्व के साथ तथा भाव का अभाव के साथ संयोग होने पर वर्णसंकरता की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सारे आश्रम पृथक्-पृथक् हैं तथा चारों वर्ण भी भिन्न-भिन्न हैं। जब इनमें परस्पर पार्थक्य बना हुआ है तब पृथक्त्व को जानने वाले आपके वर्ण का संकर कैसे हो सकता है?[488] तत्पश्चात् वह अपना परिचय देते हुये कहती है कि मैं आपके समान वर्ण वाली क्षत्रिया ही हूँ। मेरा जन्म प्रधान नामक राजर्षि के वंश में हुआ है। मैंने अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया है। मेरा नाम सुलभा है। मैंने अपने योग्य पति के न मिलने पर मोक्षधर्म की शिक्षा ली तथा मुनिव्रत धारण करके मैं अकेली विचरती रहती हूँ।[489] मैंने संन्यासिनी का छद्मवेश नहीं धारण किया है। मैं पराये धन का अपहरण नहीं करती हूँ और न धर्मसंकरता ही फैलाती हूँ। मैं दृढ़तापूर्वक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करती हुयी अपने धर्म में स्थित रहती हूँ। मैं अपनी प्रतिज्ञा से कभी विचलित नहीं होती हूँ। बिना सोचे-समझे कोई बात नहीं बोलती हूँ और आपके पास भी यहाँ भलीभाँति विचार कर ही आयी हूँ (नास्मि सत्रप्रतिच्छन्ना न परस्वापहारिणी, न धर्मसंकरकरी स्वधर्मेऽस्मि धृतव्रता। नास्थिरा

स्वप्रतिज्ञायां नासमीक्ष्य प्रवादिनी, नासमीक्ष्यागता चेह त्वत्सकाशं जनाधिप)[490] मैंने सुना था कि आपकी बुद्धि मोक्षधर्म में लगी हुयी है अतः आपकी मंगलाकांक्षिणी होकर आपके इस मोक्ष ज्ञान का मर्म जानने के लिये मैं यहाँ आयी हूँ।[491] मैं स्वपक्ष और परपक्ष में से अपने पक्ष में स्थित हो पक्षपातपूर्वक यह बात नहीं कह रही हूँ। आपके हित को दृष्टि में रखकर बोलती हूँ कि 'जो वाणी का व्यायाम नहीं करता और जो शान्त परब्रह्म में निमग्न रहता है, वही मुक्त है' (मुक्तो व्यायच्छते यश्च शान्तौ यश्च न शाम्यति)[492] अन्त में वह कहती है कि आपने मुझे बड़ा सम्मान दिया। अपनी वाणी रूप आतिथ्य के द्वारा मेरा भलीभाँति सत्कार किया। अब मैं प्रसन्नतापूर्वक आपके शरीर रूपी सुन्दर गृह में शयन करके प्रातःकाल यहाँ से चली जाऊँगी।[493] महर्षि पतंजलि ने अपने ग्रथ योगदर्शन में कहा है कि 'बन्धकारणशैथिल्याप्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः।'[494] अर्थात् चित्त के बन्धन के कारण कर्म की शिथिलता से और चित्त की गति का भलीभाँति ज्ञान होने से चित्त का दूसरे के शरीर में प्रवेश किया जा सकता है। अर्थात् उसमें यह सामथ्र्य आ जाती है कि वह अपने चित्त को शरीर से बाहर करके दूसरे के मृत या जीवित किसी भी शरीर में प्रवेश कर सकता है जैसे कि सुलभा ने राजा जनक के शरीर में प्रवेश कर लिया।

सुलभा का चारित्रिक पर्यवेक्षण करने से यह ज्ञात होता है कि वह सद्गुणशीला सदाशययुक्ता दृढ़संकल्पी, आत्मविश्वास से परिपूर्ण, महाप्राज्ञा, इन्द्रियसंयमी, ब्रह्मचर्यव्रत में स्थित, विनम्र, दृढ़प्रतिज्ञ, कत्र्तव्याकत्र्तव्य का ज्ञान रखने वाली अतितेजस्विनी स्त्री थी। वह योग का आश्रय लेकर यम और नियम का पालन करते हुये स्वधर्मपालन में रत रहती थी। महर्षि पतंजलि ने 'योग' को परिभाषित करते हुये कहा है 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध 'योग' है।[495] उसने न केवल राजा जनक के सभी सन्देहों को दृष्टान्तों के माध्यम से दूर किया अपितु उन्हें 'जीवनमुक्त' होने का वास्तविक अर्थ बतलाकर, उनके अभिमान को दूर करके उन्हें उचित मार्गदर्शन भी प्रदान किया।

गौतमी

'गौतमी' एक वृद्धा ब्राह्मणी थी जो शान्ति के साधन में संलग्न रहती थी (गौतमी नाम कौन्तेय स्थविरा शमसंयुता)[496] एक दिन उसने देखा, उसके इकलौते पुत्र को सर्प ने डँस लिया और उसकी चेतनाशक्ति लुप्त हो गयी। तभी अर्जुनक नामक एक व्याध ने उस सर्प को पकड़ लिया और अमर्षवश वह उसे गौतमी के पास ले आया।[497] उसने गौतमी से कहा कि 'इसने

तुम्हारे पुत्र को मृत्यु के मुख में पहुँचा दिया है। बताओ, मैं किस तरह इसका वध करूँ। बालक की हत्या करने वाला यह पापी सर्प अब अधिक समय तक जीवित रहने के योग्य नहीं है।'[498] उसके ऐसे वचन सुनकर गुणों और अवगुणों को जानने वाली उस गौतमी ने धर्म का आश्रय लेकर अर्जुनक से कहा, 'इस सर्प को छोड़ दे, तुझ में बुद्धि नहीं है। तुझे इस सर्प को नहीं मारना चाहिये। ईश्वरीय विधान अपरिवर्तनीय है। इस बात को जानते हुये भी इसकी उपेक्षा करके कौन अपने ऊपर पाप का भारी बोझ लादेगा?[499] संसार में धर्माचरण करके जो स्वयं को लघुता से युक्त रखते हैं (अपने ऊपर पाप का भारी बोझ नहीं लादते हैं), वे जल के ऊपर चलने वाली नौका के समान भवसागर से पार हो जाते हैं; परन्तु जो पाप के बोझ से स्वयं को गुरू (भारस्वरूप) बना लेते हैं, वे जल में प्रक्षिप्त शस्त्र की भाँति नरक-समुद्र में डूब जाते हैं। इसकी हत्या करने से मेरा यह पुत्र जीवित नहीं हो सकता और इस सर्प के जीवित रहने पर भी तुम्हारी क्या हानि हो सकती है? ऐसी अवस्था में इस जीवित प्राणी के प्राणों का नाश कर कौन यमराज के अनन्त लोक में जाये? (प्लवन्ते धर्मलघवो लोकेऽम्भसि यथा प्लवाः। मज्जन्ति पापगुरवः शस्त्रं स्कन्नमिवोदके।। हत्वा चैनं नामृतः स्यादयं मे, जीवत्यस्मिन् कोऽत्ययः स्यादयं ते। अस्योत्सर्गे प्राणयुक्तस्य जन्तोर्मृत्योर्लोकं को नु गच्छेदनन्तम्।)[500]

तब व्याध ने कहा कि वृद्धजन किसी भी प्राणी को कष्ट में देखकर इसी प्रकार दुःखी हो जाते हैं। परन्तु यह उपदेश तो स्वस्थ पुरुषों के लिये है। अतः मैं क्षुद्र सर्प को अवश्य मार डालूँगा। शांति चाहने वाले पुरुष काल की गति बताते हैं परन्तु जो अर्थवेत्ता हैं, वे शत्रु का नाश करके तुरन्त ही शोक त्याग देते हैं किन्तु अन्य जन तो श्रेय का क्षय होने से मोहवश नित्य शोक करते हैं अतः इस शत्रुभूत सर्प के मारे जाने पर तुम भी अपने पुत्रशोक को त्याग देना।[501] उसके वचन सुनकर धर्मशीला गौतमी ने पुनः कहा कि 'हम जैसे लोगों को कभी किसी तरह की हानि से भी पीड़ा नहीं होती। धर्मात्मा सज्जनपुरुष सदा धर्म में ही लगे रहते हैं। मेरा यह बालक सर्वथा मरने ही वाला था; इसलिये मैं इस सर्प को मारने में असमर्थ हूँ। ब्राह्मणों को क्रोध नहीं होता; फिर वे क्रोधवश दूसरों को पीड़ा कैसे दे सकते हैं; अतः तू भी कोमलता का आश्रय लेकर इस सर्प के अपराध को क्षमा कर और इसे मुक्त कर दे। (न ब्राह्मणानां कोपोऽस्ति कुतः कोपाच्च यातनाम्। मार्दवात् क्षम्यतां साधो

मुच्यतामेष पन्नगः।। हत्वा लाभः श्रेयः एवाव्ययः स्याल्लभ्यो लाभ्यः स्याद् बलिभ्यः प्रशस्तः। कालाल्लाभो यस्तु सत्यो भवेत, श्रेयोलाभः कुत्सितेऽस्मिन्न ते स्यात्।)502

श्रीमद्भागवतमहापुराण में ब्राह्मण वर्ण के स्वभाव का उल्लेख करते हुये श्रीकृष्ण द्वारा कहा गया है कि 'शम, दम, तपस्या, पवित्रता, सन्तोष, क्षमाशीलता, सरलता, मेरी भक्ति, दया और सत्य-ये ब्राह्मण की प्रकृति है।' यथोक्तम्-

शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः।।[503]

व्याध के अनेक बार कहने पर भी महाभागा गौतमी ने सर्प को मारने का विचार नहीं किया। तब उन दोनों की बातें सुनकर सर्प ने मनुष्य वाणी में बोलते हुये स्वयं को निर्दोष बताया और स्वयं को मृत्यु से प्रेरित होकर कार्य करने वाला बताया।[504] सर्प के वचन सुनकर मृत्यु ने भी वहाँ उपस्थित होकर बालक की मृत्यु में काल को कारण बताया[505] तब व्याध, सर्प और मृत्यु के पारस्परिक वार्तालाप को सुनकर काल ने कहा कि हम चारों ही इस कृत्य के लिये दोषी नहीं हैं बल्कि बालक के कर्म ही उसकी मृत्यु का कारण बने हैं।[506] उनकी बातें सुनकर गौतमी ब्राह्मणी को यह निश्चय हो गया कि 'मनुष्य को अपने कर्मों के आधार पर ही फल मिलता है' अतः उसने व्याध से कहा 'यह बालक अपने कर्मों से ही प्रेरित हो काल के द्वारा अपने विनाश को प्राप्त हुआ है। मैंने भी वैसा कर्म किया था जिससे मेरा पुत्र मर गया है। अतः तू इस सर्प को मुक्त कर दे और ये काल और मृत्यु भी अपने-अपने स्थान को चले जायें।'[507] इस तरह गौतमी ब्राह्मणी का शोक दूर हो गया।

यहाँ गौतमी के चरित्र में विद्यमान धैर्य, दयालुता, सरलता, मृदुता, सहनशीलता, क्षमाशीलता, सन्तोष, अहिंसा जैसे गुण उसके उत्कृष्ट चरित्र को दर्शाते हैं। वह शुद्धाचरण से युक्त, ब्राह्मणधर्म को जानने वाली तथा गुणावगुण का ज्ञान रखने वाली आर्य स्त्री थी।

ओघवती

राजा नृग के पितामह ओघवान् की पुत्री 'ओघवती'[508] सुदर्शनपुत्र सुदर्शन की पत्नी थी।[509] वह देवकन्या के समान सुन्दर थी।[510] उसके पति ने यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं गृहस्थधर्म का पालन करते हुये ही मृत्यु को जीत लूँगा।'[511] अतः उन्होंने ओघवती से कहा कि 'देवि! तुम्हें अतिथि के प्रतिकूल किसी तरह, कोई कार्य नहीं करना चाहिये। जिस-जिस वस्तु से अतिथि सन्तुष्ट हो, वह वस्तु तुम्हें सदा ही उसे देनी चाहिये। यदि अतिथि के

सन्तोष के लिये तुम्हें अपना शरीर भी देना पड़े तो मन में कभी अन्यथा विचार न करना। यदि तुम मुझे आदर्श मानती हो तो मैं घर में रहूँ या घर से कहीं दूर रहूँ, तुम्हें किसी भी दशा में अतिथि का अनादर नहीं करना चाहिये।'[512] यह सुनकर ओघवती ने दोनों हाथ जोड़कर शिरोधार्य कर कहा, 'कोई भी ऐसा कार्य नहीं है जो मैं आपकी आज्ञा से किसी कारणवश न कर सकूँ। (तमब्रवीदोघवती तथा मूध्नि कृतांजलिः। न मे त्वद्वचनात् किंचिन्न कर्तव्य कथंचन।)[513]

एक दिन सुदर्शन जब समिधा लाने के लिये बाहर चले गये उसी समय एक तेजस्वी ब्राह्मण अतिथि उनके घर पर आया और ओघवती से कहा 'यदि तुम गृहस्थसम्मतधर्म को मान्य समझती हो तो आज मैं तुम्हारे द्वारा किया गया आतिथ्यसत्कार ग्रहण करना चाहता हूँ।'[514] तब ओघवती ने वेदोक्तविधि से उसका पूजन किया और ब्राह्मण को बैठने के लिये आसन तथा पादप्रक्षालन के लिये जल देकर ओघवती ने उससे पूछा- 'विप्रवर! आपको किस वस्तु की आवश्यकता है? मैं आपकी सेवा में क्या भेंट करूँ?[515] तब ब्राह्मण अतिथि ने ओघवती से कहा 'तुम मुझे अपना शरीर दान कर दो।' यह सुनकर ओघवती ने उस अतिथि से बार-बार अनुरोध किया कि वे कोई दूसरी अभीष्ट वस्तु माँग लें किन्तु उस ब्राह्मण ने उसके शरीरदान के अलावा और कोई पदार्थ उससे नहीं माँगा।[516] वह एक पतिव्रता स्त्री थी अपने पति के वचन पालन को ही वह अपना धर्म मानती थी अतः अपने पति के कहे हुये वचनों का स्मरण करके उस अतिथि के अनुरोध को स्वीकार कर लिया। यथोक्तम्-

सा तु राजसुता स्मृत्वा भर्तुर्वचनमादितः।
तथेति लज्जमाना सा तमुवाच द्विजर्षभम्।।[517]

तब उसने ओघवर्ती के साथ घर के भीतर प्रवेश किया। उसी समय सुदर्शन समिधा लेकर लौट आये और अपनी पत्नी ओघवती को बारम्बार पुकारने लगे किन्तु उसने अपने पति को कोई उत्तर नहीं दिया। उस अतिथि ब्राह्मण ने अपने दोनों हाथों से उसे स्पर्श किया था इससे वह सती-साध्वी पतिव्रता स्वयं को दूषित मानकर अपने स्वामी से भी लज्जित हो गयी थी; इसलिये वह साध्वी मौन हो गयी, कुछ भी बोल न सकी।[518] तब सुदर्शन ने कहा 'मेरी वह साध्वी पत्नी कहाँ है? मेरी सेवा से बढ़कर कौनसा गुरुतर कार्य उस पर आ पड़ा। वह पतिव्रता, सत्य बोलने वाली और सरल स्वभाववाली है। आज पूर्व की भाँति प्रसन्नवदना वह, मेरी अगवानी क्यों नहीं कर रही है?'[519] तब उस ब्राह्मण अतिथि ने कहा 'मैं ब्राह्मण हूँ और

तुम्हारे घर पर अतिथि के रूप में आया हूँ। तुम्हारी इस पत्नी ने अतिथिसत्कार के द्वारा मेरी इच्छा पूर्ण करने का वचन दिया है। तब मैंने इसे ही वरण कर लिया है। अतः इस समय यह मेरी सेवा में उपस्थित हुई है। अब यहाँ तुम्हें दूसरा जो कुछ उचित प्रतीत हो, वह कर सकते हो।'[520] तब सुदर्शन ने प्रसन्नतापूर्वक कहा 'आप की सुरतकामना पूर्ण हो, इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता है; क्योंकि घर पर आये हुये अतिथि का पूजन करना गृहस्थ के लिये सबसे बड़ा धर्म है। मैंने अतिथि-सत्कार का व्रत ले रखा है। यदि मेरी कही हुयी वाणी मिथ्या नहीं है तो इस सत्य के प्रभाव से देवता मेरी रक्षा करें अथवा मिथ्या होने पर मुझे जलाकर भस्म कर डालें।'[521] उसके वचनों से प्रसन्न होकर वह ब्राह्मण अपने वास्तविक स्वरूप धर्मदेव के रूप में प्रस्तुत हुये और सुदर्शन से बोले 'तुमने अपने धैर्य से मृत्यु को वश में कर लिया है। तुम इसी शरीर से उन दिव्यलोकों में जाओगे।[522] तीनों लोकों में किसी की भी ऐसी शक्ति नहीं है जो तुम्हारी इस सती-साध्वी पतिव्रता पत्नी की ओर कलुषित भावना से आँख उठाकर देख भी सके।[523] यह तुम्हारे गुणों से तथा पातिव्रत्य के गुणों द्वारा भी सदा सुरक्षित है। कोई भी इसका पराभव नहीं कर सकता। यह जो बात कहेगी वह सत्य ही होगी। मिथ्या नहीं हो सकती। अपने तपोबल से युक्त यह ब्रह्मवादिनी नारी संसार को पवित्र करने के लिये अपने आधे शरीर से ओघवती नाम वाली श्रेष्ठ नदी होगी और आधे शरीर से यह सती तुम्हारी सेवा में रहेगी। योग सदा इसके वश में रहेगा। तुम भी इसके साथ अपनी तपस्या से प्राप्त हुये उन सनातन लोकों में जाओगे, जहाँ से फिर इस संसार में लौटना नहीं पड़ता। राजकुमारी ओघवती ने भी तुम्हारी सेवा के बल से स्नेह, राग, आलस्य, मोह और द्रोह आदि दोषों को जीत लिया है। यथोक्तम्-

रक्षिता त्वद्गुणैरेषा पतिव्रतगुणैस्तथा। अधृष्या यदियं ब्रूरयात् तथा तन्नान्यथा भवेत्।।
एषा हि तपसा स्वेन संयुक्ता ब्रह्मवादिनी। पावनार्थं च लोकस्य सरिच्छ्रेष्ठा भविष्यति।।
अर्धेनौघवती नाम त्वामर्धेनानुयास्यति। शरीरेण महाभागा योगो ह्यस्या वशे स्थितः।।
अनया सह लोकांश्च गन्तासि तपसार्जितान्। यत्र नावृत्तिमभ्येति शाश्वतांस्तान् सनातनान्।।
स्नेहो रागश्च तन्द्री च मोहो द्रोहश्च केवलः। तव शुश्रूषया राजन् राजपुत्र्या विनिर्जिताः।।[524]

स्कन्दपुराण में पतिव्रता की शक्ति का वर्णन करते हुये कहा गया है 'पतिव्रता का चरण जहाँ-जहाँ धरती का स्पर्श करता है, वह स्थान तीर्थभूमि की भाँति मान्य है, वहाँ भूमि पर कोई भार नहीं रहता। भार्या से लोक और परलोक दोनों पर विजय प्राप्त होती है। घर में

भार्या के होने से ही देवताओं, पितरों तथा अतिथियों की तृप्ति होती है। सम्पूर्ण देवताओं और मुनियों का जो तेज है वह सब सती नारियों में स्वभावतः रहता है। महापुण्यवती पतिव्रता स्त्री सदा अपने तेज से क्षणभर में तीनों लोकों को भस्म कर डालने की शक्ति रखती है।' (पतिव्रतायाश्चरणो यत्र यत्र स्पृशेद् भुवम्, सा तीर्थभूमिर्मान्येति नात्र भारोऽस्ति पावनः। परलोकस्त्वयं लोको जीर्यते भार्यया द्वयम्, देवपित्रतिथीनां च तृप्तिः स्याद् भार्यया गृहे। तेजश्च सर्वदेवानां मुनीनां च सतीषु तत्। त्रैलोक्यं भस्मसात्कर्तुं क्षणेनैव पतिव्रता, स्वतेजसा समर्था सा महापुण्यवती सदा।)[525]

'ओघवती' भी एक पतिव्रता, तपस्विनी तथा महापुण्यवती स्त्री थी। वह अतिथिसत्कार में निपुण, प्रसन्नवदना सदाचारिणी तथा सौन्दर्यशालिनी थी। उसमें धैर्य, त्याग, लज्जा, मधुरसंभाषण, विनम्रता, आर्जवता और सत्यशीलता जैसे आदर्श गुण विद्यमान थे, जो उसके महान् चरित्र को दर्शाते हैं। पत्नीधर्म का पालन करके ही वह देवताओं के द्वारा भी पूजनीय बन गयी। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि 'व्यक्ति जब अपना सर्वस्व दान कर देता है तो वह भी तपस्या ही है।'[526]

राजा कुशिक की पत्नी

राजा कुशिक की पत्नी पतिपरायणा और धर्म का पालन करने वाली स्त्री थी। एक दिन च्यवन ऋषि को यह ज्ञात हुआ कि हमारे वंश में कुशिक वंश की कन्या के सम्बन्ध से क्षत्रियत्व का महान् दोष आने वाला है अतः कुशिकों के समस्त कुल को भस्म करने की इच्छा से वे राजा कुशिक के पास गये और कहा कि 'मेरे मन में कुछ काल तक तुम्हारे साथ रहने की इच्छा हुयी है।'[527] महर्षि की यह बात सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुये और उनका सत्कार करने के लिये वे अपनी पत्नी सहित उनके पास गये और महर्षि से कहा कि 'हम दोनों पति-पत्नी आपके अधीन हैं। बताइये, हम आपकी क्या सेवा करें।'[528] तब महर्षि ने उनसे कहा कि मैं एक नियम आरम्भ करूँगा। उसमें आप दोनों को सर्वथा सावधान रहकर बिना किसी शंका के मेरी सेवा करनी होगी। तब उन दोनों ने भी सहर्ष मुनिसेवा का व्रत ले लिया।[529] राजा कुशिक की पत्नी उनकी सहधर्माचारिणी थी अतः वह भी अपने पति के साथ पूर्णमनोयोग से महर्षि की सेवा में संलग्न हो गयी। महर्षि उन्हें जैसी आज्ञा देते, वे दोनों वैसा ही करते। वे दोनों मन और इन्द्रियों को वश में करके महर्षि के आज्ञानुसार उनकी सेवा में लगे रहे (यथादेशं महर्षेस्तु शुश्रूषापरमौ तदा, बभूवतुर्महाराज प्रयतावध दम्पती)[530] रात्रि में

शयन के समय महर्षि ने उन दोनों से कहा कि "तुम सोते समय मुझे जगाना मत। मेरे दोनों पैर दबाते रहना और स्वयं भी निरन्तर जागते रहना'। उन्होंने वैसा ही किया। वे सम्पूर्ण रात्रि उनकी सेवा में खड़े रहे।[531] प्रातःकाल होने पर भी उन्होंने मुनि को नहीं जगाया और महर्षि भी उन्हें सेवा का आदेश देकर इक्कीस दिनों तक एक ही पाश्र्व (करवट) से सोते रहे।[532] राजा और रानी भी निराहार रहकर हर्षपूर्वक महर्षि की उपासना और आराधना में लगे रहे (स तु राजा निराहारः सभार्यः कुरुनन्दन, पर्युपासत तं हृष्टश्च्यवनाराधने रतः)[533] बाईसवें दिन महर्षि च्यवन जब अपने आप उठे, तो उनसे कुछ कहे बिना ही महल से बाहर निकल गये, इस कारण राजा अत्यन्त दुःखी हो गये। उन्होंने महारानी को साथ लेकर महर्षि के अन्वेषण के लिये महान् प्रयत्न किया किन्तु वे नहीं दिखायी दिये। जब शून्य मन वाले होकर उन्होंने अपने गृह में प्रवेश किया तो महर्षि को उन्होंने पुनः उसी शय्या पर शयन करते देखा, इससे वे दोनों अत्यधिक विस्मित हुये और उनके दर्शन से उनकी थकावट दूर हो गयी। वे पुनः यथास्थान स्थित होकर मुनि के पैर दबाने लगे।[534] अब वे मुनि दूसरी ओर करवट लेकर सो गये और पुनः इक्कीस दिनों पश्चात् जगे किन्तु उन दोनों ने मन में कोई विकार नहीं आने दिया।535 तत्पश्चात् मुनि ने उन्हें अपने शरीर पर तेल की मालिश करने के लिये कहा। यद्यपि राजा-रानी क्षुधा से पीड़ित और अत्यन्त दुर्बल हो गये थे तो भी उन्होंने सौ बार पकाकर तैयार किये हुये बहुमूल्य तैल लेकर उनकी सेवा में लग गये।[536] बहुत समय मालिश करने के बाद भी मुनि ने जब उन दोनों के मन में कोई विकार नहीं देखा, तो वे स्नान के लिये चले गये और पुनः अन्तर्धान हो गये। जब उन दोनों ने मुनि को सिंहासन पर स्थित देखा तो उनके लिये समस्त प्रकार की भोजन सामग्री उनके समक्ष प्रस्तुत कर दी।[537] तत्पश्चात् मुनि ने उन समस्त खाद्य सामग्री, आसन और शय्या को वस्त्रों से ढ़ककर; उनमें आग लगा दी किन्तु उन दोनों ने ही क्रोध प्रकट नहीं किया।[538] एक दिन मुनि ने राजा से कहा कि 'तुम स्त्री सहित रथ में जुत जाओ और मैं जहाँ कहूँ, वहाँ मुझे शीघ्र ले चलो।'[539] उन्होंने मुनि की आज्ञानुसार युद्धोपयोगी रथ तैयार करके उनमें सभी अस्त्र-शस्त्र रख दिये।[540] तब उस रथ में बायीं ओर की धुरी पर रानी को लगाकर स्वयं दाहिनी ओर जुट गये (भार्या वामे धुरि तदा चात्मानं दक्षिणे तथा)[541] उन्होंने उसमें एक चाबुक भी रख दिया, जिसका अग्रभाग सुई की नोंक के समान तीखा था और सभी प्रकार की दान सामग्री भी रख दी।[542] वे दोनों महर्षि की आज्ञानुसार रथ को धीरे-धीरे लेकर चले तभी

महर्षि ने सहसा चाबुक उठाया और उन दोनों की पीठ पर जोर से प्रहार किया, जिसके कारण उनकी पृष्ठ और कमर में घाव हो गया फिर भी वे निर्विकार भाव से रथ में जुते रहे (तौ तीक्ष्णाग्रेन सहसा प्रतोदेन प्रतोदितौ, पृष्ठे विद्धौ कटे चैव निर्विकारौ तमूहतुः)[543] पचास रात्रि तक उपवास करने के कारण वे बहुत दुर्बल हो गये थे, उनका शरीर कम्पायमान था, उनके घावों से रक्त बह रहा था किन्तु वे दुःखी नहीं हुये।[544] उनको निर्विकार देखकर तथा उनके सेवा कार्य से प्रसन्न होकर मुनि ने उनका सारा कष्ट दूर करके उन्हें उत्तम शोभा से युक्त कर दिया तथा उन दोनों को वन में ही स्वर्ग का दर्शन कराया तथा राजा को उनका अभिलषित वर प्रदान किया।[545] इस प्रकार मन में कुशिकवंश के समूल नाश के लिये आये हुये महर्षि को राजा और रानी ने क्रोध का अवसर ही प्रदान नहीं किया। वस्तुतः राजा कुशिक की पत्नी का धैर्य और संयमपूर्वक सेवा करना, उन विपरीत परिस्थितियों में प्राप्त कष्टों को भी सहन कर उसके लिये किसी पर भी दोषारोपण न करना, स्वयं की ओर से किये गये सेवाकार्य में सूक्ष्म से सूक्ष्म अपराध भी न करना, ये सभी उसके चरित्र को गौरवान्वित करते हैं। वह धैर्य, त्याग, अतिथिसत्कार, इन्द्रियसंयम, कष्टसहिष्णुता, अक्रोध, विनम्रता और पातिव्रत्य जैसे उदात्त गुणों से समन्वित थी। पतिव्रता स्त्रियों की प्रशंसा में स्कन्दपुराण में कहा गया है कि 'गृहस्थ आश्रम का मूल भार्या है, सुख का मूल कारण भार्या है। धर्म-फल की प्राप्ति तथा सन्तान की वृद्धि का भी भार्या ही कारण है', यथोक्तम्-

भार्या मूलं गृहस्थस्य भार्या मूलं सुखस्य च।
भार्या धर्मफलायैव भार्या संतानवृद्धये।।[546]

इस प्रकार पातिव्रत्य-धर्म का पालन करते हुये उसने अपने सम्पूर्ण कुल को महर्षि की क्रोधाग्नि से भस्म होने से बचा लिया।

सुप्रभा

'सुप्रभा' महात्मा वदान्य ऋषि की अप्रतिमसौन्दर्ययुक्ता कन्या थी। वह गुण, प्रभाव, शील और चरित्र सभी दृष्टियों से परम सुन्दर थी।[547] उसका विवाह महातपस्वी अष्टावक्र मुनि के साथ सम्पन्न हुआ था[548] और विवाह से पूर्व वदान्य ऋषि ने अपनी पुत्री के हित को दृष्टि में रखकर इनसे यह शर्त रखी थी कि 'कैलाशपर्वत में निवास करने वाली तपस्विनी वृद्धा स्त्री का दर्शन करके लौटने के पश्चात् ही तुम मेरी पुत्री का पाणिग्रहण कर सकोगे।'[549]

रूचि

देवशर्मा नामक महर्षि की पत्नी का नाम 'रूचि' था। वह अत्यधिक सौन्दर्यशालिनी थी।[550] उसका रूप देखकर देवता, गन्धर्व और दानव भी मतवाले हो जाते थे।[551] वह सदा यौवनमद से उन्मत्त रहने वाली स्त्री थी।[552] वह शृंगारप्रिय भी थी। अपनी बहिन प्रभावती के यहाँ विवाहोत्सव में सम्मिलित होने के लिये उसने दिव्यपुष्पों को अपने केशों में सजाया था।[553]

अरुन्धती

वसिष्ठजी की पत्नी 'अरुन्धती' शील तथा शक्ति में वसिष्ठजी के ही समान थी। (समानशीलां वीर्येण वसिष्ठस्य महात्मनः)[554] वह एक पतिव्रता और तपस्विनी स्त्री थी। उन्हें सनातन धर्मों का ज्ञान था। देवताओं ने उनसे धर्म का रहस्य जानने की इच्छा व्यक्त की थी तब उन्होंने गोपनीय रहस्यों सहित सनातन धर्म का वर्णन किया था।[555] अरुन्धती देवी उत्तर दिशा में प्रकाशित होती हैं।[556] उनका चरित्र महान् है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में उन्होंने स्वयं को पितरों की मानसी कन्या और ब्रह्माजी की पुत्रवधू कहा है।[557]

अहल्या

यह गौतम ऋषि की पतिव्रता पत्नी थी। उत्तंक ने जब देवी अहल्या से उनकी गुरुदक्षिणा के बारे में पूछा तो, पहले तो अहल्या ने मना कर दिया[558] किन्तु उत्तंक के पुनः आग्रह करने पर उन्होंने उत्तंक से कहा कि 'राजा सौदास की रानी ने जो दो दिव्य मणिमय कुण्डल धारण कर रखे हैं, उन्हें ले आओ। तुम्हारा कल्याण हो। उन्हें लाने से तुम्हारी गुरु-दक्षिणा पूर्ण हो जायेगी।' (सौदासपत्न्या विधृते दिव्ये ये मणिकुण्डले, ते समानय भद्रं ते गुर्वर्थः सुकृतो भवेत्)[559] जब महर्षि ने पूछा कि 'आज उत्तकं क्यों नहीं दिखायी देता है? तब अहल्या ने कहा कि 'वह सौदास की महारानी के कुण्डल लाने गया है'[560] यह सुनकर महर्षि ने अहल्या से कहा कि 'यह तुमने अच्छा नहीं किया। राजा सौदास शापवश राक्षस हो गये है अतः वे अवश्य ही उसको मार डालेंगे।'[561] उनकी यह बात सुनकर उसने कहा कि 'मैं इस बात को नहीं जानती थी, इसीलिये उस ब्राह्मण को ऐसा कार्य सौंप दिया। मुझे विश्वास है कि आपकी कृपा से उसे वहाँ कोई भय नहीं प्राप्त होगा (अजानन्त्या नियुक्तः स भगवन् ब्राह्मणो मया, भवत्प्रसादान्न भयं किंचित् तस्य भविष्यति)[562]

इस वृत्तान्त से यह ज्ञात होता है कि वह आभूषणप्रिय, सरल स्वभाव वाली, विनीत, सत्यवादिनी तथा अपने पति पर पूर्ण विश्वास करने वाली स्त्री थी। महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण में 'अहल्या' की कथा प्राप्त होती है जिसमें इनका चरित्र ज्यादा विस्तृत है।[563] वहाँ महर्षि गौतम द्वारा अहल्या को दिये गये शाप का तथा अहल्या के प्रायश्चित[564] का भी वर्णन है।

शाण्डिली

'शाण्डिली' एक पतिव्रता पत्नी थी जिसने अपने सदाचार से और पत्नीधर्म का निष्ठापूर्वक पालन करने से अपने समस्त पापों का नाश कर लिया था और जिसके प्रभाव से वह देवलोक में भी जाने का सामर्थ्य रखती थी। वह सर्वज्ञा, सर्वतत्त्वज्ञा और मनस्विनी स्त्री थी। इन्होंने केकयराज की पुत्री सुमना को 'पतिव्रतास्त्रियों के कर्त्तव्य' के विषय में बताया था।[565]

निष्कर्ष -

अवान्तर कथाओं में आये स्त्री पात्रों का सर्वेक्षण करने पर यह ज्ञात होता है कि महाभारत ग्रन्थ में वर्णित ये सभी स्त्री पात्र साधारण मनुष्य रूप में होकर भी असाधारण क्षमताओं से युक्त थे। इन समस्त स्त्री पात्रों में अप्रतिम शारीरिक सौन्दर्य विद्यमान होने के साथ ही आन्तरिक सुन्दरता का भी प्राधान्य था। ये सभी अतिशय तेज से संयुक्त थीं। हर्ष और विषाद, दोनों ही स्थितियों में इनकी मनोवृत्ति और उनका व्यवहार पारिवारिक अन्तर्सम्बन्धों के संतुलन को बनाये रखने के कारण सर्वथा प्रशंसा के ही योग्य था। कुछ स्त्रीपात्र यथा देवयानी, अम्बा यहाँ अपवाद स्वरूप भी हैं जिन्होंने स्व-इच्छा और अहम् को परिवार और जाति से ज्यादा महत्त्व दिया तथा इसी कारण इनका जीवन आनन्दातिरेक से पूर्ण होने के स्थान पर गहन दुःख के अन्धकार से व्याप्त हो गया। इन दोनों का ही चरित्र सरलता की भावभूमि से विलग हठधर्मिता से युक्त था तथापि कठोर जीवनचर्या द्वारा इन्होंने तपोराशि का अर्जन किया था। 'सुलभा और कुणिर्गर्ग की पुत्री' दो ऐसे पात्र थे जिन्होंने अपने योग्य वर न मिलने के कारण विवाह न करने का निर्णय लिया और आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये कठोर तपस्या का आश्रय लेकर न केवल अलौकिक शक्ति का संचय किया अपितु अपने जीवन को श्रेष्ठ गति भी प्रदान की, साथ ही विद्वत्समुदाय के मध्य प्रेरणा बनकर गौरव का पात्र भी बन गयीं। जहाँ इन्होंने योग का आश्रय लेकर स्वजीवन की श्रेष्ठता को प्रमाणित

किया वहीं शकुन्तला, दमयन्ती, सीता, सावित्री, सुकन्या, शर्मिष्ठा, शाण्डिली, सुवर्चला, अरुन्धती जैसी स्त्रियों ने अपने पातिव्रत्य धर्म के निर्वाह द्वारा इस संसार में महान् कीर्ति को प्राप्त किया है। ये सभी अपने पतियों से एकनिष्ठ प्रेम करने वाली, पति में अनन्य भक्ति वाली, पति का हित-चिन्तन करने वाली, पतिहितैषिणी, पतिव्रता स्त्रियाँ थीं। ये सभी गार्हस्थ्य धर्मों का पालन करने के साथ ही लौकिक व्यवहार की ज्ञाता भी थीं। ये सत्कर्मों का अनुष्ठान करने वाली, प्रशंसनीय आचरण वाली, ब्राह्मणों की सेवा-पूजा से महान् फल को प्राप्त करने वाली, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की ज्ञाता, स्त्री धर्मों की पालिका, धर्म में स्थिर प्रज्ञा वाली, कुलधर्म और जातिधर्म का ज्ञान रखने वाली तथा उनका हित करने में तत्पर, धर्मपालन में निष्ठा से युक्त, सतत सावधान, साधारण स्त्रियों की भाँति चंचलता से युक्त किन्तु गम्भीर स्वभाव वाली, अवसरानुकूल उचित निर्णय लेने वाली तथा परामर्शदात्री, सेवाकार्यों में चतुर, समयानुसार कार्यों के औचित्य का ज्ञान रखने वाली, अलंकारप्रिय किन्तु पति को ही अपना वास्तविक अलंकार मानकर एकमात्र उन्हीं में समर्पित हृदय एवं बुद्धि वाली, पूर्णनिष्ठा के साथ उत्तरदायित्व का निर्वहन करने वाली, सत्य को स्वीकार करने के साहस वाली, क्षमाशीला किन्तु अवसर आने पर उचित क्रोध का प्रदर्शन करने वाली, धर्मानुरागिणी, आस्थावती, लज्जा रूपी अलंकरण से शोभायमान, विनीत, सन्तोषी, स्वाभिमानिनी, दृढ़निश्चयी, निर्भीक, कष्टसहिष्णु, निस्स्वार्थ प्रेम से आप्लावित, सत्यभाषिणी, संयमशीला, निर्लोभ, मधुरभाषिणी, आज्ञाकारिणी, उदारहृदया, विषम परिस्थिति में भी असीम धैर्य रखकर प्रयत्न के अवसर का अन्वेषण करने वाली, आत्मविश्वासी तपस्यानुरागिणी, 'स्व' को जानने वाली, चित्त की एकाग्रता से युक्त, कुलमर्यादा की संरक्षिका स्त्रियाँ थीं। वस्तुतः ये सभी पतिव्रता साध्वी स्त्रियाँ थीं अतः देवताओं के समान पूजनीय हैं क्योंकि स्त्री जाति पर ही सम्पूर्ण लोक अवलम्बित है अतः मत्स्यपुराणकार का यह कथन समीचीन है कि 'उन पतिव्रता स्त्रियों के वाक्य इस चराचर जगत् में कभी भी मिथ्या नहीं होते, इसलिये सभी मनोरथों की कामना करने वालों को सर्वदा इनकी पूजा करनी चाहिये; यथोक्तम्-

तासां तु वाक्यं भवतीह मिथ्या, न जातु लोकेषु चराचरेषु।
तस्मात् सदा ताः परिपूजनीयाः, कामान् समग्रानभिकामयानैः।।

♦♦♦♦

सन्दर्भ

1. महाभारत, आदिपर्व, 72/9
2. महाभारत, आदिपर्व, 71वाँ अध्याय, पृ. 250, 71/11
3. महाभारत, आदिपर्व, 95/28, 74/131
4. महाभारत, आदिपर्व, 71/1
5. महाभारत, आदिपर्व, 71/2-4
6. महाभारत, आदिपर्व, 71/5-6
7. महाभारत, आदिपर्व, 71/16-17
8. महाभारत, आदिपर्व, 72वाँ अध्याय
9. महाभारत, आदिपर्व, 72/18-19
10. महाभारत, आदिपर्व, 73/1-4
11. महाभारत, आदिपर्व, पृ.सं.-256
12. महाभारत, आदिपर्व, पृ.सं.-256
13. महाभारत, आदिपर्व, पृ.सं.-256
14. महाभारत, आदिपर्व, 73/6-14
15. महाभारत, आदिपर्व, 73/15
16. महाभारत, आदिपर्व, 73/16-17
17. महाभारत, आदिपर्व, 73/18-21
18. महाभारत, आदिपर्व, 73/24
19. महाभारत, आदिपर्व, पृ.सं.-258
20. महाभारत, आदिपर्व, पृ.सं.-258
21. महाभारत, आदिपर्व, 73/25-26, 28-29
22. महाभारत, आदिपर्व, 73/31
23. महाभारत, आदिपर्व, 73/32
24. महाभारत, आदिपर्व, 73/34
25. महाभारत, आदिपर्व, 74/1-2, 8
26. महाभारत, आदिपर्व, 74/9-11
27. महाभारत, आदिपर्व, पृ.सं.-263
28. महाभारत, आदिपर्व, 74/16
29. महाभारत, आदिपर्व, पृ.सं.-264
30. महाभारत, आदिपर्व, 74/17

31. महाभारत, आदिपर्व, 74/19-20
32. महाभारत, आदिपर्व, 74/21-23
33. महाभारत, आदिपर्व, 74/24-26
34. महाभारत, आदिपर्व, 74/28, 33
35. महाभारत, आदिपर्व, 74/34-35
36. महाभारत, आदिपर्व, 74/36
37. महाभारत, आदिपर्व, 74/37-51
38. महाभारत, आदिपर्व, 74/54-55
39. महाभारत, आदिपर्व, 74/58
40. महाभारत, आदिपर्व, 74/67-70
41. महाभारत, आदिपर्व, 74/73-81
42. महाभारत, आदिपर्व, 74/82, 85, 98
43. महाभारत, आदिपर्व, 74/105-106
44. महाभारत, आदिपर्व, 74/107
45. महाभारत, आदिपर्व, 74/109-118, 125
46. मनुस्मृति, 9/7-8, 27-28, 45
47. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5/24
48. महाभारत, आदिपर्व, 76/23, श्रीमद्भागवतमहापुराण, 5/1/34
49. महाभारत, आदिपर्व, 76/24
50. महाभारत, आदिपर्व, 76/26
51. महाभारत, आदिपर्व, 76/27-33, 40-42
52. महाभारत, आदिपर्व, 76/43-48
53. महाभारत, आदिपर्व, 76/50
54. महाभारत, आदिपर्व, 76/55
55. महाभारत, आदिपर्व, 76/56
56. महाभारत, आदिपर्व, 76/57
57. महाभारत, आदिपर्व, 76/61-62
58. महाभारत, आदिपर्व, 77/1-8
59. महाभारत, आदिपर्व, 77/11
60. महाभारत, आदिपर्व, 77/16
61. महाभारत, आदिपर्व, 77/18-19
62. महाभारत, आदिपर्व, 78/4

63. महाभारत, आदिपर्व, 78/8
64. महाभारत, आदिपर्व, 78/12-13
65. महाभारत, आदिपर्व, 78/19-21
66. महाभारत, आदिपर्व, 78वाँ अध्याय, पृ.सं.-291
67. महाभारत, आदिपर्व, 78/24
68. महाभारत, आदिपर्व, 78/25
69. महाभारत, आदिपर्व, 78/30-41
70. महाभारत, आदिपर्व, 79/7
71. महाभारत, आदिपर्व, 79/8
72. महाभारत, आदिपर्व, 79/9
73. महाभारत, आदिपर्व, 80/4-5
74. महाभारत, आदिपर्व, 80/10
75. महाभारत, आदिपर्व, 80/15
76. महाभारत, आदिपर्व, 80/16
77. महाभारत, आदिपर्व, 80/23
78. महाभारत, आदिपर्व, 81/9, 14, 17-26
79. महाभारत, आदिपर्व, 81/27
80. महाभारत, आदिपर्व, 81वाँ अध्याय, पृ.सं.-300
81. महाभारत, आदिपर्व, 81/29-31
82. महाभारत, आदिपर्व, 82/1-3
83. महाभारत, आदिपर्व, 83/9
84. महाभारत, आदिपर्व, 83/1-5
85. महाभारत, आदिपर्व, 83/6-7
86. महाभारत, आदिपर्व, 83/18-30
87. महाभारत, आदिपर्व, 83/31
88. महाभारत, आदिपर्व, 78/6
89. महाभारत, आदिपर्व, 78/9-11
90. महाभारत, आदिपर्व, 78/12-13
91. महाभारत, आदिपर्व, 80/22
92. महाभारत, आदिपर्व, 80/24
93. महाभारत, आदिपर्व, 82/6
94. महाभारत, आदिपर्व, 82/7-8

95. महाभारत, आदिपर्व, 82/10-15
96. महाभारत, आदिपर्व, 82/16
97. महाभारत, आदिपर्व, 82/19
98. महाभारत, आदिपर्व, 82/21
99. महाभारत, आदिपर्व, 82/24
100. महाभारत, आदिपर्व, 82/27
101. महाभारत, आदिपर्व, 83/3-4
102. महाभारत, आदिपर्व, 83/10
103. महाभारत, आदिपर्व, 83/18-19
104. महाभारत, आदिपर्व, 83/20, 22
105. महाभारत, वनपर्व, 53/10
106. महाभारत, वनपर्व, 53/14
107. नैषधीयचरितम्, 1/120
108. महाभारत, वनपर्व, 53/16-17
109. महाभारत, वनपर्व, 53/19-21
110. महाभारत, वनपर्व, 53/22-24
111. महाभारत, वनपर्व, 53/30-31
112. नैषधीयचरितम्, 9/56
113. महाभारत, वनपर्व, 53/32, 54/9, 26, 55/4-6
114. महाभारत, वनपर्व, 55/20-24
115. महाभारत, वनपर्व, 56/1-3
116. महाभारत, वनपर्व, 56/4
117. महाभारत, वनपर्व, 56/5,7
118. महाभारत, वनपर्व, 56/14, 20-21
119. महाभारत, वनपर्व, 57/10-15
120. महाभारत, वनपर्व, 57/18-21
121. महाभारत, वनपर्व, 57/22-23, 25-27, 40-41
122. महाभारत, वनपर्व, 53/3, 59/2-4, 9-10, 61/1
123. महाभारत, वनपर्व, 59/11-16
124. महाभारत, वनपर्व, 60/1-3, 5-7
125. महाभारत, वनपर्व, 60/10, 13-20
126. महाभारत, वनपर्व, 61/5-6

127. महाभारत, वनपर्व, 61/7
128. महाभारत, वनपर्व, 61/10-14
129. महाभारत, वनपर्व, 61/16
130. महाभारत, वनपर्व, 61/17-23
131. महाभारत, वनपर्व, 61/27-29, 32, 35
132. महाभारत, वनपर्व, 62/3-6, 8-9, 11-13
133. महाभारत, वनपर्व, 62/19
134. महाभारत, वनपर्व, 63/1-2, 20-21, 26-29, 32-33
135. महाभारत, वनपर्व, 63/38
136. महाभारत, वनपर्व, 63/39
137. महाभारत, वनपर्व, 64/9-10, 34, 53, 104-105, 65/1, 44-45
138. महाभारत, वनपर्व, 65/31, 33-38
139. महाभारत, वनपर्व, 65/48-49, 51-53
140. महाभारत, वनपर्व, 65/55, 57
141. महाभारत, वनपर्व, 65/68-70
142. महाभारत, वनपर्व, 65/76
143. महाभारत, वनपर्व, 68/1, 27-28, 36-39, 69/13, 16, 19-23
144. महाभारत, वनपर्व, 69/28-29
145. महाभारत, वनपर्व, 69/37-38
146. महाभारत, वनपर्व, 69/44-45
147. महाभारत, वनपर्व, 70/1, 5-6, 14-16
148. महाभारत, वनपर्व, 70/22-26
149. महाभारत, वनपर्व, 70/27, 71/1-2, 73/1
150. महाभारत, वनपर्व, 73/34-35
151. महाभारत, वनपर्व, 74/1-3
152. महाभारत, वनपर्व, 74/25-31, 70/8-12
153. महाभारत, वनपर्व, 75/4-6
154. महाभारत, वनपर्व, 75/8-17
155. महाभारत, वनपर्व, 57/35-38
156. महाभारत, वनपर्व, 75/20-22, 24-26, 76/3, 6, 10-14
157. महाभारत, वनपर्व, 76/17-20
158. महाभारत, वनपर्व, 76/22

159. महाभारत, वनपर्व, 76/26-27
160. महाभारत, वनपर्व, 76/28-30
161. महाभारत, वनपर्व, 73/32-35
162. महाभारत, वनपर्व, 76/36-41
163. महाभारत, वनपर्व, 76/42
164. मालतीमाधवम्, 3/11
165. महाभारत, वनपर्व, 96/18-21
166. महाभारत, वनपर्व, 96/24-28
167. महाभारत, वनपर्व, 96/29
168. महाभारत, वनपर्व, 97/6
169. महाभारत, वनपर्व, 97/7-10
170. महाभारत, वनपर्व, 97/12
171. महाभारत, वनपर्व, 97/13-14
172. महाभारत, वनपर्व, 97/16-18
173. महाभारत, वनपर्व, 97/19
174. महाभारत, वनपर्व, 97/20-21
175. महाभारत, वनपर्व, 97/22
176. महाभारत, वनपर्व, 97/23-24
177. महाभारत, वनपर्व, 97/25
178. महाभारत, वनपर्व, 99/18-20
179. महाभारत, वनपर्व, 99/21
180. महाभारत, वनपर्व, 99/22
181. महाभारत, वनपर्व, 99/25, 27
182. स्कन्दमहापुराण, काशीखंड पूर्वार्द्ध, 4/6-8, 109-110
183. महाभारत, वनपर्व, 115/19-21
184. महाभारत, वनपर्व, 115/31-32
185. महाभारत, वनपर्व, 115/33-34
186. महाभारत, वनपर्व, 115/35-37
187. महाभारत, वनपर्व, 115/37-38
188. महाभारत, वनपर्व, 115/39-41
189. महाभारत, वनपर्व, 115/42
190. महाभारत, वनपर्व, 115/43

191. श्रीविष्णुपुराण, 4/7/34
192. महाभारत, वनपर्व, 116/2
193. सं. ब्रह्मपुराण, पृ.-22, श्रीविष्णुपुराण, 4/7/35
194. सं. ब्रह्मपुराण, पृ.-22
195. महाभारत, वनपर्व, 116/3
196. महाभारत, वनपर्व, 116/4, 10
197. महाभारत, वनपर्व, 116/5
198. महाभारत, वनपर्व, 116/6-7
199. महाभारत, वनपर्व, 116/8
200. महाभारत, वनपर्व, 116/9-14
201. महाभारत, वनपर्व, 116/15-17
202. महाभारत, वनपर्व, 116/20
203. महाभारत, अनुशासनपर्व, 95/6-7
204. महाभारत, अनुशासनपर्व, 95/9-12
205. महाभारत, अनुशासनपर्व, 95/14-15
206. महाभारत, अनुशासनपर्व, 95/16-17
207. महाभारत, अनुशासनपर्व, 95/18-20, 96/7
208. महाभारत, अनुशासनपर्व, 96/8, 12-13
209. सं. ब्रह्मवैवर्त पुराण, गणपतिखण्ड, पृ.सं.-369 (28वाँ अध्याय)
210. महाभारत, वनपर्व, 122/6, 24
211. महाभारत, वनपर्व, 122/7-13
212. महाभारत, वनपर्व, 122/14
213. महाभारत, वनपर्व, 122/15-17
214. महाभारत, वनपर्व, 122/19-23
215. महाभारत, वनपर्व, 122/24-25
216. महाभारत, वनपर्व, 122/26
217. महाभारत, वनपर्व, 122/28-29
218. महाभारत, वनपर्व, 123/1-3
219. महाभारत, वनपर्व, 123/4-10
220. महाभारत, वनपर्व, 123/12
221. महाभारत, वनपर्व, 123/13
222. महाभारत, वनपर्व, 123/14-15

223. महाभारत, वनपर्व, 123/15
224. महाभारत, वनपर्व, 123/16-18
225. महाभारत, वनपर्व, 123/19
226. महाभारत, वनपर्व, 123/20-21
227. सं. पद्मपुराण, पातालखण्ड, पृ.सं.-455
228. सं. स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड, पृ.सं.-1307
229. महाभारत, वनपर्व, 206/1-4
230. महाभारत, वनपर्व, 206/5-8
231. महाभारत, वनपर्व, 206/8-11
232. महाभारत, वनपर्व, 206/12-13, 15-16
233. महाभारत, वनपर्व, 206/17-20
234. महाभारत, वनपर्व, 206/21-23
235. महाभारत, वनपर्व, 206/23-25, 30
236. महाभारत, वनपर्व, 206/32-41
237. महाभारत, वनपर्व, 206/42-43, 46
238. महाभारत, वनपर्व, 206/47; 207/3-5
239. महाभारत, वनपर्व, 276/1-5
240. महाभारत, वनपर्व, 274/9
241. महाभारत, वनपर्व, 277/4-5, 26, 29
242. महाभारत, वनपर्व, 278/11-12, 18-19
243. महाभारत, वनपर्व, 278/22-25
244. महाभारत, वनपर्व, 278/27-29
245. महाभारत, वनपर्व, 278/30
246. श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण, अरण्यकाण्ड, 45/7
247. महाभारत, वनपर्व, 278/31-32
248. महाभारत, वनपर्व, 278/33
249. महाभारत, वनपर्व, 278/35-36
250. महाभारत, वनपर्व, 278/37-38
251. महाभारत, वनपर्व, 278/41
252. महाभारत, वनपर्व, 278/43; 280/41-42
253. महाभारत, वनपर्व, 280/42-43
254. महाभारत, वनपर्व, 280/47

255. महाभारत, वनपर्व, 280/50-52
256. महाभारत, वनपर्व, 281/7-16
257. महाभारत, वनपर्व, 281/19-24
258. महाभारत, वनपर्व, 291/5-7
259. महाभारत, वनपर्व, 291/10-13
260. महाभारत, वनपर्व, 291/14
261. महाभारत, वनपर्व, 291/22-25
262. महाभारत, वनपर्व, 291/27-29, 33-35, 39
263. श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण, युद्धकाण्ड, 117-118वाँ अध्याय
264. महाभारत, वनपर्व, 279/8-9
265. महाभारत, वनपर्व, 282/62-64
266. महाभारत, वनपर्व, 282/66-68
267. महाभारत, वनपर्व, 282/69-70
268. श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण
269. महाभारत, वनपर्व, 293/24, 26
270. महाभारत, वनपर्व, 293/28
271. महाभारत, वनपर्व, 293/29-30
272. महाभारत, वनपर्व, 293/32, 35-36
273. महाभारत, वनपर्व, 293/38-39
274. महाभारत, वनपर्व, 294/2-10
275. महाभारत, वनपर्व, 294/23-24
276. महाभारत, वनपर्व, 294/26-28
277. मनुस्मृति, 9/47
278. महाभारत, वनपर्व, 295/10, 15
279. महाभारत, वनपर्व, 295/18-19
280. महाभारत, वनपर्व, 295/20-21
281. महाभारत, वनपर्व, 296/3,5
282. महाभारत, वनपर्व, 296/4-5
283. महाभारत, वनपर्व, 296/6
284. महाभारत, वनपर्व, 296/16
285. महाभारत, वनपर्व, 296/17
286. महाभारत, वनपर्व, 296/18-19

287. महाभारत, वनपर्व, 296/21
288. महाभारत, वनपर्व, 296/29
289. महाभारत, वनपर्व, 297/2-5
290. महाभारत, वनपर्व, 297/6
291. महाभारत, वनपर्व, 297/7-11
292. महाभारत, वनपर्व, 297/12
293. महाभारत, वनपर्व, 297/19
294. महाभारत, वनपर्व, 297/21-22
295. महाभारत, वनपर्व, 297/23-25
296. महाभारत, वनपर्व, 297/26, 31
297. महाभारत, वनपर्व, 297/27, 32
298. महाभारत, वनपर्व, 297/38, 45
299. महाभारत, वनपर्व, 297/51
300. महाभारत, वनपर्व, 297/52-53
301. महाभारत, वनपर्व, 297/56-60
302. महाभारत, वनपर्व, 297/73-74
303. महाभारत, वनपर्व, 297/82-96
304. महाभारत, वनपर्व, 297/98-100
305. महाभारत, वनपर्व, 298/28-29, 36-41
306. महाभारत, वनपर्व, 299/8-14
307. स्कन्दपुराण, काशीखंड पूर्वार्द्ध, 37/49
308. महाभारत, उद्योगपर्व, 97/12
309. महाभारत, उद्योगपर्व, 97/13
310. महाभारत, उद्योगपर्व, 104/29
311. महाभारत, उद्योगपर्व, 103/26
312. महाभारत, उद्योगपर्व, 104/5
313. महाभारत, उद्योगपर्व, 104/6-7
314. महाभारत, उद्योगपर्व, 113/2
315. महाभारत, उद्योगपर्व, 113/3
316. महाभारत, उद्योगपर्व, 113/4
317. महाभारत, उद्योगपर्व, 113/7
318. महाभारत, उद्योगपर्व, 113/8-9

319. महाभारत, उद्योगपर्व, 113/11
320. महाभारत, उद्योगपर्व, 113/12
321. महाभारत, उद्योगपर्व, 113/13-16
322. महाभारत, उद्योगपर्व, 115/11-12
323. महाभारत, उद्योगपर्व, 114/13-15
324. महाभारत, उद्योगपर्व, 115/13-14
325. महाभारत, उद्योगपर्व, 115/20-21
326. महाभारत, उद्योगपर्व, 116/8
327. महाभारत, उद्योगपर्व, 116/9
328. महाभारत, उद्योगपर्व, 116/10-13
329. महाभारत, उद्योगपर्व, 116/17, 22
330. महाभारत, उद्योगपर्व, 117/6, 18
331. महाभारत, उद्योगपर्व, 118/1
332. महाभारत, उद्योगपर्व, 118/15, 20-21
333. महाभारत, उद्योगपर्व, 119/3-11
334. महाभारत, उद्योगपर्व, 119/12
335. महाभारत, उद्योगपर्व, 119/18,20
336. महाभारत, उद्योगपर्व, 119/23
337. महाभारत, उद्योगपर्व, 119/24
338. महाभारत, उद्योगपर्व, 120/1-5
339. महाभारत, उद्योगपर्व, 120/6-7, 11
340. महाभारत, उद्योगपर्व, 120/12
341. महाभारत, उद्योगपर्व, 121/1, 14
342. महाभारत, उद्योगपर्व, 121/10
343. महाभारत, उद्योगपर्व, 121/15-16
344. महाभारत, उद्योगपर्व, 121/20-21
345. महाभारत, उद्योगपर्व, 121/22
346. महाभारत, उद्योगपर्व, 121/23-25
347. महाभारत, उद्योगपर्व, 122/17
348. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 47/62
349. महाभारत, उद्योगपर्व, 116/3
350. महाभारत, उद्योगपर्व, 133/2-3

351. महाभारत, उद्योगपर्व, 133/4
352. महाभारत, उद्योगपर्व, 133/5-8
353. महाभारत, उद्योगपर्व, 133/9-11
354. महाभारत, उद्योगपर्व, 133/14
355. महाभारत, उद्योगपर्व, 133/15, 21
356. महाभारत, उद्योगपर्व, 133/23-24, 29
357. महाभारत, उद्योगपर्व, 133/32-33
358. महाभारत, उद्योगपर्व, 134/2, 4-6
359. महाभारत, उद्योगपर्व, 134/7
360. महाभारत, उद्योगपर्व, 134/20
361. महाभारत, उद्योगपर्व, 134/33
362. महाभारत, उद्योगपर्व, 134/38, 40-41
363. महाभारत, उद्योगपर्व, 135/1-3
364. महाभारत, उद्योगपर्व, 135/5-8
365. महाभारत, उद्योगपर्व, 135/19
366. महाभारत, उद्योगपर्व, 135/20-21
367. महाभारत, उद्योगपर्व, 135/23-24
368. महाभारत, उद्योगपर्व, 135/25-26
369. महाभारत, उद्योगपर्व, 135/32-34
370. महाभारत, उद्योगपर्व, 136/1-2, 9-10
371. महाभारत, उद्योगपर्व, 173/9
372. महाभारत, उद्योगपर्व, 173/14, 22
373. महाभारत, उद्योगपर्व, 174/4-7, 9
374. महाभारत, उद्योगपर्व, 175/1-3
375. महाभारत, उद्योगपर्व, 175/4
376. महाभारत, उद्योगपर्व, 175/5-7
377. महाभारत, उद्योगपर्व, 175/11-12, 16
378. महाभारत, उद्योगपर्व, 175/22
379. महाभारत, उद्योगपर्व, 175/26-30
380. महाभारत, उद्योगपर्व, 175/31
381. महाभारत, उद्योगपर्व, 175/36, 41, 176/6,8
382. महाभारत, उद्योगपर्व, 176/12, 14

383. महाभारत, उद्योगपर्व, 176/15, 21, 25
384. महाभारत, उद्योगपर्व, 177/5-7
385. महाभारत, उद्योगपर्व, 177/14
386. महाभारत, उद्योगपर्व, 177/42
387. महाभारत, उद्योगपर्व, 178/24, 30, 34
388. महाभारत, उद्योगपर्व, 185वाँ अध्याय
389. महाभारत, उद्योगपर्व, 186/4, 8
390. महाभारत, उद्योगपर्व, 186/9
391. महाभारत, उद्योगपर्व, 186/10, 23
392. महाभारत, उद्योगपर्व, 186/24-25
393. महाभारत, उद्योगपर्व, 186/41
394. महाभारत, उद्योगपर्व, 187/1, 3
395. महाभारत, उद्योगपर्व, 187/2
396. महाभारत, उद्योगपर्व, 187/7-8
397. महाभारत, उद्योगपर्व, 187/18-19
398. महाभारत, उद्योगपर्व, 188/13, 191/1
399. महाभारत, उद्योगपर्व, 192/1-3
400. महाभारत, भीष्मपर्व, 115/26, 107/63, 83-84, 87
401. महाभारत, शल्यपर्व, 48/2
402. संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ.सं.-798
403. महाभारत, शल्यपर्व, 48/3
404. महाभारत, शल्यपर्व, 48/4-6
405. महाभारत, शल्यपर्व, 48/7
406. महाभारत, शल्यपर्व, 48/8-10
407. महाभारत, शल्यपर्व, 48/13
408. मनुस्मृति, 11/234, 237
409. महाभारत, शल्यपर्व, 48/16-17
410. महाभारत, शल्यपर्व, 48/19-21
411. महाभारत, शल्यपर्व, 48/19
412. महाभारत, शल्यपर्व, 48/22
413. महाभारत, शल्यपर्व, 48/23-24
414. महाभारत, शल्यपर्व, 48/25-26

415. महाभारत, शल्यपर्व, 48/29-32
416. महाभारत, शल्यपर्व, 48/62
417. महाभारत, शल्यपर्व, 52/3
418. महाभारत, शल्यपर्व, 52/6
419. महाभारत, शल्यपर्व, 52/7
420. महाभारत, शल्यपर्व, 52/9-10
421. महाभारत, शल्यपर्व, 52/11-13
422. महाभारत, शल्यपर्व, 52/13
423. महाभारत, शल्यपर्व, 52/14-15
424. महाभारत, शल्यपर्व, 52/16-17
425. महाभारत, शल्यपर्व, 52/18-19
426. महाभारत, शल्यपर्व, 52/20
427. महाभारत, शल्यपर्व, 52/21-22
428. महाभारत, शल्यपर्व, 52/23
429. मनुस्मृति, 11/245
430. योगदर्शन, 2/1, व्याख्या
431. महाभारत, शान्तिपर्व, 18/4-6
432. महाभारत, शान्तिपर्व, 18/7
433. महाभारत, शान्तिपर्व, 18/8
434. महाभारत, शान्तिपर्व, 18/9, 11-15
435. महाभारत, शान्तिपर्व, 18/21-22
436. महाभारत, शान्तिपर्व, 18/24-26
437. महाभारत, शान्तिपर्व, 18/27-28
438. मार्कण्डेयपुराण, 29/6
439. मुण्डकोपनिषद्, 1/1/8
440. महाभारत, शान्तिपर्व, 18/30
441. महाभारत, शान्तिपर्व, 18/33
442. महाभारत, शान्तिपर्व, 18/34
443. महाभारत, शान्तिपर्व, 18/35
444. महाभारत, शान्तिपर्व, 220वाँ अध्याय, पृ.सं.-674
445. महाभारत, शान्तिपर्व, पृ.सं.-674
446. महाभारत, शान्तिपर्व, पृ.सं.- 674

447. महाभारत, शान्तिपर्व, पृ.सं.-674
448. महाभारत, शान्तिपर्व, पृ.सं.-674
449. महाभारत, शान्तिपर्व, पृ.सं.-675
450. महाभारत, शान्तिपर्व, पृ.सं.-676
451. महाभारत, शान्तिपर्व, पृ.सं.-676
452. महाभारत, शान्तिपर्व, पृ.सं.-677
453. महाभारत, शान्तिपर्व, पृ.सं.-677
454. महाभारत, शान्तिपर्व, पृ.सं.-678
455. महाभारत, शान्तिपर्व, पृ.सं.-678
456. महाभारत, शान्तिपर्व, पृ.सं.-681
457. महाभारत, शान्तिपर्व, पृ.सं.-682
458. योगदर्शन, 3/35
459. योगदर्शन, 2/30
460. श्रीमद्भागवतमहापुराण, 7/11/27
461. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/7
462. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/6
463. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/8-9
464. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/12
465. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/13, 16
466. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/17
467. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/20
468. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/21
469. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/22, 25, 28, 31, 51
470. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/54-55
471. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/57-58, 66-75
472. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/76
473. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/77-95
474. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/97-98
475. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/99-100, 115, 118-121
476. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/122, 124-125
477. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/126-129
478. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/133

479. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/134-163
480. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/164
481. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/165-167
482. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/169-171
483. मुण्डकोपनिषद, 1/2/11
484. आपस्तम्बस्मृति, 10/7-8
485. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/172-173
486. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/174
487. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/176-177
488. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/178,182
489. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/183-186
490. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/187-188
491. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/189
492. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/190
493. महाभारत, शान्तिपर्व, 320/192
494. योगदर्शन, 3/38
495. योगदर्शन, 1/2
496. महाभारत, अनुशासनपर्व, 1/17
497. महाभारत, अनुशासनपर्व, 1/18
498. महाभारत, अनुशासनपर्व, 1/19-20
499. महाभारत, अनुशासनपर्व, 1/21
500. महाभारत, अनुशासनपर्व, 1/22-23
501. महाभारत, अनुशासनपर्व, 1/24-25
502. महाभारत, अनुशासनपर्व, 1/27-28
503. श्रीमद्भागवतमहापुराण, 11/7/16
504. महाभारत, अनुशासनपर्व, 1/35
505. महाभारत, अनुशासनपर्व, 1/50
506. महाभारत, अनुशासनपर्व, 1/76
507. महाभारत, अनुशासनपर्व, 1/77-79
508. महाभारत, अनुशासनपर्व, 2/38
509. महाभारत, अनुशासनपर्व, 2/39
510. महाभारत, अनुशासनपर्व, 2/39

511. महाभारत, अनुशासनपर्व, 2/41
512. महाभारत, अनुशासनपर्व, 2/42-46
513. महाभारत, अनुशासनपर्व, 2/47
514. महाभारत, अनुशासनपर्व, 2/49-50
515. महाभारत, अनुशासनपर्व, 2/51-52
516. महाभारत, अनुशासनपर्व, 2/54-55
517. महाभारत, अनुशासनपर्व, 2/56
518. महाभारत, अनुशासनपर्व, 2/57-61
519. महाभारत, अनुशासनपर्व, 2/62-63
520. महाभारत, अनुशासनपर्व, 2/64-66
521. महाभारत, अनुशासनपर्व, 2/69, 71, 75
522. महाभारत, अनुशासनपर्व, 2/77-79, 86
523. महाभारत, अनुशासनपर्व, 2/81
524. महाभारत, अनुशासनपर्व, 2/82-85, 88
525. सं. स्कन्दपुराण, ब्रह्मखण्ड, धर्मारण्यखण्ड, पृ.सं.-620; नारीशिक्षा, पृ.सं.-8
526. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ.सं.-448
527. महाभारत, अनुशासनपर्व, 52/7-10
528. महाभारत, अनुशासनपर्व, 52/13-16
529. महाभारत, अनुशासनपर्व, 52/21-22
530. महाभारत, अनुशासनपर्व, 52/33
531. महाभारत, अनुशासनपर्व, 52/30-32
532. महाभारत, अनुशासनपर्व, 52/34
533. महाभारत, अनुशासनपर्व, 52/35
534. महाभारत, अनुशासनपर्व, 52/36-39, 53/2-6
535. महाभारत, अनुशासनपर्व, 53/7
536. महाभारत, अनुशासनपर्व, 53/9
537. महाभारत, अनुशासनपर्व, 53/11-16
538. महाभारत, अनुशासनपर्व, 53/21-23
539. महाभारत, अनुशासनपर्व, 53/27
540. महाभारत, अनुशासनपर्व, 53/30
541. महाभारत, अनुशासनपर्व, 53/32
542. महाभारत, अनुशासनपर्व, 53/33

543. महाभारत, अनुशासनपर्व, 53/42
544. महाभारत, अनुशासनपर्व, 53/43-44
545. महाभारत, अनुशासनपर्व, 53/52-54, 69, 55/24-25,36
546. सं. स्कन्दपुराण, पृ.सं.-620, नारी शिक्षा, पृ.सं.-8
547. महाभारत, अनुशासनपर्व, 19/12
548. महाभारत, अनुशासनपर्व, 21/18
549. महाभारत, अनुशासनपर्व, 19/14-25
550. महाभारत, अनुशासनपर्व, 40/16-17
551. महाभारत, अनुशासनपर्व, 40/18
552. महाभारत, अनुशासनपर्व, 43/13
553. महाभारत, अनुशासनपर्व, 42/9
554. महाभारत, अनुशासनपर्व, 130/2
555. महाभारत, अनुशासनपर्व, 130/3-4
556. महाभारत, उद्योगपर्व, 111/14
557. सं. ब्रह्मवैवर्त पुराण, पृ.सं.-598
558. महाभारत, अनुशासनपर्व, 56/27
559. महाभारत, अनुशासनपर्व, 56/29
560. महाभारत, अनुशासनपर्व, 56/32
561. महाभारत, अनुशासनपर्व, 56/33
562. महाभारत, अनुशासनपर्व, 56/34
563. श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण, बालकाण्ड, 48वाँ सर्ग
564. मनुस्मृति, 11/47-48, पृ.सं.-409
565. महाभारत, अनुशासनपर्व, 123/2-3, 8-20

पंचम अध्याय

महाभारत में कुरुवंशीय कुन्ती, गान्धारी के पूर्ववर्ती स्त्री पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का अध्ययन तथा पर्यालोचन

पंचम अध्याय

महाभारत में कुरुवंशीय कुन्ती, गान्धारी के पूर्ववर्ती स्त्री पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का अध्ययन तथा पर्यालोचन

गंगा

गंगा साधारण स्त्री नहीं थी। वह अलौकिक शक्ति से सम्पन्न जह्नु की पुत्री और महर्षिगण द्वारा सेवित त्रिपथगामिनी, दिव्यरूपिणी, सरिताओं में श्रेष्ठ, देवनदी गंगा थी।[1] एक दिन देवलोक में ब्रह्माजी की सेवा में उपस्थित सभी देवताओं और बहुत से राजर्षियों के मध्य देवनदी गंगा का आगमन हुआ। उस समय वायु के झोंके से उनके शरीर का उज्ज्वल वस्त्र सहसा ऊपर की ओर उठ गया। यह देखकर सभी देवताओं ने तुरन्त अपना मुख नीचे की ओर कर लिया किन्तु राजर्षि महाभिष निःशंक होकर देवनदी की ओर देखते ही रह गये। तब ब्रह्मा ने राजर्षि को मनुष्ययोनि में जन्म लेने का शाप दिया और कहा 'जिस गंगा ने तुम्हारे चित्त को चुरा लिया है वही मनुष्यलोक में तुम्हारे प्रतिकूल आचरण करेगी और जब तुम्हें गंगा पर क्रोध आ जायेगा तब तुम भी शाप से मुक्त हो जाओगे।'[2] अतः इस कारण से गंगा स्त्री रूप धारण करके मत्र्यलोक में आई और भीष्म जैसे महान् पुत्र की जननी बनी। दिव्यरूपिणी गंगा में निम्नलिखित चारित्रिक विशेषताओं का समावेश है-

उदारहृदया - मुनि वसिष्ठ ने अपनी धेनु का वसुदेवताओं द्वारा अपहरण किये जाने पर क्रोधित होकर वसुदेवताओं को मनुष्ययोनि में जन्म लेने का शाप दिया। वसिष्ठ द्वारा प्रदत्त शाप के कारण जब वे स्वर्ग से नीचे गिरने लगे तब मार्ग में जाती हुई देवनदी गंगा ने वसुदेवताओं से इसका कारण पूछा तब उन्होंने शाप का कारण बताकर गंगा से प्रार्थना की कि "तुम पृथ्वी पर मानवपत्नी होकर हम वसुओं को अपने पुत्ररूप से उत्पन्न करो। हमें मानुषी स्त्रियों के उदर में प्रवेश न करना पड़े इसीलिये हमने यह अनुरोध किया है।" यथोक्तम्-

त्वमस्मान् मानुषी भूत्वा सृज पुत्रान् वसून् भुवि।
न मानुषीणां जठरं प्रविशेम वयं शुभे।[3]

वसुओं के ऐसा कहने पर गंगा जी ने 'तथास्तु' कहकर उनसे मत्र्यलोक में उनके जनक कौन होंगे, ऐसा पूछा। तब उन्होंने 'प्रतीप के पुत्र राजा शान्तनु' को अपना होने वाला जनक बताया।[4] तब गंगाजी ने कहा कि मैं राजा शान्तनु का प्रिय करुँगी और तुम्हारे इस अभीष्ट कार्य को भी सिद्ध करूँगी (प्रियं तस्य करिष्यामि युष्माकं चैतदीप्सितम्)[5] जब वसुओं ने स्वयं के उद्धारार्थ गंगा से उनके जन्म के पश्चात् अपने जल में प्रवाहित करने की बात कही तब वसुओं ने राजा शान्तनु के विषय में विचार नहीं किया कि जब उसके पुत्रों को एक-एक करके जल में प्रवाहित किया जायेगा तो उस समय राजा की कैसी अवस्था होगी। लेकिन गंगा ने राजा के विषय में सोचकर ही उन वसुओं से कहा ''उस राजा का मेरे साथ पुत्र के लिये किया हुआ सम्बन्ध व्यर्थ न हो जाय इसलिये उनके लिये एक पुत्र की व्यवस्था होनी चाहिये।''

एवमेतत् करिष्यामि पुत्रस्तस्य विधीयताम्।
नास्य मोघः संगमः स्यात् पुत्रहेतोर्मया सह।।[6]

तब वसुओं ने अपने-अपने तेज से एक-एक अष्टयांश देने का वचन दिया और कहा कि उस तेज से जो तुम्हारा एक पुत्र होगा, वह उस राजा की इच्छानुरूप होगा परन्तु मत्युलोक में उसके कोई संतान नहीं होगी।[7] गंगा ने केवल वसुओं की शापमुक्ति के विषय में ही नहीं सोचा बल्कि शान्तनु के सुख के विषय में विचार कर कल्याणकारी निर्णय भी लिया। गंगा के ये दोनों निर्णय उसके उदारहृदय होने के परिचायक हैं।

बुद्धिमती - गंगा उदारहृदय होने के साथ ही बुद्धिमती स्त्री भी थी। राजा प्रतीप के साथ संवाद करते समय उसके इस गुण का दर्शन होता है। जब राजा प्रतीप गंगाद्वार में अनेक वर्षों से जप कर रहे थे, उस समय गंगा देवांगनाओं के समान सुन्दर रूप और उत्तम गुणों से युक्त युवती स्त्री का रूप धारण करके जल से निकलकर स्वाध्याय में लगे हुये राजा प्रतीप के दाहिने उरू पर बैठ गयी तब राजा ने उससे पूछा कि ''मैं तुम्हारा कौनसा प्रिय कार्य करूँ?''[8] तब गंगा ने कहा ''राजन्! मैं आपको चाहती हूँ। आप मुझे स्वीकार करें क्योंकि काम के अधीन होकर अपने पास आयी हुयी स्त्रियों का परित्याग साधु पुरुषों ने निन्दित माना है-

त्वामहं कामये राजन् भजमानां भजस्व माम्।

त्यागः कामवतीनां हि स्त्रीणां सद्भिर्विगर्हितः।।[9]

तब राजा ने उसके प्रस्ताव को यह कहकर अस्वीकृत कर दिया कि ''मैं कामवश परस्त्री के साथ और असवर्णा स्त्री के साथ सम्बन्ध नहीं रखता, यह मेरा धर्मानुकूल व्रत है।''[10] यह सुनकर गंगा ने राजा से कहा ''राजन्! मैं अमंगल करने वाली नहीं हूँ, समागम के अयोग्य भी नहीं हूँ और ऐसी भी नहीं हूँ कि कभी कोई मुझ पर दोष लगाये। मैं आपके प्रति अनुरक्त दिव्यकन्या हूँ, सुन्दर स्त्री हूँ अतः आप मुझे स्वीकार करें''-

नाश्रेयस्यस्मि नागम्या न वक्तव्या च कर्हिचित्।

भजन्तीं भज मां राजन् दिव्यां कन्यां वरस्त्रियम्।।[11]

राजा प्रतीप गंगा के ये वचन सुनकर कहते हैं- ''तुम जिस प्रिय मनोरथ की पूर्ति के लिये मुझे प्रेरित कर रही हो, उसका निराकरण भी तुम्हारे द्वारा ही हो गया। तुम मेरी दाहिनी जाँघ पर आकर बैठी हो। यह पुत्र, पुत्री तथा पुत्रवधू का आसन है। पुरुष की बाँयी जाँघ ही कामिनी के उपभोग के योग्य है किन्तु तुमने उसका त्याग कर दिया है। तुम मेरी पुत्रवधू बन जाओ।''[12] तब गंगा ने उस प्रस्ताव को स्वीकार करते हुये कहा ''आपके कुल में जो विख्यात राजा हुये हैं, उनकी साधुता सर्वोपरि है किन्तु मैं एक शर्त पर आपके पुत्र से विवाह करूँगी। मैं जो कुछ भी आचरण करूँ, वह सब आपके पुत्र को स्वीकार होना चाहिये। वे उसके विषय में कभी कुछ विचार न करें। इस शर्त पर रहती हुयी मैं आपके पुत्र के प्रति अपना प्रेम बढ़ाऊँगी। मुझसे जो पुण्यात्मा एवं प्रिय पुत्र उत्पन्न होंगे, उनके द्वारा आपके पुत्र को स्वर्गलोक की प्राप्ति होगी।'' यथोक्तम्-

कुलस्य ये वः प्रथितास्तत्साधुत्वमथोत्तमम्। समयेनेह धर्मज्ञ आचरेयं च यद् विभो।।

तत् सर्वमेव पुत्रस्ते न मीमांसेत कर्हिचित्। एवं वसन्ती पुत्रे ते वर्धयिष्याम्यहं रतिम्।।

पुत्रैः पुण्यैः प्रियैश्चैव स्वर्गं प्राप्स्यति ते सुतः।।[13]

राजा प्रतीप ने उसकी शर्त स्वीकार कर ली। तब गंगा भी अन्तर्धान हो गयी। यहाँ यह बात महत्त्वपूर्ण है कि उस समय तक राजा प्रतीप के कोई सन्तान नहीं थी और यह बात गंगा को ज्ञात थी तथापि वह राजा प्रतीप के समीप गयी, उनकी दाहिनी जाँघ पर बैठी और अपनी बातों से उन्हें इस बात के लिये सहमत भी कर लिया कि वे उसे उसकी शर्तों को मानते हुये ही अपनी पुत्रवधू के रूप में स्वीकार करें। सम्भवतः अभीष्ट कार्य की सिद्धि में

किसी तरह का कोई अवरोध उत्पन्न न हो, इसीलिये वह राजा के समीप गयी होगी अन्यथा वह शान्तनु के युवा होने की प्रतीक्षा भी कर सकती थी। उसके इन वचनों से, किये गये कार्य से, उसमें बुद्धिकौशल के साथ ही वाक्चातुर्य का गुण भी विद्यमान था, यह पता चलता है।

पतिव्रता - तेजस्वी शरीर से युक्त साक्षात् लक्ष्मी के समान, कमल के भीतरी भाग के समान कान्तिमती, सुदती, निर्दोष और सुन्दर अंगों से युक्त, सूक्ष्म वस्त्र और दिव्याभूषणों से विभूषित, देवकन्या के समान शोभायमान त्रिपथगामिनी देवी ' गंगा' ही अत्यन्त सुन्दर मनुष्य देह धारण करके देवराज इन्द्र के समान तेजस्वी नृपशिरोमणि महाराज शान्तनु को, जिन्हें भाग्य से इच्छानुसार सुख अपने आप मिल रहा था, पत्नीरूप में प्राप्त हुयी थी।[14] शान्तनु ने स्वयं ही रूपयौवनसम्पन्ना स्त्रीरूपधारिणी गंगा से पत्नी होने की याचना की थी[15] और गंगा ने उनके साथ इस शर्त पर रहना स्वीकार किया था कि 'मैं शुभ या अशुभ जो कुछ भी करूँ उसके लिये आपको मुझे नहीं रोकना चाहिये और मुझसे कभी अप्रिय वचन नहीं कहना चाहिये। यदि आपने कभी मुझे किसी कार्य से रोका या अप्रिय वचन कहा तो मैं निश्चय ही आपका त्याग कर दूँगी।' यथोक्तम्-

भविष्यामि महीपाल महिषी ते वशानुगा। यत् तु कुर्यामहं राजंछुभं वा यदि वाशुभम्।
न तद् वारयितव्यास्मि न वक्तव्या तथाप्रियम्।। एवं हि वर्तमानेऽहं त्वयि वत्स्यामि पार्थिव।
वारिता विप्रियं चोक्ता त्यजेयं त्वामसंशयम्।।[16]

राजा शान्तनु ने भी उसकी शर्त मान ली। वे पत्नीरूप में देवी गंगा को प्राप्त कर उसके शील स्वभाव, सदाचार, रूप, उदारता, सद्गुण तथा एकान्तसेवा से बहुत सन्तुष्ट रहते थे (स तस्याः शीलवृत्तेन रूपौदार्यगुणेन च, उपचारेण च रहस्तुतोष जगतीपतिः)[17] देवी गंगा हाव-भाव से युक्त, सम्भोग-चातुरी और प्रणय-चातुरी से राजा को जैसे-जैसे रमाती उसी प्रकार वे उसके साथ रमण करते थे। उस दिव्य स्त्री के उत्तमगुणों ने उनके चित्त को चुरा लिया था। अनेक वर्षों तक उसके साथ इच्छानुसार रमण करते हुये देवी गंगा ने अपने गर्भ से देवताओं के समान तेजस्वी आठ पुत्र उत्पन्न किये।[18] उनमें से सात पुत्रों को उत्पन्न होते ही देवी गंगा ने गंगाजल में प्रवाहित कर दिया। प्रवाहित करते समय वह कहती "मैं तुम्हें प्रसन्न कर रही हूँ" (प्रीणाम्यहं त्वामित्युक्त्वा गंगा स्रोतस्यमज्जयत्)[19] पत्नी का यह व्यवहार राजा शान्तनु को अप्रिय लगता था किन्तु 'कहीं यह मेरा त्याग न कर दे', इस भय से वे उससे कुछ नहीं कहते थे और उन्हें अपने पिता के द्वारा दिये गये आदेश का भी स्मरण था कि

''उससे कभी मत पूछना''[20] किन्तु आठवें पुत्र के जन्म के समय अपने पुत्र के प्राण बचाने की इच्छा से धैर्यच्युत हो दुःखार्त होकर राजा ने अपनी पत्नी से कहा कि ''इस बालक का वध मत कर, तू किसकी कन्या है? कौन है? क्यों अपने ही पुत्रों की हत्या कर रही है? पुत्रघातिनी! तुझे पुत्रहत्या का यह अत्यन्त निन्दित महापाप लगा है।''[21] तब राजा के ये वचन सुनकर गंगा ने अपने पति को धैर्य बँधाते हुये कहा ''हे पुत्रकाम नरेश! आप पुत्रवानों में श्रेष्ठ हो। मैं आपके इस पुत्र को नहीं मारूँगी परन्तु यहाँ मेरे रहने का समय अब समाप्त हो गया।'' जैसी कि पूर्व में प्रतिज्ञा की थी-

पुत्रकाम न ते हन्मि पुत्रं पुत्रवतां वर।
जीर्णस्तु मम वासोऽयं यथा स समयः कृतः।।[22]

तत्पश्चात् उसने राजा को स्वयं का परिचय दिया और स्वयं के यहाँ आने का तथा पुत्रों को जल में प्रवाहित करने का प्रयोजन बताया। अपने पति द्वारा सम्पूर्ण वृत्तान्त जानने की इच्छा करने पर देवी गंगा ने वसिष्ठ द्वारा वसुओं को शाप प्राप्त होने की कथा भी सुनायी तदनन्तर अपने पति के कल्याण की कामना करते हुये, अपने आठवें पुत्र के विषय में उन्हें अवगत कराते हुये कहा कि ''सम्पूर्ण वसुओं के अंश से इसकी उत्पत्ति हुई है। मैंने आपके लिये वसुओं के समीप प्रार्थना की थी कि राजा का एक पुत्र जीवित रहे। इसे मेरा पुत्र समझना।''[23] मेरा ये पुत्र देवव्रत और गंगादत्त नामों से विख्यात होगा और यह गुणों में आप से भी बढ़कर होगा। वस्तुतः यह द्यो नामक वसु ही है जिसकी शापमुक्ति दीर्घकाल के पश्चात् होगी।[24] आपका यह पुत्र अभी शिशु-अवस्था में है। बड़ा होने पर फिर आपके पास आ जायेगा और आप जब मुझे बुलायेंगे तभी मैं आपके समक्ष उपस्थित हो जाऊँगी-

अयं कुमारः पुत्रस्ते विवृद्धः पुनरेष्यति।
अहं च ते भविष्यामि आह्वानोपगता नृप।।[25]

यह कहकर गंगा अपने पुत्र को साथ ले वहीं अन्तर्धान हो गयी।

एक दिन राजा शान्तनु जब भागीरथी के तट पर आये तो उन्होंने देखा '' गंगा में बहुत थोड़ा जल रह गया है। यह देखकर वह बहुत आश्चर्यचकित हुये इसका कारण जानने की इच्छा से वे थोड़ा आगे गये तो उन्होंने देखा देवराज इन्द्र के समान रूप सम्पन्न कुमार दिव्यास्त्र का अभ्यास कर रहा है और गंगा की धारा को रोककर खड़ा है। यह अद्भुत दृश्य देखकर राजा ने गंगा से अपने पुत्र को दिखाने के लिये कहा[26] तब गंगा ने प्रकट होकर

अपने पुत्र का हाथ पकड़कर राजा से कहा "यह आप ही का पुत्र है। मैंने इसका भली भाँति पालन-पोषण किया है। इसकी सारी शिक्षा पूर्ण हो चुकी है अतः अपने इस पुत्र को ग्रहण कीजिए।" यह कहकर वह वहीं अन्तर्धान हो गयी।[27]

उपर्युक्त वृत्तान्त से यह स्पष्ट है कि पत्नी रूप में देवी गंगा को पाकर राजा शान्तनु सदैव सन्तुष्ट रहे। गंगा ने भी पत्नी धर्म का पालन करने का यथासम्भव प्रयत्न किया किन्तु अनुबन्धों के कारण वह आजीवन उनके साथ न रह सकी। गंगा उदारहृदया, बुद्धिमती, रूपयौवन गुण सम्पन्ना, सदाचारिणी, सत्यवादिनी, स्पष्टवादिनी, प्रतिज्ञापालन में दृढ़ निश्चय वाली, अलौकिकशक्तिसम्पन्ना और कामविचक्षण पत्नी थी। यह सही है कि शर्तों की अनुपालना न होने पर वह अपने पति का त्याग कर देती है किन्तु इस एक दोष से उसके चारित्रिक गुणों को अनदेखा नहीं किया जा सकता क्योंकि मत्र्यलोक में वह स्वयं के प्रयोजन की सिद्धि के लिये नहीं आयी थी अपितु ब्रह्मा द्वारा राजर्षि महाभिष को मिले शाप को सफल बनाने और वसुओं की मुक्ति का उद्देश्य ही वहाँ आने का एकमात्र उसका प्रयोजन था। आठवें पुत्र को राजा शान्तनु को सौंपने का निर्णय भी उसने अपने पति के कल्याणार्थ ही लिया था। स्वयं राजा शान्तनु ने भी गंगा के सत्य को जानने के पश्चात् उसे दुर्वचन नहीं कहे। उन दोनों ने ही यथास्थिति को स्वीकार किया किन्तु पतिवियोग का दुःख गंगा को था या नहीं इस पर व्यासजी ने प्रकाश नहीं डाला है।

वात्सल्यपूर्णा माता - गंगा ने अपने पुत्र का भलीभाँति पालन-पोषण किया था। उसकी शिक्षा का भी समुचित प्रबन्ध कर उसे सम्पूर्ण शास्त्रों और शस्त्रविद्या में निपुण बनाया था किन्तु उसके भावों का प्रकटन उद्योगपर्व और अनुशासनपर्व में दिखायी देता है। अम्बा के कारण परशुरामजी के साथ भीष्म का युद्ध होने पर पुत्र का हित चाहती हुयी गंगा भीष्म से कहती है कि "मैं स्वयं जाकर परशुरामजी से बार-बार याचना करूँगी कि आप अपने शिष्य के साथ युद्ध न कीजिये। विप्रवर जमदग्निनन्दन परशुराम के साथ समरभूमि में युद्ध करने का हठ अच्छा नहीं है", ऐसा कहकर वह उसे डाँटने लगती है-

मा मैवं पुत्र निर्बन्धं कुरु विप्रेण पार्थिव। जामदग्न्येन समरे यौद्धमित्येव भत्र्सयत्।।
गत्वाहं जामदग्न्यं तु प्राचयिष्ये कुरुद्वह। भीष्मेण सह मा योत्सीः शिष्येणेति पुनः पुनः।।[28]

तब भीष्म ने अपनी माता को घटना से पूर्णतः अवगत कराया तत्पश्चात् गंगा ने परशुराम जी के पास जाकर क्षमायाचना की किन्तु परशुराम जी ने पहले भीष्म को ही युद्ध

से निवृत्त करने को कहा इसीलिये गंगा पुनः अपने पुत्र को समझाने गयी किन्तु भीष्म ने अपनी माता का कहना नहीं माना और युद्ध करने लगे।[29] कई दिनों तक युद्ध चला। एक दिन भीष्म का सारथि परशुराम जी के बाणों के आघात से मृत्यु को प्राप्त हो गया और भीष्म भी उनके बाणों से घायल होकर रथ सहित नीचे गिरने लगे तब उनकी माता देवी गंगा ने आकर घोड़ों की बागडोर संभाल ली और सारथी बनकर उनके रथ, घोड़े तथा अन्यान्य उपकरणों की रक्षा की। यथोक्तम्-

हयाश्च में संगृहीतास्तयासन्, महानद्या संयति कौरवेन्द्र।
ररक्ष सा मां सरथं हयांश्चोपस्कराणि च।।[30]

परशुराम जी और भीष्म के मध्य यह युद्ध तेईस दिनों तक चला। चैबीसवें दिन ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करने की इच्छा से भीष्म पुनः युद्ध के लिये तैयार हुये किन्तु माता गंगा, पितरों तथा देवताओं के पुनः आग्रह करने पर वे दोनों युद्ध से विरत हो गये।[31] युद्ध की समाप्ति पर भीष्म का वध न होने से जब अम्बा ने भीष्म के वध की इच्छा से कठोर तपश्चर्या का आश्रय लिया तब गंगा ने काशिराज की कन्या को सावधान करते हुये कहा ''तू कुटिल आचरण कर रही है। तेरा यह मनोरथ कभी पूर्ण नहीं हो सकता। यदि भीष्म के विनाश के लिये तू प्रयत्न कर रही है और व्रत में स्थित रहकर ही यदि तू अपना शरीर त्यागेगी तो तुझे कुटिला, वार्षिकोदका, दुस्तीर्था नदी बनना पड़ेगा। तू केवल बरसात की नदी समझी जायेगी, शेष आठ महीनों में तेरा पता नहीं लगेगा। वर्षाकाल में भी भयंकर ग्राहों से भरी रहने के कारण तू समस्त प्राणियों के लिये अत्यन्त भयंकर और घोरस्वरूपा बनी रहेगी। यथोक्तम्-

ततोऽब्रवीत् सागरगा जिह्मं चरसि भाविनि। नैष कामोऽनवद्याऽि शक्यः प्राप्तुं त्वयाबले।।
यदि भीष्मविनाशाय काश्ये चरसि वै व्रतम्। व्रतस्था च शरीरं त्वं यदि नाम विमोक्ष्यसि।।
नदी भविष्यसि शुभे कुटिला वार्षिकोदका। दुस्तीर्था न तु विज्ञेया वार्षिकी नाष्टमासिकी।।
भीमग्राहवती घोरा सर्वभूतभयंकरी।[32]

इस प्रकार गंगा ने पुत्रस्नेहवश अम्बा को भीष्म का वध करने से रोकने के लिये यथासंभव प्रयत्न किया। कौरवों और पाण्डवों के युद्ध में भीष्म द्वारा प्राणत्याग किये जाने पर अपने पुत्र की मृत्यु से दुःखी होकर 'गंगा' जल से निकलकर प्रकट हुई और शोकार्त होकर विलाप करते हुये कहने लगी कि मेरा पराक्रमी पुत्र शिखण्डी के हाथ से मारा गया, यह

अत्यन्त कष्ट की बात है। अवश्य ही मेरा हृदय पत्थर और लोहे का बना हुआ है तभी तो अपने प्रिय पुत्र को जीवित न देखकर भी यह विदीर्ण नहीं होता। यथोक्तम्-

दिव्यैरस्त्रैर्महावीर्यः स हतोऽद्य शिखण्डिना। अश्मसारमयं नूनं हृदयं मम पार्थिवाः।।

अपश्यन्त्याः प्रियं पुत्रं यन्न दीर्यति मेऽद्य वै।[33]

इस तरह विलाप करती हुयी गंगा को श्रीकृष्ण सान्त्वना देते हैं। तब वह शोक त्याग कर वहाँ से चली जाती है।[34]

देवी गंगा एक अच्छी पत्नी होने के साथ ही श्रेष्ठ माता भी थीं। एक जननी के रूप में वह अपने पुत्र को सदैव समयोचित मार्गदर्शन देती रही और उसके हितसाधन में तत्पर रही। देवी रूपा होने पर भी वह साधारण स्त्री की भाँति अपने पुत्र की मृत्यु पर विलाप करती है। उसके हृदय में अपने पुत्र के प्रति चिन्ता, अत्यधिक प्रेम और करुणा का भाव विद्यमान था। भले ही उन्होंने राजा शान्तनु के साथ पत्नी रूप में कुछ ही वर्ष बिताये तथापि गंगा ने सदैव अपने पति का सम्मान किया और उन्हें सर्वथा सुख पहुँचाने की ही चेष्टा की। कर्तव्यपालन के सम्बन्ध में वह हमेशा तत्पर रही। वह एक संवेदनशील स्त्री थी। सभी के प्रति हिताकांक्षिणी होने के कारण गंगा को 'सर्वभूतहितैषणी'[35] की भी संज्ञा दी गयी है।

सत्यवती

मत्स्यगन्धा, गन्धवती, गन्धकाली, योजनगन्धा विशेषणों से युक्त 'सत्यवती' निषादराज की कन्या थी।[36] वह देवांगना के समान अतिशय रूप सौन्दर्य से युक्त, रम्भोरू, श्यामल नेत्रों वाली, पवित्र मुस्कान और मनमोहक हँसी वाली, समस्त सद्गुणों से सम्पन्न, रूप और सत्व से संयुक्त थी[37] और उसने राजा शान्तनु की द्वितीय पत्नी बनकर उनके कुलधर्म का अनुसरण करते हुये उनके कुल को गौरवान्वित किया था। महाभारत में धर्मपरायणा सत्यवती की निम्नांकित चारित्रिक विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं-

अद्भुत जन्मवृत्तान्तः महाभारत के आदिपर्व में सत्यवती के जन्म की कथा वर्णित है। उसमें बताया गया है कि एक दिन 'उपरिचर' के नाम से विख्यात चेदिराज 'वसु' की पत्नी 'गिरिका' ने पुत्रोत्पत्ति का उचित समय जानकर उनसे समागम के लिये कहा।[38] उसी दिन पितरों ने राजा वसु को हिंसक पशुओं को मारने का आदेश दिया। पितरों की आज्ञापालनार्थ वे वन में चले गये। वहाँ वन की रमणीय शोभा देखकर उनके मन में स्त्रीविषयक प्रीति उत्पन्न होने

से उनके शुक्र का स्खलन हो गया।[39] यह सोचकर कि 'मेरा वीर्य व्यर्थ न हो जाय और पत्नी का ऋतुकाल भी व्यर्थ न जाय' अतः उन्होंने अपने शुक्र को अमोघ बनाने के लिए उसे अभिमन्त्रित करके श्येन पक्षी को देकर उसे अपनी पत्नी तक पहुँचाने के लिये कहा।[40] मार्ग में उस श्येन का अन्य श्येन पक्षी के साथ युद्ध होने पर वह शुक्र, ब्रह्मा के शाप से मत्स्यरूप में यमुना के जल में रहने वाली अद्रिका अप्सरा ने ग्रहण कर लिया। कालान्तर में उस मत्स्य को मल्लाहों ने अपने जाल में बाँध लिया और उसके उदर को चीरकर उसमें से एक स्त्री और एक पुरुष रूप दो मनुष्य बालकों को निकालकर उन्हें राजा को सौंप दिया।[41] तब राजा वसु ने बालक को तो ग्रहण कर लिया किन्तु मत्स्य की गन्ध से संयुक्त होने के कारण उस कन्या को दाशराज को ही सौंप दिया और कहा कि 'यह तेरी पुत्री होकर रहे'। यथोक्तम्-

सा कन्या दुहिता तस्या मत्स्या मत्स्यसगन्धिनी।
राज्ञा दत्ता च दाशाय कन्येयं ते भवत्विति।।[42]

वायुपुराण में भी सत्यवती के जन्म के विषय में उल्लिखित है कि वह पूर्वजन्म में 'अद्रिका' नामक स्वर्गलोक की अप्सरा थी। 'अमावसु' नामक पितर को देखकर उसके मन में कामभावना का उदय हो गया। तब मानसिक भावों के व्यतिक्रम के कारण वह स्वर्ग से पतित होकर नीचे गिरने लगी। वहाँ मार्ग में पितरों को देखकर उसने आर्तस्वर से उन्हें अपनी रक्षा के लिये पुकारा[43] तब उन्होंने उसे धैर्य बँधाते हुये कहा कि अट्ठारहवें द्वापर में तुम मत्स्ययोनि से उत्पन्न होंगी तथा राजा अमावसु से अद्रिका के गर्भ से तुम कन्या रूप से उत्पन्न होंगी और पाराशर ऋषि के सुपुत्र वेदव्यास को उत्पन्न करोगी। कालान्तर में राजा शान्तनु से धर्मज्ञ विचित्रवीर्य और तेज-बल-गुण से सम्पन्न राजा चित्रांगद नामक दो पुत्रों को उत्पन्न करके पुनः अपने लोक को प्राप्त करोगी। यथोक्तम्-

अष्टाविंशे भवित्री त्वं द्वापरे मत्स्ययोनिजा। अस्यैव राज्ञो दुहिता अद्रिकायां ह्यमावसोः।।
पराशरस्य दायादमृषेस्त्वं जनयिष्यसि। महाभिषस्य पुत्रौ द्वौ शंतनोः कीर्तिवर्धनौ।
विचित्रवीर्यं धर्मज्ञं त्वमेवोत्पादयिष्यसि।। चित्रांगदं च राजानं तेजोबलगुणन्वितम्।
एतानुत्पाद्य पुत्रांस्त्वं पुनर्लोकानवाप्स्यसि। एवमुक्ता तु दासेयी जाता सत्यवती तु सा।।[44]

पित्राज्ञानुगामिनी: सत्यवती अपने पिता निषादराज की आज्ञाकारिणी पुत्री थी। उसने स्वयं पाराशर मुनि से कहा था कि मैं सदा अपने पिता के अधीन रहने वाली कुमारी कन्या हूँ

(विद्धि मां भगवन् कन्यां सदा पितृवशानुगाम्)[45] यही बात उसने राजा शान्तनु से अपना परिचय देते हुये भी कही थी।[46] अपने पिता की आज्ञा से ही वह धर्मार्थ नाव चलाया करती थी (शुश्रूषार्थं पितुर्नावं वाहयन्तीं जले च ताम्)[47] पिता की आज्ञानुसार वह राजा शान्तनु से विवाह भी करती है।[48] इससे प्रतीत होता है कि वह शास्त्र द्वारा प्रतिपादित वचनों का पालन करने वाली थी क्योंकि ''शास्त्रों ने कन्या को सदैव पिता या बन्धु-बान्धवों के संरक्षण में ही रहने की आज्ञा दी है। वहाँ वर्णित है कि पिता या पिता की अनुमति से भाई इस स्त्री को जिसके लिये दे, जीवित रहते हुये उस पति की सेवा करे और उसके मरने पर उसका उल्लंघन न करे।''[49] शास्त्रों का कथन है कि 'स्त्रियाँ स्वतन्त्र रहने योग्य नहीं हैं।[50]

शीलवती और लज्जावती: सत्यवती एक सदाचारिणी तथा शीलवती कन्या थी। पाराशर मुनि ने कामार्त होकर जब उससे समागम की इच्छा प्रकट की तो उसने लज्जायुक्त होकर कहा कि ''भगवन्! देखिये, नदी के आर-पार दोनों तटों पर बहुत से ऋषि खड़े हैं और हम दोनों को देख रहे हैं। ऐसी स्थिति में हमारा समागम कैसे हो सकता है?'' (साब्रवीत् पश्य भगवन् पारावरे स्थितानृषीन्, आवयोर्दृष्टयोरेभिः कथं तु स्यात् समागमः)[51] तब शक्तिशाली पाराशर मुनि ने कुहरे की सृष्टि की। यह देखकर वह आश्चर्यचकित और लज्जित हो गयी।[52] उसने पुनः कहा ''मैं पितृवशानुगामिनी हूँ। आपके संयोग से मेरा कन्याभाव दूषित हो जायेगा। तब मैं कैसे अपने गृह जा सकती हूँ। अपने कन्यापन के कलंकित हो जाने पर मैं जीवित नहीं रहना चाहती। भगवन्। इस बात पर भलीभाँति विचार करके जो उचित हो, वह कीजिये। यथोक्तम्-

त्वत्संयोगाच्च दुष्येत कन्याभावो ममानघ। कन्यात्वे दूषिते वापि कथं शक्ष्ये द्विजोत्तम।।
गृहं गन्तुमृषे चाहं धीमन् न स्थातुमुत्सहे। एतत् संचिन्त्य भगवन् विधत्स्व यदनन्तरम्।।[53]

सत्यवती के ये वचन सुनकर मुनि ने उससे कहा ''मेरा प्रिय करके भी तुम कन्या ही रहोगी। तुम जो चाहो, वह वर मुझसे माँग लो।''[54] यह सुनकर एक ओर पिताजी के भय से और दूसरी ओर मुनि के शाप के भय से भयभीत हुयी उसने महर्षि द्वारा प्रदान किये जाने वाले दुर्लभ वर से उत्साहित होकर न चाहते हुये भी उनके तेज से अभिभूत होकर उनके वश में हो, उनके अनुरोध को स्वीकार कर लिया। यथोक्तम्-

तमहं शापभीता च पितुर्भीता च भारत। वरैरसुलभैरुक्ता न प्रत्याख्यातुमुत्सहे।।
अभिभूय सा मां बालां तेजसा वशमानयत्।[55]

जब वह गृह पहुँची तो उसके पिताजी ने उसके शरीर से आने वाली उत्तम सुगन्ध का कारण पूछा तब भी वह लजाती हुयी उत्तर देती है।[56] ये कथन सत्यवती की व्रीडिता, निश्छलता, भीरुता, शीलयुक्तता को बतलाते हैं । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उस समय तक उसमें कौमार्य का उदय नहीं हुआ था। पाराशर मुनि ने ही समागमार्थ उसे कौमार्य से युक्त किया था।[57] महर्षि के कहते ही उसने सहर्ष इस कार्य की स्वीकृति नहीं दी थी बल्कि उसने स्वयं की ओर से इस कार्य को न होने देने के लिये यथासम्भव प्रयत्न भी किये थे। कन्या होने के नाते उसका यह एक दोष सर्वथा क्षमा के ही योग्य है। शास्त्र भी कहते हैं कि 'स्त्रियाँ पवित्र हैं'', यथोक्तम्-

सोमः शौचं ददावासां गन्धर्वश्च शुभां गिरम्।
पावकः सर्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितो ह्यतः।।[58]

अर्थात् 'सोम ने स्त्रियों को पवित्रता दी, गन्धर्व ने मधुर वाणी दी और अग्नि ने सब प्रकार से मेध्यत्व (पवित्रता) दी, अतः स्त्रियाँ सर्वथा पवित्र हैं।' साथ ही वह यह भी कहते हैं कि 'व्यभिचार करने पर स्त्री ऋतुकाल में शुद्ध होती है' (व्यभिचारादृतौ शुद्धिः)[59] और वह तो पुनः कन्या ही हो गयी तब दोष की संभावना भी नहीं रही। वस्तुतः उसका पुनः कौमार्ययुक्त होना अलौकिक कार्य ही था।

धर्माचारिणी पत्नी: निषादराज ने अपनी प्रिय पुत्री का विवाह हस्तिनापुर के महाराज शान्तनु से विधिपूर्वक सम्पन्न किया था।[60] रूपयौवनगुणान्विता सत्यवती को अपनी पत्नी के रूप में प्राप्त कर शान्तनु बहुत प्रसन्न थे। स्वयं शान्तनु ने ही सत्यवती से विवाह करने की अभिलाषा प्रकट की थी।[61] कुछ काल पश्चात् सत्यवती ने कालान्तर से क्रमशः चित्रांगद और विचित्रवीर्य नामक दो वीर सन्तानों को जन्म दिया।[62] विचित्रवीर्य के जन्म के कुछ वर्षों के पश्चात् ही राजा शान्तनु की मृत्यु हो गयी[63] और सत्यवती को वैधव्य का दुःख सहन करना पड़ा तथापि धैर्य रखते हुये, कुलधर्मपरम्परा का पालन करते हुये, वह आजीवन धर्म के कार्य में ही लगी रही।

पुत्रवत्सला माता: सत्यवती अपनी सन्तानों से अत्यधिक प्रेम करती थी। अपने दोनों पुत्रों की मृत्यु होने पर वह पुत्रवियोग से अत्यन्त दीन और कृपण हो गयी थी।[64] उसे 'पुत्रगृद्धिनी' विशेषण से संबोधित किया गया है अर्थात् पुत्रों की इच्छा रखने वाली।[65] यह विशेषण ही उसके पुत्र प्रेम का सूचक है किन्तु उनका यह रूप यहाँ विस्तार को प्राप्त नहीं हुआ है। महर्षि व्यास भी उन्हीं के पुत्र थे किन्तु परिस्थितिवश उन्हें उनका त्याग करना पड़ा था।[66] उस समय भी वह अत्यधिक दुःखी थी। देवीभागवतपुराण में वर्णित है कि 'सत्यवती ने अपने पुत्र व्यास जी को गंगातट पर छोड़ दिया था, उस समय वे अत्यन्त शोकाकुल थी और उनकी अवस्था बहुत दयनीय थी।'[67] जब शैशवास्था से ही साथ न रहने वाले अपने पुत्र व्यास जी के प्रति ही उनका इतना प्रेम था तो जिन पुत्रों को पालन-पोषण द्वारा सम्वर्धित किया, उन पुत्रों के वियोग से सत्यवती को कितनी पीड़ा हुयी होगी, इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। सत्यवती के पुत्र-प्रेम के दर्शन उस समय भी होते हैं जब उसके स्मरण करते ही व्यास जी उनके समक्ष प्रकट होते हैं।[68] उससमय पुत्र को दीर्घकाल के पश्चात् देखकर सत्यवती के नेत्रों से स्नेह और आनन्द के अश्रू बहने लगते है और अपनी दोनों भुजाओं से उनका आलिंगन करके अपने स्तनों के झरते हुये दुग्ध से उसका अभिषेक करती है, यथोक्तम्-

परिष्वज्य च बाहुभ्यां प्रस्रवैरभ्यषिंचत।
मुमोच वाष्पं दाशेयी पुत्रं दृष्ट्वा चिरस्य तु।।[69]

व्यासजी के प्रति सत्यवती का आदरभाव भी था और विश्वास भी अतः अपनी वंश-परम्परा को सुरक्षित बनाये रखने के लिये वह व्यास जी का स्मरण करती है।[70]

विमाता रूप: जब सत्यवती का शान्तनु से विवाह सम्पन्न हुआ तब शान्तनु पहले से ही एक युवावस्था वाले पुत्र के पिता थे। दासराज ने अपनी पुत्री के साथ विवाह की इच्छा वाले शान्तनु के समक्ष एक शर्त रखी थी कि 'उसकी पुत्री से उत्पन्न होने वाला पुत्र ही आपके पश्चात् राजा बनेगा' और अपने पिता का विवाह करवाने के लिये ही 'भीष्म' ने आजीवन अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा की थी।[71] अतः इस कारण से तथा विवाह के पश्चात् भीष्म का सत्यवती के प्रति सम्माननीय आचरण होने से सत्यवती का सदैव ही उनके प्रति पुत्रवत् प्रेम रहा और आदर दृष्टि भी। भीष्म भी सभी कार्य माता सत्यवती की आज्ञा के अनुसार ही

करते थे।[72] जब विचित्रवीर्य के विवाह के लिये भीष्म पराक्रमरूपी शुल्क देकर काशिराज कौसल की कन्याओं को हस्तिनापुर लाये तब उनके इस निर्णय को उचित मानकर वह अपने पुत्रों का विवाह उनके साथ कराती है।[73] विचित्रवीर्य की मृत्यु के पश्चात् वह भीष्म को धीरज भी बँधाती है। (समाश्वास्य स्नुषे ते च भीष्मं शस्त्रभृतां वरम्)[74] सत्यवती का भीष्म पर भी वैसा ही विश्वास था जैसा अपने पुत्र व्यास जी पर था। वह स्वयं कहती है कि 'भीष्म धर्मज्ञ, धर्मनिष्ठ और कुलोचित सदाचार से युक्त है।'[75] इसीलिये वह भीष्म को अपने और पाराशर मुनि के सम्बन्ध और अपने पुत्र व्यासजी के विषय में सम्पूर्ण सत्य से अवगत कराती है।[76] जिस रहस्य को उसने किसी के भी समक्ष अब तक प्रकट नहीं किया था, उसे बतलाने का साहस दिखाती है। सम्भवतः उन्हें यह विश्वास था कि उनके माता होने के गौरव में कोई कमी नहीं आयेगी और ऐसा ही हुआ। सत्य जानकर भी भीष्म का अपनी माता के प्रति यथावत् प्रेम व आदर भाव ही रहा। कुलपरम्परा की रक्षा के लिये वे सर्वप्रथम भीष्म से ही विवाह करने के लिये कहती है।[77]

उद्योगपर्व में भी सत्यवती का भीष्म के प्रति चिन्ता और प्रेम का भाव सहज ही दिखायी देता है। अम्बा के कारण परशुरामजी के साथ युद्ध का अवसर उपस्थित होने पर भीष्म के ऊपर आयी विपत्ति का निवारण करने के लिये माता सत्यवती ने स्वस्तिवाचन कर भीष्म का अभिनन्दन किया (ततः कृतस्वस्त्ययनो मात्रा च प्रतिनन्दितः)[78]

इससे ज्ञात होता है कि विमाता रूप में वह बहुत ही अच्छी थी। अपने सगे पुत्रों के समान ही वह भीष्म के प्रति प्रेमभाव रखती थी। भीष्म के प्रति उनके मन में अत्यधिक आदर और विश्वास था।

धर्मतत्त्वज्ञा - सत्यवती की बुद्धि सदा धर्म में ही लगी रहती थी। चाहे वह पुत्रीधर्म हो, पत्नीधर्म हो या कुलधर्म। अपने पुत्रों की मृत्यु के पश्चात् पर और अपर धर्म को जानने वाली सत्यवती ने धर्म को सामने रखकर तथा पितृकुल और मातृकुल के सम्बन्ध में विचारकर भीष्म से कहा-

तयोरुत्पादयापत्यं संतानाय कुलस्य नः। राज्ये चैवाभिषिच्यस्व भारताननुशाधि च।

दारांश्च कुरु धर्मेण मा निमज्जीः पितामहान्।।[79]

अर्थात् ''तुम हमारे कुल की संतान परम्परा को सुरक्षित रखने के लिये स्वयं ही इन दोनों पुत्रवधुओं के गर्भ से पुत्र उत्पन्न करो। राज्य पर अपना अभिषेक करो और भारतीय प्रजा का पालन करो। धर्म के अनुसार विवाह कर लो, पितरों को नरक में मत गिरने दो।'' सत्यवती के ऐसा कहने पर भीष्म पुनः उनके अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण कराके उनके इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर देते हैं तब सत्यवती कहती है कि- ''जिस उपाय से तुम्हारे वंश की परम्परा नष्ट न हो, धर्म की भी अवहेलना न होने पाये और सुहृद भी सन्तुष्ट हो जाय, वही करो।''[80] तब भीष्म इस कार्य के निमित्त किसी गुणवान् ब्राह्मण को बुलाने का परामर्श देते हैं। यह बात सुनकर वह 'अपने पुत्र व्यास को इस कार्य के लिये उपयुक्त समझकर' उनसे सम्मति लेती है।[81] तब भीष्म कहते हैं कि 'आपने जो बात कही है, वह धर्मयुक्त तो है ही, हमारे कुल के लिये भी हितकर और कल्याणकारी है अतः मुझे बहुत अच्छी लगी है।' यथोक्तम्-

तदिदं धर्मयुक्तं च हितं चैव कुलस्य नः।
उक्तं भवत्या यच्छ्रेयस्तन्मह्यं रोचते भृशम्।।[82]

इससे पता चलता है कि सत्यवती को शास्त्रविहित नियोग विधि के विषय में ज्ञान था।[83] वह शीघ्र ही इस कार्य को सम्पन्न करना चाहती थी अतः उन्होंने 'व्यासजी' का स्मरण किया। फलस्वरूप 'माता ने मेरा स्मरण किया है' यह जानकर वह तत्क्षण वहाँ प्रकट हो गये। सत्यवती ने उन्हें अपना प्रयोजन बताया तब व्यासजी ने एक वर्ष की समाप्ति के पश्चात् गर्भाधान की बात कही।[84] एक वर्ष की समयावधि को उचित न जानकर वह व्यास जी से कहती है कि ''राज्य में इस समय कोई राजा नहीं है। बिना राजा के राज्य की प्रजा अनाथ होकर नष्ट हो जाती है। यज्ञ-दान आदि क्रियाएँ भी लुप्त हो जाती हैं। उस राज्य में न तो वर्षा होती है, न देवता वास करते हैं। बिना राजा का राज्य कैसे सुरक्षित और अनुशासित रह सकता है। इसीलिये शीघ्र गर्भाधान करो। भीष्म बालक का पालन-पोषण कर लेंगे।'' यथोक्तम्-

अराजकेषु राष्ट्रेषु प्रजानाथा विनश्यति। नश्यन्ति च क्रियाः सर्वा नास्ति वृष्टिर्न देवता।।

कथं चाराजेकं राष्ट्रं शक्यं धारयितुं प्रभो। तस्माद् गर्भं समाधात्स्व भीष्मः संवर्धयिष्यति।।[85]

उसके इन वचनों में राज्य की सुरक्षा के प्रति चिन्ता का भाव और भीष्म के चरित्र के प्रति निष्ठा दोनों ही प्रकट हो रहे हैं। जब व्यासजी ने अपनी सम्मति देकर आवश्यक

करणीय कर्म उन्हें बताये[86] तब वह अपनी पुत्रवधू अम्बिका के समीप गयी और उसे अपने तथा भीष्म के विचारों से अवगत कराया और कहा कि ''इस नष्ट होते हुये भरतवंश का पुनः उद्धार करो। तुम देवराज इन्द्र के समान एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दो। वही हमारे कुल के इस महान् राज्यभार को वहन करेगा।''[87] ऐसा कहकर उसने अपने धर्मयुक्त वचनों से अम्बिका को इस कार्य को करने के लिये तैयार किया।[88] सर्वप्रथम भीष्म की सम्मति लेना फिर व्यास जी को अपना प्रयोजन बताकर उन्हें सहमत करना फिर अपनी पुत्रवधुओं की इस कार्य के लिये स्वीकृति लेना, देवी सत्यवती के लिये यह कार्य निश्चय ही सरल नहीं रहा होगा तथापि कुलधर्म की रक्षा के लिये उन्होंने किया।

इससे प्रकट होता है कि वह लौकिक और पारलौकिक धर्मों की ज्ञाता होने के साथ ही धर्म में स्थिर बुद्धि वाली और दृढ़निश्चयी स्त्री थी।

श्वश्रू रूप - धर्मपरायणा सत्यवती का अपने पुत्रों के समान ही अपनी पुत्रवधुओं के प्रति भी अत्यधिक प्रेम था। पुत्रों की मृत्यु हो जाने पर वह स्वयं भी पुत्रवियोग से अत्यन्त व्याकुल और दुःखी थी फिर भी सत्यवती ने न केवल स्वयं धैर्य धारण किया अपितु अपनी शोकाकुल पुत्रवधुओं को भी धीरज बँधाया।[89] वह जानती थी कि उसकी दोनों पुत्रवधुएँ युवावस्था से सम्पन्न और संतानरहित हैं और वे दोनों भी पुत्र की इच्छा रखती हैं (रूपयौवनसम्पन्ने पुत्रकामे च भारत)[90] अतः उसने धर्मतः पुत्रप्राप्ति के सम्बन्ध में विचार किया। पुत्रों के समस्त प्रेतकार्य सम्पन्न करने के पश्चात् उसने भीष्म और व्यास से इस सम्बन्ध में विचार-विमर्श कर अपनी दोनों पुत्रवधुओं को इस कार्य के लिये तैयार करके सर्वप्रथम ब्राह्मणों, देवर्षियों और अतिथियों को भोजन कराया।[91] तत्पश्चात् अपनी वधुओं को करणीय कर्म का उपदेश देकर उन्हें सावधान रहने के लिये कहा। वह स्वयं अपनी ऋतुस्नाता पुत्रवधू को शैय्या पर बैठाती है।[92] समागम के पश्चात् जब सत्यवती अम्बिका की आने वाली संतान के विषय में व्यास जी से प्रश्न करती है तो उनके मुख से यह सुनकर कि ''उत्पन्न होने वाला बालक अत्यन्त गुणी और पराक्रमी होगा किन्तु माता के दोष से यह नेत्रहीन होगा' वह अपनी वधू पर क्रोध प्रकट नहीं करती।[93] जब दूसरी बार वह अम्बिका को पुनः गर्भाधान के लिये कहती है तो अम्बिका अपनी जगह अपनी दासी को भेज देती है।[94] इस बात का पता चलने पर भी सत्यवती अपनी वधू से कुछ नहीं कहती।

इससे ज्ञात होता है कि सत्यवती उदारहृदया, शान्तस्वभाव वाली, मृदुभाषिणी, अतिथिसेवापरायणा, दानपुण्यशीला स्त्री थी। वस्तुतः श्वश्रू रूप में उसका आदर्श व्यवहार यहाँ दिखायी देता है। धर्मज्ञा सत्यवती का यहाँ एक और गुण प्रकट होता है, वह है-सत्य को स्वीकार करने का साहस।

तपस्विनी - सत्यवती ने अपने जीवन का अन्तिम समय तपोवन में तपश्चर्या द्वारा व्यतीत किया। अपने पौत्र पाण्डु और पौत्रवधू माद्री की मृत्यु से शोकार्त और मोहग्रस्त माता सत्यवती से जब व्यास जी ने कहा कि ''माता! अब सुख के दिन चले गये। अब ऐसा भयंकर समय आयेगा जिसमें सब और छल-कपट और माया का वर्चस्व होगा। संसार में अनेक प्रकार के दोष प्रकट होंगे और धर्म, क्रिया तथा सदाचार का लोप हो जायेगा। दुर्योधन आदि कौरवों के अन्याय से सारी पृथ्वी वीरों से शून्य हो जायेगी अतः तुम योग का आश्रय लेकर यहाँ से चली जाओ और योगपरायण हो तपोवन में निवास करो''[95] तब यह सुनकर भीष्म से मन्त्रणा करके सत्यवती अपनी दोनों पुत्रवधुओं के साथ वन में चली गयी और तपश्चर्या द्वारा शरीर त्यागकर अभीष्ट गति हो प्राप्त हो गयी।[96] सत्यवती ने अपने पति की मृत्यु के पश्चात् अपनी मृत्युपर्यन्त धर्म में स्थित रहकर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया। पाराशर स्मृति में कहा गया है कि 'पति की मृत्यु हो जाने पर जो स्त्री ब्रह्मचारी के समान ब्रह्मचर्यव्रत में स्थित रहती है, वह मृत्यु होने पर स्वर्गलोक को प्राप्त करती है', यथोक्तम्-

मृते भर्तरि या नारी ब्रह्मचर्यव्रते संस्थिता।
सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः।।[97]

अम्बिका तथा अम्बालिका

अम्बिका और अम्बालिका दोनों ही वाराणसी पुरी में शासन करने वाले काशिराज की सर्वगुणसम्पन्न कन्यायें थीं।[98] इनका विवाह सत्यवती के धर्मात्मा पुत्र विचित्रवीर्य के साथ हुआ था। उस समय इनकी अवस्था षोडश वर्ष की हो चुकी थी। इनके केश नीले और घुँघराले थे, हाथ और पैरों के नख तुंग (ऊँचे) और रक्तवर्ण के थे, नितम्ब और उरोज स्थूल और उभर हुये थे। (ते चापि बृहती श्यामे नीलकुंचितमूर्धजे, रक्ततुंगनखोपेते पीनश्रोणिपयोधरे)[99] वें दोनों कन्यायें अप्सराओं के समान सुन्दर थीं। शारीरिक सौन्दर्य के साथ ही उनमें और भी चारित्रिक विशेषतायें विद्यमान थीं, जो इस प्रकार हैं-

धर्माचारिणी पत्नी - अम्बिका और अम्बालिका ने सदैव पत्नीधर्म का पालन किया। ये दोनों ही विचित्रवीर्य को पतिरूप में प्राप्त कर अत्यधिक प्रसन्न थीं। वे दोनों यह जानकर सन्तुष्ट थीं कि हम दोनों को अपने अनुरूप पति मिले हैं अतः वे दोनों कल्याणमयी देवियाँ अपने पति की अत्यधिक सेवा-पूजा करने लगीं (आत्मनः प्रतिरूपोऽसौ लब्धः पतिरिति स्थिते, विचित्रवीर्यं कल्याण्यौ पूजयामासतुः शुभे)[100] विचित्रवीर्य भी अपनी दोनों पत्नियों के साथ अत्यधिक प्रसन्न रहते थे। सात वर्षों तक उन्होंने निरन्तर उनके साथ विहार किया किन्तु असंयम के परिणामस्वरूप वे राजयक्ष्मा के शिकार हो गये[101] जैसे राजा अग्निवर्ण हो गये थे क्योंकि जब इन्द्रियों को विषयों का स्वाद मिल जाता है तब वे उनसे अपहृत हो जाती हैं और तब उन्हें विषयों से रोकना बड़ा कठिन हो जाता है (स्वादुभिस्तु विषयैहृतस्ततो दुःखमिन्द्रियगणो निवार्यते)[102] इस रोग के कारण कुछ समय पश्चात् ही विचित्रवीर्य मृत्यु को प्राप्त हो गये। अपने पति की मृत्यु से वे दोनों ही शोकार्त होकर दयनीय अवस्था को प्राप्त हो गयीं। युवावस्था में ही उन्हें वैधव्य का दुःख सहन करना पड़ा। पति वियोग का दुःख तो था ही साथ ही निस्सन्तान होने का दुःख भी कम नहीं था। उन दोनों ने सदैव पत्नीधर्म का पालन करते हुये अपने पति को अपनी सेवाओं से प्रसन्न रखा और अपने कर्तव्यपालन में तत्पर रहीं।

आज्ञाकारी वधू - अम्बिका और अम्बालिका दोनों ही धर्म का आचरण करने वाली स्त्रियाँ थीं। वे दोनों सदैव अपनी श्वश्रू देवी सत्यवती की आज्ञा का पालन करती थीं। अपनी श्वश्रू की आज्ञा से ही कुलधर्म की रक्षार्थ वे दोनों महर्षि व्यास से समागम के लिये प्रस्तुत हुयी थीं। दोनों के लिये ही यह कार्य अत्यन्त दुष्कर था, यह बात स्पष्ट रूप से यहाँ प्रकट होती है क्योंकि जब व्यासजी ने समागम के लिये अम्बिका के कक्ष में प्रवेश किया तब उनको विरूप देखकर अम्बिका ने भय से अपने दोनों नेत्र बन्द कर लिये (भयात् काशिसुता तं तु नाशक्नोदभिवीक्षितुम्)[103] परिणामस्वरूप उसने नेत्रहीन पुत्र को जन्म दिया (सापि कालेन कौसल्या सुषुवेऽन्धं तमात्मजम्)[104] इसी प्रकार जब व्यासजी अम्बालिका से समागम के लिये उसके कक्ष में गये तब वह भी उन्हें विरूप देखकर कान्तिहीन, भयभीत, विषादग्रस्त और पाण्डुवर्ण की सी हो गयी (तां भीतां पाण्डुसंकाशां विषण्णां प्रेक्ष्य भारत)[105] परिणामस्वरूप उसने पाण्डुवर्ण के पुत्र को जन्म दिया (ततः कुमारं सा देवी प्राप्तकालमजीजनत्, पाण्डुं लक्षणसम्पन्नं)[106] जब माता सत्यवती ने अपने एक पौत्र को नेत्रहीन देखा तो उन्होंने पुनः

अम्बिका से गर्भाधान करने हेतु कहा तो अम्बिका ने व्यासजी के कुत्सित रूप और गन्ध का चिन्तन करके अपने स्थान पर अपनी ही अप्सरा के समान सुन्दर दासी को अलंकृत करके व्यासजी के पास भेज दिया। यथोक्तम्-

सा तु रूपं च गन्धं च महर्षेः प्रविचिन्त्य तम्। नाकरोद् वचनं देव्या भयात् सुरसुतोपमा।।

ततः स्वैर्भूषणैर्दासीं भूषयित्वाप्सरोपमाम्। प्रेषयामास कृष्णाय ततः काशिपतेः सुता।।[107]

इस वृत्तान्त से अम्बिका का अपनी श्वश्रू के प्रति अवज्ञा और उसका छल स्पष्ट दिखायी देते हैं। यह उसके चरित्र का दुर्बल पक्ष कहा जा सकता है किन्तु उस कार्य के मूल में उसका भयभीत होना ही मात्र कारण था, कोई दुर्भावना नहीं। यदि इसे उसके चरित्र का दोष मान भी लिया जाये तो उसके पातिव्रत्य गुण के कारण यह नगण्य ही प्रतीत होता है क्योंकि जब तक उसके पति जीवित रहे, वह निरन्तर उनकी सेवा-पूजा में अनुरक्त रही और पति की मृत्यु के पश्चात् भी वह धर्मतः जीवनयापन करती रही। कूर्मपुराण में कहा गया है कि- पतिव्रता तु या नारी भर्तुशश्रूषणोत्सुका। न तस्या विद्यते पापमिह लोके परत्र च।।[108]

अर्थात् ''जो नारी पतिव्रता होती है और पति की सेवा शुश्रूषा में अनुरक्त रहती है, उसके लिये न तो इस लोक में कोई पाप है और न परलोक में।''

पाण्डु की मृत्यु के पश्चात् जब सत्यवती ने अम्बिका से कहा कि ''तेरे पौत्र के अन्याय से भरतवंशी वीर बन्धुओं सहित नष्ट हो जायेंगे अतः तेरी सम्मति हो तो मैं अम्बालिका के साथ वन में चली जाऊँ'' तो उनका यह वचन सुनकर वह भी अपनी श्वश्रू के साथ वनगमन के लिये प्रस्तुत हो जाती है तथा वन में जाकर तपस्विनी की भाँति वे दोनों योग का आश्रय लेकर अपनी श्वश्रू के साथ ही अभीष्ट गति को प्राप्त करती हैं।[109] अतः इन वचनों से स्पष्ट है कि दोनों वधुओं ने अपनी श्वश्रू की आज्ञा का पालन किया और अन्त समय में भी वे दोनों अपनी श्वश्रू के साथ रहीं। इससे इन तीनों के पारस्परिक सम्बन्धों के आत्मीयतापूर्ण होने का ज्ञान होता है और साथ ही राजसी वैभव के प्रति विरक्तता का भाव भी दृष्टिगोचर होता है। अम्बिका के द्वारा अभीष्ट गति प्राप्त करने से उसके चारित्रिक दोष की न्यूनता भी परिलक्षित होती है। अतः दोनों का वधू रूप में सामान्यतः मर्यादित व्यवहार ही यहाँ दिखायी देता है।

देवीभागवत पुराण में वर्णित यह कथन उल्लेखनीय है कि ''व्यास जी ने अम्बिका तथा अम्बालिका से मानस संयोग से ही पुत्र उत्पन्न किये थे, नियोग विधि से नहीं।''[110]

पुत्रवत्सला - अम्बिका ने नेत्रहीन धृतराष्ट्र को तथा अम्बालिका ने पाण्डु को पुत्र रूप में उत्पन्न किया।[111] दोनों का ही अपने पुत्रों के प्रति अत्यधिक प्रेम था। पाण्डु अपनी दोनों माताओं का आनन्द बढ़ाने वाले थे।[112] जब पाण्डु दिग्विजय की इच्छा से भूपालों को परास्त करके उनसे विजित धन को लेकर हस्तिनापुर पहुँचे तो उन्होंने इस धन को सत्यवती, माता अम्बालिका और अम्बिका को उपहार रूप में समर्पित किया।[113] अपने पुत्र को दीर्घकाल के पश्चात् देखकर अम्बालिका ने उसे उसी प्रकार हृदय से लगाकर उसका अभिनन्दन किया जिस प्रकार शची अपने पुत्र जयन्त का अभिनन्दन करती है। यथोक्तम्-

''ननन्द माता कौसल्या तमप्रतिमतेजसम्। जयन्तमिव पौलोमी परिष्वज्य नरर्षभम्।।''[114]

अपने पुत्र पाण्डु और पुत्रवधू माद्री की मृत्यु से अम्बालिका अत्यन्त दुःखी हो जाती है। उनकी अस्थियों को देखकर वह अत्यधिक विलाप करती है और सहसा मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर जाती है (ततस्तयोः शरीरे द्वे दृष्ट्वा मोहवशं गता, हा हा पुत्रेति कौसल्या पपात सहसा भुवि)।[115]

उपर्युक्त वचनों से अम्बालिका का पुत्रप्रेम का भाव तो स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है किन्तु अम्बिका का पुत्र प्रेम स्पष्टतः प्रकाशित नहीं हो पाया है। तथापि दोनों ही अपने पुत्रों के प्रति वात्सल्य भाव से परिपूर्ण थीं।

निष्कर्ष -

महाभारत में वर्णित कुन्ती, गान्धारी आदि स्त्री पात्रों के पूर्ववर्ती स्त्री-चरित्रों का अध्ययन एवं विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि गंगा, सत्यवती, अम्बिका एवं अम्बालिका स्त्री पात्रों ने कुरूवंशीय पुत्रवधू बनने का निर्णय चाहे स्वेच्छा से लिया हो या अनिच्छा से अथवा ईश्वरीय इच्छा से किन्तु इनमें से किसी के भी द्वारा अपनी स्थिति के लिये नियति पर दोषारोपण नहीं किया गया है और न ही उनके द्वारा अपने निर्दिष्ट कर्तव्यपथ का अनुगमन करते हुये किसी प्रकार का विरोध प्रकट किया गया है। सत्यवती को पर-अपरधर्मतत्त्वज्ञा कहा गया है। उसने सदैव धर्म के ही मार्ग का अवलम्बन किया है और

उसकी दोनों पुत्रवधुएँ भी उसका अनुगमन करने वाली थीं। गंगा ने भी पत्नीधर्म का पालन करके भीष्म को शान्तनु को सौंप दिया और पुत्र भीष्म के साथ न रहने पर भी वह सदैव उसके हितसाधन में तत्पर रही और समयोचित मार्गदर्शन उसे प्रदान करती रही। जीवन के अन्तिम वर्षों में सत्यवती ने राजसी वैभव का परित्याग कर तपोवन में जाने का निश्चय किया और उसके इस निर्णय को शिरोधार्य कर उसकी दोनों पुत्रवधुएँ भी उसके साथ तपश्चर्या के लिये वन में चली गयीं। जैसा कि कहा गया है-

बन्धाय विषयासंगो मुक्तौ निर्विषयं मनः।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।।[116]

अर्थात् ''विषयों में आसक्त मन बन्धन का कारण होता है, विषयों में अनासक्त मन मुक्ति का कारण है। मनुष्यों का मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है।'' सत्यवती और उसकी पुत्रवधुओं की भी सांसारिक विषयों के प्रति मोह की निवृत्ति होने से, उनके त्याग की सिद्धि होती है अर्थात् तपश्चर्या द्वारा योग का आश्रय लेकर अभीष्ट गति की प्राप्ति होती है। जीवन में उच्च आदर्शों को अपनाकर इन सभी ने अपनी प्रत्येक भूमिका के साथ पूरा न्याय किया है और जीवनपर्यन्त इन भूमिकाओं का भलीभाँति पूर्ण निष्ठा और समर्पण के साथ निर्वाह किया है, चाहे वह भूमिका पुत्री, पुत्रवधू, पत्नी, श्वश्रू अथवा माता की हो। इन्होंने अपनी अधिकारपृच्छा के स्थान पर कत्र्तव्यपालन हेतु समर्पण की भावना और एक-दूसरे के लिये हृदय में सम्मान की भावना को जीवन में स्थान देकर अपने चरित्र की श्रेष्ठता को सिद्ध किया है। इनके चारित्रिक विश्लेषण को दृष्टिपथ में रखते हुये यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि इनके द्वारा पातिव्रत्यधर्म, धैर्य, सहृदयता, सदाशयता, विनम्रता, बुद्धिमत्ता, मृदुभाषण, आज्ञापालन, धर्मपालन, क्षमाशीलता, सहिष्णुता, त्याग इत्यादि गुणों की पालना करने से इन्होंने संसार में स्त्री-गौरव को उच्चता प्रदान की है।

♦♦♦♦

सन्दर्भ

1. महाभारत, आदिपर्व, 98/18,8, 96/4-5
2. महाभारत, आदिपर्व, 96/3-7
3. महाभारत, आदिपर्व, 96/15-16
4. महाभारत, आदिपर्व, 96/17
5. महाभारत, आदिपर्व, 96/18
6. महाभारत, आदिपर्व, 96/20
7. महाभारत, आदिपर्व, 96/21-22
8. महाभारत, आदिपर्व, 97/1-4
9. महाभारत, आदिपर्व, 97/5
10. महाभारत, आदिपर्व, 97/6
11. महाभारत, आदिपर्व, 97/7
12. महाभारत, आदिपर्व, 97/8-11 (स्नुषा मे भव सुश्रोणि)
13. महाभारत, आदिपर्व, 97/14-15
14. महाभारत, आदिपर्व, 98/8-9
15. महाभारत, आदिपर्व, 97/32 (याचे त्वां सुरगर्भाभे भार्या मे भव शोभने)
16. महाभारत, आदिपर्व, 98/2-4
17. महाभारत, आदिपर्व, 98/7
18. महाभारत, आदिपर्व, 98/10-12
19. महाभारत, आदिपर्व, 98/13
20. महाभारत, आदिपर्व, 98/6, 14
21. महाभारत, आदिपर्व, 98/15-16
22. महाभारत, आदिपर्व, 98/17
23. महाभारत, आदिपर्व, 98/18-24, 99वाँ अध्याय
24. महाभारत, आदिपर्व, पृ.सं.-356
25. महाभारत, आदिपर्व, पृ.सं.-356
26. महाभारत, आदिपर्व, 100/23-30
27. महाभारत, आदिपर्व, 100/31-39
28. महाभारत, उद्योगपर्व, 178/88-89
29. महाभारत, उद्योगपर्व, 178/90-95
30. महाभारत, उद्योगपर्व, 182/16-17
31. महाभारत, उद्योगपर्व, 185/28-34

32. महाभारत, उद्योगपर्व, 186/34-37
33. महाभारत, अनुशासनपर्व, 168/24-25
34. महाभारत, अनुशासनपर्व, 168/36
35. महाभारत, उद्योगपर्व, 178/86
36. महाभारत, आदिपर्व, 63/69, 82-83, 95/48
37. महाभारत, आदिपर्व, 63/68-71
38. महाभारत, आदिपर्व, 63/39
39. महाभारत, आदिपर्व, 63/40-42, 49-50
40. महाभारत, आदिपर्व, 63/51-55
41. महाभारत, आदिपर्व, 63/57-62
42. महाभारत, आदिपर्व, 63/67
43. वायुपुराण, 73/3-9
44. वायुपुराण, 73/16-21
45. महाभारत, आदिपर्व, 63/75
46. सं. देवीभागवतपुराण, द्वितीय स्कन्ध, पृ.सं.-85
47. महाभारत, आदिपर्व, 63/69
48. महाभारत, आदिपर्व, 100/89-99, 101/1
49. मनुस्मृति, 5/151
50. मनुस्मृति, 5/147-149, (अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैदिवानिशम्, मनु. 9/2), (न स्वातन्त्रयं क्वचित्स्त्रियाः, याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/85), (श्री वसिष्ठ धर्मशास्त्र, 15/1, 'अस्वतन्त्रा स्त्री पुरुषप्रधाना'), (बौधायनधर्मसूत्र, 2/2/45-46, 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हतीति')
51. महाभारत, आदिपर्व, 63/72-73
52. महाभारत, आदिपर्व, 63/74
53. महाभारत, आदिपर्व, 63/76-77
54. महाभारत, आदिपर्व, 63/78-79
55. महाभारत, आदिपर्व, 104/10-11
56. महाभारत, आदिपर्व, पृ.-216
57. महाभारत, आदिपर्व, 63/81
58. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/71
59. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/72
60. महाभारत, आदिपर्व, 101/1
61. महाभारत, आदिपर्व, 100/51

62. महाभारत, आदिपर्व, 101/2-3
63. महाभारत, आदिपर्व, 101/4
64. महाभारत, आदिपर्व, 101/8-9, 103/1
65. महाभारत, आदिपर्व, 103/1
66. महाभारत, आदिपर्व, 104/13-14
67. सं. देवीभागवतपुराण, प्रथमस्कन्ध, 20वाँ अध्याय, पृ.-74
68. महाभारत, आदिपर्व, 104/23-24
69. महाभारत, आदिपर्व, 104/25-26
70. महाभारत, आदिपर्व, 104/19, 23
71. महाभारत, आदिपर्व, 100/96
72. महाभारत, आदिपर्व, 103/73 'सत्यवत्या मते स्थितः'
73. महाभारत, आदिपर्व, 102/59-60
74. महाभारत, आदिपर्व, 103/2
75. महाभारत, आदिपर्व, 103/6
76. महाभारत, आदिपर्व, 104/6-14
77. महाभारत, आदिपर्व, 103/10
78. महाभारत, उद्योगपर्व, 178/73
79. महाभारत, आदिपर्व, 103/10-11
80. महाभारत, आदिपर्व, 103/19-22
81. महाभारत, आदिपर्व, 104/1-2, 18, 21
82. महाभारत, आदिपर्व, 104/22
83. मनुस्मृति, 9/59-62, 69-70, याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/69, धर्मशास्त्र का इतिहास (पी.वी. काणे), भाग 2 अध्याय-12
84. महाभारत, आदिपर्व, 104/42
85. महाभारत, आदिपर्व, 104/44-45
86. महाभारत, आदिपर्व, 104/48-49
87. महाभारत, आदिपर्व, 104/53
88. महाभारत, आदिपर्व, 104/54
89. महाभारत, आदिपर्व, 103/2
90. महाभारत, आदिपर्व, 103/9
91. महाभारत, आदिपर्व, 104/54
92. महाभारत, आदिपर्व, 105/1

93. महाभारत, आदिपर्व, 105/7-10
94. महाभारत, आदिपर्व, 105/22-24
95. महाभारत, आदिपर्व, 127/6-8
96. महाभारत, आदिपर्व, 127/13
97. पाराशर स्मृति, 4/31
98. महाभारत, आदिपर्व, 102/3-4
99. महाभारत, आदिपर्व, 102/67
100. महाभारत, आदिपर्व, 102/68
101. महाभारत, आदिपर्व, 102/70
102. रघुवंश महाकाव्यम्, 19/49
103. महाभारत, आदिपर्व, 105/6
104. महाभारत, आदिपर्व, 105/13
105. महाभारत, आदिपर्व, 105/16
106. महाभारत, आदिपर्व, 105/21
107. महाभारत, आदिपर्व, 105/23-24
108. कूर्मपुराण, पूर्वविभाग, 33/110, पृ.-419
109. महाभारत, आदिपर्व, 127/13
110. सं. देवीभागवतपुराण, प्रथम स्कन्ध, पृ.सं.-76
111. महाभारत, आदिपर्व, 105/13, 18
112. महाभारत, आदिपर्व, 112/43 (कौसल्यानन्दवर्धनः)
113. महाभारत, आदिपर्व, 113/1
114. महाभारत, आदिपर्व, 113/4
115. महाभारत, आदिपर्व, 126/24
116. चाणक्यनीतिदर्पण, 13/11

षष्ठ अध्याय

गान्धारी, माद्री और कुन्ती की चारित्रिक विशेषताओं का अध्ययन तथा पर्यालोचन

षष्ठ अध्याय

गान्धारी, माद्री और कुन्ती की चारित्रिक विशेषताओं का अध्ययन तथा पर्यालोचन

गान्धारी

'गान्धारी' गान्धारराज सुबल की शुभलक्षणा[1], परमरूपवती और सौभाग्यवर्धिनी पुत्री थी।[2] राजवैभव से सम्पन्न होने पर भी गान्धारी संयम, त्याग और गौरव की प्रतिमूर्ति बनी रही। उसने कुलमर्यादा की रक्षा के लिये स्वहितचिन्तन से ऊपर उठकर सदैव कर्त्तव्यकर्म का अवलम्बन किया। अपने उदात्त चरित्र द्वारा कर्त्तव्यों के विविध सोपानों को पार करते हुये, परिवार तथा समाज को दिशा प्रदान करते हुये, शीलाचार और तपोबलसम्पन्ना 'गान्धारी' आश्चर्यजनक और अलौकिक सिद्धि की भी पात्र बन गयी। आर्यसंस्कृति का प्रतिबिम्बरूप पुण्यात्मा गान्धारी को जिन वैशिष्ट्यों एवं विलक्षणताओं ने महाभारत में गौरवशालिनी बनाया है, उनका निदर्शन इस प्रकार है-

पतिव्रतपरायणा: अर्थशास्त्रविशारदा[3], धर्मचारिणी[4], साक्षात्मतिदेवीस्वरूपा[5] सुबलपुत्री गान्धारी एक पतिव्रता पत्नी थी। जब उसे यह ज्ञात हुआ कि उसके माता-पिता उसका विवाह नेत्रहीन धृतराष्ट्र से करना चाहते हैं तो उसने माता-पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करके उनके वचनों का मान तो रखा ही साथ ही अपने होने वाले पति धृतराष्ट्र को अचक्षु जानकर पातिव्रत्यधर्म के निर्वाह की इच्छा से तत्क्षण रेशमी वस्त्र लेकर, उसके कई तह करके उसी से अपने नेत्रों को बाँध लिया और यह निश्चय कर लिया कि 'मैं उनके दोष नहीं देखूँगी' (गान्धारी त्वथ शुश्राव धृतराष्ट्रमचक्षुषम्। आत्मानं दित्सितं चास्मै पित्रा मात्रा च भारत ततः सा पट्टमादाय कृत्वा बहुगुणं तदा। बबन्ध नेत्रे स्वे राजन् पतिव्रतपरायणा।। नाभ्यसूयां पतिमहमित्येवं कृतनिश्चया)[6]

इस प्रकार उसने विवाहपूर्व ही अपने पतिव्रता होने का संकेत दे दिया था। अपने इस कठोर व्रत का पालन उसने जीवनपर्यन्त किया। विवाह-पश्चात् उसने अपने उत्तम स्वभाव,

सदाचार तथा सद्व्यवहारों से समस्त कौरवों को प्रसन्न कर लिया।[7] अपने प्रशंसनीय व्यवहार से समस्त गुरुजनों की प्रसन्नता प्राप्त करके उत्तमव्रत का पालन करने वाली पतिपरायणा गान्धारी ने कभी परपुरुषों का नाम तक नहीं लिया (वृत्तेनाराध्य तान् सर्वान् गुरून् पतिपरायणा, वाचापि पुरुषानन्यान् सुव्रता नान्वकीर्तयत्)[8] आश्रमवासिकपर्व में भी उसके पतिव्रता होने का उल्लेख यह कहकर किया गया है कि "सहधर्मिणी होकर गान्धारी धृतराष्ट्र के साथ नियमपालन के व्याज से मृगचर्म पहनकर कुशासन पर बैठकर मन्त्रजप करती है तथा भूमि पर सोती है" (भूमौ शये जप्यपरो दर्भेष्वजिनसंवृतः, नियमव्यपदेशेन गान्धारी च यशस्विनी)[9] इस तरह वह राजप्रासाद में ही निवास करते हुये अपने पति के साथ उत्तमतपस्यारत होकर जीवननिर्वाह करती है। गान्धारी के पातिव्रत-धर्मपालन पर धृतराष्ट्र को भी पूर्ण विश्वास है इसीलिये वह युधिष्ठिर से अपनी पत्नी गान्धारी को साथ लेकर वन में जाने की आज्ञा माँगते हैं। वह कहते हैं कि "जिसने अपनी शक्ति के अनुसार उत्कृष्ट पुण्यों का अनुष्ठान किया है और जिसके सौ पुत्र मारे गये हैं, वही यह गान्धारी धैर्यपूर्वक मेरी देखभाल करती है। अब तो मुझे और गान्धारी को अपने हित के लिये पवित्र तप करना है। इस गान्धारी के साथ वन में रहते हुये मैं उत्तम तपस्या करूँगा।"[10]

इस प्रकार यहाँ उसका आज्ञाकारिणी पुत्री और पतिव्रता पत्नीरूप दृष्टिगत होने के साथ ही उसमें विद्यमान शील, धैर्य, विनम्रता, सहिष्णुता, त्याग और धार्मिक अनुष्ठानों के प्रति रूचि जैसे गुण भी प्रकट होते हैं।

भर्तृसौभाग्यकांक्षिणी: धर्मज्ञा गान्धारी ने सर्वदा अपने पति का हित-चिन्तन ही किया है। सभापर्व में प्रथम बार आयोजित हुये द्यूत-क्रीड़ा में अनौचित्य कार्य का स्मरण करके, भावी अनिष्ट की आशंका से, दुर्व्यसनविरोधी[11] गान्धारी ने पुनः द्यूत-क्रीड़ा को स्वीकृति देने वाले अपने पति धृतराष्ट्र को परामर्श देते हुये कहा "आर्यपुत्र! दुर्योधन के जन्म लेने पर परम बुद्धिमान विदुरजी ने कहा था- यह बालक अपने कुल का नाश करने वाला होगा; अतः इसे त्याग देना चाहिये। इसने जन्म लेते ही गीदड़ की भाँति स्वर का उच्चारण किया था अतः यह अवश्य ही कुल का अन्त करने वाला होगा।[12] आप अपने ही दोष से इस कुल को विपत्ति के महासागर में मत डुबाइये। इन अशिष्ट बालकों की हाँ में हाँ मत मिलाइये।" (मा निमज्जीः स्वदोषेण महाप्सु त्वं हि भारत, मा बालानाम- शिष्टानामभिमंस्था मतिं प्रभो)[13] आप सब कुछ जानते और स्मरण रखते हैं, तो भी मैं पुनः आपको स्मरण कराती रहूँगी।[14] गान्धारी पुनः

कहती है कि ''राजन्! जो दुर्बुद्धि है, उसे शास्त्र भी उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं दे सकते। मन्दबुद्धि बालक वृद्धों जैसा विवेकशील किसी प्रकार नहीं हो सकता। आपके पुत्र आपके ही नियन्त्रण में रहें, ऐसी चेष्टा कीजिये। ऐसा न हो कि वे सभी मर्यादा का त्याग करके आपको इस वृद्धावस्था में छोड़कर चल बसें (मृत्यु को प्राप्त हो जायें)। इसलिये आप मेरी बात मानकर इस कुलपांसन दुर्योधन को त्याग दें। यथोक्तम्-

शास्त्रं न शास्ति दुर्बुद्धिं श्रेयसे चेतराय च। न वै वृद्धो बालमतिर्भवेद् राजन् कथंचन।।
त्वन्नेत्राः सन्तु ते पुत्रा मा त्वां दीर्णाः प्रहासिषुः। तस्मादयं मद्वचनात् त्यज्यतां कुलपांसनः।।[15]

राजन्! आपको जो करना चाहिये था, वह आपने पुत्रस्नेहवश नहीं किया। अतः समझ लीजिये, उसी का यह फल प्राप्त हुआ है, जो कुल के विनाश का कारण होने जा रहा है।[16] शान्ति, धर्म तथा उत्तम नीति से युक्त जो आपकी बुद्धि थी, वह बनी रहे। आप प्रमाद मत कीजिये। क्रूरतापूर्ण कर्मों से प्राप्त की हुयी लक्ष्मी विनाशशील होती है और कोमलतापूर्ण व्यवहार से वृद्धि को प्राप्त धन-सम्पत्ति पुत्र-पौत्रों तक चली जाती है (शमेन धर्मेण नयेन युक्ता, या ते बुद्धिः सास्तु ते मा प्रमादीः। प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्रीर्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान्।)[17] इस प्रकार गान्धारी, दुर्योधन द्वारा किये गये अनुचित कार्यों में उसकी बुद्धि का अनुसरण करने पर धृतराष्ट्र की निंदा करती है और उन्हें अवसरानुकूल उचित परामर्श देती है। अपने दुर्बुद्धि पुत्रों के अनुचित निर्णय में स्वीकृति देने पर वह धृतराष्ट्र के समक्ष अपना विरोध प्रकट करती है। उसने नीतियुक्त वचन ही कहा है कि ''जिसकी बुद्धि शास्त्रों से अनुशासित नहीं है, उसे शास्त्र भी श्रेयस् मार्ग की ओर प्रवृत्त नहीं करा सकते।'' भर्तृहरि भी कहते हैं कि ''दुराग्रही मूर्ख व्यक्ति के मन को वश में करके उसे सही मार्ग पर नहीं लाया जा सकता'' (न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्)[18] पुत्रदर्शनपर्व में भी विवेकशीला गान्धारी, पतिहित की वांछा से धृतराष्ट्र के पुत्रशोक को दूर करने की प्रार्थना, व्यासजी से करती है जिससे धृतराष्ट्र का मन शान्त हो जाये।[19]

इस तरह गान्धारी ने यहाँ पति के हित साधन में तत्पर रहते हुये उनके सम्मान और गौरव की रक्षा करने में ही अपने धर्मपालन की भावना का उन्मेष किया है और इसके लिये वह पुत्र का त्याग तक करने को प्रस्तुत है। उसके चरित्र की कुछ अन्य विशेषताएँ भी यहाँ दृष्टिगोचर होती हैं जैसे कि वह भयभीता, शकुनों-अपशकुनों पर विश्वास करने वाली, धर्म

के प्रति निश्चयात्मक बुद्धि वाली, द्यूत के प्रति अरुचि वाली और विद्वत्जनों के प्रति आदरणीय दृष्टि से युक्त है।

सन्मार्गप्रव र्तिनी माता: धर्मदर्शिनी, दीर्घदर्शिनी[20], महाप्राज्ञा[21], सत्यभाषिणी[22] इत्यादि विशेषणों से समादृता गान्धारी अपने कुलविध्वंसक, दुर्मति पुत्र दुर्योधन को कुमार्ग से सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने वाली श्रेष्ठ परामर्शदात्री के रूप में उद्योगपर्व में हमारे समक्ष उपस्थित होती है। पाण्डवों के प्रति ईष्र्या और द्वेष की भावना रखने के कारण युद्ध की ही इच्छा रखने वाले अपने पुत्र दुर्योधन को धिक्कारते हुये गान्धारी उसे सावचेत करते हुये कहती है-

ऐश्वर्यकाम दुष्टात्मन् वृद्धानां शासनातिग ऐश्वर्यजीविते हित्वा पितरं मां च बालिश।।
वर्धयन् दुर्हृदां प्रीतिं मां च शोकेन वर्धयन्। निहतो भीमसेनेन स्मर्तासि वचनं पितुः।।[23]

अर्थात् ''दुष्टात्मा दुर्योधन! तू ऐश्वर्य की इच्छा रखकर अपने गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन करता है। अरे मूर्ख! इस ऐश्वर्य, जीवन, पिता और मुझ माता को भी त्यागकर शत्रुओं की प्रसन्नता और मेरा शोक बढ़ाता हुआ जब तू भीमसेन के हाथों मारा जायेगा, उस समय तू पिता के वचनों का स्मरण करेगा।'' किन्तु दुर्योधन अपने माता-पिता की बात नहीं मानता। जब श्रीकृष्ण सन्धि प्रस्ताव लेकर धृतराष्ट्र के समीप पहुँचकर उन्हें दुर्योधन को बंदी बनाने और पाण्डवों से सन्धि करने का परामर्श देते हैं तो उनके ये वचन सुनकर वह अपनी परम बुद्धिमती और दूरदर्शिनी पत्नी गान्धारी से दुर्योधन को समझाने के लिये कहते हैं।[24] तब गान्धारी सर्वप्रथम उन्हें ही इस परिस्थिति के लिये उत्तरदायी मानकर उनकी निन्दा करते हुये कहती है कि ''महाराज! आपको अपना पुत्र अत्यधिक प्रिय है अतः वर्तमान परिस्थिति के लिये आप ही अत्यन्त निन्दनीय हैं क्योंकि आप उसके पापपूर्ण विचारों को जानते हुये भी सदा उसी की बुद्धि का अनुसरण करते हैं। इस दुर्योधन को काम और क्रोध ने अपने वश में कर लिया है, यह लोभ में फँस गया है; अतः आपका इसे बलपूर्वक पीछे लौटाना असम्भव है। दुष्ट सहायकों से युक्त मूढ, अज्ञानी, लोभी और दुरात्मा पुत्र को अपना राज्य सौंप देने का फल महाराज धृतराष्ट्र स्वयं भोग रहे हैं।[25] कोई भी राज स्वजनों में भेद की उपेक्षा कैसे कर सकता है? स्वजनों में फूट डालकर उनसे विलग होने वाले आपकी सभी शत्रु हँसी उड़ायेंगे। महाराज! जिस आपत्ति को साम अथवा भेदनीति से पार किया जा सकता है, उसके लिये आत्मीयजनों पर दण्ड का प्रयोग कौन करेगा? (कथं हि

स्वजने भेदमुपेक्षेत महीपति, भिन्नं हि स्वजनेन त्वां प्रहसिष्यन्ति शत्रवः। या हि शक्या महाराज साम्ना भेदेन वा पुनः, निस्तर्तुमापदः स्वेषु दण्डं कस्तत्र पातयेत्।।)[26] तत्पश्चात् दुर्योधन के पुनः सभा में आने पर उसकी निन्दा करती हुयी नीतिनिपुणा गान्धारी शान्तिस्थापना के लिये उसे युद्ध से विमुख होने का सन्देश देते हुये कहती है कि ''पुत्र! तुम अपने इन हितैषी सुहृदों की बात मान लो। कोई भी अपनी इच्छा मात्र से राज्य की प्राप्ति, रक्षा अथवा उपभोग नहीं कर सकता। जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं किया है, वह दीर्घकाल तक राज्य का उपभोग नहीं कर सकता। जिसने अपने मन को जीत लिया है वह मेधावी पुरुष ही राज्य की रक्षा कर सकता है।[27] जो मनुष्य अपना भला चाहने वाले ज्ञानी एवं विद्वान् सुहृदों के शासन में नहीं रहता, वह शत्रुओं का आनन्द बढ़ाने वाला होता है।[28] हे पुत्र! युद्ध करने में कल्याण नहीं है, उनसे धर्म और अर्थ की भी प्राप्ति नहीं हो सकती फिर सुख तो मिल ही कैसे सकता है? युद्ध में सदा विजय ही हो, यह भी निश्चित नहीं है; अतः उसमें मन न लगाओ। (न युद्धे तात कल्याणं न धर्मार्थौ कुतः सुखम्, न चापि विजयो नित्यं मा युद्धे चेत आधिथाः।।)[29] 'यदि तुम अपने मन्त्रियों सहित राज्य भोगना चाहते हो तो पाण्डवों को उनका यथोचित भाग दे दो। पाण्डवों को जो तेरह वर्षों के लिये निर्वासित कर दिया गया, यही उनका महान् अपकार हुआ है। तुम्हारे काम और क्रोध से इस अपकार की और भी वृद्धि हुई है। अब तुम सन्धि के द्वारा इसे शान्त कर दो।'[30] तुम जो यह समझ रहे हो कि भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदि अपनी पूरी शक्ति लगाकर मेरी ओर से युद्ध करेंगे, ऐसा कदापि सम्भव नहीं है क्योंकि इन आत्मज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में तुम्हारा और पाण्डवों का इस राज्य पर अधिकार समान ही है। इनके हृदय में दोनों के लिये एक सा ही प्रेम और स्थान है तथा राज्य से भी बढ़कर ये धर्म को महत्त्व देते हैं। इस संसार में केवल लोभ करने से किसी को अर्थसम्पत्ति की प्राप्ति होती हुयी नहीं दिखायी देती अतः लोभ से कुछ सिद्ध होने वाला नहीं है'' (यच्च त्वं मन्यसे मूढ भीष्मद्रोणकृपादयः। योत्स्यन्ते सर्वशक्त्येति नैतदद्योपपद्यते।। समं हि राज्यं प्रीतिश्च स्थानं हि विदितात्मनाम्। पाण्डवेष्वथ युष्मासु धर्मस्त्वभ्यधिकस्ततः।। न लोभादर्थसम्पत्तिनराणामिह दृश्यते। तदलं तात लोभेन प्रशाम्य भरतर्षभ।।)[31] कुलधर्मानुरूपचारिणी गान्धारी ने यह भी कहा कि ''हे पुत्र! हमारे यहाँ परम्परा से चला आने वाला कुलधर्म यही है कि यह कुरुराज्य पूर्व-पूर्व

अधिकारी के क्रम से उपभोग में आये परन्तु अतिनृशंसकर्म करने वाले पापबुद्धि दुर्योधन! तू अपने अन्याय से कौरव राज्य का विनाश कर रहा है'', यथोक्तम्-

राज्यं कुरूणामनुपूर्वभोज्यं क्रमागतो नः कुलधर्म एषः।
त्वं पापबुद्धेऽतिनृशंसकर्मन् राज्यं कुरूणामनयाद् विहंसि।।[32]

कुरुकुल के श्रेष्ठ पुरुष, सत्यप्रतिज्ञ एवं बुद्धिमान् महात्मा देवव्रत जो कुछ कहते हैं, उसे राज्य और स्वधर्म का पालन करने वाले सभी को मान लेना चाहिये।[33] गान्धारी ने पूर्व में भी दुर्योधन को पाण्डवों से सन्धि करने के लिये समझाया था जब उसने सभाभवन में द्रौपदी का अपमान किया था। उसने कहा था ''पुत्र! शकुनि मृत्यु के पाश में फँसा हुआ है। तुम इसका संग छोड़ दो। तुम अपने इस दुर्बुद्धि मामा को कलहप्रिय समझो और शीघ्र ही इसका परित्याग करके पाण्डवों के साथ सन्धि कर लो'' (मृत्युपाशपरिक्षिप्तं शकुनिं पुत्र वर्जय, निबोधैनं सुदुर्बुद्धिं मातुलं कलहप्रियम्, क्षिप्रमेनं परित्यज्य पुत्र शाम्यस्व पाण्डवैः)[34]

गान्धारी जानती थी कि दुर्योधन के प्रति उसके मामा शकुनि का अत्यधिक प्रेम था तथापि दुर्योधन द्वारा पाण्डवों के प्रति दुर्व्यवहार का कारण अपने भ्राता को मानकर उसे मामा शकुनि का कुसंग त्यागने के लिये कहती है। इससे ज्ञात होता है कि वह अपने भ्राता शकुनि के गुणावगुणों से भलीभाँति परिचित थी। 'जलप्रदानिक पर्व' में गान्धारी का एक और रूप दृष्टिगोचर होता है, वह है उसकी 'निष्पक्षता'। कौरवों और पाण्डवों के मध्य चलने वाले अट्ठारह दिनों के महासमर में जब दुर्योधन प्रतिदिन युद्ध से पूर्व विजयप्राप्ति का आशीर्वाद पाने की इच्छा से गान्धारी के समीप आकर कहता था कि ''तुम मेरे कल्याण के लिये आशीर्वाद दो'' तो वह पुत्रप्रेमसिक्ता होकर भी निष्पक्ष भाव से प्राणिहित में तत्पर होकर कहती थी कि 'जहाँ धर्म है, वहीं विजय है।' यथोक्तम्-

सा तथा याच्यमाना त्वं काले काले जयैषिणा।
उक्तवत्यसि गान्धारि यतो धर्मस्ततो जयः।।[35]

इस प्रकार गान्धारी ने काम-क्रोध-मोह-मद-लोभ जैसे दुर्गुणों से आविष्ट अपने पुत्र दुर्योधन को यथासमय, यथावसर जीवन के प्रतिपद पर अत्याचार-अन्याय-अनीतियुक्त मार्ग का त्याग करने और सज्जनों द्वारा प्रशंसित न्याय और नीतियुक्त उत्तम मार्ग का आश्रय लेने हेतु प्रेरित किया है और साथ ही साथ इस बात के लिये भी पुनः पुनः प्रयास किया है कि

वह अपने हृदय में भ्रातृप्रेम को स्थान देकर कुरुवंश की मर्यादा को ध्यान में रखते हुये पाण्डवों को उनका अधिकार प्रदान करे। धृतराष्ट्र का पुत्रमोह में पड़कर उसके अनुचित कार्यों में साथ देने के लिये जहाँ वह अपने पति की भी भत्र्सना करती है वहीं अपने पुत्र को अपने ही भ्राता के अवगुण बताकर उसका संग तयागने के लिये कहती है। यहाँ तक कि उसने युद्ध के समय भी अपने पुत्र को 'विजय' होने का आशीष प्रदान नहीं किया। केवल धर्म की ओर ही उसकी दृष्टि रही। एक आदर्श माता के रूप में 'गान्धारी' अपने पुत्र दुर्योधन को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने में सदैव प्रयासरत रही है। यहाँ उसका क्रोध, पुत्रप्रेम, व्यङ्ग्य और अनीति के प्रति विरोधी स्वर स्पष्ट रूप से मुखरित हुआ है।

तत्त्वज्ञानी: सुबलपुत्रीगान्धारी तत्त्वज्ञान से भी सम्पन्न थी। गान्धारी का यह गुण भगवद्यानपर्व तथा जलप्रदानिकपर्व में परिलक्षित होता है। जब वह अपने मूढमति पुत्र दुर्योधन को युद्ध के प्रति अपनी आसक्ति को त्यागने तथा पाण्डवों के साथ शांतिपूर्वक निवास करते हुये राज्यसुख का उपभोग करने के लिये विभिन्न दृष्टान्तों के माध्यम से समझाने का प्रयत्न करती है। वह कहती है कि ''महत्पद को प्राप्त करने की इच्छावाला पुरुष अपनी इन्द्रियों को अर्थ और धर्म में नियन्त्रित करे। इन्द्रियों को जीत लेने पर बुद्धि उसी प्रकार बढ़ती है, जैसे ईंधन डालने से आग प्रज्वलित हो उठती है।[36] जैसे उद्दण्ड घोड़े नियन्त्रण में न होने पर मूर्ख सारथि को मार्ग में ही मार देते हैं, उसी प्रकार यदि इन इन्द्रियों को नियन्त्रण में न रखा जाय तो ये मनुष्य का नाश करने के लिये भी पर्याप्त हैं। छोटे छिद्रवाले जाल से ढ़की हुयी दो मछलियों की भाँति ये काम और क्रोध भी शरीर के भीतर ही छिपे हुये हैं, जो मनुष्य के ज्ञान को नष्ट कर देते हैं,-

अविधेयानि हीमानि व्यापादयितुमप्यलम्। अविधेया इवादान्ता हयाः पथि कुसारथिम्।।
क्षुद्राक्षेणेव जालेन झषावपिहितावुभौ, कामक्रोधौ शरीरस्थौ प्रज्ञानं तौ विलुम्पतः।।[37]

इन्हीं दोनों (काम और क्रोध) के द्वारा देवताओं ने स्वर्ग में जाने वाले पुरुष के लिये उस लोक का द्वार बंद कर रखा है। वीतराग पुरुष से भयभीत होकर ही देवताओं ने स्वर्गप्राप्ति के प्रतिबन्धक काम और क्रोध की वृद्धि की है। जो राजा काम, क्रोध, लोभ, मद, दम्भ को अच्छी तरह जीतने की कला जानता है, वही इस पृथ्वी का शासन कर सकता है। अतः अपनी इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखने का प्रयत्न करना चाहिये।[38] जो राजा काम अथवा

क्रोध से अभिभूत होकर स्वजनों या दूसरों के प्रति मिथ्या व्यवहार करता है, उसके कोई सहायक नहीं होते हैं (कामाभिभूतः क्रोधाद् वा यो मिथ्या प्रतिपद्यते। स्वेषु चान्येषु वा तस्य न सहाया भवन्त्युत)।[39]

इस प्रकार तत्त्वज्ञा गान्धारी ने नाना प्रकार की युतियों से दुरात्मा दुर्योधन के हृदय परिवर्तन का प्रयास किया। सर्वांगीण ज्ञान से परिमार्जित गान्धारी का तर्कसंगत परामर्श प्रभावोत्पादक था। इसीलिये ज्ञानवृद्धों के द्वारा भी उसकी प्रशंसा की गयी है-

महाप्राज्ञा बुद्धिमती देवी धर्मार्थदर्शिनी
आगमापायतत्त्वज्ञा कच्चिदेषा न शोचति।।[40]

संयतेन्द्रियः धृतराष्ट्र के साथ अपने विवाह के सम्बन्ध में गान्धारी मौन ही रही है। सम्पूर्ण जीवनकाल में अपने पति धृतराष्ट्र के अन्धत्व को कारण बनाकर गान्धारी ने कभी-कभी, कहीं भी अपनी नियति पर दोषारोपण नहीं किया, न ही किसी व्यक्ति को उपालम्भ दिया है और न ही कभी दुःख व्यक्त किया है अपितु इसके विपरीत चक्षु होते हुये भी, स्वयं को अचक्षु बनाकर दर्शनेन्द्रिय जनित समस्त सुखों से वंचित कर लिया। प्रथम-धृतराष्ट्र के साथ विवाह की स्वीकृति तथा द्वितीय-स्वयं को भी अचक्षु बना लेना, ये दोनों ही कार्य उसके इन्द्रियसंयमी होने के परिचायक हैं। गान्धारी का यही गुण उसके पत्नीधर्म के निर्वाह में सहायक बना। जलप्रदानिकपर्व में भी गान्धारी ने अपने इन्द्रिय संयम का परिचय दिया है ''पुत्र शोक से सन्तप्त गान्धारी को जब यह ज्ञात हुआ कि युधिष्ठिर अपने शत्रुओं का संहार करके मुझसे भेंट करने आ रहे हैं तो पाण्डवों द्वारा अपने पुत्रों की जघन्य हत्या जनित आवेश से उत्पन्न क्षणिक क्रोध की स्थिति में उस सती साध्वी धैर्यशीला के मन में भी एक क्षण के लिये युधिष्ठिर को शाप देने का विचार आया (ततो ज्ञात्वा हतामित्रं युधिष्ठिरमुपागतम्, गान्धारी पुत्रशोकार्ता शप्तुमैच्छदनिन्दिता)[41] लेकिन महर्षि व्यास जी के वचनों से सन्तुष्ट होकर पुनः अपने वात्सल्य भाव के वशीभूत हो स्वयं पर त्वरित नियन्त्रण प्राप्त कर युधिष्ठिर को शाप देने का विचार त्याग दिया।[42] गान्धारी के इस पापपूर्ण अभिप्राय को व्यास जी ने अपने तपोबल से जान लिया था और इस कारण मन के वेग के समान वेगशाली वे शीघ्र ही गान्धारी को शान्त करने के लिये पहुँच गये थे। व्यासजी को वहाँ अकस्मात् देखकर और उनके वहाँ आने का प्रयोजन जानकर गान्धारी को सम्भवतः अपनी होने वाली भूल का अनुमान हुआ होगा इसीलिये वह व्यासजी से कहती है ''मैं पाण्डवों के

प्रति कोई दुर्भाव नहीं रखती और न इनका विनाश ही चाहती हूँ ; परन्तु क्या करूँ? पुत्रशोक से मेरा मन हठात् व्याकुल-सा हो जाता है। कुन्ती के ये पुत्र जिस प्रकार कुन्ती के द्वारा रक्षणीय हैं, उसी प्रकार मुझे भी इनकी रक्षा करनी चाहिये, उसी प्रकार महाराज धृतराष्ट्र का भी कत्र्तव्य है कि इनकी रक्षा करें'', यथोक्तम्-

भगवन्नाभ्यसूयामि नैतानिच्छामि नश्यतः। पुत्रशोकेन तु बलान्मनो विह्वलतीव मे।।
यथैव कुन्त्या कौन्तेया रक्षितव्यास्तथा मया। तथैव धृतराष्ट्रेन रक्षितव्या यथा त्वया।।[43]

एक माँ के लिये यह असम्भव था कि अपने पुत्रों के प्राण हरने वाले को वह क्षमादान दे किन्तु फिर भी अपने पुत्रों के अनुचित व पापपूर्ण कार्यों का स्मरण कर अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखते हुये शान्तचित्त होकर उन्हें क्षमा किया जाना गान्धारी के संयतेन्द्रिय होने का जीवन्त प्रमाण ही है। इस प्रकार संयतेन्द्रिय होने के साथ ही उसकी पाण्डुपुत्रों के प्रति कत्र्तव्यपालन की भावना भी यहाँ अभिव्यक्त होती है और पुत्र-वियोग से उत्पन्न दुःख का भाव भी सहज ही अनुज्ञेय है।

आस्थावतीः गान्धारी की दैवीय शक्ति के प्रति आस्था थी। उसने विवाहपूर्व ही भगदेवता के नेत्रों का नाश करने वाले वरदायक भगवान् शंकर की आराधना करके अपने लिये सौ पुत्र होने का वरदान प्राप्त कर लिया था (आराध्य वरदं देवं भगनेत्रहरं हरम्। गान्धारी किल पुत्राणां शतं लेभे वरं शुभा)।[44]

स्त्रीसहज जलन से युक्तः गान्धारी में जलन की भावना भी विद्यमान थी किन्तु उसका यह भाव एक ही स्थान पर उजागर हुआ है। सम्भवपर्व में उल्लेख है कि समयानुसार गान्धारी ने धृतराष्ट्र से गर्भधारण किया। दो सम्वत्सर व्यतीत हो गये तब तक गान्धारी उस गर्भ को धारण किये रही फिर भी प्रसव नहीं हुआ।[45] तभी गान्धारी ने जब यह सुना कि कुन्ती के गर्भ से प्रातःकालीन सूर्य के समान तेजस्वी पुत्र का जन्म हुआ है, तब उसे बड़ा दुःख हुआ (अप्रजा धारयामास ततस्तां दुःखमाविशत्। श्रुत्वा कुन्तीसुतं जातं बालार्कसमतेजसम्)[46] उसे अपने उदर की स्थिरता पर बड़ी चिन्ता हुयी। गान्धारी दुःख से चेतना शून्य हो रही थी। उसने धृतराष्ट्र की अज्ञातता में ही महत् प्रयत्न करके अपने उदर पर आघात किया। तब उसके गर्भ से लोहे के पिण्ड के समान एक मांसपिण्ड प्रकट हुआ, यथोक्तम्-

उदरस्यात्मनः स्थैर्यमुपलभ्यान्वचिन्तयत्। अज्ञातं धृतराष्ट्रस्य यत्नेन महता ततः।।
सोदरं घातयामास गान्धारी दुःखमूर्च्छिता। ततो जज्ञे मांसपेशी लोहाष्ठीलेव संहता।।"[47]

उसने दो वर्षों तक उसे अपनी कुक्षि में धारण किया था तो भी सन्तान के स्थान पर ऐसा मांसपिण्ड देखकर उसे फेंक देने का विचार किया। उसका यह विचार महर्षि व्यास ने जान लिया और वे शीघ्र ही गान्धारी के समीप पहुँचे तब गान्धारी ने अपने मन का दुःख और उसका कारण सत्यरूप से प्रकट कर दिया। यह सुनकर महर्षि ने गान्धारी को धैर्य बँधाया और उसके गर्भ से प्रकट हुये मांसपिण्ड को सुरक्षित किया।[48] गान्धारी का ज्येष्ठा पुत्रवधू होने पर भी कुन्ती का उससे पूर्व सन्तान को जन्म देने के कारण दुःखी होकर अपने उदर पर प्रहार करना, इससे गान्धारी का कुन्ती के प्रति ईष्र्या का भाव प्रकट होता है और उदर पर प्रहार के पश्चात् भी सन्तानोत्पत्ति के स्थान पर मांसपिण्ड के प्रकट होने पर उसका दुःख और नैराश्य भी परिलक्षित होता है।

अतिथिसेवापरायणा: गान्धारी अतिथिसेवा में तत्पर रहने वाली, धार्मिक कार्यों से प्रसन्न होने वाली और दान-पुण्य के स्वभाव से युक्त स्त्री थी। उसने क्षुधा और परिश्रम से खिन्न महर्षि व्यास के राजप्रासाद आने पर अपने सेवाकार्यों से उन्हें सन्तुष्ट किया जिसके फलस्वरूप उन्होंने गान्धारी को वर देने की अभिलाषा प्रकट की। तब गान्धारी ने उनसे अपने पति के समान ही शतपुत्रोत्पत्ति का वर माँगा (सा वव्रे सदृशं भर्तुः पुत्राणां शतमात्मनः)[49] और उसने कालान्तर से में पुत्रों और एक पुत्री को भी जन्म दिया। उचित ही कहा है "सत्य और प्रिय वाणी शुद्ध, शान्त और मंगलों की उत्पादिका होती है और वह कामनाओं को पूर्ण करती है।" यथोक्तम्-

कामं दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं कीर्तिं सूते दुर्हृदो निष्प्रलान्ति।
शुद्धां शान्तां मातरं मंगलानां धेनूं धीराः सूनृतां वाचमाहुः।।[50]

गान्धारी की अतिथिसेवा भी सफल होती है और व्यासजी की वाणी भी। दुर्योधन द्वारा वैष्णव यज्ञ का अनुष्ठान किये जाने पर वह बहुत प्रसन्न होती है।[51] पुत्रों की मृत्यु के उपरान्त उसने उनके निमित्त नाना प्रकार के श्राद्ध कर्म का अनुष्ठान करके ब्राह्मणों को उनकी इच्छा के अनुसार धन दिया।[52]

वात्सल्यपरिपूर्णा: गान्धारी के मन में अपने पुत्रों के प्रति ही वात्सल्य की भावना नहीं थी अपितु कुन्तीपुत्र पाण्डवों के प्रति भी वह मातृवत् स्नेह रखती थी (सदैव प्रीतिमत्यासीत् तनयेषु निजेष्विव)[53] वह अपने पुत्रों की मृत्यु से अत्यन्त दुःखी अवश्य थी किन्तु उसका दुःख और क्रोध दुर्योधन की मृत्यु के विषय में यह जानकर और अधिक बढ गया था कि भीमसेन ने गदायुद्ध के नियमों का पालन नहीं किया तथापि पाण्डवों को निर्दोष मानते हुये जलप्रदानिक पर्व में गान्धारी का कथन है ''कुरूकुल का यह संहार तो दुर्योधन, मेरे भाई शकुनि, कर्ण तथा दुःशासन के अपराध से ही हुआ है। इसमें न तो अर्जुन का अपराध है न भीमसेन का। नकुल, सहदेव और युधिष्ठिर को भी कभी इसके लिये दोष नहीं दिया जा सकता'' (दुर्योधनापराधेन शकुनेः सौबलस्य च। कर्ण- दुःशासनाभ्यां च कृतोऽयं कुरुसंक्षयः। नापराध्यति बीभत्सुर्न च पार्थो वृकोदरः। नकुलः सहदेवश्च नैन जातु युधिष्ठिरः)[54] युद्धरत कौरव परस्पर ही मारकाट मचाते हुये अपने दूसरे साथियों के साथ मारे गये हैं अतः इसमें मुझे अप्रिय लगने वाली कोई बात नहीं है किन्तु महामना भीमसेन ने गदायुद्ध के लिये दुर्योधन को बुलाकर श्रीकृष्ण के देखते-देखते उसके प्रति जो व्यवहार किया है, वह मुझे अच्छा नहीं लगा।[55] वह रणभूमि में अनेक प्रकार के दाँव दिखाता हुआ विचर रहा था; अतः शिक्षा में उसे अपने से अधिक जानकर भीम ने जो उसकी नाभि से नीचे प्रहार किया, इनके इसी व्यवहार ने मेरे क्रोध को बढ़ा दिया है (शिक्षयाभ्यधिकं ज्ञात्वा चरन्तं बहुधा रणे। अधो नाभ्याः प्रहृतवांस्तन्मे कोपमवर्धयत्)[56] धर्मज्ञ महात्माओं ने गदायुद्ध के लिये जिस धर्म का प्रतिपादन किया है, उसे शूरवीर योद्धा रणभूमि में किसी तरह अपने प्राण बचाने के लिये कैसे त्याग सकते हैं?[57] उसके इन वचनों से ज्ञात होता है कि उसे युद्ध नियमों का ज्ञान था और वह नियम पालन को अत्यधिक महत्त्व देती थी। भीम के इस कार्य को अनुचित जानकर भी और पाण्डवों द्वारा अपने पुत्रों की मृत्यु होने के पश्चात् भी उस करुणवेदिनी गान्धारी ने न केवल क्रोधशून्य होकर स्वयं धैर्य धारण किया अपितु पश्चात्ताप की अग्नि में जलते हुये पाण्डुपुत्रों को माता के सदृश स्नेह भी प्रदान किया और उन्हें सान्त्वना भी दी (गान्धारी विगतक्रोधा सान्त्वयामास मातृवत्)[58] यहाँ तक कि उसने अपने ही पुत्रों को इस महासमर के लिये उत्तरदायी ठहराया।

इस प्रकार यहाँ गान्धारी के क्षमाशीलता, स्पष्टवादिता, सत्य को स्वीकार करने का सामर्थ्य और सत्यवादिता जैसे गुणों पर प्रकाश पड़ता है। यही नहीं, स्वयं पुत्रों की मृत्यु से

दुःखी होते हुये भी उसने अपनी तथा अपने पति के भाई की स्त्री तथा पुत्रवधुओं को भी सान्त्वना प्रदान की। उसने कुन्ती और वधू द्रौपदी से कहा कि ''पुत्री! इस प्रकार शोक से व्याकुल न हो। देखो, मैं भी तो दुःख में डूबी हुई हूँ। मैं समझती हूँ, कालविपर्यय से प्रेरित होकर यह सम्पूर्ण जगत् विनाश को प्राप्त हुआ है, जो स्वभाव से ही लोमहर्षक है। यह अवश्यंभावी था, इसीलिये प्राप्त हुआ है। वे सभी वीर संग्राम में मारे गये हैं, अतः अशोच्य हैं। आज जैसी मेरी स्थिति है, वैसी ही तुम्हारी भी। हम दोनों को कौन धैर्य बँधायेगा? मेरे ही अपराध से इस श्रेष्ठ कुल का संहार हुआ है'' (मैवं पुत्रीति शोकार्ता पश्य मामपि दुःखिताम्। मन्ये लोकविनाशोऽयं कालपर्यायनोदितः।। अवश्यभावी सम्प्राप्तः स्वभावाल्लोमहर्षणः। मा शुचो न हि शोच्यास्ते संग्रामे निधनं गताः। यथौवाहं तथैव त्वं को नावाश्वासयिष्यति। ममैव ह्यपराधेन कुलमग्र्यं विनाशितम्।।[59]

इस प्रकार गान्धारी में परिस्थिति के अनुसार स्वविवेक का प्रयोग करने की अद्भुत क्षमता विद्यमान थी। उसका हृदय कोमल और संवेदनशील था उसमें परदुःखकातरता का भाव निहित था। उपुर्यक्त कथनों से गान्धारी का कुन्ती और द्रौपदी के प्रति प्रेमव्यवहार भी प्रकाशित होता है। जिस तरह गान्धारी को अपने पुत्रों से प्रेम था, वैसा ही प्रेम अपनी पुत्री दुःशला के प्रति भी था। गान्धारी ने शतपुत्र होने का वरदान प्राप्त किया था फिर भी उसके मन में एक कन्यारत्न पाने की इच्छा हुयी। सती, साध्वी, सुदृढ़व्रता गान्धारी के मन में उत्पन्न इस इच्छा को व्यासजी ने पूर्ण भी कर दिया। उसने सोचा था कि ''यदि सौ पुत्रों के अतिरिक्त एक छोटी कन्या हो जायेगी तो मेरे ये पति दौहित्र के पुण्य से प्राप्त होने वाले उत्तम लोकों से भी वंचित नहीं रहेंगे। कहते हैं, स्त्रियों का जामाता के प्रति पुत्र से भी अधिक स्नेह होता है। यदि मुझे भी सौ पुत्रों के अतिरिक्त एक पुत्री प्राप्त हो जाय तो मैं पुत्र और दौहित्र दोनों से युक्त होकर कृतकृत्य हो जाऊँ। यदि मैंने वास्तव में तप, दान अथवा होम किया हो तथा गुरुजनों को सेवा द्वारा प्रसन्न कर लिया हो, तो मुझे पुत्री अवश्य प्राप्त हो।''[60]

गान्धारी के इन कथनों से उसका कन्या के प्रति प्रेमभाव का दर्शन तो होता ही है साथ ही साथ कन्या के प्रति सम्मान की भावना भी प्रकट होती है। उसकी यही भावना दुर्योधन द्वारा सभा भवन में द्रौपदी को अपमानित करने पर भी प्रकट होती है जब इसके लिये वह धृतराष्ट्र तथा दुर्योधन को धिक्कारती है। निष्पक्षता और चारित्रिक श्रेष्ठता के कारण ही कौरव, पाण्डव तथा सभी गुरुजन गान्धारी का आदर करते थे। सभी पुत्रवधुएँ तथा कुन्ती

और उसकी पुत्रवधुएँ भी गान्धारी की परिचर्या में संलग्न रहती थीं (तथैव कुन्ती गान्धार्या गुरुवृत्तिमवर्तत्)[61] स्त्रीपर्व में वैधव्य से दुःखी अपनी सभी पुत्रवधुओं के लिये श्रीकृष्ण के सम्मुख गान्धारी के विलाप का विस्तृत वर्णन है।

तपोबलसमन्विता: गान्धारी एक तपोबलसमन्विता स्त्री थी। उसके इस गुण के दर्शन सर्वप्रथम तब होते है जब पाण्डुपुत्रों से विवाह करने के पश्चात् द्रौपदी हस्तिनापुर पहुँचकर कुन्ती के साथ गान्धारी के कक्ष में उनका आशीर्वाद लेने जाती है। उस समय द्रौपदी जब गान्धारी को प्रणाम करती है तो वह आशीर्वाद देकर उसे हृदय से लगा लेती है। हृदय से लगाकर वह सोचने लगी कि 'यह पांचाली तो मेरे पुत्रों की मृत्यु ही है' (परिष्वज्य च गान्धारी कृष्णां कमललोचनाम्, पुत्राणां मम पांचाली मृत्युरेवेत्यमन्यत)[62] और गान्धारी का यह विचार अन्त में सत्य ही सिद्ध हुआ क्योंकि उसके पुत्रों की मृत्यु में, दुर्योधन, दुःशासन आदि द्वारा किया गया द्रौपदी का अपमान भी मुख्य कारण था। गान्धारी की तपशक्ति का ज्ञान युद्ध में विजय के पश्चात् युधिष्ठिर के गान्धारी से मिलने के अवसर पर भी होता है। उसके इस गुण से युधिष्ठिर भलीभाँति परिचित थे। इसीलिये जब कृष्ण ने युधिष्ठिर से समरांगण में कौरवों के वध के पश्चात् पुत्रविहीन गान्धारी के क्रोध की शान्ति के निमित्त उनके समीप जाने के लिये कहा तो उनके क्रोध से भयभीत होकर युधिष्ठिर ने माता गान्धारी के निकट जाने से मना कर दिया क्योंकि वे जानते थे कि माता गान्धारी के कुपित होने पर उनमें तीनों लोकों को जलाकर भस्म कर देने की क्षमता थी-

चिन्तयानो महाभागा गान्धारी तपसान्वितम्।
घोरेण तपसा युक्तां त्रैलोक्यमपि सो दहेत्।।[63]

वह श्रीकृष्ण से कहते हैं कि ''महाभाग गान्धारी प्रतिदिन उग्रतपस्या से अपने शरीर को कृश करती जा रही है। वे पुत्रों और पौत्रों का वध हुआ सुनकर निश्चय ही हमें जला डालेंगी।'' अतः आप स्वयं ही जाकर माता गान्धारी को शान्त करें। क्योंकि आप ही सम्पूर्ण लोकों के स्रष्टा और संहारक हैं। आप ही सबकी उत्पत्ति और प्रलय के स्थान है। आप युक्ति और कारणों से संयुक्त समयोचित वचनों द्वारा देवी गान्धारी को शीघ्र ही शान्त कर देंगे।[64] श्रीकृष्ण भी स्वीकार करते हैं कि ''गान्धारी जैसी तपस्विनी स्त्री इस संसार में कोई नहीं है। वह अपनी तपस्या के बल से क्रोधभरी दृष्टि द्वारा चराचर प्राणियों सहित सम्पूर्ण पृथ्वी को

भस्म कर डालने की शक्ति रखती है।'' (त्वत्समा नास्ति लोकेऽस्मिन्नद्य सीमन्तिनी शुभे। शक्ता चासि महाभागे पृथिवीं सचराचराम्।। चक्षुषा क्रोधदीप्तेन निर्दग्धुं तपसो बलात्।)[65]

जब युधिष्ठिर ने अपने कृत्यों के लिये गान्धारी से क्षमा माँगी और इन सबके लिये स्वयं को उत्तरदायी ठहराने लगे तब वह गान्धारी के चरणों पर गिरना चाहते थे, उस समय देवी गान्धारी ने पट्टी के भीतर से ही राजा युधिष्ठिर के पैरों की अंगुलियों के अग्रभाग देख लिये। इतने से ही राजा के नख काले पड़ गये, (अंगुल्यग्राणि ददृशे देवी पट्टान्तरेण सा। ततः स कुनखीभूतो दर्शनीयनखो नृपः।।)[66]

यह गान्धारी के तपोबल का साक्षात्प्रमाण है। इसी प्रकार गान्धारी ने अपने तप की शक्ति से श्रीकृष्ण को भी शाप दिया। वेदव्यासजी के वरदान से दिव्यदृष्टि सम्पन्न हुयी गान्धारी युद्धस्थल में मारे गये योद्धाओं, उनकी पत्नियों, दुर्योधन, दुःशासन और अन्य पुत्रों को देखकर तथा विराट कुल की स्त्रियों को शोकार्त तथा विह्वल देखकर अपने भ्राता, जामाता को देखकर और अपनी पुत्री तथा कुरुकुल की सभी स्त्रियों को विलाप करता हुआ देखकर, वह श्रीकृष्ण के सम्मुख, इन सभी दृश्यों को देखकर अत्यधिक व्यथित होकर विलाप करती है।[67] उस समय गान्धारी धैर्यहीन होकर शोक से मूर्च्छित हुयी पृथ्वी पर गिर पड़ी। वह क्रोधित हो गयी। उसने इस कुल के संहार का कारण श्रीकृष्ण को माना।[68] पुत्रशोक से व्याकुल होकर उसने कृष्ण से कहा, ''महाबाहु मधुसूदन! तुम शक्तिशाली थे। तुम्हारे पास बहुत-से सेवक और सैनिक थे तुम महान् बल में प्रतिष्ठित थे। दोनों पक्षों से अपनी बात मनवा लेने की सामर्थ्य तुम रखते थे। तुमने वेद-शास्त्रों और महात्माओं की बातें सुनी और जानी थीं। यह सब होते हुये भी तुमने स्वेच्छा से कुरुकुल के नाश की उपेक्षा की। यह तुम्हारा महान् दोष है, अतः तुम इसका फल प्राप्त करो।[69] केशव! मैंने पति की सेवा से जो कुछ भी तप अर्जित किया है, उस दुर्लभ तपोबल से तुम्हें शाप दे रही हूँ। तुमने आपस में लड़ते हुये ज्ञातीजन कौरवों और पाण्डवों की उपेक्षा की है, इसलिये आज से छत्तीसवाँ वर्ष उपस्थित होने पर तुम्हारे कुटुम्बी, मन्त्री और पुत्र सभी आपस में लड़कर मर जायेंगे। तुम सबसे अपरिचित और लोगों की आँखों से ओझल होकर अनाथ के समान वन में विचरोगे और किसी निन्दित उपाय से मृत्यु को प्राप्त होओगे। (पतिशुश्रूषया यन्मे तपः किंचिदुपार्जितम्। तेन त्वां दुरवापेन शप्स्ये चक्रगदाधर।। यस्मात् परस्परं घ्नन्तो ज्ञातयः कुरुपाण्डवाः। त्वमप्युपस्थिते वर्षे षट्त्रिंशे

मधुसूदन। हतज्ञातिर्हतामात्यो हतपुत्रो वनेचरः।। अनाथवदविज्ञातो लोकेष्वनभिलक्षितः।। कुत्सितेनाभ्युपायेन निधनं समवाप्स्यसि।।)[70]

तपोबल के सामर्थ्य से ही गान्धारी, धृतराष्ट्र तथा कुन्ती के साथ वन में तपस्विनी होकर रही तथा मृत्यु-समय उपस्थित होने पर इसी तपोबल के प्रभाव से योग द्वारा अपनी देह का त्याग कर मृत्यु का वरण किया[71] और पातिव्रत्य-धर्म का पालन करने से गान्धारी ने पतिलोक को प्राप्त किया (पतिलोकमनुप्राप्तां तथा भर्तृव्रते स्थिताम्)[72] भविष्यपुराण में कथन है कि ''पति की सम्यक् आराधना करने से स्त्रियों को पति का प्रेम प्राप्त होता है तथा फिर पुत्र, स्वर्ग आदि भी उसे प्राप्त हो जाते हैं।''[73] गान्धारी के विषय में यह उक्ति पूर्णतया चरितार्थ होती है। क्योंकि उसे अपने पति धृतराष्ट्र से प्रेम और सम्मान दोनों ही प्राप्त हुये हैं। दोनों ही जीवन के अन्तिम क्षण तक एक-दूसरे के साथ रहे, एक साथ मृत्यु का वरण किया और मृत्यु के पश्चात् भी गान्धारी को अपने पति का साथ मिला। इनके दाम्पत्य-प्रेम के सम्बन्ध में भवभूति की यह उक्ति सार्थक प्रतीत होती है कि ''पत्नी के लिये पति और पति के लिये पत्नी परस्पर प्रिय मित्र हैं, घनिष्ठ सम्बन्धी हैं, समग्र मनोरथ हैं, परम निधि हैं और जीवन के सर्वस्व हैं (प्रेयो मित्रं, बन्धुता वा समग्रा सर्वे कामाः, शेवधिर्जीवितम् वा, स्त्रीणां भर्ता, धर्मदाराश्च पुंसामित्यन्योन्यं वत्स्योज्ञातमस्तु)[74] इस प्रकार यहाँ गान्धारी के तेजस्विता, ओजस्विता, पातिव्रत्य-शक्ति, सहिष्णुता जैसे गुण तो दिखायी देते ही हैं और साथ ही यहाँ उसके पुत्र-प्रेम, कुल-प्रेम, सन्ताप, करुणवेदना जैसे भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति भी हुयी है। वस्तुतः गान्धारी शारीरिक सौन्दर्य के साथ ही आन्तरिक सौन्दर्य में अभिवृद्धि करने वाले समस्त सद्गुणों और मानवीय संवेदनाओं से संयुक्त थी। वह एक पतिव्रता स्त्री थी जो अपने पति की चित्तवृत्ति को भलीभाँति जानकर तदनुकूल व्यवहार करती थी। उनके सौभाग्य की आकांक्षिणी होकर ही वह स्वयं या उनके पूछने पर, उनके उचित-अनुचित कार्यों पर अपने विचारों से उन्हें अवगत कराती थी। वह सर्वधर्मतत्त्वज्ञा, कालपर्यायवेदिनी, महाप्राज्ञा, सत्यवादिनी थी अतः धृतराष्ट्र तथा सभी कुरुकुल स्त्री-पुरुषों द्वारा वह समादृता थी। अपने पुत्र को भी उसने दुर्गुणों से दूर रहने, कुसंग का त्याग करने, गुरुजनों का सम्मान करने, शिष्ट व्यवहार करने, समस्त बान्धवों से प्रेम करने का कल्याणकारी ज्ञान ही प्रदान किया है किन्तु दुर्योधन उसके द्वारा दिये गये ज्ञान से सदैव ही विपरीत मार्ग पर चला और इस कारण गान्धारी को कुरुकुल का विनाश देखना पड़ा। जैन कवि 'रन्न' ने गान्धारी के विषय में

उचित ही कहा है कि 'वीरशतजननी गान्धारी अब दुःखशतजननी हो गयी है।'[75] वह क्षमाशीला, मृदुस्वभावा, शांतिप्रिय, तपस्विनी, अतिथिसेवापरायणा, दानपुण्यशीला, आस्थावती, विवेकशीला और ममत्व की मूर्ति थी। हाँ, कुन्ती के प्रति उसके मन में ईष्र्या-भाव अवश्य था किन्तु यह भाव उसके अन्तर्मन में ही था, जिसका ज्ञान केवल वेदव्यास जी को था। इस भाव का प्रभाव कभी भी उसने कुन्ती या उसके पुत्रों से अपने पारस्परिक सम्बन्धों पर नहीं पड़ने दिया। सच में, वह संयतेन्द्रिय थी। इस प्रकार गान्धारी बहुआयामी व्यक्तित्व से सम्पन्न प्रतिभाशालिनी आर्यस्त्री थी।

माद्री

'माद्री' मद्रदेश के राजा, बाह्लीक शिरोमणि शल्य की रूपवती भगिनी थी।[76] वह यशस्विनी, साध्वी और साक्षात् 'धृति' देवी स्वरूपा थी।।[77] भीष्म जी स्वयं राजा शल्य के पास माद्री के साथ 'पाण्डु' के द्वितीय विवाह का प्रस्ताव लेकर गये थे और उन्होंने सहर्ष इस प्रस्ताव पर स्वीकृति देकर अपनी भगिनी को वस्त्राभूषणों से विभूषित करके उसे भीष्म जी के साथ हस्तिनापुर भेज दिया और वहाँ पहुँचकर भीष्म ने पाण्डु का विवाह माद्री के साथ विधिपूर्वक सम्पन्न करवाया।[78] अपने भ्राता के वचन का पालन करके एक ओर तो उसने भगिनीधर्म का निर्वाह किया, वहीं दूसरी ओर विवाह-पश्चात् उसने अपने श्वसुरालय के कुलधर्म की शोभा का विस्तार किया। माद्री का चरित्र जिन श्रेष्ठताओं से समन्वित होकर गौरव को प्राप्त हुआ है, वे हैं-

पतिव्रता पत्नीः कल्याणमयी, साध्वी[79] 'माद्री' की जीवनचर्या सदैव पति के अनुकूल ही रही है, चाहे राजप्रासाद का आनन्दमय जीवन हो या वन का तपस्वी जीवन। कुन्ती और माद्री ने तो स्वयं ही अपने पति पाण्डु को प्रेरित किया था कि वे राजमहलों का निवास और सुन्दर शय्याएँ छोड़कर वन में रहें, यथोक्तम्-

सम्प्रयुक्तस्तु कुन्त्या च माद्र्या च भरतर्षभ। जिततन्द्रीस्तदा पाण्डुर्बभूव वनगोचरः।।
हित्वा प्रासादनिलयं शुभानि शयनानि।[80]

प्रेरणा पाकर पाण्डु अपनी दोनों पत्नियों के साथ वनवासी जीवन व्यतीत करने लगे। मृगया में आसक्ति रखने वाले राजा पाण्डु ने एक दिन अज्ञानतावश मृगरूप धारण करके अपनी पत्नी के साथ मैथुन कर्म कर रहे किंदम मुनि पर शस्त्र प्रहार किया और मुनि ने उन्हें 'सन्तानोत्पादन की शक्ति से रहित' हो जाने का शाप दे दिया।[81] यह शाप सुनकर पाण्डु अत्यधिक दुःखी हो गये और यह सोचकर कि 'मोक्ष के मार्ग पर चलने से ही अपना

कल्याण है'[82] अतः संन्यास आश्रम ग्रहण करने की इच्छा से, अत्यन्त दुःख से आतुर होकर उन्होंने अपनी दोनों पत्नियों से हस्तिनापुर लौट जाने के लिये कहा।[83] वनवास के लिये दृढ़निश्चय करने वाले अपने पतिदेव का यह वचन सुनकर कुन्ती और माद्री ने कहा कि "हे भरतश्रेष्ठ! संन्यास के अलावा और भी तो आश्रम है, जिनमें आप हम धर्मपत्नियों के साथ रहकर भारी तपस्या कर सकते हैं। आपकी वह तपस्या स्वर्गदायक महान् फल की प्राप्ति कराकर इस शरीर से भी मुक्ति दिलाने में समर्थ हो सकती है। इसमें सन्देह नहीं कि उस तप के प्रभाव से आप ही स्वर्गलोक के स्वामी इन्द्र भी हो सकते हैं। हम दोनों कामसुख का परित्याग करके पतिलोक की प्राप्ति का ही परम लक्ष्य लेकर अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को संयम में रखती हुयी महत् तपस्या करेंगी। यदि आप हम दोनों को त्याग देंगे तो आज ही हम अपने प्राणों का परित्याग कर देंगी, इसमें संशय नहीं है", यथोक्तम्-

अन्येऽपि ह्याश्रमाः सन्ति ये शक्या भरतर्षभ। आवाभ्यां धर्मपत्नीभ्यां सह तप्तुं तपो महत्।।
शरीरस्यापि मोक्षाय स्वर्ग्यं प्राप्य महाफलम्। त्वमेव भविता भर्ता स्वर्गस्यापि न संशयः।।
प्रणिधायेन्द्रियग्रामं भर्तृलोकपरायणे, त्यक्तकामसुखे ह्यावां तप्स्यावो विपुलं तपः।।
यदि चावां महाप्राज्ञ त्यक्ष्यसि त्वं विशाम्पते। अथैवावां प्रहास्यावो जीवितं नात्र संशयः।।[84]

उनके धर्मयुक्त निश्चय को सुनकर पाण्डु ने संन्यास-आश्रम ग्रहण करने का विचार त्याग दिया किन्तु वानप्रस्थ की कठोर-से-कठोर विधियों के पालन का निश्चय करके उसने अपनी पत्नियों से कहा कि 'वे अपने सभी बहुमूल्य आभूषण उतारकर ब्राह्मणों को दे दें और उन्होंने ऐसा ही किया।"[85] उन दोनों ने ही अपने पातिव्रत्य धर्म के पालन के लिये तपश्चर्या के कठिन व्रत का संकल्प ले लिया था। इस नियम-पालन में कोई त्रुटि न हो जाय, इस बात का वे सर्वदा और सर्वथा सजग रहकर ध्यान रखती थीं। जब कुन्ती ने दुर्वासा ऋषि द्वारा दिये गये मन्त्र से, अपने पति 'पाण्डु' की सहमति लेकर तीन पुत्र प्राप्त किये तो माद्री ने भी पुत्रप्राप्ति की इच्छा रखकर पाण्डु से कहा, "कुरुनन्दन! आप सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति से रहित हो गये, आपकी इस दुर्बलता को लेकर मेरे मन में कोई सन्ताप नहीं है। राजन्! गान्धारी तथा राजा धृतराष्ट्र के जो सौ पुत्र हुये हैं, वह समाचार सुनकर भी मुझे वैसा दुःख नहीं हुआ था।[86] परन्तु इस बात का मेरे मन में बहुत दुःख है कि मैं और कुन्ती देवी दोनों समान रूप से आपकी पत्नियाँ हैं तो भी उन्हें तो पुत्र हुआ और मैं सन्तानहीन ही रह गयी। यह सौभाग्य की बात है कि इस समय मेरे प्राणनाथ को कुन्ती के गर्भ से पुत्र की प्राप्ति हुयी है।[87]

यदि कुन्तिभोज कुमारी मेरे गर्भ से भी कोई सन्तान उत्पन्न करा सकें, तो यह उनका मेरे ऊपर महान् अनुग्रह होगा और इससे आपका भी हित हो सकता है।[88] अतः यदि आप मुझ पर प्रसन्न हों तो आप स्वयं ही मेरे लिये कुन्तीदेवी को प्रेरित कीजिये। (यदि तु त्वं प्रसन्नो मे स्वयमेनां प्रचोदय)[89] पाण्डु का भी माद्री के प्रति प्रेमभाव था और पाण्डु भी चाहते थे कि वह भी सन्तानसुख प्राप्त करे लेकिन यह बात वह माद्री से कहने का साहस नहीं कर पाये क्योंकि उन्हें यह सन्देह बना हुआ था कि माद्री यह प्रस्ताव सुनकर प्रसन्न होगी अथवा अप्रसन्न।[90] तत्पश्चात् पाण्डु उसका प्रिय करने की इच्छा से उसे आश्वासन देते हैं और कुन्ती से इस कार्य को करने के लिये कहकर माद्री को भी सन्तानसुख का सौभाग्य प्रदान करते है।[91] जब कुन्तीपुत्र 'अर्जुन' के चतुर्दश जन्मदिवस पर ब्राह्मण-भोज का आयोजन किया गया तब देवी कुन्ती तो ब्राह्मणों को भोजन कराने में लग गयी और 'पाण्डु' माद्री को बुलाकर उसके साथ वन में विचरने लगे।[92] वन की शोभा देखकर और माद्री को भी अकेली देखकर वे पूर्णतः काम के अधीन हो गये और माद्री के साथ समागम करके मृत्यु को प्राप्त हो गये। तब माद्री चेतनाविहीन राजा का आलिंगन करके अत्यन्त विलाप करती है।[93] कुन्ती भी पति को मृत अवस्था में देखकर अत्यन्त दुःखी होकर विलाप करती है। वह माद्री से कहती है कि ''मैं अपने पति का अनुगमन करूँगी'' तब माद्री कहती है कि ''रणभूमि से कभी पीठ न दिखाने वाले अपने पतिदेव के साथ मैं ही जाऊँगी; क्योंकि उनके साथ होने वाले कामभोग से मैं तृप्त नहीं हो सकी हूँ। आप ज्येष्ठा हैं, इसीलिये आपको मुझे आज्ञा प्रदान करनी चाहिये। ये भरत श्रेष्ठ मेरे प्रति आसक्त हो मुझसे समागम करके मृत्यु को प्राप्त हुये हैं; अतः मुझे किसी प्रकार परलोक में पहुँचकर उनकी उस काम की निवृत्ति करनी चाहिये (अहमेवानुयास्यामि भर्तारमपलायिनम्। न हि तृप्तास्मि कामानां ज्येष्ठा मामनुमन्यताम्। मा चाभिगम्य क्षीणोऽयं कामाद् भरतसत्तमः। तमुच्छिन्द्यामस्य कामं कथं नु यमसादने)[94] जब तपस्वी ऋषियों ने उन्हें जीवनधारण करने को कहा तब भी माद्री अपने निश्चय पर दृढ़ रही। उसने पुनः कुन्ती से कहा कि ''मैं पतिलोक का ही अनुगमन करना चाहती हूँ। मेरी प्रार्थना है कि मुझे पतिलोक जाने की आज्ञा दें। मैं वहीं धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ और बुद्धिमान् पति के चरणों की सेवा करूँगी'' (धर्मज्ञस्य कृतज्ञस्य सत्यधर्मस्य धीमतः। पादौ परिचरिष्यामि तदार्ये ह्यनुमन्यताम्)[95] कुन्ती से आज्ञा मिलने के पश्चात् वह अपने पति के साथ ही चिता पर आरुढ़ हो गयी और मृत्यु पश्चात् पतिलोक को प्राप्त किया।[96]

यहाँ 'माद्री' ने अपने 'साध्वी' विशेषण को सार्थक कर दिया है। जैसा कि मनुस्मृतिकार ने कहा है कि ''मन, वचन तथा शरीर से संयत रहती हुयी जो स्त्री पति के विरुद्ध कोई आचरण नहीं करती है, वह पतिलोक को प्राप्त करती है तथा उसे सज्जन, 'साध्वी' कहते हैं।''[97] स्कन्दपुराण में भी कहा गया है- ''जो स्त्री अपने मृत पति का अनुसरण करती हुयी गृह से श्मशान की ओर प्रसन्नता के साथ जाती है, वह पद-पद पर अश्वमेध (यज्ञ) का फल प्राप्त करती है, इसमें किंचित् मात्र भी संशय नहीं है।'' (अनुव्रजन्ती भर्तारं गृहात् पितृवनं मुदा। पदे पदेऽश्वमेधस्य फलं प्राप्नोत्यसंशयम्)[98] माद्री का मन केवल अपने पति में ही अनुरक्त था। अपने पति की जो इच्छा वह उनकी जीवित अवस्था में पूर्ण न कर सकी, उनकी उस इच्छा की पूर्ति के लिये उसे मृत्यु भी स्वीकार्य थी। क्योंकि वह अपने पति की मृत्यु का कारण स्वयं को ही मान रही थी। उसका स्वयं पर दोषारोपण करना स्वाभाविक भी था, एक तो पति की कामना अपूर्ण रह गयी और उस कामना के कारण ही वे मृत्यु को भी प्राप्त हुये और दूसरा वह कामभाव भी उसे देखने के कारण उनमें ही जाग्रत हुआ था। इस बात का पश्चात्ताप उसके वचनों में स्पष्ट रूप से प्रकट हो रहा था और वह यह भी जानती थी कि 'पति के साथ मृत्यु स्वीकार करना पत्नी के लिये महान् फलदायक होता है'[99] अतः शुभलक्षणा माद्री ने पति का अनुगमन करना ही उचित समझा होगा। पातिव्रत्य-धर्म के निर्वाह के लिये ही उसने राजसी सुखों का परित्याग कर पति के समान ही कठोर व्रत-पालन का सङ्कल्प लेकर उनके साथ वन को प्रस्थान किया। उनके बिना वह एक क्षण भी जीवित नहीं रहना चाहती थी अतः कठोर विधियों का पालन करते हुये वह कभी दुःखी नहीं हुयी। पति को मिले शाप के कारण वह उनकी रक्षा में सदैव सजग रही, यह उसके इन्द्रियसंयम का परिचायक है। उसे प्रारम्भ से ही विषय-भोगों के प्रति विरक्ति थी और अपने पति के प्रति अत्यन्त अनुराग, साथ ही पति का प्रेम और सम्मान दोनों उसे प्राप्त थे। वह अपने पति को सदैव प्रसन्न रखती थी। यही कारण है कि कुन्ती ने पाण्डु के कहने पर माद्री को भी संतति-सुख प्रदान किया जिसके कारण उसने मातृत्वपद को सुशोभित किया। उचित ही कहा गया है कि 'पति की प्रसन्नता से ही स्त्रियों की उन्नति होती है' (पतिप्रसादोन्नतयो हि योषितः)[100] अपने पति के पिता बनने पर वह प्रसन्न अवश्य थी किन्तु स्वयं के जननी न बन पाने का दुःख भी कम नहीं था। उसका यह दुःख पाण्डु से अपनी संतान प्राप्ति की इच्छा को बताते समय अभिव्यक्त हुआ है क्योंकि सन्तान के जन्म से स्त्री के पद और गौरव में भी वृद्धि होती है और माद्री भी मातृत्व पद की अभिलाषिणी थी।

इस प्रकार माद्री में त्याग, धैर्य, विनम्रता, मितभाषिता, संयमशीलता जैसे गुण यहाँ दिखाई देते हैं। साथ ही उसमें सन्तानसुख से वंचित होने की पीड़ा तो दृष्टिगत होती है किन्तु सन्तान-प्राप्ति से उत्पन्न प्रसन्नता के भाव का यहाँ अभाव भी दिखायी देता है।

सपत्नी रूप: यद्यपि माद्री ने सर्वदा कुन्ती के प्रति आदर भाव ही प्रदर्शित किया है तथापि माद्री के मन में कुन्ती के प्रति ईष्र्याभाव भी रहा है। पाण्डु से अपने मनोभावों को व्यक्त करते समय इसका ज्ञान होता है। वह अपने पति से कहती है कि ''यद्यपि मैं सदैव कुन्ती देवी की अपेक्षा श्रेष्ठ होने के कारण पटरानी के पद पर बैठने की अधिकारिणी थी, तो भी जो मुझे सदा छोटी बनकर रहना पड़ता है, इसके लिये भी मुझे कोई दुःख नहीं है।'' (नावरत्वे वरार्हायाः स्थित्वा चानघ नित्यदा)[101] इससे ज्ञात होता है कि वह स्वयं को कुन्ती से श्रेष्ठ तथा योग्य मानती थी और ज्येष्ठा पद पाने की अभिलाषा भी रखती थी। उसने पाण्डु से यह भी कहा कि ''आप ही कुन्ती से मेरे लिये पुत्रप्राप्ति के निमित्त निवेदन करें क्योंकि सपत्नी होने के कारण मेरे मन में एक अभिमान है, जो उनसे निवेदन करने में बाधक हो रहा है'' (संरम्भो हि सपत्नीत्वाद वक्तुं कुन्तिसुतां प्रति, यदि तु त्वं प्रसन्नो मे स्वयमेनां प्रचोदय)[102] जब माद्री से समागम के पश्चात् शापवश पाण्डु की मृत्यु हो गयी तब शोकातुर कुन्ती ने माद्री से पूछा 'मैं सदा वीर एवं जितेन्द्रिय महाराज की रक्षा करती आ रही थी। उन्होंने मृग के शाप की बात जानते हुये भी तुम्हारे साथ बलपूर्वक समागम कैसे किया? तुम्हें तो महाराज की रक्षा करनी चाहिये थी। तुमने एकान्त में उन्हें लुभाया क्यों? (रक्ष्यमाणो मया नित्यं वीरः सततमात्मवान्। कथं त्वामत्यतिक्रान्तः शापं जानन् वनौकसः।। ननु नाम त्वया माद्रि रक्षितव्यो नराधिपः। सा कथं लोभितवती विजने त्वं नराधिपम्।।)[103] वे तो उस शाप का चिन्तन करते हुये निरन्तर दीन और उदास बने रहते थे, फिर तुझको एकान्त में पाकर उनके मन में कामजनित हर्ष कैसे उत्पन्न हुआ? बाह्लीक राजकुमारी! तुम धन्य हो, मुझसे सौभाग्यशालिनी हो; क्योंकि हर्षोल्लास से पूर्ण महाराज के मुख का तुमने दर्शन किया है। यथोक्तम्-

कथं दीनस्य सततं त्वामासाद्य रहोगताम्। तं विचिन्तयतः शापं प्रहर्षः समजायत।।
धन्या त्वमसि बाह्लीकि मत्तो भाग्यतरा तथा। दृष्टवत्यसि यद् वक्त्रं प्रहृष्टस्य महीपतेः।।''[104]

तब कुन्ती के ये वचन सुनकर माद्री ने कहा, देवि! मैंने विलाप करते हुये बार-बार महाराज को रोकने की चेष्टा की; परन्तु वे तो उस शापजनित दुर्भाग्य को मोह के कारण मानो सत्य करना चाहते थे, इसलिये अपने आपको रोक ना सके (विलपन्त्या मया देवि वार्यमाणेन चासकृत्। आत्मा न वारितोऽनेन सत्यं दिष्टं चिकीर्षुणा।।)[105]

जहाँ पति की मृत्यु के कारण उत्पन्न दुःख से कुन्ती की वाणी में माद्री के प्रति व्यंग्य का भाव था वहीं अपने पति को माद्री से मिले कामसुख के कारण वह माद्री को स्वयं से ज्यादा सौभाग्यशालिनी भी मान रही थी। शाप के भय से वह यह सुख अपने पति को नहीं दे पायी थी। अपने सपत्नी के वचनों पर माद्री को क्रोध नहीं आया प्रत्युत् उसने विनम्रतापूर्वक उनके प्रश्नों का उत्तर दिया। माद्री के वचनों में उसकी विवशता और दुःख स्पष्ट रूप से प्रकट हुये हैं। जब माद्री ने पति का अनुगमन करने का निश्चय कर लिय तब उसने अपनी सपत्नी कुन्ती से कहा, ''आर्ये! मैं आपके पुत्रों के साथ अपने सगे पुत्रों की भाँति व्यवहार नहीं कर सकूँगी। उस अवस्था में मुझे पाप लगेगा। अतः आप ही जीवित रहकर मेरे पुत्रों का भी अपने पुत्रों के समान ही पालन करिये। इसके अलावा ये महाराज मेरी ही कामना रखकर मृत्यु के अधीन हुये हैं। वह तपस्वियों से कहती है कि कुन्ती सभी पुत्रों के योगक्षेम के निर्वाह में, पालन-पोषण में समर्थ है। कोई भी स्त्री, चाहे वह अरुन्धती ही क्यों न हो, बुद्धि में इनकी समानता नहीं कर सकती'', यथोक्तम्-

न चाप्यहं वर्तयन्ती निर्विशेषं सुतेषु ते। वृत्तिमार्ये चरिष्यामि स्पृशेदेनस्तथा च माम्।।
तस्मान्मे सुतयोः कुन्ति वर्तितव्यं स्वपुत्रवत्। मां च कामयमानोऽयं राजा प्रेतवशं गतः।।
कुन्ती समर्था पुत्राणां योगक्षेमस्य धारणे। अस्या हि न समा बुद्धया यद्यपि स्यादरुन्धती।।[106]

वह पुनः कुन्ती से कहती है कि ''पुत्रों के पालन-पोषण की शक्ति जैसी आप में है, वैसी मुझमें नहीं है।'' (नाहं त्वमिव पुत्राणां समर्था धारणे तथा)[107] ऐसा कहकर वह अपने दोनों बच्चों को कुन्ती को सौंप देती है।[108] तत्पश्चात् क्लेश से क्लान्त होकर वह कुन्ती को प्रणाम करके दीनतापूर्वक कहती है ''आप धन्य हैं। आपकी समानता करने वाली दूसरी कोई स्त्री नहीं है क्योंकि आपको इन अमित तेजस्वी तथा यशस्वी पाँचों पुत्रों के बल, पराक्रम, तेज, योगबल तथा माहात्म्य देखने का सौभाग्य प्राप्त होगा। आप मेरी गुरु, वन्दनीया तथा पूजनीया हैं। अवस्था में बड़ी तथा गुणों में श्रेष्ठ हैं। समस्त नैसर्गिक सद्गुण आपकी शोभा बढ़ाते हैं। देवि! आपके प्रयत्न द्वारा जैसे भी मुझे धर्म, स्वर्ग तथा कीर्ति की प्राप्ति हो, वैसा सहयोग आप इस अवसर पर करें। मन में किसी दूसरे विचार को स्थान न दें। मेरे पुत्रों का हित चाहती हुयी सावधान रहकर उनका पालन-पोषण करें। इसके सिवा दूसरी कोई बात मुझे आपसे कहने योग्य नहीं लगती''।[109]

यहाँ माद्री का कुन्ती के प्रति अत्यधिक सम्मान और विश्वास का भाव सहज रूप से प्रकट होता है। वह सभी तपस्वियों के समक्ष यह स्वीकार करने में संकोच का भी अनुभव नहीं करती कि 'कुन्ती' उससे ज्यादा श्रेष्ठ और योग्य है प्रत्युत् सहर्ष इस सत्य को मान लेती

है। वह यह भी स्वीकार करती है कि उसमें निष्पक्षता का अभाव है। वह कुन्ती जितनी उदारहृदया नहीं है। वह स्वयं को बुद्धि और सद्गुणों में तथा पुत्रों के लालन-पालन के सामर्थ्य में कुन्ती से कम समझती है। अतः उसमें सहजता, सरलता, साहस और स्वाभाविकता है।

शिक्षा प्रदात्री माता: माता के रूप में माद्री का वात्सल्य भाव तो कम ही प्रकाश में आया है। संतान-प्राप्ति की इच्छा के समय और कुन्ती को अपने पुत्रों को सौंपते समय यह कहना कि "मेरे पुत्रों का अपने पुत्रों के समान ही सावधान रहकर पालन-पोषण करें"- इन दोनों ही स्थितियों में उसका पुत्रप्रेम दिखायी दिया है, किन्तु अल्प मात्रा में। पति का अनुगमन करने से पूर्व वह अपने पुत्रों नकुल और सहदेव को जो शिक्षा प्रदान करती है, उससे उसका पुत्रहितैषिणी रूप प्रकट होता है। वह अपने पुत्रों को शिक्षा प्रदान करते हुये कहती है कि "पुत्रों! कुन्तीदेवी ही तुम सबकी माता है, मैं तो केवल दूध पिलाने वाली 'धाय' थी। तुम्हारे पिता तो मृत्यु को प्राप्त हो गये। अब ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर ही धर्मतः तुम चारों भाइयों के पिता हैं। तुम सब गुरुजनों की सेवा में संलग्न रहना और सत्यधर्म का पालन करना। ऐसा करने वाले लोग कभी नष्ट नहीं होते और न ही कभी उनकी पराजय होती है। अतः तुम सब आलस्यरहित होकर गुरुजनों की सेवा में तत्पर रहना।" यथोक्तम्-

कुन्ती माता अहं धात्री युष्माकं तु पिता मृतः। युधिष्ठिरः पिता ज्येष्ठश्चतुर्णां धर्मतः सदा।।
वृद्धानुशासने सक्ताः सत्यधर्मपरायणाः। तादृशा न विनश्यन्ति नैव यान्ति पराभवम्।।
तस्मात् सर्वे कुरुध्वं वै गुरुवृत्तिमतन्द्रिताः।।[110]

इस प्रकार यहाँ माद्री ने अपने पुत्रों के हित को दृष्टि में रखकर उन्हें कल्याणकारी शिक्षा प्रदान की है। उसकी शिक्षा में धर्माचरण, सत्यपालन, आज्ञापालन, अनुशासित जीवन और भ्रातृप्रेम जैसे गुणों का समावेश है जो माद्री के चरित्र की श्रेष्ठता को प्रमाणित करता है।

सती माद्री के सम्पूर्ण जीवन-चरित्र का पर्यालोचन करने पर यह ज्ञात होता है कि वह एक पतिव्रता स्त्री थी, जो पूर्णतया अपने पति पर अनुरक्त थी। उनके वचन का पालन करने में ही अपना धर्म समझती थी। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी यही कहा गया है 'स्त्रीभिर्भर्तृवचः कार्यमेष धर्मः परः स्त्रियाः'।[111] अपने पति का साथ पाने के लिये उसे कठोर-से-कठोर तपश्चर्या भी स्वीकार्य थी। वह विषय-भोगों से दूर रहने वाली, धर्मज्ञा और धर्माचारिणी थी। उसमें इन्द्रियसंयम, त्याग, धैर्य, निर्लोभ, विनम्रता, मितभाषिता जैसे गुण विद्यमान थे। वह सरलहृदया, गुरुजनों का सम्मान करने वाली, सपत्नी को भी आदर देने वाली, पुत्रहितैषिणी, आज्ञाकारिणी, दृढ़निश्चयी, कर्त्तव्यनिष्ठ, सदाचारिणी स्त्री थी। उसमें पिशुनता का अभाव था। वह सम्बन्धों में मर्यादा का ध्यान रखती थी इसीलिये उसने कुन्ती के प्रति जलनभाव से युक्त

होने पर भी, कभी भी अपने मनोभावों को अपनी वाणी और व्यवहार से प्रकट होने नहीं दिया। यद्यपि वह कुन्ती की अपेक्षा स्वयं को श्रेष्ठ तथा योग्य समझती थी और यह उसके चरित्र का एक दोष कहा जा सकता है किन्तु कालक्रम से उसकी यह भावना भी विलुप्त हो गयी थी और कुन्ती के प्रति माद्री के मन में एक उदात्त भावना ने जन्म लिया, जिसमें केवल आदर और विश्वास था। जब उसके पति की मृत्यु हुयी तब उसकी दोनों सन्तानें कम आयु की थीं फिर भी उसने पति के साथ अनुगमन का ही संकल्प लिया जबकि शास्त्रों ने ऐसी स्त्रियों को सती होने की आज्ञा नहीं दी है। नारदपुराण में कहा गया है कि ''गर्भवती स्त्रियों, रजस्वला स्त्रियों और जिन्होंने ऋतुकाल न देखा हो, जिनकी सन्तान बहुत छोटी हो, वह स्त्री चिता पर आरुढ़ नहीं होती'' (बालापत्याश्च गर्भिण्यो ह्यदृष्टऋतवस्तथा। रजस्वला राजसुते नारोहन्ति चितां शुभे।।)[112] अतः माद्री द्वारा लिये गये इस निर्णय से उसकी पतिभक्ति सिद्ध होती है और उसके द्वारा किये कार्यों से भी यही भावना पुष्ट होती है। अतः माद्री ने पातिव्रत्यधर्म का पालन करके अपने गौरव में वृद्धि की है और अपने गुणों से आर्य-स्त्रीजाति को विभूषित किया है। पति के साथ मृत्यु का वरण करने वाली ऐसी स्त्रियों की प्रशंसा करते हुये, उन्हें प्राप्त होने वाले महान् फल के बारे में दक्ष स्मृतिकार का कथन है-

मृते भर्तरि या नारी समारोहेद् हुताशनम्।
सा भवेत्तु शुभाचारा स्वर्गलोक महीयते।।[113]

कुन्ती

यदुवंशियों में श्रेष्ठ राजा शूरसेन की अप्रतिम सौन्दर्य से युक्त 'पृथा' नाम वाली कन्या थी। विष्णुपुराण के अनुसार पृथा के दस भाई और चार बहिनें थीं।[114] राजा शूरसेन के फुफेरे भाई कुन्तिभोज सन्तानहीन थे। शूरसेन ने प्रतिज्ञा की थी कि वे अपनी प्रथम सन्तान उन्हें गोद देंगे। अतः प्रतिज्ञानुसार उन्होंने अपनी कन्या पृथा को राजा कुन्तिभोज को दे दिया।[115] स्त्रियों में रत्नस्वरूपा, कुलीना, सुन्दर, मनोहर रूप तथा युवावस्था से सुशोभित, विशाल नेत्रों वाली 'पृथा' उत्तम गुणों से सम्पन्न, एकमात्र धर्म में रत रहने वाली और महान् व्रतों का पालन करने वाली तेजस्विनी कन्या थी (सत्त्वरूपगुणोपेता धर्मारामा महाव्रता, दुहिता कुन्तिभोजस्य पृथा पृथुललोचना। तां तु तेजस्विनीं कन्यां रूपयौवनशालिनीम्)[116] स्त्रीजनोचित सर्वोत्तम गुण अधिक मात्रा में प्रकट होकर उसकी शोभा बढ़ा रहे थे।[117] साक्षात् सिद्धिदेवीस्वरूपा[118] उस कुन्ती ने स्वयंवर के द्वारा राजा पाण्डु का वरण किया था।[119]

जीवन की कठिन से कठिन पारस्थितियों में संघर्षरत रहते हुये, सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति, भारतीय संस्कृति की पावन प्रतिमा 'कुन्ती' का गौरवशालिनी चरित्र जिन उदात्त गुणों से महिमामण्डित है, वे हैं-

आज्ञाकारिणी और गुणवती पुत्रीः शुभलक्षणा कुन्ती अपने पिता की सदैव आज्ञाकारिणी रही है। अपनी पुत्री कुन्ती के गुणों से परिचित कुन्तिभोज ने दुर्वासा ऋषि के आगमन पर उनकी सेवा का कार्य कुन्ती को प्रदान किया और कुन्ती ने भी सहर्ष इसे स्वीकार किया। वे अपनी पुत्री को बहुत प्रेम करते थे और हमेशा उसका हित सोचते थे। दुर्वासा ऋषि के क्रोधी स्वभाव को विचारकर ही कुन्ती का हित सोचकर वह उसे समझाते है कि 'तुम अभी बालिका हो इसीलिये इन क्रोधी ब्राह्मण के प्रति व्यवहार करने के विषय में तुम्हें कुछ उपदेश देने की आवश्यकता का अनुभव करके मैं तुमसे कहता हूँ कि ये विप्रवर महातेजस्वी, तपस्वी, ऐश्वर्यशाली तथा नियमपूर्वक वेदों के स्वाध्याय में संलग्न रहने वाले हैं। ये जिस-जिस वस्तु के लिये कहें वे सब इन्हें ईष्यारहित हो, श्रद्धा के साथ देना क्योंकि ब्राह्मण ही उत्कृष्ट तेज है, ब्राह्मण ही परमतप है, ब्राह्मणों के नमस्कार से ही सूर्यदेव आकाश में प्रकाशित हो रहे हैं। माननीय ब्राह्मणों का सम्मान न करने के कारण ही महान् असुर वातापी और तालजंग ब्रह्मदण्ड से मारे गये अतः पुत्री इस समय सेवा का यह महान् भार मैंने तुम्हारे ऊपर रखा है। तुम सदा नियमपूर्वक ब्राह्मणदेवता की आराधना करती रहो, तुम्हें दर्प, दम्भ और मान को त्यागकर इनकी आराधना करने पर परमकल्याण की प्राप्ति होगी और यदि तुमने अपने अनुचित व्यवहार से इन्हें कुपित कर दिया तो मेरा सम्पूर्ण कुल जलकर भस्म हो जायेगा।[120] शुभे! जो दूषित कुल में उत्पन्न होने वाली स्त्रियाँ हैं, वे किसी तरह विशेष आग्रह में पड़कर अपने अविवेक के कारण प्रायः बिगड़ जाती है।''[121] तत्पश्चात् अपनी पुत्री पर विश्वास रखकर तेजस्वी ब्राह्मण की आराधना स्वीकार करने वाले अपने पिताजी से कुन्ती ने कहा, ''राजन्! मैं नियमों में आबद्ध रहकर आपकी प्रतिज्ञा के अनुसार निरन्तर इन तपस्वी ब्राह्मण की पूजा के लिये उपस्थित रहूँगी। मैं असत्य नहीं बोलती हूँ। यह मेरा स्वभाव ही है कि मैं ब्राह्मणों की पूजा करूँ और आपका प्रिय करना तो मेरे लिये परमकल्याण की बात है ही। ये पूजनीय ब्राह्मण यदि सायंकाल आवें, प्रातःकाल पधारें अथवा रात्रि या अर्द्धरात्रि में भी दर्शन दें, ये कभी भी मेरे मन में क्रोध उत्पन्न नहीं कर सकेंगे। आपके भवन में निवास करते हुये ये द्विजश्रेष्ठ कभी अपने मन के प्रतिकूल कोई कार्य नहीं देख पायेंगे, विश्वास कीजिये। यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ। आपकी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये। मैं वही कार्य करने का प्रयत्न करूँगी जो इन तपस्वी ब्राह्मण को प्रिय एवं आपके लिये हितकर

हो। क्योंकि पृथ्वीपते! महाभाग ब्राह्मण भलीभाँति पूजित होने पर सेवक को तारने में समर्थ होते हैं और इसके विपरीत अपमानित होने पर विनाशकारी बन जाते हैं, मैं इस बात को जानती हूँ अतः इन श्रेष्ठ ब्राह्मण को सब प्रकार से सन्तुष्ट रखूँगी''।[122]

कुन्ती के मुख से ये वचन सुनकर कुन्तिभोज ने उसे अपने हृदय से लगा लिया तथा दुर्वासा ऋषि के पास उसे ले जाकर उनसे कहा कि ''हे ब्रह्मन्! यह मेरी पुत्री पृथा अभी बालिका है और सुख में पली हुयी है। यदि यह आपका कोई अपराध कर बैठे, तो भी आप उसे मन में नहीं लाइयेगा। वृद्ध, बालक और तपस्वीजन यदि कोई अपराध कर दें, तो भी आप जैसे महाभाग ब्राह्मण प्रायः कभी उन पर क्रोध नहीं करते।'' यह कहकर राजा ने कुन्ती को उनकी सेवा में नियोजित कर दिया।[123] कुन्ती भी आलस्य और अभिमान को त्यागकर उनकी आराधना में बड़े यत्न से संलग्न हो गयी।[124] शौचपरा साध्वी कुन्ती उन पूजनीय ब्राह्मण के पास जाकर देवता की भाँति उनकी विधिवत् परिचर्या करके उन्हें सन्तुष्ट रखने लगी (निक्षिप्य राजपुत्री तु तन्द्रीं मानं तथैव च, आतस्थे परमं यत्नं ब्राह्मणस्याभिराधने। तत्र सा ब्राह्मणं गत्वा पृथा शौचपरा सती, विधिवत् परिचारार्हं देववत् पर्यतोषयत्)।[125]

वह पिता की आज्ञा का पालन करने वाली तो थी ही, साथ ही उसमें अनेक उदात्त गुण भी विद्यमान थे। राजा कुन्तिभोज स्वयं उसके गुणों की प्रशंसा करते हुये कहते हैं कि ''मेरी कन्या शील और सदाचार से सम्पन्न, साध्वी, संयम-नियम से रहने वाली और विचारशील है। वह माता-पिता का आनन्द बढ़ाने वाली, बाल्यकाल से ही एकाग्र चित्त वाली, समस्त ब्राह्मणों, गुरुजनों, बन्धु-बान्धवों, सेवकों, मित्रों, सम्बन्धियों, माता-पिता के प्रति सदैव यथोचित व्यवहार करने वाली है। उसमें अपने सद्भाव से सबको प्रभावित कर लिया है। नगर में या अन्तःपुर में, सेवकों में भी कोई ऐसा मनुष्य नहीं है, जो उसके उत्तम व्यवहार से संतुष्ट न हो'' (मम कन्या महाप्राज्ञ पृथा नाम यशस्विनी, शीलवृत्तान्विता साध्वी नियता चैव भाविनी। जानामि प्रणिधानं ते बाल्यात् प्रभृति नन्दिनी, ब्राह्मणेष्विह सर्वेषु गुरुबन्धुषु चैव ह। तथा प्रेष्येषु सर्वेषु मित्रसम्बन्धिमातृषु, मयि चैव यथावत् त्वं सर्वमावृत्य वर्तसे। न ह्यतुष्टो जनोऽस्तीह पुरे चान्तःपुरे च ते, सम्यग्वृत्त्यानवद्यांगि तव भृत्यजनेष्वपि)।[126]

यहाँ एक पिता का अपनी गुणवती पुत्री पर पूर्ण विश्वास का भाव प्रकट होता है। महान् सेवाकार्य का भार उसे सौंपते हुये, एक पिता का प्रेम और अपनी पुत्री के प्रति चिन्ता तथा पुत्री का भी अपने पिता को पूर्णतः आश्वस्त करना, उनके प्रति प्रिय तथा हित की चिन्ता करना तथा स्वयं के प्रति दृढ़विश्वास का भाव यहाँ स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रहा है। यही भाव उसके सेवाकार्यों में दिखायी भी दिया। दुर्वासा ऋषि कभी यह कहकर कि 'मैं

प्रातःकाल लौट आऊँगा' चले जाते और सायंकाल अथवा बहुत रात व्यतीत होने पर पुनः वापस आते परन्तु कुन्ती प्रतिदिन सभी समय पहले की अपेक्षा अधिक-अधिक परिणाम में भक्ष्य-भोज्य आदि सामग्री तथा शय्या-आसन आदि प्रस्तुत करके उनका सेवा-सत्कार किया करती थी। वे ब्राह्मण कभी धिक्कारते, कभी बात-बात में दोषारोपण करते और प्रायः कटु वचन भी बोला करते थे, तो भी पृथा उनके प्रति कभी कोई अप्रिय व्यवहार नहीं करती थी। कुन्ती उन्हें उनकी माँगी हुयी सब वस्तुएँ इस प्रकार प्रस्तुत कर देती थी, मानो उनको पहले से ही तैयार करके रखा हो। वह अत्यन्त संयत होकर शिष्य, पुत्र तथा छोटी बहन की भाँति सदैव उनकी सेवा में लगी रहती थी।[127] उस अनिन्द्य कन्यारत्न कुन्ती ने उन श्रेष्ठ ब्राह्मण को अपने सेवाकार्यों से सन्तुष्ट कर लिया जिसके फलस्वरूप प्रसन्नचित्त दुर्वासा ऋषि ने कुन्ती से अभीष्ट वर माँगने को कहा[128] किन्तु सदाचारिणी कुन्ती ने कहा, 'वेदवित्तम! जब मुझ सेविका के ऊपर आप और पिताजी प्रसन्न हो गये तब मेरी सब कामनाएँ पूर्ण हो गयीं। मुझे वर लेने की आवश्यकता नहीं है।' (कृतानि मम सर्वाणि यस्या मे वेदवित्तम, त्वं प्रसन्नः पिता चैव कृतं विप्र वरैर्मम)[129] किन्तु दुर्वासा ऋषि ने उसके न चाहने पर भी उसे देवताओं का आवाहन करने के लिये उस मन्त्रसमूह का उपदेश दिया जो अथर्ववेदीय उपनिषद् में प्रसिद्ध है[130] और उसने भी उनके शाप के भय से, दूसरी बार कहने पर उस मन्त्र को ग्रहण करने से मना नहीं किया।[131] ब्राह्मण को सन्तुष्ट देखकर कुन्तिभोज ने अपनी पुत्री का विशेष आदर-सत्कार किया।[132]

कुन्ती के द्वारा किये गये अतिथि-सत्कार में उसके धैर्य, संयम, अकोप वृत्ति, कर्मनिष्ठ होना आदि गुण सहज रूप से प्रकट होते हैं। ऋषि के कहने पर भी वर न लेना-उसके निर्लोभ गुण का परिचायक है, वहीं वरग्रहण में उसका शाप से भयभीत होना भी दिखायी देता है। वस्तुतः उसने अपनी कार्यकुशलता से अपने पिता की महान् संकट से रक्षा की।

पतिव्रता: 'कुन्ती' एक पतिव्रता पत्नी थी। अपने पिता के घर में सुख से पली-बढ़ी कुन्ती का मन विषय-भोगों से दूर ही रहा। पाण्डु के साथ विवाह करने के कुछ समय पश्चात् ही कुन्ती और माद्री ने स्वेच्छा से तथा अपने पति को भी प्रेरित कर वनवासी जीवन का व्रत ले लिया किन्तु किंदम मुनि के शाप से व्याकुल और दुःखी होकर जब पाण्डु ने स्वयं अकेले ही संन्यास आश्रम अपनाने तथा अपनी दोनों पत्नियों को हस्तिनापुर भेजने का विचार किया तो कुन्ती ने भी पति के समान व्रत का आचरण करने हेतु कामसुख का परित्याग कर इन्द्रिय संयमपूर्वक रहने और वानप्रस्थ आश्रम के सभी कठोर नियमों का पालन करने का, अपने पति के साथ संकल्प लिया।[133] वह सदैव पति का हित चिन्तन करते हुये इस बात का

ध्यान रखती थी कि उसके कारण कहीं वीर एवं जितेन्द्रिय महाराज में कामजनित दोष उत्पन्न न हो जाय।[134] इस तरह गृहस्थ होकर, महलों के सुख-वैभवपूर्ण जीवन को त्यागकर वह सती-साध्वी, पतिव्रता कुन्ती वानप्रस्थ-आश्रम के कत्र्तव्यों का निर्वाह करते हुये तपस्विनी जीवन व्यतीत करती है। एक दिन जब पुत्रोत्पादन करने में असमर्थ पाण्डु ने पुत्र-प्राप्ति की अभिलाषा से कुन्ती को परपुरुष के पास भेजकर समागम करने हेतु कहा[135] तो पतिपरायणा कुन्ती ने अपने पति कुरुश्रेष्ठ पाण्डु से कहा, 'धर्मज्ञ! आप मुझसे किसी तरह ऐसी बात न कहें; मैं आपकी धर्मपत्नी हूँ और आप में ही अनुराग रखती हूँ। आप ही मेरे गर्भ से धर्मपूर्वक अनेक पराक्रमी पुत्र उत्पन्न करेंगे। मैं आपके साथ ही स्वर्गलोक चलूँगी। मैं आपके सिवा किसी दूसरे पुरुष से समागम करने की बात मन में नहीं ला सकती (न मामर्हसि धर्मज्ञ वक्तुमेवं कथंचन, धर्मपत्नीमभिरतां त्वयि राजीवलोचने। त्वमेव तु महाबाहो मय्यपत्यानि भारत, वीर वीर्योपपन्नानि धर्मतो जनयिष्यसि। स्वर्गं मनुजशार्दूल गच्छेयं सहिता त्वया। न ह्ययं मनसाप्यन्यं गच्छेयं त्वदृते नरम, त्वत्तः प्रतिविशिष्टश्च कोऽन्योऽस्ति भुवि मानवः)[136] फिर वह पाण्डु को 'राजा व्युषिताश्व के मृत शरीर से उसकी पतिव्रता पत्नी भद्रा के द्वारा पुत्र-प्राप्ति की कथा' सुनाकर[137] उनसे भी मानसिक संकल्प द्वारा पुत्र उत्पन्न करने को कहती है[138] किन्तु पाण्डु इसमें अपनी असमर्थता बताकर पुनः उसे किसी योग्य ब्राह्मण से समागम करके पुत्र उत्पन्न करने के लिये कहते हैं।[139] तब कुन्ती ने उन्हें कहा, ''स्त्रियों के लिये यह बड़े अधर्म की बात है कि पति ही उनसे प्रसन्न होने के लिये बार-बार अनुरोध करे, क्योंकि नारी का ही यह कर्तव्य है कि वह पति को प्रसन्न रखे''[140] तदनन्तर वह पाण्डु को दुर्वासा ऋषि द्वारा वरस्वरूप उसे प्रदान किये गये मन्त्र के बारे में बताती है।[141] तत्पश्चात् पाण्डु प्रसन्न होकर उसे सर्वप्रथम धर्मदेवता का आवाहन करने के लिये कहते हैं जिसके फलस्वरूप कुन्ती ने धर्मदेवता से प्रथम पुत्र के रूप में युधिष्ठिर को जन्म दिया।[142] फिर पाण्डु ने क्रमशः वायुदेव और इन्द्रदेव का आवाहन करने के लिये कुन्ती से कहा, जिसके फलस्वरूप उसने क्रमशः भीम और अर्जुन को उत्पन्न किया।[143] इस प्रकार कुन्ती ने अपने पति को सन्तान का सुख तो प्रदान किया ही, साथ ही अपने पति को पितृ-ऋण से मुक्त होने का साधन भी प्रदान कर दिया। मनुस्मृति में कथन है कि ''सन्तान (को उत्पन्न करना), धर्मकृत्य, शुश्रूषा, श्रेष्ठ रति और पितरों का तथा अपना (सन्तानोत्पादन आदि द्वारा) स्वर्ग-ये सब स्त्रियों के अधीन हैं।'' यथोक्तम्-

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह।।[144]

और वहाँ यह भी कहा गया है कि 'पति वीर्यरूप से स्त्री में प्रवेश कर गर्भ होकर पुत्र रूप से उत्पन्न होता है, जाया का वही जायात्व है, जो इसमें पुनः उत्पन्न होता है', यथोक्तम्-

पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः।।[145]

पाण्डु की मृत्यु हो जाने पर शोकार्त कुन्ती ने पातिव्रत्य-धर्म का निर्वाह करने की इच्छा से माद्री से कहा, 'मैं इनकी ज्येष्ठ धर्मपत्नी हूँ अतः धर्म के ज्येष्ठ फल पर भी मेरा ही अधिकार है। जो अवश्यम्भावी बात है, उससे मुझे मत रोको। मैं मृत्यु के वश में पड़े हुये अपने स्वामी का अनुगमन करुँगी। अब तुम इन्हें छोड़कर उठो और इन बच्चों का पालन करो। पुत्रों को पाकर मेरा लौकिक मनोरथ पूर्ण हो चुका है; अब मैं पति के साथ दग्ध होकर वीरपत्नी का पद पाना चाहती हूँ।' (अहं ज्येष्ठा धर्मपत्नी ज्येष्ठं धर्मफलं मम। अवश्यम्भाविनो भावान्मा मां माद्रि निवर्तय।। अन्विष्यामीह भर्तारमहं प्रेतवशं गतम्। उत्तिष्ठ त्वं विसृज्यैनमिमान् पालय दारकान्।। अवाप्य पुत्राँल्लब्धात्मा वीरपत्नीत्वमर्थये।)[146]

किन्तु तपस्वी ऋषियों ने कुन्ती को ऐसा करने से मना कर दिया और उसे सान्त्वना देते हुये धर्मयुक्त वचन कहे, जिसे सुनकर कुन्ती ने अपना पूर्वनिश्चय त्यागकर परिवार के लिये उनके कल्याणकारी वचनों को स्वीकार किया।[147] पति के वचनों का मान रखने के लिये ही उसने अपनी सपत्नी माद्री को भी 'नकुल और सहदेव' के रूप में सन्तान का सुख प्राप्त कराया।[148]

कुन्ती ने न केवल पाण्डु के पुंस्त्वहीन हो जाने पर सन्तान प्राप्ति के लिये उचित परामर्श दिया अपितु उनका इस अवस्था में त्याग न करके, उन्हें श्रेष्ठ संतति से युक्त करके अपने पातिव्रत्य-धर्म को सफल किया। स्कन्दपुराण में पातिव्रत्य-धर्म के वर्णन में कहा गया है कि 'पति नपुंसक, दुर्दशाग्रस्त, रोगी, वृद्ध, सुस्थितियुक्त हो अथवा न हो, तो भी पति का कभी त्याग न करें। पुण्यात्मा सती सम्पत्ति और विपत्ति में भी पति के साथ एकरूप होकर रहे।' यथोक्तम्-

क्लीबं वा दुरवस्थां वा व्याधितं वृद्धमेव वा।
सुस्थितं दुःस्थितं वापि पतिमेकं न लंघयेत।।
एकरूपा भवेत्पुण्या सम्पत्सु च विपत्सु च।।[149]

अपने इन्हीं गुणों के कारण वह पाण्डु के द्वारा सम्मान को प्राप्त हुयी। महाबली और तेजस्वी पुत्रों को उत्पन्न करके उसने वीर पत्नी के साथ ही वीरजननी पद को भी सुशोभित किया। ऐसे गुणवान् पुत्रों की प्राप्ति किसे अभीष्ट न होगी। ब्रह्मपुराण में वर्णित है कि 'सन्तान की प्राप्ति संसार में दुर्लभ है। विशेषतः माता के लिये पुत्र का होना और भी प्रिय है। पुत्र भी यदि गुणवान्, धनवान् और आयुष्मान् हुआ, तब तो कहना ही क्या? इहलोक और परलोक में उत्तम फल की इच्छा रखने वाले सभी प्राणियों को गुणवान् पुत्र की प्राप्ति सदा ही अभीष्ट है।'[150] अतः कुन्ती ने अपने पति की नपुंसकता को ध्यान में रखकर, स्वयं के पातिव्रत्य को सुरक्षित रखते हुये पति की इच्छानुरूप गुणवान् पुत्रों की प्राप्ति के लिये दुर्वासा ऋषि द्वारा अतिथि सेवा से प्रसन्न होकर वर रूप में उसे दिये गये मन्त्र का आवाहन किया जिसका फल उसे पुत्ररूप में प्राप्त हुआ क्योंकि कहा गया है कि महामुनियों की सेवा अमोघ फल देने वाली होती है (अमोघफला हि महामुनिसेवा भवति)।[151] भवभूति ने भी अपने ग्रन्थ में कहा है 'ब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाले ब्राह्मणों के जो कथन हैं, उसमें सन्देह नहीं करना चाहिये क्योंकि इनकी वाणी में कल्याण करने वाली लक्ष्मी का वास होता है और ये मिथ्या वाणी नहीं बोलते हैं।'[152]

इस प्रकार कुन्ती ने सदैव पति की आज्ञा को ही शिरोधार्य किया। उनकी प्रसन्नता का उसने सदैव ध्यान रखा। अपने पति से मधुर और शान्तिदायक वचन बोले, जैसा कि अथर्ववेद में कहा गया है 'जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्'।[153] उनकी तपश्चर्या में स्वयं के कारण कोई भी विघ्न उपस्थित नहीं होने दिया। लेकिन कहा गया है कि 'समय दुःख की प्रतीक्षा नहीं करता' (प्रतीक्षते जातु न कालमार्तिः)[154] कुन्ती के जीवन में भी अचानक पति की मृत्युरूप दुःख आ गया और उसके समक्ष संतान सुख भी उसे अल्प लगने लगा और पति के साथ मृत्यु का वरण करना ही उसे श्रेष्ठ लगा, क्योंकि वह एक पतिव्रता स्त्री थी। पद्मपुराण में 'पतिव्रता' का लक्षण बताते हुये कहा है कि 'पति की मृत्यु हो जाने पर उनके शरीर के साथ ही चिता में जल जाती है और दूसरे पुरुष को कभी भी अपने मन में स्थान नहीं देती, उस स्त्री को पतिव्रता जानना चाहिये।'[155] किन्तु उस धर्मज्ञा ने अन्ततः पति, पुत्रों तथा स्वयं के लिये परम कल्याणकारी मार्ग का ही अवलम्बन किया।

धर्मज्ञा तथा धर्मचारिणी: जब राजा पाण्डु तीन पुत्रों की प्राप्ति के पश्चात् पुत्रलोभ से आकृष्ट होकर पुनः कुन्ती से सन्तानोत्पादन के लिये कहते हैं तब कुन्ती उनसे धर्मसम्मत वचन

कहती है कि 'आर्यपुत्र! आपत्तिकाल में भी तीन से अधिक चैथी सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा शास्त्रों ने नहीं दी है। इस विधि के द्वारा तीन से अधिक चैथी सन्तान चाहने वाली स्त्री स्वैरिणी होती है और पाँचवें पुत्र के उत्पन्न होने पर तो वह कुलटा समझी जाती है। आप धर्म को जानते हुये भी प्रमाद से कहने वाले के समान धर्म का लोप करके अब फिर मुझे सन्तानोत्पत्ति के लिये क्यों प्रेरित कर रहे हैं', यथोक्तम्-

नातश्चतुर्थं प्रसवमापत्स्वपि वदन्त्युत। अतः परं स्वैरिणी स्याद् बन्धकी पंचमे भवेत्। स त्वं विद्वन् धर्ममिममधिगम्य कथं नु माम्। अपत्यार्थं समुत्क्रम्य प्रमादादिव भाषसे।।[156]

कुन्ती के ये वचन सुनकर पाण्डु ने भी उसका आदर करते हुये उसकी बात को उचित मानकर धर्म का उल्लंघन नहीं किया।[157] माद्री भी इस बात को अच्छी तरह जानती थी कि कुन्ती धर्मज्ञा है इसीलिये पाण्डु की मृत्यु के समय स्वयं सती होने की इच्छा व्यक्त करने पर वह कुन्ती से कहती है कि 'आपके प्रयत्न द्वारा जैसे भी मुझे धर्म, स्वर्ग तथा कीर्ति की प्राप्ति हो, वैसा सहयोग आप इस अवसर पर करें' (धर्मं स्वर्गं च कीर्तिं च त्वकृतेऽहमवाप्नुयाम् यथा तथा विधत्स्वेह)[158] कुन्ती के धर्मज्ञा तथा धर्माचारिणी होने का ज्ञान विवाहपूर्व सूर्यदेव से हुये उसके संवाद से भी ज्ञात होता है। जब कुन्ती ने दुर्वासा ऋषि से वरप्राप्ति के पश्चात् कौतूहलवश मन्त्र की परीक्षा के लिये यह सोचकर कि 'मुझे सूर्यदेव के समान पराक्रमी तथा जन्म से ही दिव्य कवच एवं कुण्डलों से सुशोभित पुत्र की प्राप्ति हो' सूर्यदेवता का आवाहन किया[159], तब सूर्यदेव के प्रकट होने पर और स्वयं में ऋतु का प्रादुर्भाव देखकर लज्जायुक्त होकर कुन्ती ने, उससे उसका अभीष्ट पूछने वाले सूर्यदेवता से लौट जाने को कहा[160] किन्तु सूर्यदेव ने उससे कहा कि 'ऐसा कहकर तुम मेरा अपमान कर रही हो। तुम मुझे अपना शरीर समर्पित कर दो; यदि आज तुम मेरा प्रिय वचन नहीं मानोगी तो मैं कुपित होकर तुमको, उस मन्त्रदाता ब्राह्मण को और तुम्हारे पिता को भी शाप दे दूँगा। तुम्हारे कारण मैं उन सबको जलाकर भस्म कर दूँगा। ये आकाश में उपस्थित देवतागण मेरी ओर इस भाव से देख रहे हैं कि मैं तुम्हारे द्वारा कैसा ठगा गया।'[161] सूर्यदेव के ऐसे वचन सुनकर कुन्ती ने भयभीत होकर कहा, 'आप अपने विमान पर चले जाइये। छोटी बालिका होने के कारण मेरे द्वारा आपको बुलाने का यह दुःखदायक अपराध बन गया है। मेरे माता-पिता तथा अन्य गुरुजन ही मेरे इस शरीर को देने का अधिकार रखते हैं। मैं अपने धर्म का लोप नहीं करूँगी। स्त्रियों के सदाचार में अपने शरीर की पवित्रता को बनाये रखना ही प्रधान है और संसार में

उसी की प्रशंसा की जाती है। मैंने अपने बालस्वभाव के कारण मन्त्र का बल जानने के लिये ही आपका आवाहन किया है'', यथोक्तम्-

गच्छ त्वं वै गोपते स्वं विमानं। कन्याभावाद् दुःख एवापचारः।।

पिता माता गुरवश्चैव येऽन्ये। देहस्यास्य प्रभवन्ति प्रदाने।।

नाहं धर्मं लोपयिष्यामि लोके। स्त्रीणां वृत्तं पूज्यते देहरक्षा।।

मया मन्त्रबलं ज्ञातुमाहूतस्त्वं विभावसो। बाल्याद् बालेति तत् कृत्वा क्षन्तुमर्हसि मे विभो।।"[162]

किन्तु कुन्ती नाना प्रकार के वचन कहकर भी उन्हें मना न सकी और शाप से भयभीत होकर वह सोचने लगी कि 'क्या उपाय करूँ? जिससे मेरे कारण मेरे निरपराध पिता और निर्दोष ब्राह्मण को क्रोधित सूर्यदेव से शाप न प्राप्त हो। सज्जन बालक को भी चाहिये कि वह अत्यन्त मोह के कारण पापशून्य, तेजस्वी तथा तपस्वी पुरुषों के अत्यन्त निकट न जाये परन्तु मैं तो आज अत्यन्त भयभीत हो भगवान् के हाथ में पड़ गयी हूँ, तो भी स्वयं अपने शरीर को देने-जैसा न करने योग्य कर्म कैसे करूँ?'[163] तब शाप से भयभीत होकर भाई-बंधुओं से डरकर कुन्ती ने लज्जा के कारण विशृंखल वाणी द्वारा सूर्यदेव से कहा कि 'देव! मेरे पिता, माता तथा अन्य बान्धव जीवित हैं। उन सबके जीवित रहते स्वयं आत्मदान करने पर कहीं शास्त्रीय विधि का लोप न हो जाये? यदि आपके साथ मेरा वेदोक्त विधि के विपरीत समागम हो तो मेरे ही कारण जगत् में इस कुल की कीर्ति नष्ट हो जायेगी। यदि बन्धुजनों के दिये बिना ही मेरे साथ समागम को आप धर्मयुक्त समझते हों तो मैं आपकी इच्छा पूर्ण कर सकती हूँ। क्या आपको आत्मदान करके भी मैं सती-साध्वी रह सकती हूँ? आप में ही देहधारियों के धर्म, यश, कीर्ति तथा आयु प्रतिष्ठित हैं (पिता मे ध्रियते देव माता चान्ये च बान्ध्वाः। न तेषु ध्रियमाणेषु विधिलोपो भवेदयम्। त्वया तु संगमो देव यदि स्याद् विधिवर्जितः। मन्निमित्तं कुलस्यास्य लोके कीर्तिनशेत् ततः।। अथवा धर्ममेतं त्वं मन्यसे तपतां वर। ऋते प्रदानाद् बन्धुभ्यस्तव कामं करोम्यहम्। आत्मप्रदानं दुधर्ष तव कृत्वा सती त्वहम्। त्वयि धर्मो यशश्चैव कीर्तिरायुश्च देहिनाम्)[164] तब सूर्यदेव ने उसके कौमार्य को सुरक्षित रखने तथा अपने जैसा पुत्र प्रदान करने का वचन देकर उसके साथ योग विधि से समागम किया।[165]

यहाँ कुन्ती द्वारा कहे गये वचनों से उसके सुशीला और धर्मज्ञा होने का तो पता चलता ही है, साथ ही यह भी ज्ञान होता है कि वह धर्म का लोप होने से भयभीत भी रहती

है। वह व्रतोपवास भी रखती थी। कुन्ती ने अपने पति के कहने पर इन्द्रदेव से पराक्रमी पुत्र की प्राप्ति के लिये 'सांवत्सर व्रत' का अनुष्ठान भी किया था।[166]

गार्हस्थ्यनियमपालिका: कुन्ती अपने पाँचों पुत्रों के साथ वन में निवास करते हुये नित्य गार्हस्थ्य कत्र्तव्यों का सम्पादन किया करती थी। वह भिक्षावृत्ति से प्राप्त अन्न के द्वारा यह सभी कार्य सम्पन्न करती थी। जैसा कि वह 'द्रौपदी' से कहती है कि ''तुम भोजन का प्रथम भाग लेकर उससे देवताओं को बलि अर्पण करो तथा ब्राह्मणों को भिक्षा दो तथा अपने आस-पास जो दूसरे मनुष्य आश्रितभाव से रहते और भोजन चाहते हैं, उन्हें भी अन्नदान करो तदनन्तर जो शेष बच जाय, उसके शीघ्र ही इस प्रकार विभाग करो। अन्न का आधा भाग एक के लिये रखो, फिर शेष के छः भाग करके चार भाइयों के लिये चार भाग अलग-अलग रख दो, उसके बाद मेरे लिये और अपने लिये भी एक-एक भाग पृथक्-पृथक् परोस दो।' (त्वमग्रमादाय कुरुष्व भद्रे बलिं च विप्राय च देहि भिक्षाम्। ये चान्नमिच्छन्ति ददस्व तेभ्यः परिश्रिता ये परितो मनुष्याः। ततश्च शेषं प्रविभज्य शीघ्रमर्धं चतुर्धा मम चात्मनश्च।)[167] इसी प्रकार अर्जुन के चौदहवें वर्ष के जन्मदिवस पर स्वस्तिवाचन करने वाले ब्राह्मणों के लिये कुन्ती ने स्वयं पुरोहित जी के साथ भोजन परोसा था।[168] वारणावत में लाक्षागृह में निवास करते हुये भी कुन्ती ने ब्राह्मणों को भोजन कराया और दान दिया था[169]; अपने मृत पति के अमृतस्वरूप स्वधामय श्राद्ध-दान[170], पौत्र अभिमन्यु की मृत्यु पर श्राद्ध-दान तथा ब्राह्मणों के लिये गौ-दान किया था।[171] इससे प्रतीत होता है कि कुन्ती नित्य पंचमहायज्ञों का संपादन करती होगी। स्मृतिग्रन्थों और पुराणों में गृहस्थ-आश्रम के धर्म-वर्णन में इसका उल्लेख है।[172] यहाँ कुन्ती का अतिथिसत्कारपरायणा होना, दानपुण्यशीला होना तथा ब्राह्मणों के प्रति पूज्य भाव भी सूचित होता है। अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति पर जब युधिष्ठिर ने सुवर्ण दान किया तो उसमें से व्यासजी ने प्राप्त की गई अपनी सुवर्ण राशि को उन्होंने बड़े आदर के साथ कुन्ती को भेंट कर दिया और उसने भी श्वसुर की ओर से मिले हुये प्रेमपूर्वक उपहार से बड़े पुण्य कार्य किये।[173]

सपत्नी रूप: सपत्नी होने के बाद भी माद्री के प्रति कुन्ती का व्यवहार द्वेषपूर्ण नहीं था। वह माद्री का आदर करती थी। उसने माद्री को भी सन्तान-सुख की प्राप्ति के लिये उस मन्त्र को प्रयोगविधि सहित बतलाया जिसे ऋषि दुर्वासा ने उसे वरस्वरूप प्रदान किया था जिसके कारण माद्री को देवता अश्विनीकुमारों से नहुल और सहदेव पुत्र रूप में प्राप्त हुये किन्तु अपने

द्वारा माद्री को संतान प्राप्ति हेतु बतलाये गये मन्त्र से दो पुत्रों के प्राप्त करने पर वह अपने आपको ठगा-सा महसूस करती है। तब उसके प्रति कुन्ती के मन में ईष्र्या का भाव जन्म लेता है। और इसी कारण जब राजा पाण्डु पुनः कुन्ती को माद्री से सन्तान की उत्पत्ति कराने के लिये प्रेरित करते हैं तो वह उसके लिये मना कर देती है। वह अपने पति पाण्डु से कहती है कि ''मैंने इसे एक पुत्र के लिये नियुक्त किया था किन्तु इसने दो पुत्रों को प्राप्त किया। इससे मैं ठगी गयी। अब तो मैं इसके द्वारा मेरा तिरस्कार न हो जाये, इस बात के लिये डरती हूँ। कुस्त्रियों की ऐसी ही गति होती है। मैं ऐसी मूर्ख हूँ कि मेरी समझ में यह बात नहीं आयी कि दो देवताओं के आवाह्न से दो पुत्र रूप फल की प्राप्ति होती है। अतः राजन्! अब मुझे इसके लिये आप इस कार्य में नियुक्त न कीजिये। मैं आपसे यही वर माँगती हूँ'' (उक्ता सकृद् द्वन्द्वमेषा लेभे तेनास्मि वंचिता, बिभेम्यस्याः परिभवात् कुस्त्रीणां गतिरीदृशी। नाज्ञासिषमहं मूढा द्वन्द्वाह्वाने फलद्वयम्।। तस्मान्नाहं नियोक्तव्या त्वयैषोऽस्तु वरो मम।)[174] कुन्ती का यहाँ माद्री के प्रति ईष्र्या का भाव जन्म लेने पर भी तथा माद्री के उस कार्य को अनुचित मानते हुये भी प्रत्यक्षरूप में माद्री की निन्दा करने के स्थान पर उसके प्रति अपना पूर्वोचित श्रेष्ठ व्यवहार बनाये रखना उसके उदार हृदय का परिचायक है। जब कुन्ती को यह पता चलता है कि पाण्डु की मृत्यु का कारण उसकी सपत्नी माद्री है, तब वह उसे कठोर वचन न कहकर उसके भाग्य की सराहना करती है क्योंकि वह पाण्डु के प्रसन्नतापूर्ण मुख के दर्शन कर पायी और जब माद्री पति के साथ मृत्यु का वरण करने की उससे आज्ञा माँगती है तब वह प्रसन्नतापूर्वक कहती है कि ''कल्याणि! मैंने तुम्हें आज्ञा दे दी, तुम्हें आज ही स्वर्गलोक में पति का समागम प्राप्त हो, तुम स्वर्ग में पति से मिलकर अनन्त वर्षों तक प्रसन्न रहो'' (बाष्पसंदिग्धया वाचा कुन्त्युवाच यशस्विनी, अनुज्ञातासि कल्याणि त्रिदिवे संगमोऽस्तु ते। भत्र्रा सह विशालाक्षि क्षिप्रमद्यैव भामिनि, संगता स्वर्गलोके त्वं रमेथाः शाश्वतीः समाः)।[175]

पुत्रवत्सला: कुन्ती का अपने पुत्रों के प्रति अपार प्रेम था। पाण्डवों के हस्तिनापुर में निवास की अवधि में एक दिन क्रीड़ाविहार से लौटते समय कौरवों और पाण्डवों के साथ जब भीमसेन नहीं आया तो कुन्ती का हृदय अपने पुत्र की चिन्ता में व्यथित हो गया और उसने युधिष्ठिर को उसके अन्वेषण के लिये भेजा और विदुर जी से भी उसकी खोज करने के लिये कहा।[176] कुन्ती को हमेशा इस बात की चिन्ता रहती थी कि मेरे पुत्रों के ऊपर कोई विपत्ति

न आ जाये क्योंकि धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन सदैव उसके पुत्रों से वैरभाव रखता था। इससे पहले भी दुर्योधन ने जलविहार के समय भीमसेन को मारने की इच्छा से उसके भोजन में कालकूट नामक विष मिला दिया था और तत्पश्चात् उसके मूच्छित होने पर भीम को गंगा के जल में धकेल दिया था।[177] वनवास काल में भी जब कभी पाण्डवों को भिक्षा लाने में देर हो जाती थी तो वह अनेक प्रकार की चिन्ताओं में डूबकर उनके विनाश की आशंकाएँ करने लगती थी कि कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि धृतराष्ट्र के पुत्रों ने कुरूश्रेष्ठ पाण्डवों को पहचान कर उनकी हत्या कर दी हो या वैरभाव को मन में रखने वाले महाभयंकर मायावी राक्षसों ने तो मेरे बच्चों को नहीं मार डाला? क्या महात्मा व्यास के भी निश्चित मत के विपरीत कोई बात हो गयी?[178] जब पुत्रवत्सला कुन्ती ने रंगमण्डप में अस्त्र-शस्त्र के संचालन प्रयोग के समय जनमुख से अपने पुत्र अर्जुन की प्रशंसा सुनी तो कुन्ती के स्तनों से दूध और नेत्रों से स्नेह-अश्रु प्रवाहित होने लगे (इत्येवं तुमुला वाचः शृण्वत्याः प्रेक्षकेरिताः कुन्त्याः प्रस्रवसंयुक्तैरस्त्रैः क्लिन्नमुरोऽभवत्)[179] ये अश्रु मात्र उसकी प्रसन्नता को ही नहीं कह रहे थे अपितु अपने मृत पति की धरोहर को कुरूवंश के रक्षक के रूप में जो उसने सहेजा था और जो संस्कार दिये थे, वे भी जीत गये थे।

जब एकचक्रा नगरी में निवास करते हुये भीम ने कुन्ती की आज्ञानुसार बकासुर नामक राक्षस का वध करके उस ब्राह्मण परिवार की रक्षा की।[180] तब कुन्ती ने पुत्रहितविषय में विचार करके ब्राह्मण परिवार से कहा कि "आप इस बात को सर्वथा गुप्त ही रखिये; नहीं तो लोग मन्त्र सीखने के लोभ से कौतूहलवश मेरे पुत्रों को तंग करेंगे और मेरा पुत्र यदि गुरु की आज्ञा लिये बिना अपना मन्त्र किसी को सिखा देगा तो वह सीखने वाला मनुष्य उस मन्त्र से वैसा कार्य नहीं कर सकेगा जैसा मेरा पुत्र कर सकता है।"[181]

हस्तिनापुर में द्यूतक्रीडा में हारने के पश्चात् पाण्डवों के वनगमन के समय उनके जाने से दुःखी होकर वह पुत्रस्नेहवश बहुत विलाप करती है। पुनः वनवास का दुःख भोगने वाली अपनी सन्तानों से विलग होने वाली वह शोकार्त होकर उनसे कहती है कि "पुत्रों! तुम उत्तमधर्म का पालन करने वाले तथा सदाचार की मर्यादा से विभूषित हो, तुममें क्षुद्रता का अभाव है, तुम भगवान् के सुदृढ़ भक्त और देवाराधन में सदा तत्पर रहने वाले हो, तो भी तुम्हारे ऊपर ये विपत्ति आ गयी है। यह मेरे ही भाग्य का दोष हो सकता है। इस प्रकार सम्पत्ति से वंचित होकर तुम वन के दुर्गम स्थानों में कैसे रह सकोगे? वीर्य, धैर्य, बल, उत्साह

और तेज से परिपुष्ट होते हुये भी तुम दुर्बल हो। यदि मैं यह जानती कि नगर में आने पर तुम्हें निश्चय ही वनवास का कष्ट भोगना पड़ेगा तो महाराज पाण्डु के परलोकवासी हो जाने पर शतशृंगपुर से हस्तिनापुर नहीं आती। पुत्रों! तुम सदाचारी और मेरे लिये प्राणों से भी अधिक प्यारे हो। मैंने बड़े कष्ट से तुम्हें पाया है, अतः तुम्हें छोड़कर अलग नहीं रहूँगी। मैं भी तुम्हारे साथ वन में चलूँगी।''[182] इस प्रकार विलाप करते हुये कुन्ती की मर्मस्पर्शी व्यथा का यहाँ प्रकटन होता है।

महाभारत युद्ध के पश्चात् जब कुन्ती ने दीर्घकाल के बाद अपने पुत्रों को देखा तो उनके कष्टों का स्मरण करके करुणानिमग्न हो गयी और आँचल से मुख ढककर आँसू बहाने लगी। उनके शरीर पर बारंबार दृष्टिपात् किया, जो अस्त्र-शस्त्रों के आघात से क्षत-विक्षत हो रहे थे और एक-एक करके पुत्रों के शरीर पर हाथ फेरने लगी (चिरस्य दृष्ट्वा पुत्रान् सा पुत्राधिभिरभिप्लुता, बाष्पमाहारयद् देवी वस्त्रेणावृत्य वै मुखम्। ततो बाष्पं समुत्सृज्य सह पुत्रैस्तदा पृथा, अपश्यदेतान् शस्त्रौघैर्बहुधा क्षतविक्षतान्। सा तानेकैकशः पुत्रान् संस्पृशन्ती पुनः पुनः)।[183]

कुन्ती के द्वारा कथित उपर्युक्त वचनों से यह प्रकट होता है कि वह पाण्डु की मृत्यु के पश्चात् अपनी सन्तानों के साथ हस्तिनापुर में निवास करते हुये इस बात को लेकर सदैव सशंकित रही कि कहीं धृतराष्ट्रपुत्र मेरे पुत्रों से वैरभाव रखने के कारण उनका अहित न कर दें और कुन्ती की ये आशंका निर्मूल नहीं थी क्योंकि धृतराष्ट्रपुत्रों ने कई बार उसके पुत्रों को मारने का प्रयास किया था। जिसके कारण उसे अपने पुत्रों के साथ रहकर वन के कष्ट भी सहन करने पड़े और इसीलिये पुत्रों की रक्षा के निमित्त ही उसने ब्राह्मण परिवार से कहा था कि वह भीम के बारे में किसी को कुछ न बताये, ऐसा करके वह पुत्रों की पहचान को गुप्त रखना चाहती थी। जब द्यूतक्रीडा के समय पुत्रों के सर्वस्व हार जाने पर उन्हें तेरह वर्षों के लिये पुनः वनवास का कष्ट भोगने के लिये जाते हुये देखा तो उसका हृदय करुणा से भर जाता है और शोकविह्वल होकर वह स्वयं के भाग्य को ही दोषी ठहराती है और वनवास का कष्ट भोगकर, युद्ध के पश्चात् जब उसके पुत्र उसके समक्ष आते हैं तब उनके क्षत-विक्षत शरीरों को देखकर पुत्रस्नेहाधिक्य के कारण उसके हृदय की करुणा पुनः उद्वेलित हो उठती है जो अपने पुत्रों से इतने वर्षों तक दूर रहने के कारण उसके अन्तस् में सुप्तावस्था में थी। वस्तुतः कुन्ती का पुत्र प्रेम अनुपम था।

कुन्ती का कर्ण के प्रति वात्सल्य: भले ही कुन्ती ने कन्यावस्था में उत्पन्न अपने पुत्र कर्ण को त्याग दिया था फिर भी कुन्ती के हृदय में उसके लिये अपार प्रेम था। यद्यपि वह यह जानती थी कि किसी कन्या के लिये गर्भधारण करना सर्वथा निषिद्ध और अनुचित है, तथापि पुत्रस्नेह उमड़ आने से कुन्ती ने मंजूषा में बंद अपने पुत्र को अश्वनदी में प्रवाहित करते समय करुणाजनक विलाप किया[184] और अपने पुत्र के लिये आशीर्वचन कहे। उसने कहा, ''पुत्र! जलचर, थलचर, आकाशचारी तथा दिव्यप्राणी तेरा मंगल करें। तेरा मार्ग मंगलमय हो। तेरे पास शत्रु न आयें। जो आ जायें, उनके मन में तेरे प्रति द्रोह की भावना न रहे। जल के स्वामी वरुणदेव, अन्तरिक्ष में स्थित वायुदेव, तेरे पिता सूर्यदेव, आदित्य, वसु, रूद्र, साध्य, विश्वेदेव, इन्द्र सहित मरूद्गण, दिग्पालों सहित दिशायें तथा समस्त देवता सभी सम-विषम स्थानों में तेरी रक्षा करें। यदि विदेश में भी तू जीवित रहेगा तो मैं इन कवच-कुण्डल आदि चिह्नों से उपलक्षित होने पर तुझे पहचान लूँगी।[185] जब उसी पुत्र को कुन्ती ने अनेक वर्ष पश्चात् रंगमण्डप में देखा और यह जानने पर कि कर्ण और अर्जुन परस्पर युद्धकौशल का प्रदर्शन करेंगे तो वह घबरा गयी और भय से मूर्च्छित हो गयी। वह किसी भी तरह इस युद्ध के प्रदर्शन को रोकना चाहती थी पर उसे कोई उपाय समझ नहीं आया (पुत्रौ दृष्ट्वा सुसम्भ्रान्ता नान्वपद्यत किंचन)[186] अपने पुत्र को पहचानकर कुन्ती के मन में बड़ी प्रसन्नता हुयी किंतु वह दूसरों पर प्रकट न हुयी (कुन्त्याश्च प्रत्यभिज्ञाय दिव्यलक्षणसूचितम्, पुत्रमंगेश्वरं स्नेहाच्छन्ना प्रीतिरजायत)[187] कौरवों और पाण्डवों के मध्य युद्ध के अवश्यंभावी हो जाने पर पुत्रहित की कामना से वह कौरवपक्ष में खड़े अपने पुत्र कर्ण से मिलने जाती है और उसे पाण्डवों के पक्ष में करने के लिये कुन्ती सत्य प्रकट करती हुयी दृढ़तापूर्वक कहती है कि ''कर्ण! तुम राधा के नहीं कुन्ती के पुत्र हो, तुम्हारे पिता अधिरथ नहीं हैं और तुम सूतकुल में नहीं जन्मे हो। भगवान् सूर्य ने मेरे गर्भ से तुम्हें उत्पन्न किया है। तुम जो अपने भाइयों से अपरिचित रहकर मोहवश जो धृतराष्ट्र के पुत्रों की सेवा कर रहे हो वह तुम्हारे लिये कदापि योग्य नहीं है। धर्मशास्त्र में मनुष्यों के लिये यही धर्म का उत्तम फल बताया गया है कि उनके पिता आदि गुरुजन तथा एकमात्र पुत्र पर ही दृष्टि रखने वाली माता उनसे सन्तुष्ट रहे। अर्जुन ने पूर्वकाल में जिसका उपार्जन किया था और दुष्टों ने लोभवश जिसे हर लिया है, युधिष्ठिर की उस राज्यलक्ष्मी को तुम धृतराष्ट्र पुत्रों से छीनकर भाइयों सहित उसका उपभोग

करो। जिस प्रकार यज्ञ की वेदी पर देवगणों से घिरे हुये ब्रह्मा जी सुशोभित होते हैं उसी प्रकार अपने पाँचों भाइयों से घिरे हुये तुम भी शोभा पाओगे।''[188]

कुन्ती के ये वचन उसके पुत्रहितैषिणी रूप को प्रकट करते हैं। अपनी कौमार्यावस्था में कर्ण के जन्म पर लोकापवाद के भय से, स्वाभाविक लज्जा एवं साहस के अभाव से, अपने पिता को मिलने वाले अपयश की आशंका से युक्त होकर ही उसे कर्ण का पुत्रवत् पालन करने के स्थान पर जल में विसर्जित करने का निर्णय लेना पड़ा किन्तु उसके हृदय को यह विश्वास अवश्य था कि उसका पुत्र सकुशल है लेकिन अकस्मात् युद्ध के निश्चित हो जाने पर पक्ष और विपक्ष के रूप में दोनों ओर से लड़ने वाले योद्धा स्वयं मेरे ही पुत्र होंगे, मृत्यु चाहे किसी की भी हो किन्तु मृत्यु मेरे ही किसी पुत्र की होगी; इस कल्पनामात्र से ही भयभीत होकर वह कर्ण को अपना पुत्र होने का रहस्य बतलाकर उससे कौरवपक्ष को त्यागने और अपने पाँचों भाइयों के संग मिलकर युद्ध करने की बात कर्ण से कहती है। सत्य है कि जब माँ को अपने पुत्र के प्राणों पर आने वाली विपत्ति का आभास हो जाता है तो वह साहसी हो जाती है। फिर वह अपने सुख-दुःख, लाभ-हानि, यश-अपयश अथवा परिणाम पर विचार नहीं करती है। महाभारत युद्ध की समाप्ति पर वह पाण्डवों के समक्ष अपने मृत सम्बन्धियों को जलांजलि देते समय इस रहस्य को प्रकट करती है कि कर्ण उसका पुत्र है, तुम्हारा ज्येष्ठ भ्राता है अतः अपने उस सत्यप्रतिज्ञ भ्राता कर्ण के लिये तुम लोग जलांजलि दो।[189] तब युधिष्ठिर ने अपने भ्राता कर्ण के लिये जलांजलि दी।[190] रंगमण्डप में अपने पुत्र कर्ण को पहचानकर भी उसकी उपेक्षा करने से वह अत्यन्त दुःखी थी (स मया मूढया पुत्रो ज्ञायमानोऽप्युपेक्षितः, तन्मां दहति विप्रर्षे यथा सुविदितं तव)[191] अतः वह व्यासजी से अपने दाहक शोक को दूर करने की प्रार्थना करती है। तब व्यासजी ने उसे धैर्य बँधाते हुये कहा कि इसमें तुम्हारा कोई अपराध नहीं है; क्योंकि उस समय तुम कुमारी बालिका थी। देवता लोग अणिमा आदि ऐश्वर्यों से सम्पन्न होते हैं अतः दूसरे के शरीरों में प्रविष्ट हो जाते हैं। देवधर्म के द्वारा मनुष्य धर्म दूषित नहीं होता, बात को जान लो। अब तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये'' (अपराधश्च ते नास्ति कन्याभावं गता ह्यसि, देवाश्चैश्वर्यवन्तो वै शरीराण्याविशन्ति वै। मनुष्यधर्मो दैवेन धर्मेण हि न दुष्यति, इति कुन्ति विजानीहि व्येतु ते मानसो ज्वरः)।[192] यहाँ कुन्ती का अपने पुत्र कर्ण के प्रति वात्सल्य और उसकी उपेक्षा करने से उत्पन्न आत्मग्लानि का भाव अभिव्यक्त होता है।

संवेदनशीला: एकचक्रा नगरी में ब्राह्मण के घर में निवास करते हुये पुत्रों सहित कुन्ती को जब बहुत दिन व्यतीत हो गये तब एक दिन कुन्ती ने उस परिवार के व्यक्तियों को विलाप करते देखा तो अत्यन्त दुःखी होकर कुन्ती ने भीमसेन से अत्यन्त करूणापूर्वक धर्मयुक्त वचन कहे, ''हे पुत्र! इस ब्राह्मण के घर में दुर्योधन से अज्ञात रहकर हम बड़े सुख से निवास करते हैं। यहाँ हमारा इतना सत्कार हुआ है कि हम अपने दुःख और दैन्य को भूल गये हैं। मैं सदा यही सोचती रहती हूँ कि इस ब्राह्मण का मैं कौन-सा प्रिय कार्य करूँ, जिसे किसी के घर में सुखपूर्वक रहने वाले लोग किया करते हैं। जिसके प्रति किया हुआ उपकार उसका प्रतिफल दिये बिना नष्ट नहीं होता, वही पुरुष है। दूसरा मनुष्य उसके प्रति जितना उपकार करे, वह उससे भी अधिक उस मनुष्य का प्रत्युपकार कर दे। इस समय निश्चय ही इस ब्राह्मण पर कोई भारी दुःख आ पड़ा है। यदि उसमें मैं इसकी सहायता करूँ तो वास्तविक उपकार हो सकता हैं'' (वसाम सुसुखं पुत्र ब्राह्मणस्य निवेशने, अज्ञाता धार्तराष्ट्रस्य सत्कृता वीतमन्यवः। सा चिन्तये सदा पुत्र ब्राह्मणास्यास्य किं न्वहम्, प्रियं कुर्यामिति गृहे यत् कुर्युरूषिताः सुखम्। एतावान् पुरुषस्तात् कृतं यस्मिन् न नश्यति, यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्यादिभ्यधिकं ततः। तदिदं ब्राह्मणस्यास्य दुःखमापतितं ध्रुवम्, तत्रास्य यदि साहाय्यं कुर्यामुपकृतं भवेत्)।[193] तब कुन्ती, ब्राह्मण की विपत्ति का कारण जानकर उन्हें आश्वस्त करके भीम को बकासुर के वध के लिये भेजने का निर्णय लेती है। भिक्षावृत्ति से लौटे हुये युधिष्ठिर को जब भीम की उस प्रतिज्ञा का पता चलता है तो वे कुन्ती से कहते हैं कि ''दूसरे के पुत्र के लिये आप अपने पुत्र को क्यों त्याग देना चाहती हैं। पुत्र का त्याग करके आपने लोक और वेद दोनों के विरुद्ध कार्य किया है।''[194] तब कुन्ती युधिष्ठिर को समझाती है कि ''युधिष्ठिर! तुम्हें भीमसेन के लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये। मैंने भीमसेन के बल को अपनी बुद्धि से भली-भाँति समझकर ही राक्षस से प्रतिकार लेने का निश्चय किया है।[195] मैंने न लोभ से, न अज्ञान से और न मोह से ऐसा विचार किया है अपितु बुद्धि के द्वारा खूब भली-प्रकार सोच-समझकर विशुद्ध धर्मानुकूल निश्चय किया है। मेरे इस निश्चय से दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जायेंगे। एक तो ब्राह्मण के यहाँ निवास करने का ऋण चुक जायेगा और दूसरा लाभ यह है कि ब्राह्मण और पुरवासियों की रक्षा होने के कारण महान् धर्म का पालन हो जायेगा।[196]

कुन्ती के ये वचन उसकी दयालुता और उसके साधु स्वभाव, संवेदनशीलता, ब्राह्मणों की रक्षार्थ स्वक्षत्रियधर्म पालन की भावना और परदुःखकातरता का भाव दर्शाते हैं।

विमाता रूपः 'कुन्ती' विमाता रूप में आदर्श थी। उसे अपने पुत्रों से भी ज्यादा नकुल और सहदेव प्रिय थे। तेरह वर्षों तक अपने पुत्रों से दूर रहने के कारण कुन्ती अत्यधिक दुःखी थी। वह नकुल का स्मरण करके श्रीकृष्ण से कहती है कि "आँखों की पलकें गिरने में जितना समय लगता है, उतनी देर भी नकुल से अलग रहने पर मैं धैर्य खो बैठती थी; परन्तु अब इतने दिनों से उसे न देखकर भी जी रही हूँ। देखो, मैं कितनी निर्मम हूँ" (पक्ष्मसम्पातजे काले नकुलेन विनाकृता, न लभामि धृतिं वीर साद्य जीवामि पश्य माम्)[197] वहीं वनवास मिलने पर वह द्रौपदी से कहती है कि "वन में रहते हुये मेरे पुत्र सहदेव की तुम सदा देखभाल करना, जिससे यह परम बुद्धिमान् सहदेव इस भारी संकट में पड़कर दुःखी न होने पावे। यह मुझे अत्यन्त प्रिय है। वन में रात्रि के समय तुम स्वयं इसे सँभाल कर ले जाना और इसे अपने हाथों से भोजन कराना, यह लज्जाशील, मधुरभाषी और धार्मिक है" (सहदेवश्च मे पुत्रः सदावेक्ष्यो वने वसन्, यथेदं व्यसनं प्राप्य नायं सीदेन्महामतिः।। ह्रीनिषेवो मधुरवाग्धार्मिकश्च प्रियश्च मे, स तेऽरण्येषु वोढव्यो याज्ञसेनि क्षपास्वपि। ज्येष्ठापचायिनं वीरं स्वयं पांचालि भोजयेः)[198] कुन्ती चाहती थी कि भले ही अन्य पुत्र सत्यधर्म के पालन का आग्रह करके वन में जाना चाहते हैं तो चले जायँ किन्तु सहदेव यहीं रहकर मेरी रक्षाजनित धर्म का लाभ ले।[199] सहदेव उसे अपने शरीर से भी अधिक प्रिय है। वह सहदेव को लौट आने और कुपुत्र की भाँति माता का त्याग न करने के लिये कहती है (सहदेव निवर्तस्व ननु त्वमसि मे प्रियः। शरीरादपि माद्रेय मा माम् त्याक्षीः कुपुत्रवत्)।[200]

कुन्ती के ये वचन माद्रीपुत्रों के प्रति अतिशय प्रेम को प्रकट करते हैं। अपनी सपत्नी के पुत्रों के प्रति भी उसकी भावनाएँ निर्मल थीं।

पौराणिकज्ञानसम्पन्नाः कुन्ती को गार्हस्थ्य धर्मों का ज्ञान तो था ही, साथ ही वह पौराणिक ज्ञान से भी सम्पन्न थी। कुन्ती कार्तवीर्य, अम्बरीष, मान्धाता, ययाति, दिलीप, भरत, मुचुकंद की कथा, नहुष, उशीनर पुत्र शिवि आदि प्राचीन राजर्षियों जिन्होंने सदाचार पालन रूप कठिन धर्म को धारण किया था, उनके चरित्रों से तथा भद्रा, सुकन्या, विदुला आदि के चरित्रों से भी पूर्णतया परिचित थी।[201] ब्राह्मण परिवार के घर पर रहते हुये कुन्ती ने ब्राह्मण अतिथि के मुख से अनेक देशों, तीर्थों, नदियों, राजाओं, नाना प्रकार के आश्चर्यजनक स्थानों तथा नगरों का

वर्णन सुना।[202] व्यासजी के द्वारा भी धर्म और अर्थयुक्त बातें तथा विचित्र नाना कथाएँ सुनीं।[203] इससे ज्ञात होता है कि उसे कथाएँ सुनने में रूचि थी और वह उन्हें स्मरण भी रखती थी।

सन्मार्गप्रदर्शिका: दुर्योधन द्वारा श्रीकृष्ण के सन्धि प्रस्ताव को ठुकराये जाने पर पुनः पाण्डवों के पास जाने वाले श्रीकृष्ण के पूछने पर कुन्ती पाण्डवों के लिये देने योग्य सन्देश को कहती है।204 वह परिस्थिति अनुरूप नीति का आश्रय लेकर कहती है कि ''पुत्र! तुम्हारे प्रजापालन रूप धर्म की बड़ी हानि हो रही हैं तुम उस धर्मपालन के अवसर को व्यर्थ मत जाने दो[205] जो स्त्री दूसरों के आश्रित होकर जीवननिर्वाह करती है, उसे धिक्कार है। दीनता से प्राप्त हुयी जीविका की अपेक्षा तो मर जाना ही उत्तम है (पराश्रया वासुदेव या जीवतिधिगस्तु ताम्, वृत्तेः कार्पण्यलब्धाया अप्रतिष्ठैव ज्यायसी)।[206] जैसे वेद के अर्थ को न जानने वाले अज्ञ वेदपाठी की बुद्धि केवल वेद के मन्त्रों की आवृत्ति करने में ही नष्ट हो जाती है और केवल मन्त्रपाठ मात्र धर्म पर ही दृष्टि रहती है, उसी प्रकार तुम्हारी बुद्धि भी केवल शान्तिधर्म को ही देखती है। ब्रह्माजी ने तुम्हारे लिये जैसे धर्म की सृष्टि की है, उसी पर दृष्टिपात् करो। उन्होंने अपनी दोनों भुजाओं से क्षत्रियों को उत्पन्न किया है अतः क्षत्रिय बाहुबल से ही जीविका चलाने वाले होते हैं। वे युद्ध रूपी कठोर कर्म के लिये रचे गये हैं तथा सदा प्रजापालनरूपीधर्म में प्रवृत्त रहते हैं। राजा के द्वारा सुरक्षित हुयी प्रजा यहाँ जिस धर्म का अनुष्ठान करती है, उसका चैथाई भाग उस राजा को मिल जाता है। यदि राजा धर्म का पालन करता है तो उसे देवत्व की प्राप्ति होती है और यदि वह अधर्म करता है तो नरक को ही प्राप्त होता है। राजा की दण्डनीति यदि उसके द्वारा स्वधर्म के अनुसार प्रयुक्त हुयी तो वह चारों वर्णों को नियन्त्रण में रखती और अधर्म से निवृत्त करती है। यदि राजा दण्डनीति के प्रयोग में पूर्णतः न्याय से काम करता है तो जगत् में सत्ययुग नामक उत्तमकाल आ जाता है। राजा का कारण काल है या काल का कारण राजा है, ऐसा सन्देह तुम्हारे मन में नहीं उठना चाहिये क्योंकि राजा ही काल का कारण होता है। पुत्र! तुम्हारे पिता-पितामहों ने जिनका पालन किया है, उन राजधर्मों की ओर ही देखो। तुम जिसका आश्रय लेना चाहते हो, वह राजर्षियों का आचार नहीं है। जो सदा दयाभाव में ही स्थित हो विह्वल बना रहता है, ऐसे किसी भी पुरुष ने प्रजापालनजनित किसी पुण्यफल को कभी नहीं प्राप्त किया है। तुम जिस बुद्धि के सहारे चलते हो, उसके लिये न तो तुम्हारे पिता पाण्डु ने, न मैंने और न पितामह ने ही पहले

कभी आशीर्वाद दिया था। मैं तो सदा यही चाहती रही हूँ कि तुम्हें यज्ञ, दान, तप, शौर्य, बुद्धि, सन्तान, महत्त्व, बल और ओज की प्राप्ति हो। देवता और पितर अपने उपासकों तथा वंशजों से सदा दान, स्वाध्याय, यज्ञ तथा प्रजापालन की ही आशा रखते हैं। युधिष्ठिर! तुम्हारे लिये भिक्षावृत्ति का तो सर्वथा निषेध है और कृषि भी तुम्हारे योग्य नहीं है। तुम तो दूसरों को क्षति से त्राण देने वाले क्षत्रिय हो, तुम्हें तो बाहुबल से ही जीविका चलानी चाहिये। तुम्हारा पैतृक राज्यभाग शत्रुओं के हाथ में पड़कर लुप्त हो गया है। तुम साम, दान, भेद अथवा दण्डनीति से पुनः उसका उद्धार करो। इससे बढ़कर दुःख की बात और क्या हो सकती है कि मैं तुम्हें जन्म देकर भी बन्धु-बान्धवों से हीन नारी की भाँति जीविका के लिये दूसरों के दिये हुये अन्न-पिण्ड की आशा लगाये ऊपर देखती रहती हूँ अतः तुम राजधर्म के अनुसार युद्ध करो। कायर बनकर अपने पितामह का नाम मत डुबाओ और भाइयों सहित पुण्य से वंचित होकर पापमयी गति को न प्राप्त होओ।''[207] कुन्ती ने माद्रीकुमारों के लिये भी यह सन्देश दिया कि ''वीरों! तुम अपने प्राण देकर भी अपने पराक्रम से प्राप्त हुये भोगों का ही उपभोग करो। क्षत्रियधर्म से निर्वाह करने वाले मनुष्य के मन को पराक्रम द्वारा प्राप्त किये हुये पदार्थ ही सदा सन्तुष्ट रखते हैं।''[208] कुन्ती ने अर्जुन और भीमसेन के लिये यह सन्देश दिया कि ''क्षत्राणी जिस प्रयोजन के लिये पुत्र उत्पन्न करती है, उसे पूरा करने का यह समय आ गया है। यदि ऐसा समय आने पर भी तुम युद्ध नहीं करोगे तो यह व्यर्थ बीत जायेगा। तुम लोग इस जगत् के सम्मानित पुरुष हो। यदि तुम कोई अत्यन्त घृणित कर्म कर डालोगे तो उस नृशंस कर्म से युक्त होने के कारण मैं तुम्हें सदा के लिये त्याग दूँगी। पुत्रों! तुम्हें तो समय आने पर अपने प्राणों को भी त्यागने के लिये उद्यत रहना चाहिये।''[209] कत्र्तव्यमार्ग की शिक्षा देने हेतु वह विदुला की कथा द्वारा भी उन्हें प्रेरित करती है।[210]

पाण्डवों को कत्र्तव्यमार्ग की ओर उन्मुख करने वाले कुन्ती के ये वचन उसके कत्र्तव्यपालन की दृढ़ता को दर्शाते हैं, जो उसके चरित्र को उच्चता प्रदान करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि उसे क्षत्रियधर्म और राजा के कत्र्तव्यों का ज्ञान था। यहाँ वह अपने श्वसुर कुल की प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाये रखने हेतु प्रयत्नरत दिखायी देती है। उसके ये वचन ओजपूर्ण एवं उत्साह से युक्त हैं। मनुस्मृति में राजधर्म वर्णन में कहा गया है कि ''युद्ध से नहीं भागना, प्रजाओं का पालन करना और ब्राह्मणों की सेवा करना, राजाओं का अत्यन्त कल्याण करने वाला माना गया है।''[211]

अधर्मभीता: माता की आज्ञा का पालन करने वाले अर्जुन और भीम जब स्वयंवर में द्रौपदी को जीतकर उसे अपने साथ घर लेकर आये तो उन्होंने कुन्ती से कहा कि हम लोग भिक्षा लाये हैं तब कुन्ती ने कुटिया के भीतर से ही पुत्रों को देखे बिना ही उत्तर दिया 'तुम सभी भाई मिलकर उसे पाओ'।[212] जब कुन्ती ने कुटिया से बाहर आकर द्रौपदी को देखा तो अपने द्वारा कहे गये अनुचित कथन से, वह अधर्म के भय से चिन्तित हो गयी।[213] तब द्रौपदी को साथ लेकर वह युधिष्ठिर के पास गयी और कहा कि ''पुत्र! यह राजा द्रुपद की कन्या है, तुम्हारे छोटे भाई भीम और अर्जुन ने इसे भिक्षा कहकर मुझे समर्पित किया और मैंने भी भूल से 'तुम सब मिलकर इसे पाओ' अनुरूप उत्तर दे दिया।[214] कुरुश्रेष्ठ! बताओ, अब कैसे मेरी बात झूठी न हो? और क्या किया जाय, जिससे इस पांचालराजकुमारी कृष्णा को न तो पाप लगे और न नीच योनियों में ही भटकना पड़े' (मया कथं नानृतकुक्तमद्य भवेत् कुरूणामृषभ ब्रवीहि। पांचालराजस्य सुतामधर्मो न चोपवर्तेत न विभ्रमेच्च)[215] युधिष्ठिर ने माता की आज्ञा का पालन करते हुये तथा धर्मसम्मत मानकर द्रौपदी के पाँचों भाइयों में विभाग को स्वीकृति दी।[216] जब व्यास जी का द्रुपद के यहाँ आगमन हुआ तो कुन्ती ने व्यासजी से भी कहा कि ''भले ही मैंने द्रौपदी के साथ पाँचों भाइयों के विवाहसम्बन्ध की आज्ञा दे दी है। किन्तु मुझे झूठ से बहुत भय लगता है; बताइये, मैं झूठ के पाप से कैसे बच सकूँगी?''[217] तब व्यास जी ने द्रौपदी और पाण्डवों के पूर्वजन्म की कथा सुनायी और उन्हें दिव्यदृष्टि देकर उनके समक्ष दिव्यरूपों की झाँकी प्रस्तुत की।[218] कुन्ती के इन वचनों से ज्ञात होता है कि वह सदैव धर्म को सामने रखकर ही स्वकत्र्तव्यों का निर्धारण करती थी तथा वह कभी नहीं चाहती थी कि उससे कभी भी कोई धर्मविरुद्ध कार्य हो जाये, जिससे उसे पाप का भागी बनना पड़े।

क्षत्रियधर्मज्ञा: बकवधपर्व में कुन्ती, युधिष्ठिर को स्वकत्र्तव्यों के विषय में बतलाते हुये कहती है कि ''जो क्षत्रिय कभी ब्राह्मण के कार्यों में सहायता करता है, वह उत्तम लोकों को प्राप्त होता है। यदि क्षत्रिय किसी क्षत्रिय को ही प्राणसंकट से मुक्त कर दे तो वह इस लोक और परलोक में भी महान् यश का भागी होता है। जो क्षत्रिय इस भूतल पर वैश्य के कार्य में सहायता पहुँचाता है, वह निश्चय ही सम्पूर्ण लोकों में प्रजा को प्रसन्न करने वाला राजा होता है। इसी प्रकार जो राजा अपनी शरण में आये हुये शूद्र को प्राणसंकट से बचाता है, वह इस संसार में उत्तम धन-धान्य से सम्पन्न एवं राजाओं द्वारा सम्मानित श्रेष्ठ कुल में जन्म लेता है।''[219] याज्ञवल्क्यस्मृति का कथन है- 'प्रधानं क्षत्रिय कर्म प्रजानां परिपालनम्'[220]

पुराणों में भी वर्णधर्मप्रकरण के अन्तर्गत क्षत्रियधर्म का विस्तृत उल्लेख किया गया है।[221] कुन्ती के ये वचन क्षत्रियधर्म के अनुकूल ही हैं।

श्वश्रूरूपः कुन्ती का अपनी सभी पुत्रवधुओं के प्रति अत्यधिक प्रेम था। दुरपदकुमारी द्रौपदी कुन्ती की प्रथम पुत्रवधू थी पाण्डवों से पाणिग्रहण करने के पश्चात् जब द्रौपदी कुन्ती के समक्ष उपस्थित होती है तो वह उसे प्रेमपूर्वक आशीर्वाद देते हुये कहती है कि 'जैसे इन्द्राणी इन्द्र में, स्वाहा अग्नि में, रोहिणी चन्द्रमा में, दमयन्ती नल में, भद्रा कुबेर में, अरून्धती वसिष्ठ में तथा लक्ष्मी नारायण में भक्तिभाव एवं प्रेम रखती है। उसी प्रकार तुम भी अपने पतियों में अनुरक्त रहो। भद्रे! तुम अनन्त सौख्य से सम्पन्न होकर दीर्घजीवी तथा वीर पुत्रों की जननी बनो। सौभाग्यशालिनी भोगसामग्री से सम्पन्न पति के साथ यज्ञ में बैठने वाली तथा पतिव्रता होओ। अपने घर पर आये हुये अतिथियों, साधु पुरुषों, वृद्धजनों, बालकों तथा गुरुजनों का यथायोग्य सत्कार करने में ही तुम्हारा प्रत्येक वर्ष व्यतीत हो।[222]

कुन्ती कहती है कि ''तुम्हारे पति कुरूजांगल देश के प्रधान-प्रधान राष्ट्रों तथा नगरों के राजा हों और उनके साथ ही रानी के पद पर तुम्हारा अभिषेक हो। धर्म के प्रति तुम्हारे हृदय में स्वाभाविक स्नेह हो। तुम्हारे महाबली पतियों द्वारा पराक्रम से जीती हुयी इस समूची पृथ्वी को तुम अश्वमेध नामक महायज्ञ में ब्राह्मणों को दान दे दो। कल्याणमयी गुणवती वधू! पृथ्वी पर जितने गुणवान् रत्न हैं, वे सब तुम्हें प्राप्त हों और तुम सौ वर्षों तक सुखी रहो। आज तुम्हें वैवाहिक रेशमी वस्त्रों से सुशोभित देखकर जिस प्रकार मैं तुम्हारा अभिनन्दन करती हूँ, उसी प्रकार जब तुम पुत्रवती होओगी, उस समय भी अभिनन्दन करूँगी; तुम सद्गुण सम्पन्न हो।''[223] वह द्रौपदी को नित्य सम्पन्न किये जाने वाले कार्यों के बारे में भी बताती है।[224] पाण्डवों के द्यूतक्रीड़ा में पराजित होने के पश्चात् जब सभी पाण्डव द्रौपदी सहित सत्यधर्म-पालन हेतु वनगमन के लिये प्रस्थान करते हैं तब द्रौपदी को जाती हुयी देख कुन्ती अत्यन्त सन्तप्त हो उठी और शोकाकुल होकर उसने अपनी वधू से कहा, ''पुत्री! इस महान् संकट को पाकर तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। तुम स्त्री के धर्मों को जानती हो, शील और सदाचार का पालन करने वाली हो। इसीलिये पतियों के प्रति तुम्हारा क्या कत्र्तव्य है, यह तुम्हें बताने की आवश्यकता मैं नहीं समझती। तुम सती स्त्रियों के सद्गुणों से सम्पन्न हो, तुमने पति और पिता दोनों के कुलों की शोभा बढ़ायी है। ये कौरव बड़े भाग्यशाली हैं, जिन्हें, तुमने अपनी क्रोधाग्नि से जलाकर भस्म नहीं कर दिया। जाओ, तुम्हारा मार्ग विघ्न-बाधाओं

से रहित हो, मेरे किये हुये शुभचिन्तन से तुम्हारा अभ्युदय हो। जो बात अवश्य होने वाली है, उसके होने पर साध्वी स्त्रियों के मन में व्याकुलता नहीं होती। तुम अपने श्रेष्ठ धर्म से सुरक्षित रहकर शीघ्र ही कल्याण प्राप्त करोगी।[225] तदनन्तर अपनी पुत्रवधू द्रौपदी के अपमान और वनगमन से दुःखी कुन्ती श्रीकृष्ण के सम्मुख अपनी पीड़ा प्रकट करती हुयी कहती है कि ''द्रुपदकुमारी कृष्णा मुझे अपने सभी पुत्रों से अधिक प्रिय है। वह कुलीन, अनुपम सुन्दरी, समस्त सद्गुणों से सम्पन्न है। पुत्रलोक से पतिलोक को श्रेष्ठ समझकर उसका वरण करने वाली सत्यवादिनी द्रौपदी अपने प्यारे पुत्रों को भी त्यागकर पाण्डवों का अनुसरण करती है। यदि वैसे सदाचार और सत्कर्मों से युक्त द्रौपदी अक्षय सुख नहीं पा रही है तब तो निश्चय ही यह कहना पड़ेगा कि मनुष्य पुण्य कर्मों से सुख नहीं पाता है। जब द्रौपदी को मैंने भरी सभा में लायी गयी देखा उससे बढ़कर महान् दुःख मुझे पहले कभी नहीं हुआ था।[226] क्रोध और लोभ के वशीभूत हुये दुष्ट दुर्योधन ने रजस्वला अवस्था में एकवस्त्रधारिणी द्रौपदी को सभा में बुलवाया और उसे श्वसुरजनों के समीप खड़ा कर दिया, उस समय सभी कौरवों ने उसे देखा था। वह सनाथ होती हुयी भी वहाँ किसी को अपना नाथ न पा सकी'' (स्त्रीधर्मिणीं द्रौपदीं यच्छ्वशुराणां समीपगाम्। आनायितामनार्येण क्रोधलोभानुवर्तिना। सर्वे प्रैक्षन्त कुरव एकवस्त्रां सभागताम्। नाभ्यगच्छत् तदा नाथं कृष्णा नाथवती सती।।)[227] कुन्ती का अपनी वधू द्रौपदी के प्रति विश्वास इतना दृढ़ था कि वह श्रीकृष्ण से कहती है कि ''अर्जुन से कहना 'कि वह द्रौपदी के बताये गये मार्ग पर चले'' (अर्जुनं पाण्डवं वीरं द्रौपद्याः पदवीं चर)[228] जब महाभारत के युद्ध में द्रौपदी-पुत्रों की मृत्यु हो जाती है तो वह अपनी शोकार्त वधू को सान्त्वना देती है, उसे धीरज बँधाती है[229] और जब स्वयं कुन्ती, गान्धारी और धृतराष्ट्र के साथ वनगमन के लिये प्रस्थान करती है तो वह अपने पुत्रों से कहती है कि ''मेरी वधू द्रौपदी का भी सदा प्रिय करते रहना'' (द्रौपद्याश्च प्रिये नित्यं स्थातव्यमरिकर्शन)[230]

यहाँ कुन्ती का अपनी वधू द्रौपदी के प्रति पुत्रवत् प्रेमभाव, अत्यधिक आदर और दृढ़ विश्वास, उसके गुणों की अधिकता के कारण स्वयं और उसके प्रति गौरव की भावना, सभा में अपने गुरुजनों के मध्य हुये उसके तिरस्कार से उत्पन्न दुःख और कुछ न कर पाने से उत्पन्न क्षोभ और ग्लानि तथा उसके प्रति कल्याण की भावना दिखायी देती हैं

अपनी अन्य पुत्रवधुओं सुभद्रा, उलूपी, चित्रांगदा सभी को प्रथम मिलन पर कुन्ती ने आशीर्वाद दिया तथा उन्हें नाना प्रकार के उपहार और रत्न भेंट किये।[231] जब सुभद्रा के पुत्र

अभिमन्यु की मृत्यु हुयी तब कुन्ती ने उसे सान्त्वना दी और धीरज बँधाते हुये कहा, ''वह बालक अभिमन्यु कालधर्म से मृत्यु को प्राप्त हुआ है। मृत्युलोक में जन्म लेने वाले मनुष्यों का धर्म ही ऐसा है- उन्हें एक-न-एक दिन मृत्यु के वश में ही होना पड़ता है, इसलिये शोक न करो। तुम्हारा दुर्जय पुत्र परमगति को प्राप्त हुआ है। तुम महात्मा क्षत्रियों के महान् कुल में उत्पन्न हुयी हो; अतः तुम अपने इस पुत्र के लिये शोक न करो। तुम्हारी वधू उत्तरा गर्भवती है, तुम उसी की ओर देखो, शोक न करो। यह भाविनी उत्तरा शीघ्र ही अभिमन्यु के पुत्र को जन्म देगी।''[232] इसी प्रकार वह सुभद्रा की पुत्रवधू और अपनी पौत्रवधू उत्तरा को भी, जो अपने पति की मृत्यु से अत्यन्त दुःखी थी, धैर्य बँधाते हुये कहा, ''अब तुम्हें यहाँ पति के लिये संताप नहीं करना चाहिये। पुत्रि! तुम्हारे गर्भ में जो अभिमन्यु का बालक है, उसकी रक्षा करो।''[233] जब उत्तरा के गर्भ से मृत बालक का जन्म होता है तब कुन्ती उस मृत बालक को जीवनदान देने के लिये श्रीकृष्ण से प्रार्थना करती हुयी कहती है कि ''तुम्हीं हमारे अवलम्ब और तुम्हीं हम लोगों के आधार हो। इस कुल की रक्षा तुम्हारे ही अधीन है। इसे जीवित करके उत्तरा, सुभद्रा और द्रौपदी सहित मेरी रक्षा करो। मेरे और पाण्डवों के प्राण इस बालक के ही अधीन है। मेरे पति पाण्डु तथा श्वसुर विचित्रवीर्य के पिण्ड का भी यही सहारा है।''[234] श्रीमद्भागवतमहापुराण में उत्तरा के मृत पुत्र को जीवित करने के लिये कुन्ती द्वारा श्रीकृष्ण की स्तुति करने का वर्णन है।[235] उपर्युक्त वचन कुन्ती को एक श्रेष्ठ श्वश्रू के रूप में प्रमाणित करते हैं।

महाभारत में अलौकिकशक्तिसम्पन्ना हिडिम्बा और उलूपी तथा सुभद्रा और चित्रांगदा के चरित्र का उतना विकास देखने को नहीं मिलता है जितना कि द्रौपदी के चरित्र का अतः द्रौपदी के प्रति कहे गये कुन्ती के वचनों से कुन्ती का श्वश्रू रूप विस्तार को प्राप्त होता है। यहाँ उसका अपनी वधूओं के प्रति साधु स्वभाव और प्रेमभाव सूचित होता है।

यात्री (देवरानी) रूपः कुन्ती ने गान्धारी का सदैव आदर किया है। जब कुन्ती अपने पुत्रों के साथ हस्तिनापुर आयी तभी से वह गान्धारी की छोटी बहिन बनकर ही उनकी हर प्रकार की देखभाल करती थी। एक तरह से वह गान्धारी के नेत्र बनी हुयी थी। जब रंगभूमि में राजकुमारों द्वारा अस्त्र-शस्त्रों की कुशलता का प्रदर्शन हो रहा था तब कुन्ती ही गान्धारी को सम्पूर्ण वृत्तान्त से अवगत कराती है।[236] पांचालनगर से हस्तिनापुर पहुँचने पर कुन्ती अपनी पुत्रवधू के साथ सर्वप्रथम गान्धारी को प्रणाम करती है।[237] गान्धारी के पुत्रों ने सदैव कुन्ती

पुत्रों से वैरभाव रखा किन्तु फिर भी कुन्ती ने कभी भी गान्धारी पर दोषारोपण नहीं किया अपितु दासी की भाँति उसकी सेवा ही की (कुन्ती भोजसुता चैव गान्धारीमन्ववर्तत। किंकराः पर्युपातिष्ठन् सर्वाः सुबलजां तथा)[238] आश्रमवासिकपर्व में यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि इनका परस्पर सम्बन्ध आरम्भ से ही आदरभाव से युक्त रहा है। जीवन में अनेक कष्ट सहने के पश्चात् भी गान्धारी और कुन्ती मृत्युपर्यन्त एक-दूसरे के साथ ही रहीं। जब धृतराष्ट्र गान्धारी सहित वन में जाने लगे तब गान्धारी का हाथ पकड़े हुये कुन्ती भी वन जाने के लिये उद्यत हो गयी[239] और नाना प्रकार से विलाप करने वाले अपने पुत्रों के अनुरोध को भी उसने अस्वीकार कर दिया और अपने पुत्रों से कहा, 'अब मैं वन में गाधारी के साथ मलपंकिनी तापसी होकर रहूँगी और अपने इन सास-श्वसुर के चरणों की सेवा में लगी रहूँगी।''[240] विशुद्ध हृदय वाली कुन्ती देवी वन में रहने का दृढ़निश्चय कर चुकी थी और इस समय भी वह अपनी जेठानी गान्धारी के लिये नेत्र बनी हुयी थी।[241]

सन्तापनिमग्नकुन्तीः जब श्रीकृष्ण पाण्डवों से मिलकर हस्तिनापुर आये, तब वह कुन्ती से मिलने उनके कक्ष में जाते हैं। अपने पुत्रों तथा प्राणप्रिया द्रौपदी के वियोग से दुःखी कुन्ती श्रीकृष्ण को अपने समक्ष देखकर, वर्षों से अवरूद्ध अपनी हृदयस्थ वेदना को प्रकट करते हुये कहती है कि ''मैं जो कष्ट भोग रही हूँ, इसके लिये न अपने को दोष देती हूँ न दुर्योधन को; अपितु पिता की ही निन्दा करती हूँ, जिन्होंने मुझे राजा कुन्तीभोज के हाथ में उसी प्रकार दे दिया जैसे विख्यात दानी पुरुष याचक को साधारण धन देते हैं। मैं अभी बालिका थी, हाथ में गेंद लेकर खेलती थी, उसी अवस्था में तुम्हारे पितामह ने मित्रधर्म का पालन करते हुये अपने सखा महात्मा कुन्तीभोज के हाथ में मुझे दे दिया। इस प्रकार मेरे पिता तथा श्वसुरों ने भी मेरे साथ वंचनापूर्ण व्यवहार किया है। इससे मैं अत्यन्त दुःखी हूँ। मेरे जीवित रहने से क्या लाभ? माधव! वैधव्य, धन का नाश तथा कुटुम्बीजनों के साथ बढ़ा हुआ वैरभाव, इनसे मुझे उतना शोक नहीं होता जितना कि पुत्रों का विरह मुझे शोकदग्ध कर रहा है'', यथोक्तम्-

पितरं त्वेव गर्हेयं नात्मानं न सुयोधनम्। येनाहं कुन्तीभोजाय धनं वृत्तैरिवार्पिता।।
बालां ममार्यकस्तुभ्यं क्रीडन्तीं कन्दुहस्तिकाम्। अदात् तु कुन्तीभोजाय सखा सख्ये महात्मने।।
साहं पित्रा च निकृता श्वशुरेश्च परंतप। अत्यन्तदुःखिता कृष्ण किं जीवितफलं मम।।
न मां माधव वैधव्यं नार्थनाशो न वैरता। तथा शोकाय दहति यथा पुत्रैर्विनाभवः।।[242]

कुन्ती के ये वचन पुत्रविरह से शोकविह्वल एक माँ के दग्धहृदय की करूण व्यथा है, जो अन्दर ही अन्दर उसके हृदय को विदीर्ण कर रही है। उक्त कथन यह भी प्रतिपादित करता है कि न केवल पिता के द्वारा उसको किसी को सौंप देने से वह पितृप्रेम से वंचित हुयी अपितु विवाह के पश्चात् अपने बच्चों के साथ किये गये धृतराष्ट्रपुत्रों के दुर्भावनापूर्ण व्यवहार से दुःखी थी साथ ही पाण्डवों को वनवास दिये जाने पर अपने गुरुजनों, श्वसुरों इत्यादि के हस्तक्षेप न करने से भी वह आहत थी। एक माँ जो अपनी सन्तान से एक क्षण भी दूर नहीं रह पाती है जब उसी माँ के पुत्र तेरह वर्षों से उसकी दृष्टिपथ से दूर वनवास का दुःख भोग रहे हों तो उस माँ का हृदय कैसे विदीर्ण नहीं होगा।

तपस्विनी और दृढ़संकल्पव्रता: जब कुन्ती ने कृतसंकल्प होकर धृतराष्ट्र और गान्धारी के साथ वन जाने का निश्चय किया तब युधिष्ठिर ने अपनी माता से कहा, ''पहले जब हम नगर से बाहर जाने को उद्यत थे, आपने विदुला के वचनों द्वारा हमें क्षत्रिय धर्म के पालन के लिये उत्साह दिलाया था अतः हमें त्यागकर जाना उचित नहीं है। कहाँ आपकी वह बुद्धि और कहाँ आपका यह विचार? मैंने आपका जो विचार सुना है, उसके अनुसार हमें क्षत्रियधर्म में स्थित रहने का उपदेश देकर आप स्वयं उससे गिरना चाहती हैं।''[243] ऐसे अनेक वचन सुनने के पश्चात् कुन्ती ने युधिष्ठिर से कहा कि ''तुम जैसा कहते हो, वही उचित है। पूर्वकाल में तुम नाना प्रकार के कष्ट उठाकर शिथिल हो गये थे इसीलिये मैंने तुम्हें युद्ध के लिये उत्साहित किया था। द्यूत में तुम्हारा राज्य छीन लिया गया था। तुम सुख से भ्रष्ट हो चुके थे और तुम्हारे ही बन्धु-बान्धव तुम्हारा तिरस्कार करते थे, इसलिये मैंने तुम्हें युद्ध के लिये उत्साह प्रदान किया था। मैं चाहती थी कि पाण्डु की सन्तान किसी तरह नष्ट न हो और तुम्हारे यश का भी नाश न होने पाये इसीलिये मैंने तुम्हें युद्ध के लिये उत्साहित किया था। तुम सब लोग इन्द्र के समान शक्तिशाली और देवताओं के तुल्य पराक्रमी होकर जीविका के लिये दूसरों का मुख न देखो, पुनः वनवास का कष्ट न भोगो, पराक्रमी भीमसेन पराजय को न प्राप्त हो, इन्द्रतुल्य अर्जुन शिथिल होकर न बैठ जाये, गुरुजनों की आज्ञा का पालन करने वाले नकुल और सहदेव क्षुधा कष्ट न उठावें, मेरी स्नूषा द्रौपदी सभा में पुनः अपमानित होने का कष्ट न भोगे, यही कारण था कि उस समय मैंने विदुला के वचनों द्वारा तुम्हारे तेज की वृद्धि के लिये उत्साहवर्द्धन किया था।''[244] कुन्ती पुनः कहती है कि ''जिसका वंश नष्ट हो जाता है, उस कुल के पुत्र या पौत्र कभी पुण्यलोक नहीं पाते क्योंकि उस वंश का तो नाश ही हो जाता

है। मैंने पूर्वकाल में अपने पति के विशाल राज्य का सुख भोग लिया है, बड़े-बड़े दान दिये हैं और यज्ञ में विधिपूर्वक सोमपान भी किया है। मैंने अपने लाभ के लिये श्रीकृष्ण को प्रेरित नहीं किया था। विदुला के वचन सुनाकर जो उनके द्वारा तुम्हारे पास सन्देश भेजा था, वह सब तुम्हारी रक्षा के उद्देश्य से ही किया था। मैं पुत्र के जीते हुये राज्य का फल भोगना नहीं चाहती। मैं तपस्या द्वारा पुण्यमय पतिलोक में जाने की कामना रखती हूँ। अब मैं अपने इन वनवासी श्वसुर-श्वश्रू की सेवा करके तप के द्वारा इस शरीर को सुखाऊँगी। तुम भीमसेन आदि के साथ लौट जाओ। तुम्हारी बुद्धि धर्म में लगी रहे और तुम्हारा हृदय विशाल हो'' (न तस्य पुत्राः पौत्रा वा क्षतवंशस्य पार्थिव, लभन्ते सुकृताँल्लोकान् यस्माद् वंशः प्रणश्यति। भुक्तं राज्यफलं पुत्रा भर्तुर्मे विपुलं पुरा, महादानानि दत्तानि पीतः सोमो यथाविधि। नाहमात्मफलार्थं वै वासुदेवमचूचुदम्, विदुलायाः प्रलापैस्तैः पालनार्थं च तत् कृतम्। नाहं राज्यफलं पुत्राः कामये पुत्रनिर्जितम्, पतिलोकानहं पुण्यान् कामये तपसा विभो। श्वश्रूश्वशुरयोः कृत्वा शुश्रूषां वनवासिनोः, तपसा शोषयिष्यामि युधिष्ठिर कलेवरम्। निवर्तस्व कुरुश्रेष्ठ भीमसेनादिभिः सह, धर्मे ते धीयतां बुद्धिर्मनस्तु महदस्तु च।)[245] जब पाण्डव कुन्ती को लौटाने में सफल नहीं हो सके तब गान्धारी व धृतराष्ट्र ने भी कुन्ती को वनगमन से रोकने का प्रयत्न किया किन्तु वह तपस्या के अपने संकल्प से विचलित नहीं हुयी[246] और अपने पुत्रों के महान् फलदायक ऐश्वर्य को छोड़कर और पुत्रों के प्रति अपने मोह का त्याग करके दुर्गम वन में चली गयी और वहाँ गान्धारी और धृतराष्ट्र के साथ वल्कल वस्त्र धारण करके उन दोनों की सेवा करने लगी। वह इन्द्रियों को अपने अधीन करके मन, वाणी, कर्म तथा नेत्रों के द्वारा भी उत्तम तपस्या में संलग्न हो गयी।[247] कुछ समय व्यतीत हो जाने पर माता-पिता के दर्शनों की इच्छा से सभी पाण्डव अपनी धर्मपत्नियों के साथ वन में आये हैं।[248] कुछ समय वन में ही रूकने के पश्चात् माता के प्रति प्रेम के वशीभूत होकर वहीं रूकना चाहते थे[249] लेकिन कुन्ती ने उन्हें ऐसा करने से मना कर दिया और कहा कि तुम लोगों के रहने से हम लोगों की तपस्या में विघ्न पड़ेगा। मैं तुम्हारे स्नेहपाश में बँधकर उत्तम तपस्या से गिर जाऊँगी। अब हम लोगों की आयु बहुत थोड़ी रह गयी है अतः तुम सभी नगर को लौट जाओ, यथोक्तम्-

उपरोधो भवेदेवमस्माकं तपसः कृते।

त्वत्स्नेहपाशबद्धा च हीयेयं तपसः परात्।।

तस्मात् पुत्रक गच्छ त्वं शिष्टमल्पं च नः प्रभो।[250]

यम-नियमपूर्वक तपश्चर्या करते हुये कुन्ती अत्यन्त दुर्बल हो गयी थी तब मृत्यु का समय उपस्थित होने पर वह योगशक्ति से अपनी देह त्याग कर पतिलोक को प्राप्त हो गयी।[251] यहाँ कुन्ती के निर्लोभ होने का, उसके सात्विक विचारों का, दृढ़ संकल्प शक्ति का, कष्ट सहिष्णुता और धैर्य का तथा अपने पुत्रों के उज्ज्वल भविष्य को दृष्टि में रखकर लिये गये उसके निर्णय की उपयुक्तता का, सांसारिक सुखों से विरक्ति और मोह के त्याग का ज्ञान होता है। पुत्रों तथा गुरुजनों द्वारा समादृता: पाण्डु के जीवित न रहने पर भी कुन्ती गुरुजनों के लिये आदरणीया थी। शान्तनु पुत्र भीष्म, धृतराष्ट्र, विदुर, भगवान् श्रीकृष्ण सभी उनका आदर करते थे और वे सभी कुन्ती द्वारा भोगे गये असहनीय कष्टों से प्राप्त दुःखों से दुःखी थे।[252] श्रीकृष्ण जब भी हस्तिनापुर आते और वहाँ से प्रस्थान करते, वे अपनी बुआ कुन्ती से भेंट अवश्य[253] करते थे। पाण्डवों को तेरह वर्षों का वनवास मिलने पर विदुर जी कुन्ती की वृद्धावस्था का चिन्तन करते हुये युधिष्ठिर से कहते हैं कि ''राजपुत्री आर्या कुन्ती वन में जाने योग्य नहीं है। वह सुकुमारी और वृद्धा हैं, सदा सुख और आराम के ही योग्य हैं अतः वे मेरे घर में सदा सत्कारपूर्वक रहेंगीं।''[254] कुन्ती गुरुजनों द्वारा तो समादृता थी ही, उसके पुत्र भी उसका अत्यधिक आदर करते थे और माता को प्राप्त कष्टों से वे भी दुःखी थे। विराटनगर में राजा द्रुपद के यहाँ जब श्रीकृष्ण आते हैं तो वह पाण्डवों की ओर से शान्तिदूत बनकर हस्तिनापुर के लिये प्रस्थान करते हैं तब युधिष्ठिर श्रीकृष्ण से अपनी माता कुन्ती के लिये दुःखी होकर कहते हैं कि ''अबला होकर भी जिसने बाल्यकाल से ही पालन-पोषण कर हमें बड़ा किया है, उपवास और तपस्या में संलग्न रहना जिसका स्वभाव बन गया है। जो सदैव कल्याण-साधन में ही लगी रहती है, देवताओं और अतिथियों की पूजा में तथा गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा में जिसका अनुराग है, जो पुत्रवत्सला है, जिसके प्रति हम पाँच भाइयों का पूर्ण प्रेम है, जैसे नौका मनुष्य को समुद्र में डूबने से बचाती है उसी प्रकार जिसने मृत्यु के महासंकट से हमारा उद्धार किया है, जिसने विवाह करने से लेकर अपने श्वसुरगृह में आकर नाना प्रकार के दुःख और कष्ट ही देखे तथा अनुभव किये हैं, पुत्रों की चिन्ता से अत्यन्त व्याकुल हो इस समय भी वह वहाँ कष्ट ही भोगती है। जिसने हम लोगों के कारण सदा दुःख ही भोगे हैं, उस दुःख न भोगने के योग्य हमारी माता कुन्ती से मिलकर उसे बहुत-बहुत आश्वासन देना।[255] भीमसेन ने भी इसी तरह आदरभाव व्यक्त कर उसके प्रति शोकार्त होकर आदरपूर्ण वचन कहे हैं। भीमसेन ने कहा ''मैं पुत्रों के प्रति स्नेह रखने वाली अपनी उस दीन माता के लिये शोक करता हूँ जो सदा यह आशा रखती है कि हम सभी भाइयों का महत्त्व शत्रुओं से बढ़-चढ़कर हो।''[256] कुन्तीपुत्रों के इन वचनों से अपनी माता के प्रति उनके हृदय में उच्च स्थान का ज्ञान होता है।

इन्हीं चारित्रिक गुणों ने कुन्ती को आर्य स्त्रीजगत् में महानता की श्रेणी में प्रतिष्ठापित किया है। वस्तुतः कुन्ती वीर पत्नी, वीर जननी, महाकुलीना, शीलाचारनिधि, विवेकशीला,

महाप्राज्ञा, समस्त सद्गुणसम्पन्ना, पतिपरमपूजिता आर्य स्त्री थी। वह एक आज्ञाकारिणी पुत्री, पतिव्रता पत्नी, पतिहितैषिणी, पुत्रवत्सला माता, श्रेष्ठ सपत्नी-श्वश्रू-यातृ, धर्मज्ञा, धर्मचारिणी, गृहस्थधर्म का पालन करने वाली, अतिथिसत्कारपरायणा, दान-पुण्यशीला, कथाश्रवणप्रेमी, अधर्मभीता, ज्ञाननिधि संयुक्ता, क्षत्रियधर्मानुरागिणी, मधुरभाषिणी, आज्ञासम्पादिनी, व्रतोपवासशीला, पुत्रहितैषिणी, दृढ़संकल्पयुक्ता, गुरूजनों और प्रजाजनों द्वारा समादरणीया, सात्त्विक भावों से युक्त एवं धैर्यशीला थी। उसे अपने लिये उतना दुःख नहीं हुआ जितना अपने पति, पुत्रों और पुत्रवधुओं को प्राप्त हुये कष्टों को देखकर हुआ था। वह अपने पति पाण्डु के लिये गृहिणी, परामर्श देने वाली मन्त्री, एकान्त की प्रिय सखी तथा जीवन के लिये सम्पूर्ण आनन्ददायिनी थी। कालिदास ने भी अपने ग्रन्थ रघुवंश में कहा है, 'गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ'।[257]

निष्कर्ष -

'गान्धारी', माद्री एवं कुन्ती' महाभारतकाल के उन कतिपय सशक्त स्त्रीपात्रों में से हैं जिनके जीवन ने सम्पूर्ण महाभारत में घटित घटनाओं के सुदृढ़ आधार को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित किया है। इन्होंने सदैव धर्म को दृष्टिपथ में रखकर कत्र्तव्यमार्ग का अवलम्बन करके स्वयं के सदाचारिणी होने का परिचय दिया है। सदाचार को परिभाषित करते हुये विष्णुपुराण में उद्धृत है-

साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः।
तेषामाचरणं यत्तु सदाचारस्स उच्यते।।[258]

अर्थात् 'सत्' शब्द का अर्थ साधु है, और साधु वही है जो दोषरहित हो। उस साधु पुरुष का जो आचरण होता है उसी को सदाचार कहते हैं। यह कहना कदापि अत्युक्ति नहीं होगी कि इन्होंने पतिभक्ति की पराकाष्ठा का आदर्श प्रस्तुत किया है, चाहे वह गान्धारी का अपने सदाचरण द्वारा विवाहोपरान्त जीवनपर्यन्त अपने नेत्रों पर पट्टिका बाँधने का कठिन संकल्प हो अथवा माद्री द्वारा अपने पति पाण्डु की मृत्यु पर उनकी प्रज्वलित चिता के साथ जलकर सती होना हो अथवा कुन्ती द्वारा वैधव्य के असह्य दुःख का दंश निरन्तर अपने हृदय में अनुभव करते हुये, आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुये स्वयं के पातिव्रत्य धर्म को सुरक्षित रखते हुये अपने तथा सपत्नी माद्री के पुत्रों के पालन-पोषण करने के गुरुतर भार का निर्वाह करना हो। माद्री का अपने पति के साथ ही चितारूढ़ होना और इसके विपरीत कुन्ती का जीवन धारण करना उनके द्वारा लिये गये ये दोनों ही निर्णय शास्त्रानुमत ही थे। विष्णुधर्मसूत्र में सती होने के नियमों की परिपालना में कहा गया है कि ''अपने पति की मृत्यु पर विधवा ब्रह्मचर्य रखती थी या उसकी चिता पर आरूढ़ हो जाती थी'' (मृते भर्तरि ब्रह्मचर्य तदन्यारोहण वा)[259] स्मृति[260] और पुराणों[261] में भी यही भाव व्यक्त किया गया है।

'गान्धारी, माद्री और कुन्ती' इन तीनों का ही अपने पति के प्रति प्रेम इतनी उच्च भावभूमि पर प्रतिष्ठित था कि उस पर समय एवं परिस्थितियों का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा। इनकी प्रणयभावना भौतिक सम्बन्धों की आवश्यकताओं पर आधारित न होकर आध्यात्मिक सम्बन्धों की परिचायक थी। पुंसत्वहीन पाण्डु के समक्ष सन्तानोत्पत्ति के अभाव में पितृ ऋण से उऋण होने तथा वंशपरम्परा को अविच्छिन्न बनाये रखने का संकट उपस्थित था जिसका गुणवती और पतिव्रता कुन्ती और माद्री ने पुत्रोत्पादन रूप कार्य से निवारण कर दिया। राजसी वैभव के उपभोग के समय तथा वनवासी जीवन में प्राप्त होने वाले कष्टों के समय ये अपने पति पाण्डु की सदैव वशवर्त्तिनी होकर रहीं। गान्धारी ने भी अपने दर्शनेन्द्रियजन्य सुख का त्याग कर पत्नीधर्म का पालन करते हुये उन्हें शतपुत्रपिता का गौरव प्रदान करने के साथ ही एक कन्या-रत्न को भी प्रदान किया ताकि धृतराष्ट्र को दौहित्र के पुण्य से प्राप्त होने वाले उत्तमलोकों की प्राप्ति हो सके। इन्होंने सदैव अपने पतियों को समयानुसार उचित परामर्श प्रदान करने के साथ ही अधर्म से दूर रहने हेतु सावचेत भी किया। वे यथार्थ में अपने पतियों की सहधर्मिणी थीं। पतिव्रता स्त्री की प्रशंसा में ब्रह्मपुराण में भी कहा गया है कि ''जहाँ स्वामी के चित्त का अनुसरण करने वाली पतिव्रता स्त्री हो, वहाँ कौनसा कार्य असाध्य है। वहाँ तो मोक्ष भी दुर्लभ नहीं है फिर अर्थ, काम आदि की तो बात ही क्या है। पत्नी भी परम मित्र है। वह लोक और परलोक दोनों में हितकारिणी होती है। पत्नी भी यदि कुलीन, प्रियंवदा, पतिव्रता, रूपवती, गुणवती तथा सम्पत्ति और विपत्ति में समान रूप से साथ देने वाली हो तो उसके द्वारा इस त्रिलोकी में कुछ भी असाध्य नहीं है। संकट में पड़े हुये पुरुष के लिये स्त्री के समान कोई औषधि नहीं है।''[262] इन्होंने अपने-अपने पातिव्रत्य धर्म का निर्वाह करने के साथ ही अपने पारस्परिक सम्बन्धों को भी दृढ़तापूर्वक प्रेम, निष्ठा तथा आदर से सम्पुष्ट करके गरिमामय बनाये रखा। परिस्थितिवश उत्पन्न अपने हृदयगत कलुषित भावों को कभी एक-दूसरे के समक्ष प्रकट नहीं किया और न ही उन भावों की प्रतिच्छाया अपने पारस्परिक व्यवहार पर पड़ने दी। उनके पारस्परिक सम्बन्धों पर भी शास्त्रों का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। पद्मपुराण में वर्णित है-

तरूणी वा सुरूपा वा पुत्रिणी वा हिता भवेत्। ज्येष्ठा वाऽपि कनिष्ठा वा परोक्षे संमुखेऽपि वा।।
हीनां निजगुणैरन्यां सपत्नीं न विगर्हयेत्। ईष्र्यारागसमुद्भूते विद्यमानेऽपि मत्सरे।।
अप्रियं नैव कर्तव्यं सपत्नीभिः परस्परम्।[263]

अर्थात् तरूणी, सुन्दरी, पुत्रवती, ज्येष्ठा अथवा कनिष्ठा-कोई भी क्यों न हो, परोक्ष में या सामने अपनी किसी सौत की गुणहीन होने पर भी निन्दा न करे। मन में राग-द्वेषजनित मत्सरता रहने पर भी सौतों को परस्पर एक-दूसरे का अप्रिय नहीं करना चाहिये। जहाँ इन दोनों के आपसी सम्बन्ध मधुर और प्रेम से परिपूर्ण थे, वहीं इनका अपनी सन्तानों के प्रति

अत्यधिक स्नेह था तथा एक-दूसरे की सन्तानों के प्रति भी निश्छल एवं निर्मल वात्सल्य भाव था किन्तु सन्तानसुख से उत्पन्न जो गौरव कुन्ती को मिला वह गान्धारी को प्राप्त नहीं हुआ। भवभूति ने अपने ग्रन्थ में कहा है कि ''स्नेह का आश्रय ग्रहण करने से दम्पती के अन्तःकरण में रहने वाले आनन्द की एकमात्र ग्रन्थि को सन्तान कहते हैं''264 किन्तु गान्धारी की सन्तान उसके लिये आनन्ददायिनी न होकर कष्टों का पर्याय मात्र बन गयी, जिसके कारण उसका जीवन सन्तापयुक्त और नैराश्यपूर्ण हो गया। वहीं कुन्ती का जीवन भी उसको प्राप्त हुये वैधव्य से, अपने सदाचारी पुत्रों और पुत्रवधू द्रौपदी को प्राप्त हुये वनवास से, अपने सदाचारी पुत्रों और पुत्रवधू द्रौपदी को प्राप्त हुये वनवास से, उनको वन में प्राप्त हुये कष्टों से तथा उन सभी से दीर्घावधि तक दूर रहने से पुत्रस्नेहवश उत्पन्न दुःख के कारण शोकमग्न ही रहा। एक ओर जहाँ गान्धारी ने पुत्रों की मृत्यु के पश्चात् अपने पति के साथ वानप्रस्थी होने का निश्चय किया वहीं दूसरी ओर कुन्ती ने अपने पुत्र युधिष्ठिर के राजा के पद पर अभिषिक्त होने के बाद प्राप्त होने वाले महलों के सुख का परित्याग कर वन में तपश्चर्या करने का संकल्प लिया किन्तु दोनों ने ही विपरीत परिस्थितियों में भी धैर्य और धर्म का त्याग नहीं किया और कत्र्तव्यपथ पर अग्रसर होते हुये अन्त में तपश्चर्या द्वारा अपनी समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध कर योग का आश्रय लेकर अपनी देह का त्याग किया।

ये सभी कुलीना, अनिन्द्यसुन्दरी, आज्ञासम्पादिनी, मधुरभाषिणी, दृढ़निश्चयी, गृहकार्यकुशला, कत्र्तव्यपालनतत्परा, उदारहृदया, नीतिनिपुणा, विनम्र, शिष्ट, सरलस्वभावयुक्ता, धर्मज्ञा, धर्मचारिणी, सत्यधर्मानुरागिणी, दान-पुण्यशीला, देवाराधन करने वाली, व्रतोपवासशीला, वात्सल्यभाव से परिपूर्ण, विदुषी, सत्त्वगुणोपेता, कष्टसहिष्णु, क्षमाशीला तथा त्याग और संयम के मूर्तिमान् स्वरूप वाली आदर्श स्त्रियाँ थीं, जिन्होंने अपने चारित्रिक गुणों और कत्र्तव्य-कर्म द्वारा आर्य स्त्रीजगत् को गौरवान्वित किया है।

♦♦♦♦

सन्दर्भ

1. अग्निपुराण, 244/5 (न लोलुपा न दुर्भाषा शुभा देवादिपूजिता)
2. महाभारत, आदिपर्व, 109/10,16
3. महाभारत, आदिपर्व, 63/112
4. महाभारत, आदिपर्व, 109/12
5. महाभारत, आदिपर्व, 67/160
6. महाभारत, आदिपर्व, 109/13-15
7. महाभारत, आदिपर्व, 109/18
8. महाभारत, आदिपर्व, 109/19
9. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 3/27
10. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 3/31, 34, 39
11. महाभारत, वनपर्व, 9/2
12. महाभारत, सभापर्व, 75/2-3
13. महाभारत, सभापर्व, 75/4
14. महाभारत, सभापर्व, 75/6
15. महाभारत, सभापर्व, 75/7-8
16. महाभारत, सभापर्व, 75/9
17. महाभारत, सभापर्व, 75/10
18. नीतिशतक, श्लोक सं. 4-5
19. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 29/38, 48
20. महाभारत, उद्योगपर्व, 129/2
21. महाभारत, उद्योगपर्व, 129/2
22. महाभारत, स्त्रीपर्व, 14/10
23. महाभारत, उद्योगपर्व, 69/9-10
24. महाभारत, उद्योगपर्व, 128/48-50, 129/2
25. महाभारत, उद्योगपर्व, 129/11-13
26. महाभारत, उद्योगपर्व, 129/14-15
27. महाभारत, उद्योगपर्व, 129/20, 22-23
28. महाभारत, उद्योगपर्व, 129/39
29. महाभारत, उद्योगपर्व, 129/40
30. महाभारत, उद्योगपर्व, 129/47
31. महाभारत, उद्योगपर्व, 129/51-54

32. महाभारत, उद्योगपर्व, 148/30
33. महाभारत, उद्योगपर्व, 148/34
34. महाभारत, स्त्रीपर्व, 18/23-24
35. महाभारत, स्त्रीपर्व, 14/9
36. महाभारत, उद्योगपर्व, 129/26
37. महाभारत, उद्योगपर्व, 129/27, 31
38. महाभारत, उद्योगपर्व, 129/32-34
39. महाभारत, उद्योगपर्व, 129/35
40. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 28/5
41. महाभारत, स्त्रीपर्व, 14/2
42. महाभारत, स्त्रीपर्व, 14/13
43. महाभारत, स्त्रीपर्व, 14/14-15
44. महाभारत, आदिपर्व, 109/9-10
45. महाभारत, आदिपर्व, 114/9
46. महाभारत, आदिपर्व, 114/10
47. महाभारत, आदिपर्व,114/11-12
48. महाभारत, आदिपर्व, 114/17-24
49. महाभारत, आदिपर्व, 114/7-8
50. उत्तररामचरितम्, 4/30
51. महाभारत, वनपर्व, 256/4-5
52. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 2/12
53. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 2/16
54. महाभारत, स्त्रीपर्व, 14/16-17
55. महाभारत, स्त्रीपर्व, 14/18-19
56. महाभारत, स्त्रीपर्व, 14/20
57. महाभारत, स्त्रीपर्व, 14/21
58. महाभारत, स्त्रीपर्व, 15/32
59. महाभारत, स्त्रीपर्व, 15/41-42, 44
60. महाभारत, आदिपर्व, 115/11-14
61. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 1/8, 11
62. महाभारत, आदिपर्व, पृ.-680
63. महाभारत, शल्यपर्व, 63/10

64. महाभारत, शल्यपर्व, 63/24-28
65. महाभारत, शल्यपर्व, 63/60, 64-65
66. महाभारत, स्त्रीपर्व, 15/30
67. महाभारत, स्त्रीपर्व, 16-25वाँ अध्याय
68. महाभारत, स्त्रीपर्व, 25/38
69. महाभारत, स्त्रीपर्व, 25/40-41
70. महाभारत, स्त्रीपर्व, 25/42-45
71. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 37/29
72. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 48/6, स्वर्गारोहणपर्व, 5/14
73. भविष्यपुराण, 9/2, पृ.-37
74. मालतीमाधवम्, 6/18
75. भारत में महाभारत, पृ.-283
76. महाभारत, आदिपर्व, 112/3, 6
77. महाभारत, आदिपर्व, 112/6, 67/160
78. महाभारत, आदिपर्व, 112/6, 14-18
79. मनुस्मृति, 5/165, पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयुता।
    सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भि साध्वीति चोच्यते।।
80. महाभारत, आदिपर्व, 113/6-7
81. महाभारत, आदिपर्व, 117/29-31
82. महाभारत, आदिपर्व, 118/6
83. महाभारत, आदिपर्व, 118/23-25
84. महाभारत, आदिपर्व, 118/27-30
85. महाभारत, आदिपर्व, 118/37-39
86. महाभारत, आदिपर्व, 123/2-3
87. महाभारत, आदिपर्व, 123/4
88. महाभारत, आदिपर्व, 123/5
89. महाभारत, आदिपर्व, 123/6
90. महाभारत, आदिपर्व, 123/7
91. महाभारत, आदिपर्व, 123/8, 14-16
92. महाभारत, आदिपर्व, 124/1-2
93. महाभारत, आदिपर्व, 124/12-13
94. महाभारत, आदिपर्व, 124/25-26

95. महाभारत, आदिपर्व, 124वाँ अध्याय, पृ-436
96. महाभारत, आदिपर्व, 124/31
97. मनुस्मृति, 5/165
98. सं. स्कंदपुराण, ब्राह्मखण्ड (धर्मारण्य माहात्म्य), पृ.सं.-619; नारीशिक्षा, सती-माहात्म्य
99. संक्षिप्त ब्रह्मपुराणम्, 80/75, पृ.सं.-153 (स्त्रीणामयं परो धर्मो यद्भर्तुरनुवेशनम्।
वेदे च विहितो मार्गः सर्वलोकेषु पूजितः।।)
महाभारत, आदिपर्व, पृ.सं.-435, (भर्त्रा तु मरणं सार्धं फलवन्नात्र संशयः)
100. जानकीहरणम्, 9/4, संक्षिप्त पद्मपुराण, भूमिखण्ड, पृ.सं.-274
101. महाभारत, आदिपर्व, 123/2
102. महाभारत, आदिपर्व, 123/6
103. महाभारत, आदिपर्व, 124/18-19
104. महाभारत, आदिपर्व, 124/20-21
105. महाभारत, आदिपर्व, 124/22
106. महाभारत, आदिपर्व, 124/27-28, पृ.सं.-436
107. महाभारत, आदिपर्व, पृ.सं.-436
108. महाभारत, आदिपर्व, पृ.सं.-436
109. महाभारत, आदिपर्व, पृ.सं.-436-437
110. महाभारत, आदिपर्व, पृ.सं.-436
111. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/77
112. सं. नारदपुराण, पूर्वभाग, 7/52
113. दक्षस्मृति, 4/19
114. विष्णुपुराण, 4/14/31, पृथा श्रुतदेवा श्रुतकीर्तिः श्रुतश्रवा राजाधिदेवी।
च वसुदेवादीनां पंच भगिन्योऽभवन्।।
115. महाभारत, आदिपर्व, 67/130-131
116. महाभारत, आदिपर्व, 95/58, 111/1-2
117. महाभारत, आदिपर्व, 111/2
118. महाभारत, आदिपर्व, 67/160
119. महाभारत, आदिपर्व, 111/8
120. महाभारत, वनपर्व, 303/16-18, 22, 28-29
121. महाभारत, वनपर्व, 303/26
122. महाभारत, वनपर्व, 304/1-3, 5-8
123. महाभारत, वनपर्व, 304/11, 14-17

124. महाभारत, वनपर्व, 304/19
125. महाभारत, वनपर्व, 304/19-20
126. महाभारत, वनपर्व, 303/10, 19-21
127. महाभारत, वनपर्व, 305/2-7
128. महाभारत, वनपर्व, 305/12-14
129. महाभारत, वनपर्व, 305/15
130. महाभारत, वनपर्व, 305/20
131. महाभारत, वनपर्व, 305/19
132. महाभारत, वनपर्व, 305/23
133. महाभारत, आदिपर्व, 118/23-31
134. महाभारत, आदिपर्व, 124/18
135. महाभारत, आदिपर्व, 119/37
136. महाभारत, आदिपर्व, 120/2-5
137. महाभारत, आदिपर्व, 120/7-36
138. महाभारत, आदिपर्व, 120/37
139. महाभारत, आदिपर्व, 121/7-8
140. महाभारत, आदिपर्व, पृ.सं.-419
141. महाभारत, आदिपर्व, 121/12
142. महाभारत, आदिपर्व, 121/18-20, 122/1-5
143. महाभारत, आदिपर्व, 122/10-15, 28-35
144. मनुस्मृति, 9/28
145. मनुस्मृति, 9/8
146. महाभारत, आदिपर्व, 124/23-24
147. महाभारत, 124वाँ अध्याय, पृ.सं.-435-436
148. महाभारत, आदिपर्व, 123/15-17
149. स्कंदपुराण, काशीखण्ड पूर्वार्द्ध, 4/31-32
150. सं. ब्रह्मपुराण, पृ.-211
151. कादम्बरी-कथामुखम्, भूमिका भाग, पृ.सं.-55
152. उत्तररामचरितम्, 4/18
153. अथर्ववेद संहिता, 3/30/2
154. नैषधीयचरितम्, 3/91
155. सं. पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, पृ.सं.-921

156. महाभारत, आदिपर्व, 122/77-78
157. महाभारत, आदिपर्व, पृ.सं.-427
158. महाभारत, आदिपर्व, पृ.सं.-436
159. महाभारत, वनपर्व, 306/1-2, 14
160. महाभारत, वनपर्व, 306/3, 12
161. महाभारत, वनपर्व, 306/16-20
162. महाभारत, वनपर्व, 306/22-24
163. महाभारत, वनपर्व, 307/1-5
164. महाभारत, वनपर्व, 307/8-11
165. महाभारत, वनपर्व, 307/25-28
166. महाभारत, आदिपर्व, 122/25
167. महाभारत, आदिपर्व, 191/4-5
168. महाभारत, आदिपर्व, पृ.-432
169. महाभारत, आदिपर्व, 147/5
170. महाभारत, आदिपर्व, 127/1
171. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 61/37-38
172. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/102-104, मनुस्मृति, 3/70, 72, 74, श्रीमद्भागवतमहापुराण, 7/14/15, संक्षिप्त स्कन्दपुराण, ब्राह्मखण्ड, धर्मारण्य माहात्म्य, पृ.-613, संक्षिप्त मार्कण्डेयपुराण, पृ.सं.-97
173. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 89/28-29
174. महाभारत, आदिपर्व, 123/26-28
175. महाभारत, आदिपर्व, पृ.सं.-437
176. महाभारत, आदिपर्व, 128/11-13
177. महाभारत, आदिपर्व, 127/44-56
178. महाभारत, आदिपर्व, 189/43-45
179. महाभारत, आदिपर्व, 134/13
180. महाभारत, आदिपर्व, 163/1
181. महाभारत, आदिपर्व, 160/17-18
182. महाभारत, सभापर्व, 79/13-21
183. महाभारत, स्त्रीपर्व, 15/33-35
184. महाभारत, वनपर्व, 308/8
185. महाभारत, वनपर्व, 308/10-15

186. महाभारत, आदिपर्व, 135/29
187. महाभारत, आदिपर्व, 136/23
188. महाभारत, उद्योगपर्व, 145/2,4, 6-8, 11
189. महाभारत, स्त्रीपर्व, 27/7-12
190. महाभारत, स्त्रीपर्व, 27/27-28
191. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 30/17
192. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 30/21, 23
193. महाभारत, आदिपर्व, 156/12-15
194. महाभारत, आदिपर्व, 161/6
195. महाभारत, आदिपर्व, 161/12, 19
196. महाभारत, आदिपर्व, 161/20-21
197. महाभारत, उद्योगपर्व, 90/42
198. महाभारत, सभापर्व, 79/8; विराटपर्व, 19/38-39
199. महाभारत, सभापर्व, 79/29
200. महाभारत, सभापर्व, 79/28
201. महाभारत, उद्योगपर्व, 132/9, 133/1, 90/18-19, 29, आदिपर्व, 120/17, वनपर्व, 304/9
202. महाभारत, आदिपर्व, 164/5-6
203. महाभारत, आदिपर्व, 168/5
204. महाभारत, उद्योगपर्व, 132/4-5
205. महाभारत, उद्योगपर्व, 132/5
206. महाभारत, उद्योगपर्व, 90/74
207. महाभारत, उद्योगपर्व, 132/6-8, 12-16, 21-24, 26, 31-34
208. महाभारत, उद्योगपर्व, 137/14-15
209. महाभारत, उद्योगपर्व, 90/75-77
210. महाभारत, उद्योगपर्व, 133वाँ अध्याय
211. मनुस्मृति, 7/88
212. महाभारत, आदिपर्व, 190/1-2
213. महाभारत, आदिपर्व, 190/3
214. महाभारत, आदिपर्व, 190/4
215. महाभारत, आदिपर्व, 190/5
216. महाभारत, आदिपर्व, 190/15-16
217. महाभारत, आदिपर्व, 195/18

218. महाभारत, आदिपर्व, 196वाँ अध्याय
219. महाभारत, आदिपर्व, 161/22-25
220. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/119
221. सं. ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, पृ.-689, श्रीमद्भागवतमहापुराण, 17वाँ अध्याय संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् इतिहास, त्रयोदशखण्ड-पुराण
222. महाभारत, आदिपर्व, 198/5-8
223. महाभारत, आदिपर्व, 198/9-12
224. महाभारत, आदिपर्व, 191/5
225. महाभारत, सभापर्व, 79/4-7
226. महाभारत, उद्योगपर्व, 90/43-44, 48-49
227. महाभारत, उद्योगपर्व, 90/50-51, 87
228. महाभारत, उद्योगपर्व, 90/80
229. महाभारत, स्त्रीपर्व, 15/38
230. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 16/15
231. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 88/2-3, आदिपर्व, 220/21-22
232. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 61/32-36
233. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 61/40
234. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 66/15, 18
235. श्रीमद्भागवतमहापुराण, 1/8/18-43
236. महाभारत, आदिपर्व, 133/35
237. महाभारत, आदिपर्व, पृ.-680
238. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 1/8, 25
239. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 16/9
240. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 16/16
241. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 37/17
242. महाभारत, उद्योगपर्व, 90/62-64, 69
243. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 16/20, 22
244. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 17/1-15
245. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 17/16-21
246. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 18/5, 8-10
247. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 19/16
248. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 22-24वाँ अध्याय

249. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 36/23
250. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 36/41
251. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 37/28-30
252. महाभारत, सभापर्व, 78/5-6, आदिपर्व, पृ.सं.-518, उद्योगपर्व, 90/93, आश्रमवासिकपर्व, 18/8
253. सभापर्व, 13/43, 24/54 आश्वमेधिकपर्व, 66/4-5, 71/6, पृ.सं.-1077, 52/53-54, उद्योगपर्व, 90/1, 132/1, 137/25
254. महाभारत, सभापर्व, 78/5-6
255. महाभारत, उद्योगपर्व, 83/37-41
256. महाभारत, वनपर्व, 179/35
257. रघुवंशमहाकाव्यम्, 8/67
258. श्रीविष्णुपुराण, 3/11/3
259. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, 15वाँ अध्याय, पृ.सं.-348
260. मनुस्मृति, 5/157-158, 160
261. सं. पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, पृ.सं.-921
262. संक्षिप्त ब्रह्मपुराण, 129-130 वाँ अध्याय, पृ.सं.-220
263. पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, 234/44-46
264. उत्तररामचरितम्, 3/17

सप्तम अध्याय

द्रौपदी की चारित्रिक विशेषताओं का अध्ययन तथा पर्यालोचन

सप्तम अध्याय

द्रौपदी की चारित्रिक विशेषताओं का अध्ययन तथा पर्यालोचन

महर्षि वेदव्यास द्वारा रचित महाभारत के प्रमुख स्त्रीपात्रों में द्रौपदी के चरित्र को सर्वाधिक विस्तार प्राप्त हुआ हैं वह इस ग्रन्थ की नायिका है। महाकाव्यकार ने द्रौपदी की संवेदनाओं को मुखरित होने का अवसर प्रदान किया है। पारिवारिक भूमिकाओं के निर्वहन के साथ ही अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिये, जिस साहस का उसने प्रदर्शन किया है; वह समस्त स्त्रीजाति के लिये श्लाघनीय एवं प्रेरणादायी है। आदर्श भार्या और आदर्श वधू के रूप में विषम से विषम परिस्थितियों में स्वधर्म का पालन कर्त्तव्यनिष्ठा के साथ करते हुये द्रौपदी ने पितृकुल और श्वसुर कुल के यश का सर्वतोमुखी विस्तार किया है। द्रौपदी में धैर्य और सहिष्णुता का चरमोत्कर्ष दिखायी देता है, जो कि प्रशंसा के योग्य है। वीर पुत्री, वीर भगिनी, वीर भार्या, वीर प्रसविनी, सुकुमारी एवं पूजितलक्षणा द्रौपदी का चरित्र, महाभारत में जिन गुणों से युक्त होकर महिमा को प्राप्त हुआ है, वे इस प्रकार हैं-

अयोनिजा द्रौपदी -

साध्वी द्रौपदी शची के अंश से उत्पन्न हुयी थी। वह राजा द्रुपद के कुल में यज्ञ की वेदी के मध्य भाग से एक अनिन्द्य सुन्दरी कुमारी कन्या के रूप में प्रकट हुयी थी (द्रौपदी त्वथ संज्ञज्ञे शचीभागादनिन्दिता। द्रुपदस्य कुले कन्या वेदिमध्यादनिन्दिता)[1] उसने किसी मानवीय स्त्री के गर्भ से जन्म नहीं लिया था अतः वह अयोनिजा थी। महर्षि व्यास ने पाण्डवों को द्रौपदी के पूर्वजन्म का वृत्तान्त बतलाते हुये कहा था कि ''द्रौपदी पूर्वजन्म में एक ऋषि-कन्या थी जिसने पति प्राप्त करने के लिये भगवान् शंकर की कठोर तपस्या की। शिवजी ने उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा उसकी इच्छानुसार उसे 'पाँच भरतवंशी पति' होने का वरदान दिया। जब उस कन्या ने शिवजी से कहा। कि मुझे एक ही पति चाहिये तब उन्होंने कन्या से कहा कि तुमने पाँच बार इस वाक्य को दोहराया है अतः तुम्हें दूसरा शरीर धारण करने पर मेरा यह वरदान प्राप्त होगा। वही यह कृष्णा महाराज

पृषत् की पौत्री तुम लोगों की पत्नी नियत की गयी है।''[2] ब्रह्मवैवर्तपुराण में भी द्रौपदी के जन्मवृत्तान्त का उल्लेख करते हुये कहा गया है कि ''पूर्वकाल में रावण ने जिस सीता का हरण किया था वह वास्तविक सीता न होकर छाया सीता थी। वास्तविक सीता अग्निदेव के पास सुरक्षित थी। श्रीराम ने रावण का वध करके उसी छाया सीता का ही उद्धार किया था। अग्निपरीक्षा के अवसर पर जो छाया सीता अग्नि में प्रविष्ट हुयी थी; उस छाया को अपने संरक्षण में रखकर अग्निदेव ने राम को वास्तविक सीता लौटा दी। वह छाया सीता दुखित हृदय से अग्निदेव के पास रहने लगी तब उसने सौ दिव्य वर्षों तक नारायण सरोवर में जाकर शंकर जी की कठोर तपस्या की। तपस्या से प्रसन्न होकर शिवजी ने वर माँगने को कहा तो उसने व्यग्रता में ही 'पतिं देहि' ऐसा पाँच बार कहा। तब शिवजी ने कहा कि 'श्रीहरि के अंशभूत पाँच इन्द्र तुम्हारे पति होंगे।'[3] यही छाया सीता कृतयुग में वेदवती, त्रेता में जनकनन्दिनी और द्वापर में द्रौपदी हुयी है; इसी कारण यह त्रिहायणी कृष्णा कहलाती है। यह वैष्णवी तथा श्रीकृष्ण की भक्त है; इसीलिये भी कृष्णा कही जाती है, यथोक्तम्-

सा च छाया द्रौपदी च यज्ञकुंडसमुद्भवा। कृते युगे वेदवती त्रेतायां जनकात्मजा।।
द्वापरे द्रौपदी छाया तेन कृष्णा प्रकीर्तिता।। वैष्णवी कृष्णभक्ता च तेन कृष्णा प्रकीर्तिता।[4]

वस्तुतः द्रुपदकुमारी द्रौपदी का जन्मवृत्तान्त अद्भुत है।

अपूर्व सुन्दरी तथा सर्वलक्षणसम्पूर्णापन्नाः यज्ञकुण्ड से उत्पन्न द्रौपदी शुभस्वरूपा, तेजस्विनी तथा उत्तम रूप धारण करती हुयी सुन्दर शरीर से अत्यन्त शोभायमान थी। वह न तो अतिह्रस्व थी, न अति महती थी। न कृष्णवर्णा थी न अधिक रक्तवर्णा तथा जिसके केश नीले और घुंघराले थे। उसके अंगों से नीलकमल की सुगन्ध फैलती रहती थी, उसके श्याम नेत्र कमलदल के समान सुन्दर और विशाल थे। सुन्दर श्रोणि वाली वह समस्त शुभलक्षणों से सम्पन्न तथा वैदूर्यमणि के समान कान्तिमती थी। उसका प्रत्येक अंग देखने ही योग्य था। नख उभरे हुये और लाल रंग के थे। भौंहें बड़ी सुन्दर थीं। दोनों उरोज स्थूल और मनोहर थे। वह ऐसी जान पड़ती थी मानो साक्षात् देवी दुर्गा ही मानवशरीर धारण करके प्रकट हुयी हो। उस समय पृथ्वी पर उसके जैसी सुन्दर स्त्री दूसरी नहीं थी। देवता, दानव और यक्ष भी उस देवोपम कन्या को पाने के लिये लालायित थे।[5] विराटपर्व में रानी सुदेष्णा ने सैरन्ध्री रूप में उपस्थित द्रौपदी के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन करते हुये कहा है-

नोच्चगुल्फा संहतोरुस्त्रिगम्भीरा षडुन्नता। रक्ता पंचसु रक्तेषु हंसगद्गदभाषिणी।।
सुकेशी सुस्तनी श्यामा पीनश्रोणिपयोधरा। तेन तेनैव सम्पन्ना काश्मीरीव तुरंगमी।।
अरालपक्ष्मनयना बिम्बोष्ठी तनुमध्यमा। कम्बुग्रीवा गूढशिरा पूर्णचन्द्रनिभानना।।[6]

अर्थात् ''तुम्हारे गुल्फ ऊँचे नहीं हैं, दोनों जाँघें परस्पर मिली हुयी हैं। तुम्हारी नाभि, वाणी और बुद्धि तीनों में गम्भीरता है। नाक, कान, आँख, स्तन, नख और घाटी- इन छहों अंगों में ऊँचाई है। हाथों और पैरों के तलवे, आँखों के कोने, ओष्ठ, जिह्वा और नख-इन पाँचों अंगों में स्वाभाविक लालिमा है। हंसों की भाँति मधुर एवं गद्गद् वाणी है। तुम्हारे केश और स्तन सुन्दर हैं। अंगकान्ति श्याम है। नितम्ब और उरोज पीन हैं। ऊपर कही हुयी सभी विशेषताओं से तुम सम्पन्न हो। काश्मीर देश की घोड़ी के समान तुममें अनेक शुभलक्षण हैं। तुम्हारे नेत्रों की पलकें काली और तिरछी हैं। ओष्ठ पके हुये बिम्बफल के समान लाल हैं, कमर पतली है, ग्रीवा कम्बु के समान है, तुम गूढ शिराओं वाली हो तथा मुख पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान मनोहर है।'' राजा विराट के सभासदों द्वारा भी उसे शुभलक्षणसम्पन्न बतलाते हुये कहा गया है ''इसके बत्तीस दाँत मसूढों में दृढ़तापूर्वक आबद्ध और उज्ज्वल हैं। इसकी हथेली में कमल, चक्र, ध्वजा, शंख, मन्दिर और मकर के चिह्न है; इसके शरीर में चार आवर्त हैं और वे सबके सब प्रदक्षिण भाव से सुशोभित हैं। इसके अंग समान हैं। यह समस्त शुभलक्षणों से सम्पन्न है।''[7] बृहत्संहिता में स्त्रीलक्षणवर्णन में कहा गया है कि ''जिन स्त्रियों के पदतल अथवा करतलों में भृंगार, आसन, अश्व, हाथी, रथ, बिल्ववृक्ष, यज्ञस्तम्भ, बाण, माला, कुण्डल, चामर, अंकुश, यव, पर्वत, ध्वज, तोरण, मत्स्य, स्वस्तिक, यज्ञवेदी, व्यजन, शंख, छत्र और कमल के आकार की रेखा हो, वे स्त्रियाँ राजा की रानी होती है।'' यथोक्तम्-

भृंगरासनवाजिकुंजररथश्रीवृषयूपेषुभिर्मालाकुण्डलचामरांकुशयवैः शैलैर्ध्वजैस्तोरणैः।
मत्स्यस्वस्तिकवेदिकाव्यजनकैः शंखातपत्राम्बुजैः पादे पाणितलेऽपि वा युवतयो गच्छति राज्ञीपदम्।।[8]

आज्ञाकारिणी पुत्री-

द्रुपदकुमारी कृष्णा अपने पिता की अत्यधिक प्रिय पुत्री होने के साथ ही उनकी आज्ञाकारिणी भी थी। कृष्णा को पुत्री रूप में पाकर दुरपद अत्यन्त सन्तुष्ट थे (धृष्टद्युम्नश्च कृष्णा च मम तुष्टिकराबुभौ)[9] अपनी तेजस्विनी पुत्री के विवाह के लिये राजा दुरपद ने

लक्ष्यवेध की शर्त रखी थी[10] तब द्रौपदी ने स्वयंवर में पहुँचे हुये अनेक राजाओं में से पिता द्वारा निर्धारित लक्ष्य-वेध की शर्त को पूरा करने वाले ब्राह्मणवेशधारी अर्जुन का पतिरूप में वरण किया था। यथोक्तम्-

विद्धं तु लक्ष्यं प्रसमीक्ष्य कृष्णा, पार्थं च शक्रप्रतिमं निरीक्ष्य।
आदाय शुक्लं वरमाल्यदाम, जगाम कुन्तीसुतमुत्स्मयन्ती।।[11]
समेत्य तस्योपरि सोत्ससर्ज, समागतानां पुरतो नृपाणाम्।
विन्यस्य मालां विनयेन तस्थौ, विहाय राज्ञः सहसा नृपात्मजा।।[12]

स्वयंवर के पश्चात् द्रौपदी जब अर्जुन और भीमसेन के साथ पतिगृह गयी तब द्रुपद अत्यधिक चिन्तित थे। वह यह जानना चाहते थे कि 'जिसने उनकी पुत्री को जीता है; वे पुरुष कौन थे?'[13] यह जानकर कि पाण्डुपुत्रों अर्जुन और भीमसेन ने ही उनकी पुत्री को जीता है, उनके नेत्रों में हर्ष के अश्रु छलक आये।[14] द्रुपद के द्वारा द्रौपदी का अर्जुन के साथ विधिपूर्वक पाणिग्रहण करने का निवेदन करने पर, युधिष्ठिर के द्वारा जब यह कहा गया कि 'द्रौपदी हम पाँचों पाण्डवों की पत्नी होगी' तो युधिष्ठिर की इस बात को अनुचित मानते हुये द्रुपद ने युधिष्ठिर की इस बात पर अपना विरोध प्रकट किया[15] तब व्यासजी के द्वारा इसे धर्मसम्मत बताने पर ही द्रुपद ने अपनी पुत्री द्रौपदी का पाँचों पाण्डवों के साथ एक-एक दिन पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न कराया।[16] महानुभावा द्रौपदी प्रतिवार विवाह के दूसरे ही दिन कन्याभाव को प्राप्त हो जाती थी (महानुभावा किल सा सुमध्यमा बभूव कन्यैव गते गतेऽहनि)[17] द्रौपदी ने भी इस विवाह पर अपना विरोध प्रकट नहीं किया। उपर्युक्त विवरण में एक पुत्री का अपने पिता के प्रति आदर तथा पिता का अपनी पुत्री के प्रति प्रेम प्रकट होता है।

धृष्टद्युम्न की प्रिय भगिनी -

'द्रौपदी' धृष्टद्युम्न की प्रिय भगिनी थी। वह सदा उसके कल्याण के विषय में तत्पर रहता था। द्रौपदी के स्वयंवर के समय भी वह रंगमण्डप में उसके साथ था और उसने द्रौपदी को वहाँ उपस्थित सभी राजाओं का परिचय दिया था।[18] जब ब्राह्मणवेष में आये हुये अर्जुन ने द्रौपदी को जीत लिया तो द्रौपदी उनका अनुगमन करते हुये उनके गृह गयी तब धृष्टद्युम्न भी उनके पीछे-पीछे गुप्त रूप से उनकी वास्तविकता को जानने के लिये गये।19 पाण्डवों को

वनवास मिलने पर, द्रौपदी भी उनके साथ वन में गयी तब धृष्टद्युम्न अन्य राजाओं और श्रीकृष्ण को आगे करके उनसे मिलने गये। वहाँ अपनी बहिन के द्वारा स्वयं के प्रति किये गये अपमान और दुःख को प्रकट करने पर धृष्टद्युम्न ने उसे आश्वासन देते हुये कहा-

अहं द्रोणं हनिष्यामि शिखण्डी तु पितामहम्। दुर्योधनं भीमसेनः कर्णं हन्ता धनंजयः।।
रामकृष्णौ व्यपाश्रित्य अजेयाः स्म रणे स्वसः। अपि वृत्रहणा युद्धे किं पुनर्धृतराष्ट्रजे।।[20]

अर्थात् 'बहिन! मैं द्रोण को मार डालूँगा, शिखण्डी भीष्म का वध करेंगे, भीमसेन दुर्योधन को मार गिरायेंगे और अर्जुन कर्ण को यमलोक भेज देंगे। भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम का आश्रय पाकर हम लोग युद्ध में शत्रुओं के लिये अजेय हैं। इन्द्र भी रण में हमें परास्त नहीं कर सकते। फिर धृतराष्ट्र के पुत्रों की तो बात ही क्या है?' अपनी बहिन के अपमान से वह अत्यन्त क्रुद्ध था। उसने महाभारत के युद्ध में भाग लिया। द्रौपदी को इस बात पर गर्व था कि वह वीर धृष्टद्युम्न की बहिन है।[21] युद्ध के समय धोखे से अश्वत्थामा द्वारा धृष्टद्युम्न का वध किये जाने पर द्रौपदी अपने भ्राता की मृत्यु पर अत्यधिक दुःखी थी।[22]

उपर्युक्त वृत्तान्तों से यह स्पष्ट है कि द्रौपदी और धृष्टद्युम्न के मध्य सम्बन्ध प्रगाढ़ थे। जहाँ ग्रन्थकार ने धृष्टद्युम्न को तो पूर्ण रूप से अपनी बहिन के हित के लिये समर्पित दिखाया है वहीं भगिनी रूप में द्रौपदी के मनोभावों को अभिव्यक्त करने के विषय में वे मौन ही रहे हैं। उनके मध्य परस्पर वार्तालाप का अभाव है।

पतिव्रता और पतिहितैषिणी पत्नी -

स्वयंवर के समय सुन्दर वस्त्र और सब प्रकार के आभूषणों से विभूषित हो हाथों में सोने से बनी हुयी कामदार जयमाला लिये द्रुपदराजकुमारी उस रंगभूमि में उतरीं (आप्लुतांगी सुवसना सर्वाभरणभूषिता, मालां च समुपादाय कांचनीं समलंकृताम्, अवतीर्णा ततो रंगं द्रौपदी भरतर्षभ।)[23] वहाँ लक्ष्यवेध करने वाले पाण्डुपुत्र अर्जुन का उसी प्रकार वरण किया, जैसे शची ने देवराज इन्द्र का, स्वाहा ने अग्निदेव का, लक्ष्मी ने विष्णु का, उषा ने सूर्य का, रति ने कामदेव का, उमा ने महेश्वर का, सीता ने राम का तथा दमयन्ती ने नृपश्रेष्ठ नल का वरण किया था।[24] तत्पश्चात् अर्जुन और भीमसेन ने कुम्हार के घर में प्रवेश करके द्रौपदी को भिक्षा कहकर अपनी माता कुन्ती को समर्पित किया। तब कुन्ती के यह कहने पर कि 'तुम सब लोग इसे मिलकर पाओ' यह वचन सुनकर भी द्रौपदी ने किसी प्रकार भी अपना विरोध

प्रकट नहीं किया। उस रात्रि वह पाण्डवों के पैरों की ओर पृथ्वी पर ही पाण्डवों के साथ सोयी, मानो उन कुशासनों पर वह उनके पैरों का तकिया बन गयी। वहाँ उस परिस्थिति में रहकर भी द्रौपदी के मन में किंचिन्मात्र भी दुःख नहीं हुआ और उसने उन कुरुश्रेष्ठ वीरों का भी तिरस्कार नहीं किया (पादान्तरे चाथ बभूव कृष्णा, अशेत भूमौ सह पाण्डुपुत्रैः पादोपधानीव कृता कुशेषु, न तत्र दुःखं मनसापि तस्या न चावमेने कुरुपुंगवांस्तान्)[25] भिक्षा से प्राप्त अन्न को ही उसने भी ग्रहण किया था।[26] सुकुमारी द्रौपदी जो महलों में सुखपूर्वक शयन करती थी; नाना प्रकार के भोज्य पदार्थों का सेवन करती थी, उसने सहज भाव से उस विपरीत परिस्थिति को स्वीकार किया। यहाँ उसका धैर्य और शालीनता स्पष्टतः दिखायी देते हैं। उसमें परिस्थिति के अनुरूप व्यवहार करने की क्षमता विद्यमान थी। द्रौपदी ने पाँचों पाण्डुपुत्रों से विवाह करने के पश्चात् अपने कत्र्तव्यों का सावधानी के साथ पालन किया। सभी पाण्डव द्रौपदी की सुशीलता, एकाग्रता और सद्व्यवहार से बहुत संतुष्ट थे। वह अपने सुव्रतों से पाण्डवों का आनन्द बढ़ाती थी।[27] खाण्डवप्रस्थ में निवास करते हुये पाण्डवों के यहाँ एक दिन देवर्षि नारद का आगमन हुआ तब युधिष्ठिर ने उनके आगमन का समाचार कृष्णा तक पहुँचाया। यह सुनकर द्रौपदी भी पवित्र एवं एकाग्रचित्त हो उसी स्थान पर गयी, जहाँ पाण्डवों के साथ नारद जी विराजमान थे पाण्डवों की आज्ञा का पालन करने वाली और धर्म का आचरण करने वाली कृष्णा देवर्षि के चरणों में प्रणाम करके अंगों को ढ़के हुये हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी (श्रुत्वैतद् द्रौपदी चापि शुचिर्भूत्वा समाहिता, जगाम तत्र यत्रास्ते नारदः पाण्डवैः सह, तस्याभिवाद्य चरणौ देवर्षेर्धर्मचारिणी, कृतांजलिः सुसंवीता स्थिताथ द्रुपदात्मजा)[28] तत्पश्चात् नारद जी ने उसे आशीर्वाद देकर वहाँ से चली जाने के लिये कहा तब कृष्णा वहाँ से चली गयी।[29] इससे ज्ञात होता है कि द्रौपदी सदैव पाण्डवों की आज्ञा के अधीन रहती थी तथा वह गुरुजनों का आदर भी करती थी। पाण्डव द्रौपदी के साथ और द्रौपदी उन पाँचों वीर पतियों के साथ ठीक उसी तरह अत्यन्त प्रसन्न रहती थी जैसे नागों के रहने से भोगवतीपुरी परम शोभायुक्त होती है, यथोक्तम्-

ते तया तैश्च सा वीरैः पतिभिः सह पंचभिः। बभूव परमप्रीता नागैभोगवती यथा।।[30]

विधाता ने पांचाली का कमनीय रूप स्वयं ही रचा था। वह संसार की अन्य स्त्रियों से बहुत अधिक आकर्षक और समस्त प्राणियों के मन को मोह लेने वाली थी।31 उसके गुणों

की प्रशंसा करते हुये युधिष्ठिर ने स्वयं कहा है ''पुरुष जैसी स्त्री प्राप्त करने की अभिलाषा रखता है, उसमें वैसा ही दयाभाव है, वैसी ही रूपसम्पत्ति है तथा वैसे ही शील-स्वभाव हैं। वह समस्त सद्गुणों से सम्पन्न तथा मन के अनुकूल और प्रिय वचन बोलने वाली है। मनुष्य धर्म, काम और अर्थ की सिद्धि के लिये जैसी पत्नी की इच्छा रखता है, द्रौपदी वैसी ही है।''[32] शकुनि के साथ द्यूतक्रीड़ा के समय युधिष्ठिर जब अपनी समस्त धन-सम्पत्ति, अपने चारों भ्राताओं तथा यहाँ तक की अपनी मनोनुकूला धर्मपत्नी द्रौपदी को भी दाँव पर लगाकर हार गये और इसी कारण वे सभी दास्यभाव को प्राप्त हुये और द्रौपदी को भी अपमानित होना पड़ा। तब धर्मपरायणा और पतिव्रता द्रौपदी ने न केवल अपने सतीत्व की रक्षा की अपितु पाण्डुपुत्रों को भी दास्यभाव से मुक्त कराया। सभा में धृतराष्ट्र ने द्रौपदी को सान्त्वना देते हुये उससे वर माँगने को कहा तब उसने यही वर माँगा कि सम्पूर्ण धर्म का आचरण करने वाले युधिष्ठिर दासभाव से मुक्त हो जायें तथा भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव अपने रथ और धनुष-बाण सहित दासभाव से रहित एवं स्वतन्त्र हो जायें, यथोक्तम्-

सर्वधर्मानुगः श्रीमानदासोऽस्तु युधिष्ठिरः। सरथौ सधनुष्कौ च भीमसेनधनंजयौ।
यमौ च वरये राजन्नदासान् स्ववशानहम्।।[33]

द्रौपदी का यह कार्य देखकर कर्ण ने भी उसकी प्रशंसा करते हुये कहा 'मैंने मनुष्यों में जिन सुन्दरी स्त्रियों के नाम सुने हैं, उनमें से किसी ने भी ऐसा अद्भुत कार्य किया हो, यह मेरे सुनने में नहीं आया। कुन्ती पुत्र तथा धृतराष्ट्र पुत्र सभी एक-दूसरे के प्रति अत्यन्त क्रोध से भरे हुये थे, ऐसे समय में यह द्रौपदी इन पाण्डवों को परमशान्ति देने वाली बन गयी। नौका और आधार से रहित जल में अर्थात् संकट के अथाह सागर के जल में डूबने वाले पाण्डवों के लिये यह पांचाली पार लगाने वाली नौका बन गयी।'[34] द्वितीय बार धृतराष्ट्र के कहने पर पुनः द्यूतक्रीडा में भाग लेने वाले युधिष्ठिर जब हार गये तब शर्त के अनुसार पाण्डु पुत्रों को बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास दिया गया।[35] शर्त को पूर्ण करने के लिये सभी पाण्डुपुत्रों ने मृगचर्म धारण कर वन की ओर प्रस्थान किया। उस समय द्रौपदी भी कुन्ती की आज्ञा लेकर अपने पतियों के साथ ही वन में गयी। उस समय वह रजस्वला अवस्था में थी और उसके शरीर पर एक ही वस्त्र था, उसके केश बिखरे हुये थे, उसी दशा में वह पाण्डुपुत्रों के साथ गयी।[36] वनगमन के समय भिक्षान्नभोजी ब्राह्मणों ने भी पाण्डवों के साथ जाने की इच्छा प्रकट की तब उनके भोजन का प्रबन्ध करने के लिये धौम्यमुनि के

कथनानुसार युधिष्ठिर ने भगवान् सूर्य का स्तवन किया जिससे प्रसन्न होकर सूर्यदेव ने ताँबे की बटलोई देते हुये कहा कि ''मैं बारह वर्षों तक तुम्हें अन्न प्रदान करूँगा। तुम्हारी पाकशाला में इस पात्र के द्वारा फल-मूल-भोज्यपदार्थ तथा शाक आदि जो चार प्रकार की भोजन-सामग्री तैयार होगी वह तब तक अक्षय बनी रहेगी, जब तक द्रौपदी स्वयं भोजन न करके परोसती रहेगी।''[37] सूर्यदेव का यह कथन द्रौपदी के भार्या होने के गौरव और महत्व में अभिवृद्धि करता है वहीं स्कन्दपुराण में उल्लेख किया गया है कि 'अपने पतियों के दुःख से दुःखी होकर द्रौपदी ने भगवान् सूर्य की आराधना की, जिससे प्रसन्न होकर सूर्यदेव ने द्रौपदी को करछुल और ढ़क्कन के साथ एक अक्षय स्थालीपात्र देते हुये कहा ''जब तक तुम भोजन न कर लोगी तब तक जितने अन्नार्थी जन आयेंगे, वे सब इस स्थाली से प्राप्त भोजन से तृप्त हो जायेंगे। तुम्हारे भोजन कर लेने पर यह रिक्त हो जायेगी। यह रसयुक्त व्यंजनों की निधि है।' यथोक्तम्-

स्थाल्यैतया महाभागेयावन्तोऽन्नार्थिनोजनाः। तावन्तस्तृप्तिमाप्स्यन्तियावच्चत्वंनभोक्ष्यसे।।
भुक्तायान्त्वयिरिक्तैषापूर्णभक्ताभविष्यति। रसवद्वयंजननिधिरिच्छाभक्ष्यप्रदायिनी।।[38]

सूर्यदेव ने उसे यह भी वर दिया कि ''जो मनुष्य भगवान् विश्वनाथ के दक्षिण भाग में तुम्हारे सम्मुख स्थित होकर मेरी आराधना करेगा, उसकी भूख की पीड़ा नष्ट हो जायेगी।'[39]

भले ही युधिष्ठिर ने तपस्या द्वारा ब्राह्मणों को प्रतिदिन अन्नदान करने के निमित्त सूर्यदेव से स्थालीपात्र प्राप्त कर लिया किन्तु इस महान् कार्य के निर्वहन का गुरुतर उत्तरदायित्व महाभागा द्रौपदी पर ही था और उसने यह कार्य पूर्णनिष्ठा और धैर्य के साथ निरन्तर बारह वर्षों तक किया। ब्राह्मणों और अपने पतियों को भोजन कराकर द्रौपदी शेष अन्न स्वयं खाती थी। द्रौपदी के भोजन कर लेने पर उस पात्र का अन्न समाप्त हो जाता था। काम्यक वन में अचानक किर्मीर राक्षस द्वारा उन पर आक्रमण किये जाने पर जब भीमसेन उस राक्षस के साथ युद्ध कर रहे थे तब द्रौपदी भी प्रेमपूर्ण दृष्टि से भीम की ओर देख रही थी यह देखकर भीम और अधिक उत्साहित हो रहे थे।[40]

जब अर्जुन दिव्यास्त्रों की प्राप्ति के उद्देश्य से इन्द्रकील पर्वत पर जाने के लिये प्रस्थान करते हैं, उस समय अर्जुन के पुनः गमन से दुःखी होकर वह कहती है कि 'निश्चय ही आपके

चले जाने के पश्चात् आपके सभी भ्राता जागते समय आप ही के पराक्रम की चर्चा बार-बार करते हुये अपना मन बहलायेंगे। दीर्घकाल के लिये आपके प्रवासी हो जाने पर हमारा मन न तो भोगों में लगेगा और न धन में ही। इस जीवन में भी कोई रस नहीं रह जायेगा। हम सबके सुख-दुःख, जीवन-मरण तथा राज्य-ऐश्वर्य आप पर ही निर्भर हैं।'41 द्रौपदी के ये वचन अर्जुन के प्रति उसके प्रेम को प्रकट करते हैं और साथ ही इस बात के भी परिचायक हैं कि वह अपने पतियों के मनोभावों को भी भलीप्रकार से समझती है। फिर द्रौपदी ने अर्जुन को जाने की आज्ञा देकर उसके लिये स्वस्तिवाचन करते हुये कहा 'हे निष्पाप महाबली! आप बलवानों से विरोध न करें। विघ्न-बाधाओं से रहित हो, विजयप्राप्ति के लिये शीघ्र यात्रा कीजिये। धाता और विधाता को नमस्कार है; आप कुशलतापूर्वक और नीरोग हो प्रस्थान करें। ह्री, श्री, कीर्ति, द्युति, पुष्टि, उमा, लक्ष्मी और सरस्वती- ये सभी देवियाँ मार्ग में जाते समय आपकी रक्षा करें। आप ज्येष्ठ भ्राता का आदर करने वाले हैं, उनके वचनों का पालन करने वाले हैं। मैं आपकी शान्ति के लिये वसु, रूद्र, आदित्य, मरुद्गण, विश्वेदेव तथा साध्यदेवताओं की शरण लेती हूँ। भौम, अन्तरिक्ष तथा दिव्य भूतों से और दूसरे भी जो मार्ग में विघ्न उत्पन्न करने वाले प्राणी हैं, उन सबसे आपका कल्याण हो। (बलवद्भिर्विरुद्धं न कार्यमेतत् त्वयानघ, प्रयाह्यविघ्नेनैवाशु विजयाय महाबल, नमो धात्रे विधात्रे च स्वस्ति गच्छ ह्यनामयम्। ह्रीः श्रीः कीर्तिद्र्युतिः पुष्टिरुमा लक्ष्मीः सरस्वती, इमा वै तव पान्थस्य पालयन्तु धनंजय। ज्येष्ठापचायी ज्येष्ठस्य भ्रातुर्वचनकारकः, प्रपद्येऽहं वसून् रूद्रानादित्यान् समरुद्गणान्। विश्वेदेवांस्तथा साध्यांछान्त्यर्थं भरतर्षभ, स्वस्ति तेऽस्त्वान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यश्च भारत। दिव्येभ्यश्चैव भूतेभ्यो ये चान्ये परिपन्थिनः।)[42] अर्जुन के काम्यकवन से चले जाने के पश्चात् द्रौपदी निरन्तर अपने पति अर्जुन का स्मरण करती रहती थी। अर्जुन के बिना उसे काम्यकवन भी अच्छा नहीं लगता था। वन में निवास करते हुये शारीरिक और मानसिक कष्ट सहते हुये भी द्रौपदी कभी भी अपने कत्र्तव्यपथ से विमुख नहीं हुयी। जैसे गायत्री चारों वेदों का और सूर्य की प्रभा मेरुपर्वत का त्याग नहीं करती, उसी प्रकार याज्ञसेनी द्रौपदी ने भी धर्मतः अपने पति कुन्तीकुमारों का परित्याग नहीं किया।[43] वन में रहते हुये द्रौपदी ने गृहस्थधर्म के पालनस्वरूप देवपूजन, पितरों का तर्पण करते हुये, ब्राह्मणों को भोजन कराते हुये इत्यादि कार्यों का सम्पादन करते हुये अपना कत्र्तव्य निभाया। उत्तराखण्ड की यात्रा के समय जब युधिष्ठिर को द्रौपदी के विषय में यह चिन्ता हुयी कि यह द्रौपदी इस दुर्गम प्रदेश में कैसे

चल सकेगी? तो द्रौपदी ने हँसकर कहा कि ''मैं आपके साथ ही चलूँगी। आप मेरे लिये चिन्ता न करें।'' (गमिष्यामि न संतापः कार्यो मां प्रति भारत)[44] अर्जुन को देखने की इच्छा से द्रौपदी के मन में अत्यधिक उत्साह था।[45] यात्रा के समय युधिष्ठिर ने भीमसेन से द्रौपदी की रक्षा के विषय में सचेत रहने के लिये कहा था। उन्होंने यह भी कहा कि किसी निर्जन प्रदेश में जबकि अर्जुन हमारे समीप नहीं हैं, भय का अवसर उपस्थित होने पर यह तुम्हारा ही आश्रय लेती है।[46] गन्धमादन पर्वत की यात्रा कष्टप्रद होने से द्रौपदी को मूर्च्छा आ गयी थी तब पाण्डुपुत्रों ने उसकी सेवा की। वनवास में द्रौपदी की विचित्र क्रीड़ायें पाण्डवों को सुख प्रदान करती थीं। द्रौपदी की प्रेरणा से ही भीमसेन ने गन्धमादन पर्वत को राक्षसों से रहित कर दिया था।[47] युधिष्ठिर ने वन में निवास करते हुये ही अपनी धर्मपत्नी द्रौपदी के साथ साद्यस्क राजर्षियज्ञ का अनुष्ठान किया[48] तथा अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर भी युधिष्ठिर ने मन्त्र, द्रव्य और श्रद्धा- इन तीन कलाओं से युक्त मनस्विनी सहधर्मिणी द्रौपदी को शास्त्रोक्त विधि के अनुसार अपने समीप बैठाया (उपसंवेशयन् राजंस्ततस्तां द्रुपदात्मजाम्, कलाभिस्तिसृभी राजन् यथाविधि मनस्विनीम्।)[49] वैदिककाल से ही पत्नी को यज्ञादि धार्मिक कृत्यों के सम्पादन में पति की सहयोगिनी माना गया है। तैत्तिरीय संहिता में ''पत्नी को यज्ञ का मिथुन रूप और आत्मा का अर्द्धभाग कहा गया है।''[50] तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी कहा गया है कि ''जो अपत्नीक है, वह यज्ञ का अधिकारी नहीं है।''[51] मुण्डकोपनिषद् में अष्टादश यज्ञरूप अर्थात् यज्ञ के सम्पादक के रूप में यजमान-पत्नी का भी उल्लेख किया गया है।[52] पाण्डवप्रिया और पतिपरायणा द्रौपदी सदा पाण्डवों की सहधर्मिणी बनी रही और सर्वदा उनके हितसाधन में संलग्न रही। एक दिन दुर्योधन के कहने पर दुर्वासा ऋषि अपने दस हजार शिष्यों के साथ पाण्डवों के आश्रम पर असमय में (अर्थात् सभी को भोजन कराकर द्रौपदी के भी भोजन करने से निवृत्त हो विश्राम के समय) आतिथ्य के लिये आये तब पतिव्रता द्रौपदी को अन्न के लिये बड़ी चिन्ता हुयी। जब बहुत सोचने पर भी उसे अन्न मिलने का कोई उपाय नहीं सूझा तब उसने मन ही मन श्रीकृष्ण का स्मरण किया। उसके स्मरण करने पर वे शीघ्र द्रौपदी के पास आ गये और तब श्रीकृष्ण के कृपा-प्रसाद से देवनदी में स्नान के लिये गये हुये शिष्यों सहित दुर्वासा ऋषि को पूर्ण तृप्ति का अनुभव हुआ और वे बिना भोजन किये ही तृप्त होकर आश्रम में आये बिना ही वहीं से लौट गये।[53] इस प्रकार द्रौपदी ने दुर्वासा ऋषि के कोप से अपने पतियों की रक्षा की। यहाँ द्रौपदी का प्रत्युत्पन्नमतित्व का गुण भी

प्रकट होता है। काम्यकवन में निवास करते हुये कल्याणी द्रौपदी को अकेली देखकर, जयद्रथ द्वारा प्रेषित कोटिकास्य जब उससे उसका परिचय पूछता है तो वह परपुरुष को अपने समक्ष देखकर अपनी रेशमी ओढ़नी को सँभालती हुयी संकोचपूर्वक उससे कहती है कि ''मुझ जैसी पतिपरायणा स्त्री को परपुरुष से वार्तालाप नहीं करना चाहिये लेकिन यहाँ कोई दूसरा ऐसा पुरुष अथवा स्त्री नहीं हैं जो तुम्हारी बात का उत्तर दे सके इसीलिये मैं तुमसे बात कर रही हूँ।''[54] उसका यह व्यवहार पातिव्रत्यधर्म के अनुरूप ही है। यह उसके लज्जाशील स्वभाव को भी दर्शाता है। जब जयद्रथ ने द्रौपदी को निर्धन पाण्डुपुत्रों का त्यागकर अपनी महारानी बनकर सिन्धु राज्य के सुख-वैभव का आनन्दपूर्वक उपभोग करने का प्रलोभन दिया तब साध्वी द्रौपदी ने उसके दुस्साहसपूर्ण प्रस्ताव को क्रोधपूर्वक अस्वीकार कर दिया।[55] जब जयद्रथ ने कहा कि 'इस संसार में स्त्रियाँ तथा रत्न सर्वसाधारण की वस्तुएँ है'[56] तब द्रौपदी ने उसकी कठोर शब्दों में भत्र्सना की और उनसे कहा कि 'यदि मैंने कभी मन से भी अपने परम पूजनीय पतियों का किसी तरह उल्लंघन नहीं किया हो तो आज इस सत्य के प्रभाव से मैं देखूँगी कि पाण्डव तुझे जीतकर अपने वश में करके खींच रहे हैं' यथोक्तम्-

यथा वाहं नातिचरे कथंचित्, पतीन् महार्हान् मनसापि जातु।
तेनाद्य सत्येन वशीकृतं त्वां, द्रष्टास्मि पार्थैः परिकृष्यमाणम्।[57]

जब जयद्रथ ने द्रौपदी की ओढ़नी का छोर पकड़ लिया तब द्रौपदी ने उसे जोर से धक्का दिया और वह धरती पर गिर पड़ा।[58] इतने पर भी उसने द्रौपदी को बलपूर्वक रथ पर बैठा लिया तब पाण्डवों ने द्रौपदी की रक्षा की तथा जयद्रथ को अपने इस कुकृत्य के कारण पाण्डवों का दास होना पड़ा।[59] एक वर्ष के अज्ञातवास के समय पतिव्रता द्रौपदी राजा विराट के राजमहल में उनकी धर्मपत्नी सुदेष्णा के समीप सैरन्ध्री के रूप में परिचारिका बनकर रही।[60] वहाँ भी रानी सुदेष्णा के भ्राता कीचक ने द्रौपदी के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर, कामार्त हो, उसके समक्ष उसके सौन्दर्य की प्रशंसा करके अपने साथ रमण करने तथा उत्तमोत्तम भोगों का उपभोग करने के लिये कहा। उसके ये वचन सुनकर द्रौपदी ने उसकी निन्दा की और स्वयं का सर्वनाश न कराने के लिये कहा।[61] दूसरी बार अपने भाई का प्रिय करने की इच्छा से रानी सुदेष्णा ने मदिरा लाने के व्याज से द्रौपदी को कीचक के घर जाने के लिये कहा तब द्रौपदी ने विरोध करते हुये कहा कि ''मैं आपके महल में अपने पतियों की दृष्टि में व्यभिचारिणी और स्वेच्छाचारिणी होकर नहीं रहूँगी (न चाहमनवद्यांगि तव वेश्मनि भामिनि,

कामवृत्ता भविष्यामि पतीनां व्यभिचारिणी)62 किन्तु सुदेष्णा के पुनः कहने पर वह वहाँ जाने के लिये तैयार तो हो जाती है किन्तु शंकित हो रोती हुयी अपने सतीत्व की रक्षा के लिये मन ही मन भगवान् सूर्य से प्रार्थना करती है तब सूर्यदेव ने उसकी रक्षा के लिये अदृश्यरूप से एक राक्षस को नियुक्त कर दिया।[63] जैसे ही द्रौपदी कीचक के घर पहुँची। कीचक ने उससे कामयुक्त बातें कहीं और उसका हाथ पकड़ लिया तब द्रौपदी ने उसे झटका दिया और पीछे की ओर हटने लगी किन्तु कीचक ने उसके दुपट्टे का छोर पकड़ लिया, उस समय द्रौपदी ने दोनों हाथों से कीचक को बड़े जोर का धक्का दिया जिससे वह पृथ्वी पर गिर गया और द्रौपदी ने भागकर राजसभा की शरण ली, जहाँ युधिष्ठिर विद्यमान थे।[64] कीचक ने भी भागती हुयी द्रौपदी का पीछा कर उसके केशपाश पकड़ लिये और उसे पृथ्वी पर गिराकर पादप्रहार किया तब सूर्यदेव द्वारा नियुक्त राक्षस ने कीचक को पकड़कर आँधी के समान वेग से दूर फेंक दिया जिससे वह निश्चेष्ट होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।[65] फिर द्रौपदी ने राजा विराट से कीचक से अपनी रक्षा करने के लिये कहा तब विलाप करती हुयी द्रौपदी से युधिष्ठिर ने कहा कि ''सैरन्ध्री जाओ, गन्धर्व तुम्हारा प्रिय करेंगे। जिसने तुम्हारा अपकार किया है, उसे मारकर तुम्हारा दुःख दूर कर देंगे।'' यह सुनकर द्रौपदी वहाँ से पुनः रानी सुदेष्णा के महल चली गयी। पति के वचन पालन को ही अपना धर्म समझकर द्रौपदी ने उस समय कीचककृत अपमान को सहन कर लिया तदनन्तर दुःखी होकर भीमसेन से उसने अपना दुःख व्यक्त करके कीचक के वध की इच्छा प्रकट की। जिस समय भीमसेन ने कीचक के वध की प्रतिज्ञा की तभी द्रौपदी ने भीमसेन को सावचेत करते हुये कहा कि ''तुम वही करो जिससे मेरे लिये तुम्हें सत्य का परित्याग न करना पड़े। तुम अपने को गुप्त रखकर ही उस कीचक का संहार करो''। (यथा न संत्यजेथास्त्व सत्यं वै मत्कृते विभो। निगूढस्त्वं तथा पार्थ कीचकं तं निषूदय।।)[67]

द्रौपदी का यह कथन पातिव्रत्यधर्म की अनुपालना के भाव को ही व्यक्त करता है क्योंकि विराटनगर में प्रवेश करने से पूर्व युधिष्ठिर ने द्रौपदी से कहा था ''वहाँ ऐसा व्यवहार करना। जिससे वे पापी शत्रु फिर सुखी होने का अवसर न पा सकें; वे तुम्हें किसी तरह पहचान न सकें।''[68]

हस्तिनापुर की राजसभा से लेकर बन में, तत्पश्चात् विराट के राजमहल में, द्रौपदी कभी दुःशासन और दुर्योधन जैसे कुत्सित मनोवृत्ति वाले पुरुषों से तो कभी जयद्रथ और कीचक जैसे कामुक पुरुषों से अपने सतीत्व की रक्षा के लिये संघर्षरत दिखायी देती है। इस संघर्षकाल में और वनवास में प्राप्त हुये शारीरिक कष्टों तथा मानसिक पीड़ा का अनुभव करते हुये भी द्रौपदी ने अपने असीम धैर्य का परिचय देते हुये पातिव्रत्यधर्म की रक्षा के निर्वहन में अपने चरित्र की जीवटता को दर्शाया है।

द्रौपदी अपने स्वामी के मन के अधीन रहने वाली और उनकी अनुगामिनी भार्या थी। जब विराटपुत्र उत्तर के द्वारा युद्ध में कौरवों को पराजित करने पर प्रसन्न राजा विराट सभा में उपस्थित युधिष्ठिर के मुख से सारथि बृहन्नला की प्रशंसा सुनकर क्रोधित हो युधिष्ठिर के मुख पर पासा फेंक कर मारते हैं तब अपनी नासिका से बहती हुयी रक्त की धारा को पृथ्वी पर गिरने से पहले ही युधिष्ठिर ने अपने दोनों हाथों में रोक लिया और समीपस्थ द्रौपदी की ओर देखा तब सती द्रौपदी ने उनका अभिप्राय समझ लिया और शीघ्र जल से भरा हुआ सुवर्णमय पात्र लाकर युधिष्ठिर की नाक से जो रक्त बहा, वह सब उसमें ले लिया।[69] क्योंकि द्रौपदी को अर्जुन की इस प्रतिज्ञा का ज्ञान था कि 'जो युद्धभूमि के सिवा अन्य किसी स्थान में युधिष्ठिर के शरीर में घाव कर दे या रक्त बहा दे, वह किसी प्रकार जीवित नहीं रह सकेगा।'[70] महाभारत युद्ध के पश्चात् जब युधिष्ठिर का हृदय अपने ही वंश के विनाश से दुःखी होकर राज्य-शासन से विमुख हो जाता है तब द्रौपदी अपने पत्नी-धर्म का पालन करते हुये उन्हें वानप्रस्थ आश्रम का आश्रय ग्रहण न कर राज्य के शासन-संचालन हेतु प्रेरित करती है।[71] अश्वमेध नामक महायज्ञ के पूर्ण होने पर युधिष्ठिर ने जब ऋत्विजों को पृथ्वी-दान करके कहा कि अब मैं वन में चला जाऊँगा तब द्रौपदी ने भी उनके इस कथन का अनुमोदन किया।[72]

द्रौपदी ने सर्वदा अपने पतियों के सुख में ही सुख का और उनके दुःख में दुःख का अनुभव किया। वह प्रत्येक निर्णय में उनके साथ रही। चिन्तामणि विनायक वैद्य जी ने अपने ग्रन्थ में द्रौपदी के विषय में उचित कहा है कि "वह सदा पाण्डवों के सुख-दुःख की समविभागिनी दिखलायी गयी है।"[73] द्रौपदी के द्वारा पातिव्रत्य धर्म के पूर्ण निर्वहन के कारण ही पुरवासी स्त्रियों ने भी उसकी प्रशंसा करते हुये कहा। (धन्या त्वमसि पांचालि या त्वं

पुरुषसत्तमान्। उपतिष्ठसि कल्याणि महर्षीनिव गौतमी।। तव कर्माण्यमोघानि व्रतचर्या च भाविन)।[74]

अर्थात् पांचालराजकुमारी! तुम धन्य हो, जो इन पाँच महान् पुरुषों की सेवा में उसी प्रकार उपस्थित रहती हो, जैसे गौतमवंश में उत्पन्न हुयी जटिला अनेक महर्षियों की सेवा करती हैं। भाविनि! तुम्हारे सभी पुण्यकर्म अमोघ हैं और समस्त व्रतचर्या सफल है।' प्रजाजनों की ओर से साम्ब नामक ब्राह्मण ने भी कहा था 'कुन्ती, द्रौपदी, उलूपी और सुभद्रा कभी भी प्रजाजनों के प्रतिकूल व्यवहार नहीं करेंगी' (न कुन्ती न च पांचाली चोलूपी न सात्वती, अस्मिन् जने करिष्यन्ति प्रतिकूलानि कर्हिचित्)[75] महाकवि कालिदास ने अपने ग्रन्थ में उचित ही लिखा है 'पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते' अर्थात् गुण से ही मनुष्य सर्वत्र आदर को प्राप्त करता है।[76] 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य में भी कहा गया है 'गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया' अर्थात् गुणों के बिना सत्कार नहीं होता।[77] वृष्णिवंशियों के महान् संहार का समाचार सुनकर जब युधिष्ठिर ने महाप्रस्थान करने का निश्चय किया तब उन्होंने समस्त आभूषण उतारकर वल्कल वस्त्र धारण कर लिये। उस समय यशस्विनी और पतिव्रता द्रौपदी वल्कल धारण करके सभी पाण्डवों सहित उपवास का संकल्प लेकर पाण्डवों में सबसे पीछे चल रही थी।[78] वह पति-पथ की अनुगामिनी थी।[79] महाप्रस्थान में मृत्यु के पश्चात् द्रौपदी सूर्य के समान अतितेजस्वी स्वरूप से स्वर्गलोक को अभिभूत करके वहाँ विराजमान थी (वपुषा स्वर्गमाक्रम्य तिष्ठन्तीमर्कवर्चसम्)[80] महाप्रस्थान में सर्वप्रथम द्रौपदी की मृत्यु हुयी तत्पश्चात् पाण्डुपुत्रों सहदेव, नकुल, अर्जुन और भीमसेन की। इन सभी ने स्वर्गलोक को प्राप्त किया और युधिष्ठिर सदेह वहाँ गये।

इस प्रकार द्रौपदी पाण्डवों के साथ विवाहोपरान्त वनवास, अज्ञातवास की अवधि के समय प्राप्त हुयी प्रत्येक दुःसह एवं विषम से विषम परिस्थितियों में स्थिरमना हो धैर्य की प्रतिमा बनकर उनकी सहधर्मिणी के रूप में अपने कत्र्तव्य का दृढ़ता के साथ पालन करती हुयी दृष्टिगत होती है। महाभारत में प्रमुख रूप से सभापर्व, वनपर्व, विराटपर्व और महाप्रस्थानिकपर्व में द्रौपदी का पतिव्रता और पतिहितैषिणी रूप सहज रूप से प्रकट होता है।

स्त्रीस्वभावगतजलन-

जब अर्जुन, सुभद्रा से विवाह करने के पश्चात् द्वारका से खाण्डवप्रस्थ लौटकर आते हैं। उस समय द्रौपदी ने प्रणयकोपवश कुरुनन्दन अर्जुन से कहा ''कौन्तेय! यहाँ क्यों आये हो, वहीं जाओ, जहाँ वह सात्वतवंश की कन्या है। सत्य है, बोझ को कितना ही कसकर बाँधा

गया हो, जब उसे दूसरी बार बाँधते हैं, तब पहला बन्धन ढ़ीला पड़ जाता है। (तत्रैव गच्छ कौन्तेय यत्र सा सात्वतात्मजा। सुबद्धस्यापि भारस्य पूर्वबन्धः श्लथायते)।[81]

यहाँ द्रौपदी में स्त्रियों में स्वाभाविक रूप से विद्यमान जलन का भाव दिखायी देता है। सम्पूर्ण महाभारत में मात्र इसी प्रसंग में द्रौपदी का यह जलनभाव परिलक्षित हुआ है।

सपत्नीरूप -

दुरपदकुमारी द्रौपदी की सपत्नियों के रूप में सुभद्रा, उलूपी और चित्रांगदा का ही नामोल्लेख महाभारत में प्राप्त होता है। इन सभी के मध्य परस्पर वार्तालाप का ग्रन्थ में अभाव है। मात्र द्रौपदी और सुभद्रा के मध्य अतिसंक्षिप्त रूप से आदिपर्व में ही वार्ता देखने को मिलती है। विवाह के पश्चात् सुभद्रा ने सपत्नी द्रौपदी से प्रथम मिलन पर उसके चरणस्पर्श कर के कहा ''मैं आपकी दासी हूँ'' उस समय द्रौपदी तुरन्त उठकर खड़ी हो गयी और सुभद्रा को हृदय से लगाकर बड़ी प्रसन्नता से कहा 'तुम्हारे पति शत्रुरहित हों' तब सुभद्रा ने भी आनन्दमग्न होकर कहा 'बहिन ऐसा ही हो।'[82] इस प्रकार उलूपी तथा चित्रांगदा से प्रथम मिलन पर भी वह उन्हें आशीर्वाद देकर नाना प्रकार के उपहार तथा रत्न भेंट करती है।[83] सुभद्रापुत्र अभिमन्यु की मृत्यु पर वह बहुत दुःखी होती है तथा उत्तरा के पुत्र परीक्षित के मृत पैदा होने पर वह बहुत विलाप करती है और श्रीकृष्ण से उसकी रक्षा के लिये प्रार्थना करती है।[84] परीक्षित की मृत्यु का समाचार सुनकर उसे जीवित करने के लिये श्रीकृष्ण जब महल में आते हैं तब यह समाचार वह उत्तरा को सुनाने के लिये उसके कक्ष में जाती है तथा उसे धीरज बँधाती है। परीक्षित के जीवित होने पर वह अत्यन्त प्रसन्न होती है।[85]

उपर्युक्त प्रसंगों से भले ही द्रौपदी के सपत्नीरूप पर अत्यल्प प्रकाश ही पड़ता है फिर भी उनके मध्य प्रेमपूर्ण सम्बन्ध ही यहाँ प्रतीत होते हैं।

आदर्श पुत्रवधू -

द्रौपदी सदैव अपनी श्वश्रू कुन्ती की आज्ञा की अनुपालना में तत्पर रहती थी। श्वश्रू की आज्ञा का पालन करने में ही अपना कल्याण मानते हुये वह प्रसन्नतापूर्वक उनके कथनानुसार ही कार्य करती थी। स्वयंवर में अर्जुन द्वारा द्रौपदी को जीतने के पश्चात् जब वह प्रथम बार गृहप्रवेश करती है तब उसने कुन्ती की आज्ञानुसार देवताओं को बलि अर्पण करके

ब्राह्मणों को भिक्षा दी तथा अपने पतियों को भोजन कराया।[86] राजा द्रुपद के गृह में द्रौपदी का पाणिग्रहण पाण्डवों से होने के पश्चात् दूसरे दिन कृष्णा रेशमी साड़ी पहने मांगलिक कार्य सम्पन्न करने के पश्चात् श्वश्रू के चरणों में प्रणाम करके उनके सामने हाथ जोड़कर विनीतभाव से खड़ी हो गयी (कृष्णा च क्षौमसंवीता कृतकौतुकमंगला कृताभिवादना श्वश्रवास्तस्थौ प्रह्वा कृतांजलिः)[87] वह अपनी श्वश्रू कुन्ती के साथ ही गान्धारी की भी समान भाव से विधिवत् किंकर की भाँति परिचर्या करती थी।[88] कुन्ती ने जो धर्म उसे बताये थे, उन सबका सभी प्रकार से उद्यत होकर पालन करती थी। वह अपनी श्वश्रू की भोजन, वस्त्र, जल आदि से सदा सेवा करती थी और इन सब में वह कभी भी श्वश्रू की अपेक्षा अपने लिये कोई विशेषता नहीं रखती थी।[89] उसने कभी स्वयं के लिये उबटन पीसने का कार्य नहीं किया किन्तु वह अपनी श्वश्रू के लिये उबटन पीसा करती थी (या न जातु स्वयं पिंषे गात्रोद्वर्तनमात्मनः, अन्यत्र कुन्त्या भद्रं ते सा पिनष्म्यद्य चन्दनम्)[90] वह कभी उनकी निन्दा नहीं करती थी।[91] द्रौपदी ने उन्हें सर्वज्ञा, सर्वदर्शिनी, सत्यवादिनी और पृथ्वी के समान क्षमाशील कहा है।[92] पुत्रवधू के रूप में द्रौपदी ने सर्वदा गुरुजनों का आदर किया है फिर परिस्थिति चाहे कैसी भी रही हो। जब दुर्योधन राजसभा में द्रौपदी को बुलाने के लिये प्रतिकामी को उसके पास भेजता है तब द्रौपदी रजस्वलावस्था में होने के कारण गुरुजनों के समक्ष राजसभा में उपस्थित होने में लज्जा का अनुभव करके वहाँ आने से उसे मना कर देती है।[93] जब राजसभा में वह बलपूर्वक लायी जाती है तब दुःखी होने पर भी वह समस्त गुरुजनों से कहती है कि ''कौरवों की सभा में मैं समस्त कुरूवंशी महात्माओं को प्रणाम करती हूँ। मैंने घबराहट के कारण पहले प्रणाम नहीं किया अतः यह मेरा अपराध न माना जाये।''[94] वनगमन के समय कुन्ती ने जो द्रौपदी को उपदेश दिया उसने 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की[95] और उस आज्ञा का पालन भी किया। कुन्ती को अपनी वधू द्रौपदी पर पूर्णविश्वास था इसलिये वह अपने पुत्रों का साथ देने के लिये द्रौपदी का आभार प्रकट करती है।[96] वन में निवास करते हुये द्रौपदी को इस बात का बहुत दुःख था कि उसे अपनी श्वश्रू कुन्ती से अलग होना पड़ा।[97] कुन्ती ने वानप्रस्थी होने के समय भी द्रौपदी का दुःखी होकर विलाप करना, उनके जाने के बाद भी निरन्तर अप्रसन्न और हर्षशून्य सी बैठे रहना तथा उनके दर्शनों की इच्छा रखकर पाण्डवों से कहना कि 'उनके दर्शन करके वह परमकल्याण की भागी बनेगी'[98] उसकी यह अवस्था और कथन श्वश्रू के प्रति उसके प्रेम और

आदरभाव को दर्शाता है। उसके द्वारा किये गये सेवाकार्यों से और उसके विचारों से यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि उसने वधू रूप में अपने कत्र्तव्यों का पूर्णनिष्ठा और तत्परता के साथ निर्वहन किया है।

पुत्रवत्सला -

ग्रन्थकार ने पत्नीधर्म के निर्वाह में संलग्न रहने वाली द्रौपदी को अपने वात्सल्य रूप के प्रकटन का अवसर कम ही प्रदान किया है। पुत्रों के जन्म के कुछ वर्षों के पश्चात् उसे अपने पुत्रों से विलग हो जाना पड़ा। पाण्डवों के द्यूतक्रीड़ा में हारने के पश्चात् द्रौपदी को पाण्डवों सहित शर्त के अनुसार तेरह वर्षों के लिये प्राप्त हुये वनवास के कारण पुत्रवियोग का दुःसह दुःख सहन करना पड़ा। अतः उसके सभी पुत्रों प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक, श्रुतसेन का पालन-पोषण सुभद्रा ने अपने पुत्र अभिमन्यु के साथ द्वारका में रहकर किया।[99] वह अपने पुत्रों से बहुत प्रेम करती थी और उनके बिछोह से वह सन्तप्त रहती थी।[100] पुत्रों की मृत्यु के समय उसका पुत्रप्रेम मुखर हुआ है। अपने पुत्रों की मृत्यु का समाचार पाकर जब वह नकुल के साथ उपलव्य नगर से कुरुक्षेत्र पहुँचती है तब करुणापूर्ण विलाप करते हुये वह अपने पतियों से कहती है 'पापाचारी द्रोणपुत्र के द्वारा मेरे सोये हुये पुत्रों का वध किया गया, यह सुनकर शोक मुझे उसी प्रकार संतप्त कर रहा है जैसे आग अपने आधारभूत काष्ठ को ही जला देती है।[101] फिर वह क्रोधपूर्वक कहती है कि 'यदि आज आप रणभूमि में पराक्रम प्रकट करके सम्बन्धियों सहित पापाचारी द्रोणकुमार के प्राण नहीं हर लेते हैं तो मैं यहीं अनशन करके अपने जीवन का अन्त कर दूँगी। आप सब इस बात को जान लें' (तस्य पापकृतो द्रौणेर्न चेदद्य त्वया रणे ह्रियते सानुबन्धस्य युधि विक्रम्य जीवितम्। इहैव प्रायमासिष्ये तन्निबोधत पाण्डवाः)[102] ऐसा कहकर द्रौपदी युधिष्ठिर के सामने ही अनशन के लिये बैठ गयी। अपनी प्रिय रानी द्रौपदी को उपवास के लिये बैठा हुआ देखकर युधिष्ठिर ने उसे सान्त्वना दी और कहा कि ''द्रोणकुमार तो यहाँ से भागकर दुर्गम वन में चला गया है। यदि उसे युद्ध में मार दिया जाय तो भी तुम्हें इसका विश्वास कैसे होगा?''[103] उस समय द्रौपदी ने कहा 'मैंने सुना है कि द्रोणपुत्र के मस्तक में एक मणि है जो उसके जन्म के साथ ही उत्पन्न हुयी है। उस पापी को युद्ध में मारकर यदि वह मणि लाकर मुझे दिखाओ तो उस मणि को आपके सिर पर धारण कराकर ही मैं जीवन धारण कर सकूँगी। यह मेरा दृढ़निश्चय

है। (द्रोणपुत्रस्य सहजो मणिः शिरसि मे श्रुतः। निहत्य संख्ये तं पापं पश्येयं मणिमाहृतम्।। राजन् शिरसि ते कृत्वा जीवेयमिति मे मतिः)।[104]

तत्पश्चात् पुत्रशोक से उत्पन्न क्रोध का निवारण करने की इच्छा से भीमसेन ने वह मणि लाकर द्रौपदी को दी और द्रौपदी के कथनानुसार वह मणि युधिष्ठिर ने अपने मस्तक पर धारण की। तब पुत्रशोक से पीड़ित द्रौपदी ने अनशन त्याग दिया।[105]

आस्थावती -

द्रौपदी के मन में भगवान् के प्रति श्रद्धा और विश्वास की भावना विद्यमान थी। विपत्ति से मुक्ति के लिये वहा सदा ईश्वर की शरण लिया करती थी। राजसभा में जब द्रौपदी का चीरहरण किया जा रहा था, उस समय उसने भगवान् श्रीहरि का स्मरण किया और उन्होंने उसके शील की रक्षा की।[106] वनवास के समय शिष्यों सहित दुर्वासा ऋषि के आगमन पर उनके भोजन का प्रबन्ध करने के लिये उसने भगवान् श्रीकृष्ण का स्मरण किया और उन्होंने वहाँ आकर द्रौपदी की समस्या का निवारण किया।[107] इसी प्रकार दुरात्मा कीचक से अपने सतीत्व की रक्षा के लिये द्रौपदी ने उसके घर जाने से पूर्व सूर्यदेवता से प्रार्थना की। जिसके फलस्वरूप भगवान् ने एक राक्षस को उसकी रक्षा के लिये नियुक्त किया जिसने द्रौपदी के शील की रक्षा की।[108]

कष्ट से मुक्ति हेतु ईश्वर का आश्रय लेने वाली द्रौपदी इस बात को स्वीकार करती थी कि 'समस्त प्राणी ईश्वर के वश में हैं, कोई भी स्वाधीन नहीं है। विधाता ईश्वर ही सबके पूर्वकर्मों के अनुसार प्राणियों के लिये सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय की व्यवस्था करते हैं जैसे कठपुतली सूत्रधार से प्रेरित हो अपने अंगों का संचालन करती है, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण प्रजा ईश्वर की प्रेरणा से अपने अंगों द्वारा विविध चेष्टायें करती हैं।' यथोक्तम्-

धातैव खलु भूतानां सुखदुःखे प्रियाप्रिये। दधाति सर्वमीशानः पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरन्।।
यथा दारुमयी योषा नरवीर समाहिता। ईरयत्यंगमंगनि तथा राजन्निमाः प्रजाः।।[109]

वह कहती है कि 'जीव तन्तुबद्ध पक्षी की भाँति कर्म के बन्धन में बँधा होने से परतन्त्र है। सूत में पिरोयी हुयी मणि, नाक में नथे हुये बैल और किनारे से टूटकर धारा के बीच में गिरे हुये वृक्ष की भाँति यह जीव सदा ईश्वर के आदेश का ही अनुसरण करता है।

यह मनुष्य स्वाधीन होकर समय व्यतीत नहीं करता। यह ईश्वर से प्रेरित होकर ही स्वर्ग और नरक में जाता है।'[110]

उसके वचनों से यह परिलक्षित होता है कि वह ईश्वर को ही सम्पूर्ण लोक का नियामक मानती है और प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार ही परिणाम का भागी होता है।

भाग्यवादिनी -

ईश्वर के प्रति गहन आस्था रखने वाली द्रौपदी दैव को मानने वाली भी थी। वह दैव की प्रधानता बतलाते हुये भीमसेन से कहती है कि 'दैव के लिये कुछ भी दुष्कर नहीं है। दैव के विधान का उल्लंघन करना भी असम्भव है। इसीलिये मैं दैव की प्रधानता बतलाने वाले शास्त्रवचनों का पालन करती हूँ।' (न दैवस्यातिभारोऽस्ति न चैवास्यातिवर्तनम्। इति चाप्यागमं भूयो दैवस्य प्रतिपालये)।[111]

वह कहती है 'उत्तम नीति द्वारा सुरक्षित पदार्थ भी यदि दैव प्रतिकूल हों तो उसके द्वारा नष्ट हो जाता है। अतः विज्ञ पुरुष को दैव को अनुकूल बनाने का ही प्रयत्न करना चाहिये। दैवाधीन प्राणियों की कब क्या गति होगी, इसे जानना मनुष्यों के लिये सर्वथा असम्भव है।' फिर अपना दुःख व्यक्त करते हुये वह कहती है कि 'बाल्यावस्था में मैंने विधाता का निश्चय ही महान् अपराध किया है जिसके फलस्वरूप मैं आज इस दुर्दशा को प्राप्त हो गयी हूँ। पाण्डवों की अवनति और स्वयं के दास्यभाव का कारण वह दैव की लीला को ही मानती है।[113]

बहुश्रुता -

बाल्यकाल से ही द्रौपदी की धर्मचर्चा-नीति-कथा आदि का श्रवण करने में रूचि थी। बहुश्रुता होने के साथ ही द्रौपदी की धारणशक्ति अत्यन्त प्रबल थी जिसके फलस्वरूप उसने अपने पति युधिष्ठिर के समक्ष बृहस्पतिनीति का और प्रह्लाद-बलि के संवाद का वर्णन किया था तथा सत्यभामा को पतिव्रता स्त्री के कार्यों की शिक्षा भी प्रदान की थी।[114] द्रौपदी ने युधिष्ठिर से कहा था कि 'पूर्वकाल में मेरे पिताजी ने अपने गृह पर एक विद्वान् ब्राह्मण को ठहराया था। उन्होंने ही पिताजी से बृहस्पति के द्वारा कही हुयी नीति का प्रतिपादन किया था और मेरे भ्राताओं को भी इसकी शिक्षा दी थी। उस समय अपने भाइयों के समीप रहकर गृह

में ही मैंने भी उस नीति को सुना था।[115] तब किसी कार्य से मैं पिता के पास आयी थी और यह सब सुनने की इच्छा से उनकी गोद में बैठ गयी थी। तभी उन ब्राह्मण ने मुझे सान्त्वना देते हुये इसका उपदेश किया था (स मां राजन् कर्मवतीमागतामाह सान्त्वयन्, शुश्रूषमाणामासीनां पितुरंके युधिष्ठिर।)[116] पाण्डवों के साथ वनवास में रहते हुये अनेक महर्षियों और ब्राह्मणों से नाना प्रकार की पुरातन कथाओं, नीतिकथाओं तथा राजाओं के चरित्र सम्बन्धी वृत्तान्तों का श्रवण किया था। महर्षि बृहदश्व से नलोपाख्यान[117], शमठ ब्राह्मण से तीर्थों की महिमा तथा महाराज गया की कथा[118], महर्षि लोमश से इल्वल-वातापि की कथा, अगस्त्य-लोपामुद्रा कथा, परशुराम-कथा, दधीच ऋषि-कथा इत्यादि का[119] तथा मार्कण्डेय मुनि से तपस्वी तथा स्वधर्मपरायण ब्राह्मणों का माहात्म्य, अत्रिमुनि तथा राजा पृथु की कथा, ताक्ष्यमुनि-सरस्वती का संवाद, वैवस्वतमनु का चरित्र, मत्स्यावतार की कथा, युगसंख्या-प्रभाव का वर्णन, श्रीकृष्ण की महिमा इत्यादि[120] का श्रवण किया था द्रौपदी के बहुश्रुता होने के कारण ही उसके ज्ञान में अपरिमित वृद्धि हुयी।

धर्मज्ञा तथा धर्मचारिणी -

साध्वी द्रौपदी सदैव कत्र्तव्य-अकत्र्तव्य कार्य का निश्चय धर्म को दृष्टि में रखकर ही किया करती थी। द्यूतक्रीड़ा के समय जब युधिष्ठिर द्रौपदी को भी दाँव पर लगाकर हार गये तब दुर्योधन द्वारा द्रौपदी को सभा में लाने के लिये भेजे गये प्रतिकामी से द्रौपदी ने कहा कि 'निश्चय ही विधाता का ऐसा ही विधान है। बालक और वृद्ध सबको सुख-दुःख प्राप्त होते हैं। जगत् में एकमात्र धर्म को ही श्रेष्ठ बतलाया जाता है। यदि हम उसका पालन करें तो वह हमारा कल्याण करेगा। मेरे इस धर्म का उल्लंघन न हो, इसलिये तुम सभा में बैठे हुये कुरुवंशियों के पास जाकर मेरी यह धर्मानुकूल बात पूछो-इस समय मुझे क्या करना चाहिये? वे धर्मात्मा, नीतिज्ञ और श्रेष्ठ महापुरुष मुझे जैसी आज्ञा देंगे। मैं निश्चय ही वैसा करूँगी।'

यथोक्तम्- सोऽयं धर्मो मात्यगात् कौरवान् वै, सभ्यान् गत्वा पृच्छ धम्र्यं वचो मे।
ते मां ब्रूरयुर्निश्चितं तत् करिष्ये, धर्मात्मनो नीतिमन्तो वरिष्ठाः।।[121]

जब दुःशासन बलपूर्वक द्रौपदी को सभा में ले जाने का प्रयत्न कर रहा था उस समय स्वयं को रजस्वला अवस्था में जानकर भी द्रौपदी ने उससे धर्मानुकूल वचन कहा 'ये सभा में शास्त्रों के विद्वान्, कर्मठ और इन्द्र के समान तेजस्वी, मेरे पिता के समान सभी गुरूजन

बैठे हुये हैं, मैं उनके सामने इस रूप में खड़ी होना नहीं चाहती।' सभा में उसका अपमान होने के पश्चात् भी उसने समस्त कौरवों को सम्बोधित करके धर्मयुक्त वचन ही कहा 'मैं धर्मराज युधिष्ठिर की धर्मपत्नी तथा उनके समान वर्ण की कन्या हूँ।आप बतायें, मैं दासी हूँ या अदासी? आप जैसा कहेंगे, मैं वैसा ही करूँगी।' (ब्रूरत दासीमदासीं वा तत् करिष्यामि कौरवाः)[122] उस समय द्रौपदी के ये वचन सुनकर गंगानन्दन भीष्म ने धर्म का आचरण करने वाली द्रौपदी से कहा 'तुम्हारा यह आचार तुम्हारे योग्य ही है; क्योंकि भारी संकट में पड़कर भी तुम धर्म की ओर ही देख रही हो।'

धर्मदर्शिनी द्रौपदी को गृहस्थजीवन में निर्वहन किये जाने वाले समस्त कत्र्तव्यों एवं पत्नीधर्म का भलीभाँति ज्ञान था। वह अपना प्रत्येक कार्य धर्म को दृष्टि में रखकर ही करती थी। जब श्रीकृष्ण सत्यभामा सहित पाण्डवों से मिलने के लिये काम्यकवन में आये उस समय सत्यभामा ने द्रौपदी से एकान्त में पूछा कि 'तुम किस व्यवहार से वीर पाण्डवों के हृदय पर अधिकार रखती हो? किस प्रकार तुम्हारे वश में रहते हुये वे कभी तुम पर कुपित नहीं होते? मुझे भी कोई ऐसा व्रत, तप, स्नान, मंत्र, औषध, विद्या-शक्ति, मूल-शक्ति, जप या होम बताओ जो यश और सौभाग्य की वृद्धि करने वाला हो तथा जिससे श्यामसुन्दर सदा मेरे अधीन रहें।'[123] तब धर्मज्ञा द्रौपदी ने कहा कि तुम मुझसे जिसके विषय में पूछ रही हो, वह साध्वी स्त्रियों का नहीं दुराचारिणी स्त्रियों का आचरण है। जिस मार्ग का दुराचारिणी स्त्रियों ने अवलम्बन किया है उसके विषय में हम कोई चर्चा कैसे कर सकते हैं?[124] इस प्रकार का प्रश्न या स्वामी के स्नेह में सन्देह करना तुम्हारी जैसी साध्वी स्त्री के लिये कदापि उचित नहीं है। साध्वी स्त्री को चाहिये कि वह कभी किसी प्रकार भी अपने पति का अप्रिय न करे।[125] तब द्रौपदी पतिव्रता स्त्रियों के कार्यों का ज्ञान कराते हुये सत्यभामा से कहती है कि 'मैं अहंकार और काम-क्रोध को छोड़कर सदा पूर्णतया सावधानीपूर्वक सब पाण्डवों की उनकी अन्यान्य स्त्रियों की भी सेवा करती हूँ। अपनी इच्छाओं का दमन करके मन को संयमित करके केवल सेवा की इच्छा से ही अपने पतियों का मन रखती हूँ। कभी मेरे मुख से कोई अनुचित बात न निकल जाये, इसकी आशंका से सदैव सावधान रहती हूँ। असभ्य की भाँति कहीं खड़ी नहीं होती। निर्लज्ज की तरह सब ओर दृष्टि नहीं डालती। अपवित्र स्थान पर नहीं बैठती। दुराचार से दूर रहती, चलने में भी असभ्यता न हो जाये, इसके लिये निरन्तर सजग रहती हूँ। पतियों के अभिप्रायपूर्ण संकेत का सदैव अनुसरण करती हूँ। देवता, मनुष्य, गन्धर्व और युवक,

स्वलंकृत धनवान् अथवा रूपवान् पुरुष ही क्यों न हो, मेरा मन पाण्डवों के सिवा और कहीं नहीं जाता। पतियों और उनके सेवकों को भोजन कराये बिना मैं कभी भोजन नहीं करती। उन्हें स्नान कराये बिना कभी स्नान नहीं करती हूँ तथा वे जब तक शयन न करें, तब तक मैं सोती भी नहीं हूँ। खेत से, वन से अथवा गाँव से जब कभी मेरे पति घर आते हैं, उस समय मैं खड़ी होकर उनका अभिनन्दन करती हूँ। तथा आसन और जल अर्पण करके उनका सत्कार करती हूँ। मैं पात्रों को साफ करके, शुद्ध रसोई तैयार करके समय पर उनको भोजन कराती हूँ। संयत होकर गुप्त रूप से अनाज का संचय करती हूँ और गृह को भली प्रकार से स्वच्छ और पवित्र रखती हूँ। दुष्ट स्त्रियों के सम्पर्क से सदा दूर रहती हूँ। पति के किये हुये परिहास के सिवा अन्य समय में मैं नहीं हँसा करती, द्वार पर बार-बार खड़ी नहीं होती, उपवन में बहुत देर तक अकेली नहीं घूमती। न अधिक हँसती हूँ और न अधिक क्रोध करती हूँ। सदा सत्य बोलती हूँ। पति के परदेस चले जाने पर मैं शृंगार नहीं करती और ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करती हूँ। मेरे पति जिस पदार्थ का सेवन नहीं करते, वह सब मैं भी त्याग देती हूँ। शास्त्रों में जिन कत्तव्यों का उल्लेख किया गया है, उनका मैं नियमपूर्वक पालन करती हूँ। स्वयं को वस्त्राभूषणों से विभूषित कर पति के प्रिय एवं हितसाधन में संलग्न रहती हूँ।[126] मैं दिन-रात आलस्य रहित होकर भिक्षा-दान, बलिवैश्वदेव, श्राद्ध, पर्वकालोचित स्थालीपाकयज्ञ, मान्य पुरुषों का आदर, विनय, नियम तथा जो-जो धर्म मुझे ज्ञात हैं, उन सबका सब प्रकार से उद्यत होकर पालन करती हूँ। मैं यह मानती हूँ कि पति के आश्रय में रहना ही स्त्रियों का सनातन धर्म है। पति ही उनका देवता है और पति ही उनकी गति है। पति के सिवा स्त्री का दूसरा कोई सहारा नहीं है, ऐसे पति का भला कौन स्त्री अप्रिय करेगी। मैं सावधानीपूर्वक सर्वदा प्रातः उठकर सेवा के लिये सन्नद्ध रहती हूँ। गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा से ही मेरे पति मेरे अनुकूल रहते हैं।[127]

पत्नीधर्म का पालन करने के साथ ही वह जिन अन्य कार्यों को सम्पन्न किया करती थी, उन्हें बतलाते हुये वह सत्यभामा से कहती है कि 'पूर्व में महाराज युधिष्ठिर के महल में प्रतिदिन भोजन करने वाले ब्राह्मणों, स्नातक, गृहस्थों, ऊर्ध्वरेता यतियों तथा अन्य सभी वेदवादी ब्राह्मणों को अग्रहार का अर्पण करके भोजन, वस्त्र और जल के द्वारा उनकी मैं यथायोग्य पूजा करती थी। महाराज के महल में एक लाख दासियाँ थीं, उन सबके नाम, रूप तथा भोजन-आच्छादन आदि सभी बातों का मुझे पूर्ण ज्ञान था। किसने क्या काम किया

और क्या नहीं किया? इस बात का भी मुझे ज्ञान रहता था। जिन दिनों महाराज युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ में रहकर इस पृथ्वी का पालन करते थे उस समय प्रत्येक यात्रा में उनके साथ एक लाख घोड़े और एक लाख हाथी चलते थे। मैं ही उनकी गणना करती, आवश्यक वस्तुएँ देती और उनकी आवश्यकतायें सुनती थी। अन्तःपुर के सभी भृत्यों, ग्वालों और गडरियों से लेकर सभी कार्यों की देखभाल में ही करती थी और किसने क्या काम किया अथवा कौनसा कार्य अपूर्ण रह गया, इन सब बातों की जानकारी भी रखती थी।[128] युधिष्ठिर ने भी द्यूतक्रीड़ा के अवसर पर द्रौपदी के इस गुण के बारे में कहा था।[129] द्रौपदी कहती है कि 'महाराज तथा अन्य पाण्डवों को जो कुछ आय, व्यय और बचत होती थी, उस सबका लेखा-जोखा मैं अकेली ही रखती और जानती थी।' भरतश्रेष्ठ पाण्डव कुटुम्ब का सारा भार मुझ पर ही रखकर उपासना में लगे रहते और तदनुरूप चेष्टा करते थे। यथोक्तम्-

सर्वं राज्ञः समुदयमायं च व्ययमेव च।एकाहं वेद्मि कल्याणि पाण्डवानां यशस्विनि।।
मयि सर्वं समासज्य कुटुम्बं भरतर्षभाः।उपासनारताः सर्वे घटयन्ति वरानने।।[130]

सत्यभामा को दिये गये कत्र्तव्यों का उपदेश द्रौपदी के धर्मज्ञा तथा धर्मचारिणी होने और उसके बुद्धिमती होने को दर्शाता है। वन में भी रहते हुये द्रौपदी ने अपने आश्रम में रहने वाले ब्राह्मणों, मुनियों तथा अतिथि रूप में आने वाले विद्वान् ब्राह्मणों, महर्षियों तथा अन्य जनों का भी आसन, अन्न-जल इत्यादि के द्वारा सत्कार किया है।[131] वह यथावसर वस्त्र और आभूषणों का दान भी दिया करती थी।[132] उसने सर्वदा अपने गुरुजनों का सम्मान किया है इसीलिये उनकी दृष्टि में वह प्रशंसनीय बनी। विदुर ने द्रौपदी को धर्म और अर्थ के संपादन में कुशल[133] कहा है। संजय ने द्रौपदी को तेजस्विनी, अग्निकुल में उत्पन्न, तपस्विनी, सत्यव्रता, रूपवती, सर्वधर्मज्ञा और यशस्विनी कहा है।[134] कुन्ती ने उसे स्त्री के धर्मों को जानने वाली, शील, सर्वधर्मविशेषज्ञा और सदाचार का पालन करने वाली कहा है।[135] श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'द्रौपदी कभी भी अपने धर्म का त्याग नहीं कर सकती' और वह सदाचार की शिक्षा देने में कुशल है।'[136] सत्यभामा ने द्रौपदी को सभी बच्चों के साथ सब प्रकार से प्रेमपूर्ण व्यवहार करने वाली कहा है।[137] धृतराष्ट्र ने द्रौपदी को धर्मपरमा सती, धर्मचारिणी और धर्मिष्ठा कहा है।[138] द्रोणाचार्य ने द्रौपदी को सत्यवादिनी और तपोघोरव्रता कहा है।[139] युधिष्ठिर ने द्रौपदी को धर्मज्ञा, धर्मचारिणी कहा है।[140] स्त्रियों के गृहव्यापार के विषय मेंयाज्ञवल्क्यस्मृतिकार का कथन है-

संयतोपस्करा दक्षा हृष्टा व्ययपराङ्मुखी। कुर्याच्छ्वशुरयोः पादवन्दनं भर्तृतत्परा।।[141]

अर्थात् 'स्त्री गृह के उपकरणों को संभाल कर रखने वाली, कुशल, प्रसन्नचित्त, व्यय न करने वाली तथा पति की वशवर्तिनी हो। वह श्वसुर-श्वश्रू को चरणस्पर्श कर प्रणाम करे।- महर्षि याज्ञवल्क्य का यह कथन द्रौपदी पर पूर्णतया समीचीन प्रतीत होता है।

स्वाभिमानिनी और स्पष्टवादिनी -

द्रौपदी एक तेजस्विनी और स्वाभिमानिनी स्त्री थी। स्वयंवर के अवसर पर जब कर्ण द्रौपदी के प्रति आसक्त होने के कारण लक्ष्य भेदने की प्रतिज्ञा कर अपने स्थान से उठा तब कर्ण को देखकर द्रौपदी ने उच्च स्वर से यह बात कही 'मैं सूत जाति के पुरुष का वरण नहीं करूँगी' (नाहं वरयामि सूतम्)[142] द्यूतक्रीड़ा के समय जब युधिष्ठिर अपना सर्वस्व हारने के पश्चात् द्रौपदी को भी हार गये तब दुर्योधन ने द्रौपदी को सभा में बुलाने के लिये प्रतिकामी को भेजा तब प्रतिकामी ने द्रौपदी से कहा कि 'महाराज युधिष्ठिर ने अपना सर्वस्व हारकर आपको दाँव पर लगा दिया तब दुर्योधन ने आपको जीत लिया, अब आप धृतराष्ट्र के महल में पधारें। मैं आपको वहाँ दासी कार्य करवाने के लिये ले चलता हूँ।'[143] प्रतिकामी के इन वचनों पर द्रौपदी को सहसा विश्वास नहीं हुआ। उसने प्रतिकामी से कहा 'कौन राजकुमार अपनी पत्नी को दाँव पर रखकर द्यूत खेलेगा? क्या राजा युधिष्ठिर द्यूतमद में इतने उन्मत्त हो गये हैं कि उनके पास जुआरियों को देने के लिये दूसरा कोई धन नहीं रह गया?[144] प्रतिकामी ने जब उसे वस्तुस्थिति से अवगत कराया तो द्रौपदी ने प्रतिकामी से सभा में कहलवाया तुम सभा में उन महाराज के पास जाकर पूछो कि 'आप पहले अपने को हारे थे या मुझे? (किं नु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवा नु माम्)[145] इस प्रश्न का उत्तर तो उसे नहीं मिला लेकिन उसका स्वाभिमान अवश्य आहत हुआ। दुःशासन ने रजस्वला और एकवस्त्रा द्रौपदी को सभा में ले जाने के लिये उसके केशों को पकड़कर बलपूर्वक उसे घसीटा और सभा में ले आया। उसने द्रौपदी से कहा 'तू रजस्वला, एकवस्त्रा अथवा निर्वस्त्र ही क्यों न हो, हमने तुझे द्यूत में जीता है अतः तू हमारी दासी हो चुकी है, इसलिये अब तुझे हमारी इच्छानुसार दासियों में रहना पड़ेगा।'[146] उस समय द्रौपदी के केश बिखर गये थे; उसका आधा वस्त्र भी खिसककर गिर गया था, वह लज्जायुक्त थी और भीतर-ही-भीतर क्रोध से दग्ध हो रही थी; उस स्थिति में उसने समस्त कुरुवंशियों को धिक्कारते हुये कहा 'भरतवंश के नरेशों का धर्म निश्चय ही नष्ट हो गया तथा क्षत्रियधर्म के जानने वाले इन महापुरुषों का सदाचार भी लुप्त हो गया; क्योंकि यहाँ कौरवों की धर्ममर्यादा का उल्लंघन हो रहा है तो भी सभा में स्थित सभी कुरुवंशी देख

रहे हैं। द्रोणाचार्य पितामह भीष्म, महात्मा विदुर तथा राजा धृतराष्ट्र में अब कोई शक्ति नहीं रह गयी है, तभी तो ये कुरुवंश के वृद्ध महापुरुष दुर्योधन के इस भयानक पापाचार की ओर दृष्टिपात नहीं कर रहे हैं।[147] उसने पुनः अपना प्रश्न दोहराया और अपने पतियों की ओर क्रोधपूर्वक कटाक्षपात किया।[148] द्रौपदी को ऐसी स्थिति में देखकर दुःशासन ने उसे 'दासी-दासी' कहकर पुकारा और कर्ण, शकुनि ने भी उसका उपहास किया।[149] उस समय भीष्म ने कहा कि 'मैं तुम्हारे प्रश्न का ठीक से विवेचन नहीं कर पा रहा हूँ'[150] तक द्रौपदी ने क्रोधित होकर कहा 'द्यूतक्रीड़ा में कुशल, दुष्टात्मा, द्यूतप्रेमी धूर्तों ने राजा युधिष्ठिर को सभा में बुलाकर द्यूत का खेल आरंभ कर दिया। इन्हें द्यूत खेलने का अधिक अभ्यास नहीं है फिर इनके मन में द्यूत की इच्छा क्यों उत्पन्न की गयी? (आहूय राजा कुशलैरनार्येर्दुष्टात्मभिर्नैकृतिकैः सभायाम्, द्यूतप्रियैर्नातिकृतप्रयत्नः कस्मादयं नाम निसृष्टकामः।)[151] सभा में द्रौपदी ने पुनः अपने प्रश्न का उत्तर माँगा किन्तु किसी ने भी उत्तर नहीं दिया तब द्रौपदी ने कहा 'वह सभा नहीं है जहाँ वृद्ध पुरुष न हों, वे वृद्ध नहीं हैं जो धर्म की बात न बतावें, वह धर्म नहीं है जिसमें सत्य न हो और वह सत्य नहीं है जो छल से युक्त हो।' यथोक्तम्- न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।

नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत् सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्।।[152]

तत्पश्चात् द्रौपदी का उपहास करते हुये दुःशासन ने उसका वस्त्र खींचना आरंभ किया किन्तु श्रीकृष्ण की कृपा से दुःशासन इस कार्य में सफल न हो पाया।[153] किन्तु अपनी इस दुरवस्था पर द्रौपदी दुःखी होकर विलाप करने लगी तब अपने स्वाभिमान के आहत होने से उत्पन्न दुःख के कारण द्रौपदी ने कहा 'स्वयंवर के समय रंगभूमि में उपस्थित राजाओं ने मुझे देखा था इसके सिवा अन्य अवसरों पर कहीं भी आज से पहले किसी ने मुझे नहीं देखा। राजभवन में रहते हुये वायु तथा सूर्य भी मुझे नहीं देख पाते थे, वही मैं आज इस सभा में महान् जनसमुदाय के मध्य सबके नेत्रों का लक्ष्य बन गयी हूँ। मैं कुरुकुल की पुत्रवधू तथा पुत्रीतुल्य हूँ, सताये जाने के योग्य नहीं हूँ फिर भी मुझे यह दारुण क्लेश दिया जा रहा है और ये कुरुवंशी इसे सहन करते हैं। मैं समझती हूँ बड़ा विपरीत समय आ गया है अन्यथा मैं पाण्डवों की पत्नी, धृष्टद्युम्न की सुशीला बहिन और वासुदेव की सखी होकर राजाओं की इस सभा में कैसे लायी जा सकती थी?[154] द्रौपदी के इन वचनों में उसका दुःख,

वेदना, क्रोध, क्षोभ, विवशता, लज्जा आदि भावों का स्पष्ट रूप से प्रकटीकरण हुआ है। ये वचन उसकी तर्कशीलता, व्यंग्यशैली और स्पष्टवादिता को भी दर्शाते हैं।

इस द्यूतक्रीड़ा में तो द्रौपदी ने अपने पतियों को दास्यभाव से मुक्त करा लिया था किन्तु दूसरी बार जब युधिष्ठिर ने पुनः जुआँ खेला और उसमें हार गये तब उन्हें तेरह वर्षों का वनवास प्राप्त हुआ। उस समय द्रौपदी रजस्वला अवस्था में और एकवस्त्रा होकर ही वन के लिये अपने पतियों के साथ प्रस्थान कर रही थी तब रोती हुयी उसने कौरवों को शाप देते हुये कहा कि 'जिनके अन्याय से आज मैं इस दशा को पहुँची हूँ, आज से चैदहवें वर्ष में उनकी स्त्रियाँ भी अपने पति, पुत्र और बन्धुजनों के मारे जाने से उनके शवों के पास रोते हुये और अपने अंगों में रक्त और धूल लपेटे मुक्त केशवाली अपने संबंधियों को जलांजलि देकर इसी प्रकार हस्तिनापुर में प्रवेश करेंगी।' तथा उस समय उसने दुर्योधन के विनाश का संकल्प लेकर प्रतिदिन मिट्टी की वेदी पर शयन करने का व्रत लिया था (यत्कृतेऽहमिदं प्राप्ता तेषां वर्षे चतुर्दशे, हतपत्यो हतसुता हतबन्धुजनप्रियाः। बहुशोणितदिग्धांगयो मुक्तकेशयोः रजस्वलाः, एवं कृतोदका भार्याः प्रवेक्ष्यन्ति गजाह्वयम्। यदा च द्रौपदी क्लिष्टा मद्विनाशाय दुःखिता। स्थण्डिले नित्यदा शेते यावद् वैरस्य यातनम्)[155]

काम्यकवन में निवास करते समय द्रौपदी को आश्रम में एक दिन जब जयद्रथ ने देखा तो उसकी सुन्दरता पर मोहित होकर उसने द्रौपदी के समक्ष पाण्डवों का त्यागकर अपनी भार्या बन जाने का प्रस्ताव रखा। उस समय द्रौपदी ने उसको धिक्कारते हुये उसके प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया और उसे कई प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया किन्तु उसकी बातों का जयद्रथ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जयद्रथ ने उससे कहा कि 'तुम बड़ी-बड़ी बातें बनाकर हमें रोक नहीं सकती। (अब तुम्हारे सामने दो ही मार्ग हैं) या तो शीघ्र मेरे हाथी या घोड़े पर बैठ जाओ अथवा दीन वाणी में विलाप करती हुयी तुम जयद्रथ से कृपा की भीख माँगो।'[156] उसके ये वचन सुनकर स्वाभिमानी द्रौपदी ने कहा 'मैं महान् बल से सम्पन्न हूँ तो भी सौवीरराज की दृष्टि में दुर्बल सी प्रतीत हो रही हूँ। बलप्रयोग करने से मैं यहाँ जयद्रथ के सामने कभी दीनवचन नहीं बोल सकती।' (महाबला किंत्विह दुर्बलेव सौवीरराजस्य मताहमस्मि, नाहं प्रमाथादिह सम्प्रतीता सौवीरराजं कृपणं वदेयम्।)[157] जब भीम और अर्जुन अपनी प्रिय पत्नी द्रौपदी का अपमान करने वाले जयद्रथ के पीछे जाने लगे तब

युधिष्ठिर ने उनसे कहा कि 'यद्यपि वह दुरात्मा है तथापि दुःशला और माता गान्धारी का स्मरण करके उसका वध न करना।' [158] यह सुनकर द्रौपदी की सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठीं और उसने कुपित होकर कहा कि 'यदि आप लोगों को मेरा प्रिय करना है तो उस नराधम को अवश्य मार डालिये। वह पापी, दुर्बुद्धि जयद्रथ सिन्धुदेश का कलंक और कुलांगार है। जो अपनी पत्नी का अपहरण करने वाला तथा राज्य को हड़प लेने वाला हो, ऐसे शत्रु को युद्ध में पाकर, वह प्राणों की भीख माँगे तो भी किसी तरह जीवित नहीं छोड़ना चाहिये।' (कर्तव्यं चेत् प्रियं मह्यं वध्यः स पुरुषाधमः, सैन्धवापसदः पापो दुर्मतिः कुलपांसनः। भार्याभिहर्ता वैरी यो यश्च राज्यहरोरिपुः, याचमानोऽपि संग्रामे न मोक्तव्यः कथंचन।)[159]

इसी प्रकार कीचक के द्वारा अपमानित होने पर द्रौपदी ने राजा विराट से न्याय माँगा और न्याय न मिलने पर तथा वहाँ उपस्थित अपने पतियों के द्वारा भी रक्षा न किये जाने पर वह उन पर कटाक्ष करते हुये कहती है कि 'जो अमित तेजस्वी और बलवान् हैं, वे एक सूतपुत्र द्वारा मारी जाती हुयी अपनी साध्वी-प्रिय पत्नी का अपमान कायरों और नपुंसकों की भाँति कैसे सहन कर रहे हैं? आज उनका अमर्ष, पराक्रम और तेज कहाँ है? जो एक दुरात्मा से मार खाती हुयी अपनी पत्नी की रक्षा नहीं करते हैं।[160] फिर उसने कहा कि 'कीचक को धर्म का ज्ञान नहीं है और यह मत्स्यराज भी किसी प्रकार धर्मज्ञ नहीं है तथा जो इस अधर्मी राजा के पास बैठते हैं, वे सभासद् भी धर्म के ज्ञाता नहीं हैं।'[161]

द्रौपदी के ये वचन उसके स्वाभिमान, निर्भीकता, स्पष्टवादिता, तेजस्विता, कटाक्ष करने की क्षमता को दर्शाते हैं। वह एक ऐसी स्त्री थी जो अपने अधिकारों एवं स्वाभिमान की रक्षा के प्रति सजग थी। अपने अधिकारों का हनन होता देख वह हर उस व्यक्ति के प्रति दृढ़ता से अपना विरोध प्रकट करती थी; फिर वह व्यक्ति कोई राजा हो या राजसभा का सदस्य अथवा परिवार का सदस्य ही क्यों न हो।

निर्लोभ -

राजसभा में धृतराष्ट्रपुत्रों द्वारा साध्वी द्रौपदी का अपमान किये जाने पर जब धृतराष्ट्र ने अपनी धर्मपत्नी गान्धारी और महात्मा विदुर की बात सुनकर तथा स्वयं अपनी बुद्धि से इस दुःखद प्रसंग पर विचार करके पांचालराजकुमारी को सान्त्वना देकर उसे वर माँगने को कहा तब उसने दो वरों द्वारा अपने पति पाण्डुपुत्रों की दासभाव से मुक्ति की प्रार्थना की। उस

समय धृतराष्ट्र ने उसे तीसरा वर भी माँगने के लिये प्रेरित करते हुये कहा 'तुम अपने कुल को आनन्द प्रदान करने वाली हो। तुम जैसा चाहती हो, वैसा ही हो। अब तुम तीसरा वर और माँगो। तुम मेरी सभी पुत्रवधुओं में श्रेष्ठ एवं धर्म का पालन करने वाली हो। मैं समझता हूँ, केवल दो वरों से तुम्हारा पूर्ण सत्कार नहीं हुआ।[162] उनका ये कथन सुनकर महाभागा द्रौपदी ने कहा-

लोभो धर्मस्य नाशाय भगवन् नाहमुत्सहे। अनर्हा वरमादातुं तृतीयं राजसत्तम।।
एकमाहुर्वैश्यवरं द्वौ तु क्षत्रस्त्रिया वरौ। त्रयस्तु राज्ञो राजेन्द्र ब्राह्मणस्य शतं वराः।।
पापीयांस इमे भूत्वा संतीर्णाः पतयो मम। वेत्स्यन्ति चैव भद्राणि राजन् पुण्येन कर्मणा।।[163]

अर्थात् 'भगवन्! लोभ धर्म का नाशक होता है, अतः अब मेरे मन में वर माँगने का उत्साह नहीं है। तीसरा वर लेने का मुझे अधिकार भी नहीं है। राजेन्द्र! वैश्य को एक वर माँगने का अधिकार बताया गया है, क्षत्रिय की स्त्री दो वर माँग सकती है, क्षत्रिय को तीन वर तथा ब्राह्मण को सौ वर लेने का अधिकार है। ये मेरे पति दासभाव को प्राप्त होकर भारी विपत्ति में पड़ गये थे। अब उससे पार हो गये। पुण्यकर्मों के अनुष्ठान द्वारा ये स्वयं कल्याण प्राप्त कर लेंगे।' द्रौपदी के ये वचन उसके निर्लोभ होने के परिचायक तो हैं ही, साथ ही उसके धर्मज्ञा होने और अपने पतियों के सामर्थ्य के प्रति उसके पूर्ण विश्वास के भी द्योतक हैं।

आत्मविश्वासी -

अपने अज्ञातवास का समय व्यतीत करने के लिये जब सभी पाण्डव राजा विराट के नगर में जाने का निर्णय करते है, उस समय सभी पाण्डुपुत्रों ने राजा विराट के महल में रहने के लिये अपने द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले स्वयं के योग्य कार्यों का तो निर्धारण कर लिया[164] किन्तु द्रौपदी के विषय में वे चिन्तित हो गये। युधिष्ठिर ने चिन्ता व्यक्त करते हुये कहा 'यह कृष्णा हम सबकी प्रिय भार्या है। इसका गौरव हमारे लिये प्राणों से भी बढ़कर है। यह माता की भाँति पालन करने योग्य तथा ज्येष्ठा बहिन के समान आदरणीय है। यह तो दूसरी स्त्रियों की भाँति कोई कार्य भी नहीं जानती; फिर वहाँ किस कर्म का आश्रय लेकर निवास करेगी? यह सुकुमारी और बाला है। इस भामिनी ने जब से जन्म लिया है, तब से अब तक माला, सुगन्धित पदार्थ, विविध अलंकारों और वस्त्रों को ही जाना है।'[165] अपने पति की चिन्ता दूर करने के उद्देश्य से द्रौपदी ने कहा 'भारत! इस जगत् में बहुत-सी ऐसी स्त्रियाँ

हैं, जिनका दूसरों के घरों में पालन होता है और जो शिल्पकर्मों द्वारा जीवननिर्वाह करती हैं। वे अपने सदाचार से स्वतः सुरक्षित होती हैं। ऐसी स्त्रियों को सैरन्ध्री कहते हैं। लोगों को अच्छी तरह ज्ञात है कि सैरन्ध्री की भाँति दूसरी स्त्रियाँ बाहर की यात्रा नहीं करती। इसलिये मैं केश कार्य में कुशल सैरन्ध्री के रूप में अपना परिचय दूँगी।[166] यदि राजा मुझसे पूछेंगे तो कह दूँगी कि 'मैं महाराज युधिष्ठिर के महल में द्रौपदी की परिचारिका बनकर रही हूँ।' मैं अपनी रक्षा स्वयं कर लूँगी। आप जो मुझसे पूछते हैं कि तुम वहाँ क्या करोगी? कैसे रहोगी? उसके उत्तर में निवेदन है कि मैं यशस्विनी राजभार्या सुदेष्णा के पास जाऊँगी। मुझे अपने पास आयी हुयी जानकर वे रख लेंगी और मेरी रक्षा करेंगी। अतः आपके मन में इस बात का दुःख नहीं होना चाहिये।' यथोक्तम्-

युधिष्ठिरस्य गेहे वै द्रौपद्याः परिचारिका। उषितास्मीति वक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि।।
सुदेष्णां प्रत्युपस्थस्ये राजभार्यां यशस्विनीम्। सा रक्षिष्यति मां प्राप्तां मा भूत् ते दुःखमीदृशम्।[167]

द्रौपदी के ये वचन उसके आत्मविश्वास को प्रकट करने के साथ ही उसकी केशरचना में निपुणता को तथा पाण्डवों के अपनी पत्नी द्रौपदी के प्रति प्रेम और आदरभाव को भी व्यक्त करते हैं।

क्षमाशीला -

साध्वी द्रौपदी तेज की राशि थी। वह शाप देने में समर्थ थी[168] तथापि उसने अपना अपमान करने वाले जयद्रथ, कीचक और पुत्रों का वध करने वाले अश्वत्थामा को भी शाप नहीं दिया। उन तीनों के ही वध की इच्छा उसने अवश्य की और कीचक को तो भीमसेन से कहकर मरवा भी दिया किन्तु जयद्रथ और अश्वत्थामा को उसने क्षमा कर दिया। अपने पतियों की बहिन दुःशला का स्मरण करके उसने जयद्रथ को शाप नहीं दिया था।[169] तथा 'गुरुपुत्र गुरु के समान ही होता है' यह सोचकर उसने अश्वत्थामा को भी शाप नहीं दिया।[170] और न ही उन दोनों का वध करवाकर उन्हें प्राणदण्ड दिया। उसके शाप न देने का कारण भी उसका धर्मज्ञा होना ही था क्योंकि वह जानती थी कि 'क्रोध से तपस्या नष्ट होती है, इसीलिये ऋषि भी सहसा किसी को शाप नहीं देते हैं। क्षमा धर्म है, क्षमा दान है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा यश है, क्षमा सत्य है, क्षमा शील है, क्षमा कीर्ति है, क्षमा सबसे उत्कृष्ट तत्त्व है, क्षमा पुण्य है, क्षमा तीर्थ है, क्षमा सब कुछ है; ऐसा श्रुति का कथन है। यह लोक क्षमावानों का ही

है, परलोक भी क्षमावानों का ही है। द्रौपदी यह सब जानती थी, इसलिये उसने क्षमा का ही आश्रय लिया। (क्षरतीति तपः क्रोधादृषयो न शपन्ति हि।। क्षमा धर्मः क्षमा दानं क्षमा यज्ञः क्षमा यशः। क्षमा सत्यं क्षमा शीलं क्षमा कीर्तिः क्षमा परम्।। क्षमा पुण्यं क्षमा तीर्थं क्षमा सर्वमिति श्रुतिः। क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम्। एतत् सर्वं विजानन्ती सा क्षमामन्वपद्यत)।[171] महाकवि बाणभट्ट ने भी अपने ग्रन्थ हर्षचरित में 'क्षमा को तपस्या की जड़ कहा है' (क्षमा हि मूलं तपसाम्)[172] आपस्तम्ब स्मृति में भी 'क्षमा को लोक और परलोक में सुख प्रदान करने वाला कहा है'।[173]

वाक्चातुर्ययुक्ता -

द्रुपदकुमारी कृष्णा में वाक्चातुर्य का गुण भी विद्यमान था। काम्यक वन में पाण्डवों के आश्रम में आकर जब जयद्रथ, द्रौपदी से कामयुक्त बातें कहकर उसे अपनी भार्या बन जाने के लिये कहता है तब द्रौपदी को अत्यधिक क्रोध आया और उसने जयद्रथ को धिक्कारा। उस समय वह चाहती थी कि मेरे पति अभी यहाँ आ जाये। अतः वह जयद्रथ से वाद-विवाद करती हुयी उसे बातों में उलझाने की चेष्टा करने लगी (सा काङ्क्षमाणा भर्तृणामुपयातमनिन्दिता, विलोभयामास परं वाक्यैर्वाक्यानि युंजती)[174] उसने प्रयत्नस्वरूप सर्वप्रथम उससे धर्मयुक्त बातें कही कि 'ऐसा मत कहो। कौन-सा कार्य धर्म के अनुकूल और न्यायसंगत है, इसका तुम्हे ज्ञान नहीं है। तुम धृतराष्ट्रपुत्रों तथा पाण्डवों की अनुजा दुःशला के पति हो। अतः न्यायतः तुम मेरे भ्राता हो; तुम्हें मेरी रक्षा करनी चाहिये। तुम्हारा जन्म तो धर्मात्माओं के कुल में हुआ है, परन्तु तुम्हारी दृष्टि धर्म की ओर नहीं है।[175] फिर उसने अपने पतियों के पराक्रम का भय दिखाते हुये कहा कि 'मूढ! मेरे पति पाण्डव महान् यशस्वी, धर्मपालन में स्थित, यक्षों और राक्षसों के समूह में भी युद्ध करने में समर्थ, देवराज इन्द्र के समान शक्तिशाली हैं। उनका क्रोध तीक्ष्ण विष वाले नागों के समान भयंकर है। उनके प्रति ऐसी बातें कहते हुये तुझे लज्जा कैसे नहीं आती। जैसे कोई मूर्ख मनुष्य हिमालय की उपत्यका में विचरने वाले पर्वतशिखर के समान गजराज को दण्डे से उसके यूथ से अलग करना चाहे, उसी प्रकार तू धर्मराज युधिष्ठिर को जीतने की इच्छा रखता है जिस समय तू अमर्ष से भरे हुये भीमसेन को देखेगा, उस समय तुरंत पलायन कर जायेगा। जैसे मादा केंकड़ा अपनी मृत्यु के लिये ही गर्भधारण करती है उसी प्रकार तू अपनी मृत्यु के लिये

पाण्डवों द्वारा सुरक्षित मुझ द्रौपदी का अपहरण करना चाहता है। जब गाण्डीवधारी अर्जुन तेरे वक्षस्थल पर बाणों से प्रहार करेंगे, उस समय तेरे मन की क्या दशा होगी? ऐसे अनेक वचन कहकर द्रौपदी ने उसे बातों में उलझाने की कोशिश की।[176]

इसी प्रकार कीचक द्वारा अपमानित होकर जब द्रौपदी भीमसेन से अपना दुःख प्रकट करती है तब भीम कीचक का वध करने का निश्चय करके द्रौपदी से कीचक को नृत्यशाला में भेजने के लिये कहता है और उसे सावधान करता है कि 'तुम ऐसी चेष्टा करना, जिससे उसके साथ गुप्त वार्तालाप करते समय तुम्हें कोई देख न ले। तुम ऐसी बात करना, जिससे वहाँ दिये हुये संकेत के अनुसार वह अवश्य मेरे पास आ जाये।[177] तत्पश्चात् प्रातःकाल कीचक के द्रौपदी के पास आने पर, द्रौपदी उसके भयभीत करने वाले और दर्पयुक्त वचनों को सुनकर कहती है 'कीचक! यदि ऐसी बात है तो आज मेरी एक शर्त स्वीकार करो। तुम मुझसे मिलने आते हो-ये बात तुम्हारा मित्र अथवा भाई कोई भी न जाने क्योंकि मैं यशस्वी गन्धर्वों के अपवाद से डरती हूँ। यदि इस बात के लिये मुझसे प्रतिज्ञा करो तो मैं तुम्हारे अधीन हो सकती हूँ। यथोक्तम्-

एवं मे समयं त्वद्य प्रतिपद्यस्व कीचक। न त्वां सखा वा भ्राता वा जानीयात् संगतं मया।।
अनुप्रवादाद भीतास्मि गन्धर्वाणां यशस्विनाम्। एवं मे प्रतिजानीहि ततोऽहं वशगा तव।।[178]

यह सुनकर कीचक ने कहा 'तुम जैसा कहती हो, वैसा ही करूँगा। तुम्हारे शून्य घर में मैं अकेला ही जाऊँगा।[179] यह सुनकर द्रौपदी ने भीमसेन द्वारा पूर्वनिश्चित स्थान नृत्यशाला में बुलाने के उद्देश्य से उससे कहा कि 'मत्स्यराज ने यह जो नृत्यशाला बनवायी है, उसमें दिन के समय कन्यायें नृत्य करती हैं तथा रात्रि में अपने-अपने घर चली जाती हैं। वहाँ अन्धेरा रहता है अतः मुझसे मिलने के लिये वहीं जाना। उस स्थान को गन्धर्व नहीं जानते। वहाँ मिलने से सब दोष दूर हो जायेगा; इसमें संशय नहीं है (यदेतन्नर्तनागारं मत्स्यराजेन कारितम्, दिवात्र कन्या नृत्यन्ति रात्रौ यान्ति यथागृहम्। तमिस्रे तत्र गच्छेथा गन्धर्वास्तन्न जानते, तत्र दोष परिहृतो भविष्यति न संशयः।)[180] जब कीचक ने प्रथम बार अपने मनोभाव द्रौपदी के समक्ष प्रकट किये थे उस समय भी द्रौपदी ने उसे अपने पति पाण्डवों के पराक्रम का भय दिखाकर स्वयं से दूर रहने के लिये कहा था।[181] इस प्रकार द्रौपदी द्वारा जयद्रथ और कीचक के प्रति कहे गये वचनों से उसकी वाक्चातुरी का गुण तो प्रकट होता ही है, साथ ही साथ अपने पतियों के पराक्रम के प्रति उसका गर्वान्वित होना भी परिलक्षित होता है।

स्त्रीसुलभचंचलता -

द्रौपदी में स्त्री-स्वाभाविक चंचलता भी थी। जब दुर्योधन मयनिर्मित सभाभवन को देख रहा था, उस समय वह कमलों से सुशोभित एक वापी को जो कि जल से परिपूर्ण थी, उसे भ्रम से स्फटिकशिला से निर्मित समझकर उसमें गिर गया[182] तब स्त्रियों सहित द्रौपदी भी दुर्योधन को देखकर हँस रही थी और यह बात दुर्योधन को अच्छी नहीं लगी थी (तत्र मां प्राहसत् कृष्णः पार्थेन सह सुस्वरम्, द्रौपदी च सह स्त्रीभिर्व्यथयन्ती मनो मम)[183] गन्धमादनपर्वत पर विचरण करते समय द्रौपदी को दिव्यगन्धयुक्त एक दिव्य सहस्रदल कमल दिखायी दिया। उसके पास पहुँचकर उसने भीमसेन से कहा 'देखो, यह दिव्य पुष्प कितना सुन्दर है। मानो सुगन्ध ही इसका स्वरूप है। यह मेरे मन को आनन्द प्रदान कर रहा है। मैं इसे धर्मराज को भेंट करूँगी। तुम मेरी इच्छा से इसे काम्यक वन के आश्रम में ले चलो।[184] फिर वह कहती है कि 'यदि मेर ऊपर तुम्हारा प्रेम है, तो मेरे लिये ऐसे ही बहुत-से पुष्प ले आओ। मैं इन्हें काम्यक वन में अपने आश्रम पर ले चलना चाहती हूँ, यथोक्तम्-

यदि तेऽहं प्रिया पार्थ बहूनीमान्युपाहर। तान्यहं नेतुमिच्छामि काम्यकं पुनराश्रमम्।।[185]

भ्रम के कारण गिरे हुये दुर्योधन पर हँसना तथा सौगन्धिक कमलों की प्राप्ति का आग्रह करना, ये दोनों ही कर्म द्रौपदी की स्वाभाविक चंचलता को बतलाते हैं। भीमसेन से दिव्य कमलों के आग्रह में उसका प्रणयहठ भी दिखायी देता है।

सन्मार्गप्रदर्शिका -

जब युधिष्ठिर का हृदय अपने ही वंश के विनाश से दुःखी होकर राज्यशासन से विमुख हो जाता है तब द्रौपदी पत्नीधर्म का पालन करते हुये युधिष्ठिर को सन्मार्ग पर अग्रसर करने के लिये, उन्हें वानप्रस्थी होने से रोकने के लिये तथा राज्य का संचालन करने हेतु उनका मार्गदर्शन करते हुये कहती है कि 'आपके ये बन्धु सदा आपके लिये दुःख-ही-दुःख उठाते आये हैं। अब तो इन्हें युक्तियुक्त वचनों द्वारा आनन्दित कीजिये। पूर्व में द्वैतवन में निवास करते समय आपने कष्ट भोग रहे इन भाइयों को धैर्य बँधाते हुये कहा था 'विजय की इच्छावाले हम युद्ध में दुर्योधन को मारकर रथियों को रथहीन करके बड़े-बड़े हाथियों का वध कर डालेंगे और घुड़सवार सहित रथों से इस पृथ्वी को पाट देंगे। तत्पश्चात् सम्पूर्ण भोगों से सम्पन्न वसुधा का उपभोग करेंगे। उस समय पर्याप्त दक्षिणा वाले नाना प्रकार के समृद्धिशाली यज्ञों के द्वारा भगवान् की आराधना में लगे रहने से तुम सबका यह

वनवासजनित दुःख सुखरूप में परिणत हो जायेगा।' पहले द्वैतवन में स्वयं ही ऐसी बातें कहकर आज क्यों आप फिर हमारा मन दुःखी कर रहे हैं।[186] जो दण्ड देने की शक्ति नहीं रखता, उस क्षत्रिय की शोभा नहीं होती, दण्ड न देने वाला राजा इस पृथ्वी का उपभोग नहीं कर सकता। दण्डहीन राजा की प्रजा को कभी सुख नहीं मिलता है।[187] राजाओं का परमधर्म यही है कि वे दुष्टों को दण्ड दें, सत्पुरुषों का पालन करें और युद्ध में कभी पीठ न दिखावें। जिसमें समयानुसार क्षमा और क्रोध दोनों प्रकट होते हैं, जो दान देता और कर लेता है, जिसमें शत्रुओं को भय दिखाने और शरणागतों को अभय देने की शक्ति है, जो दुष्टों को दण्ड देता और दीनों पर अनुग्रह करता है, वही धर्मज्ञ कहलाता है। यथोक्तम्-

असतां प्रतिषेधश्च सतां च परिपालनम्। एष राज्ञां परो धर्मः समरे चापलायनम्।।
यस्मिन् क्षमा च क्रोधश्च दानादाने भयाभये। निग्रहानुग्रहौ चोभौ स वै धर्मविदुच्यते।।[188]

आपको यह पृथिवी न तो शास्त्रों के श्रवण से मिली है, न दान में प्राप्त हुयी है, न सान्त्वना प्रदान करने से, न यज्ञ कराने से और न ही भीख माँगने से प्राप्त हुयी है अपितु पराक्रमी शत्रुओं का वध करके यह आपके अधिकार में आयी है। आपने अनेक द्वीपों को अपने दण्ड द्वारा दबाकर अपने अधिकार में कर लिया है। सर्वज्ञा और सर्वदर्शिनी माता कुन्ती ने मुझसे कहा था कि 'युधिष्ठिर शीघ्रतापूर्वक पराक्रम दिखाने वाले हैं। ये कई सहस्र राजाओं का संहार करके तुम्हें सुख के सिंहासन पर प्रतिष्ठित करेंगे किंतु आज आपका यह मोह देखकर मुझे अपनी श्वश्रू की कही हुयी बात भी व्यर्थ होती दिखायी देती है। जिनका ज्येष्ठ भाई उन्मत्त हो जाता है वे अनुज भी उसी का अनुसरण करने लगते हैं। आपके उन्माद से सारे पाण्डव भी उन्मत्त हो गये हैं। जो मूर्ख इस प्रकार का कार्य करता है वह कभी कल्याण का भागी नहीं होता है।[189] तत्पश्चात् अपने पति के कल्याण का अनुसंधान करती हुयी द्रौपदी ने अन्त में कहा 'नृपश्रेष्ठ! जैसे मान्धाता और अम्बरीष भूमण्डल के समस्त राजाओं में सम्मानित थे, वैसे ही आप अभी सुशोभित हो रहे हैं। धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करते हुये पर्वत, वन और द्वीपों सहित पृथ्वीदेवी का शासन कीजिये। इस प्रकार उदासीन न होइये। नाना प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान और शत्रुओं के साथ युद्ध कीजिये। ब्राह्मणों को धन, भोग-सामग्री और वस्त्रों का दान कीजिये।[190]

पाण्डवप्रिया द्रौपदी यहाँ पतियों का कल्याण चाहने हेतु कर्त्तव्यपथ-प्रदर्शिका के रूप में दृष्टिगोचर हुयी है। वह क्षत्रिय धर्म का आश्रय लेकर तथा पूर्वोक्त वचनों का स्मरण कराकर अपने पति युधिष्ठिर, जिनका अन्य सभी पाण्डुपुत्र अनुसरण करते हैं, को राजोचित

धर्म का निर्वाह करने हेतु प्रेरित करती है। द्रौपदी के इन वचनों में अपने पति के यशस्वी होने और चक्रवर्ती सम्राट् होने की मंगलकामना प्रतिध्वनित होती है।

पाण्डवप्रिया -

साध्वी द्रौपदी पाण्डवों की प्रिय भार्या थी। जैसे द्रौपदी उनकी आज्ञा के अधीन रहकर उनके अनुकूल व्यवहार करती थी वैसे ही पाण्डव भी उसका प्रिय करने के लिये सर्वदा प्रस्तुत रहते थे। वे सभी उसके साथ प्रसन्नता का अनुभव करते थे। जिस समय सभाभवन में धृतराष्ट्रपुत्रों द्वारा द्रौपदी का तिरस्कार किया गया उस समय सभी पाण्डवों के मन में क्रोध था किन्तु तब भीम ने अपना क्रोध प्रकट करते हुये द्रौपदी का चीरहरण करने वाले दुःशासन के लिये यह प्रतिज्ञा की कि 'मैं युद्ध में बलपूर्वक इस पापी का वक्षस्थल का छेदकर इसका रक्तपान करूँगा, यदि न पीऊँ तो मुझे अपने पूर्वज पितामहों की गति प्राप्त न हो (यद्येतदेवमुक्त्वाहं न कुर्यां पृथिवीश्वराः, पितामहानां पूर्वेषां नाहं गतिमवाप्नुयाम्। अस्य पापस्य दुर्बुद्धेर्भारतापसदस्य च, न पिबेयं बलाद् वक्षो भित्त्वा चेद् रुधिरं युधि।।)[191] तथा अपनी जाँघ का वस्त्र हटाकर द्रौपदी की ओर देखने वाले दुर्योधन को भी संबोधित करके कहा 'यदि महासमर में तेरी इस जाँघ को मैं अपनी गदा से न तोड़ दूँ तो मुझ भीमसेन को अपने पूर्वजों के साथ उन्हीं के समान पुण्यलोकों की प्राप्ति न हो (पितृभिः सह सालोक्यं मा स्म गच्छेद् वृकोदरः, यद्येतमूरुं गदया न भिन्द्यां ते महाहवे)[192] अपनी दोनों ही प्रतिज्ञाओं को भीमसेन ने महासमर में सत्य सिद्ध किया।[193] जब उन्हें बारह वर्षों का वनवास और एकवर्ष का अज्ञातवास मिला तब वन के लिये प्रस्थान करते समय नकुल ने भी द्रौपदी के अपमान का स्मरण करके धृतराष्ट्रकुमारों को यमलोक का अतिथि बनाने की प्रतिज्ञा की।[194] इसी प्रकार युधिष्ठिर, अर्जुन, सहदेव ने भी यथावसर द्रौपदी के प्रति किये हुये अपमान पर अपना क्रोध और दुःख प्रकट किया।[195] काम्यक वन में रहते हुये जब किर्मीर राक्षस ने पाण्डवों पर आक्रमण किया तब उसका भयंकर रूप देखकर द्रौपदी व्याकुल हो उठी। उसे मूर्च्छा आने लगी तब पाँचों पाण्डवों ने उसे सान्त्वना दी।[196] गन्धमादन पर्वत की यात्रा के समय जब द्रौपदी मूर्च्छित होने लगी तब नकुल ने उसे पकड़ लिया। तत्पश्चात् सभी पाण्डवों ने अपने शीतल करों से बार-बार द्रौपदी के अंगों को सहलाया। जब कुछ आराम मिलने पर द्रौपदी को धीरे-धीरे चेतना आयी तब दीनावस्था में पड़ी हुयी तपस्विनी द्रौपदी को पकड़कर पाण्डवों ने मृगचर्म के बिछौने पर सुलाया और उसे विश्राम कराया। नकुल और सहदेव ने धनुष की रगड़ के चिह्न से सुशोभित दोनों हाथों द्वारा उसके रक्ततल और पूजितलक्षण युक्त दोनों चरणों को धीरे-धीरे दबाया, यथोक्तम्-

स्पृश्यमाना करैः शीतैः पाण्डवैश्च मुहुर्मुहुः। पांचाली सुखमासाद्य लेभे चेतः शनैः शनैः।।
परिगृह्य च तां दीनां कृष्णामजिनसंस्तरे। पार्था विश्रामयामासुर्लब्धसंज्ञां तपस्विनीम्।।
तस्या यमौ रक्ततलौ पादौ पूजितलक्षणौ। कराभ्यां किणजाताभ्यां शनकैः संववाहतुः।।[197]

तत्पश्चात् युधिष्ठिर ने भी द्रौपदी को बहुत आश्वासन दिया और भीमसेन से कहा कि 'हिमाच्छादित पर्वतों पर द्रौपदी कैसे चल सकेगी?'[198] तब भीमसेन ने युधिष्ठिर की आज्ञा लेकर अपने पुत्र घटोत्कच को सहायता हेतु बुलाया।[199] वहाँ भीमसेन ने द्रौपदी का प्रिय करने की इच्छा से उसे सौगन्धिक कमल लाकर दिये तथा द्रौपदी के कहने पर ही उस पर्वत को यक्षों और राक्षसों से रहित कर दिया। द्रौपदी, पाण्डवों को अपने प्राणों के समान ही प्रिय थी।[200] वह बाहर प्रकट हुयी पाण्डवों की अन्तरात्मा थी (बहिश्चरं हृदयं पाण्डवानाम्)[201] अपनी प्राणप्रिया पत्नी का अपहरण करने वाले जयद्रथ को पाण्डवों ने अपना दास बना लिया था और उसका सभा में अपमान करने वाले कीचक का भीमसेन ने वध कर दिया था तथा द्रौपदी के प्राणों की रक्षा करने के लिये ही पाण्डवों ने अश्वत्थामा के द्वारा मस्तक पर धारण की हुयी मणि को लाकर द्रौपदी को दिया था। पाण्डव सर्वदा द्रौपदी के हितचिन्तन में लगे रहते थे और उसकी रक्षा के प्रति भी पूर्णतया सजग रहते थे। उसकी इच्छा को पूर्ण करने के लिये प्रयत्नरत रहते थे। महाप्रस्थान के समय भी पाण्डवों ने अपनी प्रिया द्रौपदी को अपने साथ ही रखा।

पण्डिता -

पतिव्रता द्रौपदी पाण्डवों की प्रिया, दर्शनीया और विदुषी थी। राजवैभव से हीन, मृगचर्म धारण करने वाले अपने पतियों को वनवास का कष्ट भोगते देख दुःखी और धृतराष्ट्रपुत्रों द्वारा किये गये अपने अपमान से क्षुब्ध द्रौपदी अपने पति धर्मराज युधिष्ठिर को विषम परिस्थितियों में भी मौन धारण किये देख उन्हें क्षत्रियधर्म का ज्ञान कराते हुये कहती है कि 'संसार में कोई भी क्षत्रिय क्रोधरहित नहीं होता, क्षत्रिय शब्द की व्युत्पत्ति ही ऐसी है, जिससे उसका सक्रोध होना सूचित होता है परन्तु आज आप जैसे क्षत्रिय में मुझे यह क्रोध का अभाव क्षत्रियत्व के विपरीत सा दिखायी देता है। जो क्षत्रिय समय आने पर अपने प्रभाव को नहीं दिखाता, उसका सब प्राणी सदा तिरस्कार करते हैं, यथोक्तम्-

न निर्मन्युः क्षत्रियोऽस्ति लोके निर्वचनं स्मृतम्। तदद्य त्वयि पश्यामि क्षत्रिये विपरीतवत्।।
यो न दर्शयते तेजः क्षत्रियः काल आगते। सर्वभूतानि तं पार्थ सदा परिभवन्त्युत।।[202]

महाराज! आपको शत्रुओं के प्रति किसी प्रकार भी क्षमाभाव नहीं धारण करना चाहिये। तेज से ही उन सब का वध किया जा सकता है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। इसी प्रकार जो क्षत्रिय क्षमा करने के योग्य समय आने पर शान्त नहीं होता, वह सब प्राणियों के लिये अप्रिय हो जाता है और इहलोक तथा परलोक में भी उसका विनाश ही होता है।[203] फिर वह प्रह्लाद-बलि के संवाद रूप उदाहरण द्वारा क्षमा और तेज के अवसर बताते हुये कहती है 'जो सदा क्षमा ही करता है उसे अनेक दोष प्राप्त होते हैं, उसके भृत्य, शत्रु तथा उदासीन व्यक्ति सभी उसका तिरस्कार करते हैं। कोई भी प्राणी कभी उसके सामने विनयपूर्ण व्यवहार नहीं करता अतः सदा क्षमा करना विद्वानों के लिये भी वर्जित है (यो नित्यं क्षमते तात बहून् दोषान् स विन्दति, भृत्याः परिभवन्त्येनम् उदासीनास्तथारयः। सर्वभूतानि चाप्यस्य न नमन्ति कदाचन, तस्मान्नित्यं क्षमा तात पण्डितैरपि वर्जिता।)[204] सेवकगण अपने स्वामी की अवहेलना करके बहुत से अपराध करते रहते हैं, उनके धन पर भी अधिकार करने की इच्छा रखते हैं। उनकी समस्त सामग्रियों का इच्छानुसार उपभोग करते रहते हैं। इस संसार में सेवकों द्वारा अपमान तो मृत्यु से भी अधिक निन्दित है। क्षमाशील स्वामी की अवहेलना करके वे उसकी स्त्रियों को भी हस्तगत करने की इच्छा रखते हैं। सदा क्षमा करने वाले पुरुषों को ऐसे अनेक प्रकार के दोष प्राप्त होते हैं।[205] ऐसे अनेक वचन कहती है।

तत्पश्चात् द्रौपदी क्षमा न करने वाले मनुष्य के दोषों को बतलाते हुये कहती है कि 'क्रोधी मनुष्य रजोगुण से आवृत्त होकर योग्य या अयोग्य अवसर का विचार किये बिना ही अपने क्रोधित स्वभाव से लोगों को नाना प्रकार के दण्ड देता रहता है। तेज से व्याप्त मनुष्य मित्रों से विरोध पैदा कर लेता है तथा साधारण लोगों और स्वजनों का द्वेषपात्र बन जाता हैं। वह मनुष्य दूसरों का अपमान करने के कारण सदा धन की हानि उठाता है। उपालम्भ सुनता और अनादर पाता है। इतना ही नहीं वह संताप, द्वेष, मोह तथा शत्रु पैदा कर लेता है और ऐसा करके वह अपने ऐश्वर्य, प्राण और स्वजनों से भी हाथ धो बैठता है।[206]

फिर वह क्षमा के लिये अवसर बताते हुये कहती है कि जिसने पहले कभी तुम्हारा उपकार किया हो, उससे यदि कोई भारी अपराध हो जाये तो भी पहले के उपकार का स्मरण करके उस अपराधी के अपराध को क्षमा कर देना चाहिये। जिन्होंने अनजाने में अपराध किया हो, उनका वह अपराध क्षमा के ही योग्य है परन्तु जिसने जानते हुये अपराध किया है

उसे अवश्य दण्ड देना चाहिये। सभी प्राणियों का एक अपराध तो तुम्हें क्षमा ही कर देना चाहिये।[207] देश, काल तथा अपने बलाबल का विचार करके ही मृदुता का प्रयोग करना चाहिये। अयोग्य देश अथवा अनुपयुक्त काल में उसके प्रयोग से कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता अतः उपयुक्त देश-काल की प्रतीक्षा करनी चाहिये। कहीं लोक के भय से भी अपराधी को क्षमादान देने की आवश्यकता होती है। (देशकालो तु सम्प्रेक्ष्य बलाबलमथात्मनः। नादेशकाले किंचित् स्याद् देशकालौ प्रतीक्षताम्। तथा लोकभयाच्चैव क्षन्तव्यमपराधिनः।)[208]

फिर वह पुरुषार्थ की आवश्यकता पर बल देते हुये कहती है कि 'ज्ञानी पुरुष को भी इस संसार में कर्म अवश्य करना चाहिये। स्थावर भूत ही बिना कर्म किये जी सकते हैं, अन्य लोग नहीं। कर्म न करने वाले प्राणियों की कोई जीविका भी सिद्ध नहीं होती। धन की वृद्धि और रक्षा के लिये भी कर्म की आवश्यकता है। यदि धन का उपभोग होता रहे और आय न हो तो हिमालय जैसी धनराशि का भी क्षय हो सकता है। जिसकी बुद्धि पुरुषार्थ में रूचि रखती है वही प्रशंसा का पात्र है। जो दुर्बुद्धि मनुष्य प्रारब्ध का भरोसा रखकर उद्योग से मुँह मोड़ लेता है, उसका विनाश हो जाता है। योग्यकर्ता के द्वारा किया गया कर्म भलीप्रकार संपादित होता है। यह कार्य किसी अयोग्य कर्ता के द्वारा किया गया है, यह बात कार्य के परिणाम से जानी जाती है। कर्ता होने के कारण ही कार्य की सिद्धि में पुरुष की प्रशंसा की जाती है और जब कार्य की सिद्धि नहीं होती तब उसकी निन्दा की जाती है। यदि कर्म का सर्वथा नाश ही हो जाये तो यहाँ कार्य की सिद्धि ही कैसे हो? मनु का यह सिद्धान्त है कि कर्म करना ही चाहिये, जो कर्म छोड़कर निश्चेष्ट हो बैठा रहता है, वह पुरुष पराभव को प्राप्त होता है। पुरुषार्थ करने पर भी यदि सिद्धि न प्राप्त हो तो इस बात से खिन्न नहीं होना चाहिये क्योंकि फल की सिद्धि में दो और भी कारण हैं- प्रारब्ध और ईश्वरकृपा।[209] द्रौपदी इस प्रकार अनेक वचन कहती है। धीर मनुष्य मंगलमय कल्याण की वृद्धि के लिये अपनी बुद्धि के द्वारा शक्ति तथा बल का विचार करते हुये देश-काल के अनुसार साम-दाम आदि उपायों का प्रयोग करें। मनुष्य कभी अपने-आपका अनादर न करे, जो स्वयं ही अपना अनादर करता है, उसे उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति नहीं होती। लोक को इसी प्रकार कार्यसिद्धि प्राप्त होती है, कार्यसिद्धि की यही व्यवस्था है। काल और अवस्था के विभाग के अनुसार शत्रु की दुर्बलता के अन्वेषण का प्रयत्न ही सिद्धि का मूल कारण है। (देशकालावुपायांश्च मंगल स्वस्तिवृद्धये। युनक्ति मेधया धीरो यथाशक्ति यथाबलम्।। न त्वेवात्मावमन्तव्यः पुरुषेण कदाचन। न

ह्यात्मपरिभूतस्य भूमिर्भवति शोभना।। एवं संस्थितिका सिद्धिरियं लोकस्य भारत। तत्र सिद्धिर्गतिः प्रोक्ता कालावस्थाविभागतः।)[210]

द्रौपदी के कहे गये इन वचनों से यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि वह क्षत्रिय धर्म को जानने वाली, क्षत्रिय धर्म में रत रहने वाली, नीतिनिपुणा और पण्डिता (बुद्धिमती)[211] स्त्री थी। वह प्रारब्ध पर विश्वास कर कर्म न करने से पराभव प्राप्त करने वाले मनुष्य को निंदनीय तथा पुरुषार्थ कर फलसिद्धि के लिये प्रयत्नशील मनुष्य को प्रशंसनीय मानती थी। 'वी.एस. सुक्थणकर' ने अपने ग्रन्थ ON THE MEANING OF THE MAHABHARATA में द्रौपदी के गुणों की प्रशंसा करते हुये कहा है 'She was intelligent, high-minded,determind. She was in other words, a pure stainless virgin with a nobel, exalted mind.'[212]

श्रीकृष्ण की प्रिय सखी -

महाभारत ग्रन्थ में श्रीकृष्ण और द्रौपदी के मध्य अद्भुत घनिष्ठ सम्बन्ध प्रकट हुआ है। जो कि प्रेम, आदर और भक्ति भाव से समन्वित है। जहाँ द्रौपदी श्रीकृष्ण को सम्पूर्ण चराचर जगत् का ईश्वर और नियन्ता स्वीकार करती है वहीं स्वयं को उनकी सखी मानती है और कहती भी है। जब-जब द्रौपदी पर विपदा आयी तब-तब उसके स्मरण करने पर कृष्ण प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उसकी सहायता के लिये उपस्थित हुये हैं। वैसे तो द्रौपदी के जीवन में आमोद-प्रमोद के अवसरों की न्यूनता रही है किन्तु कुछ अवसर ऐसे भी थे जिनमें कृष्ण की सहभागिता थी जिससे इनके सम्बन्धों की प्रगाढ़ता का ज्ञान होता है। जैसे कि अर्जुन के रनिवास की स्त्रियों सहित अर्जुन, द्रौपदी, सुभद्रा संग श्रीकृष्ण का जलविहार करना।[213] संजय का धृतराष्ट्र को सन्देश सुनाते हुये यह कहना कि 'जब मैं श्रीकृष्ण और अर्जुन से आपका सन्देश सुनाने के लिये उनके अन्तःपुर में गया जहाँ कृष्ण, अर्जुन, द्रौपदी और सत्यभामा विराज रहीं थीं उस स्थान पर अभिमन्यु तथा नकुल, सहदेव भी नहीं जा सकते थे। वहाँ मैंने देखा श्रीकृष्ण के दोनों चरण अर्जुन की गोद में थे और महात्मा अर्जुन का एक पैर द्रौपदी की तथा दूसरा सत्यभामा की गोद में था (नैवाभिमन्युर्न यमौ तं देशमभियान्ति वै, यत्र कृष्णौ च कृष्णा च सत्यभामा च भामिनी। अर्जुनोत्संगौ पादौ केशवस्योपलक्षये, अर्जुनस्य च कृष्णायां सत्यायां च महात्मनः)[214] श्रीकृष्ण जब भी हस्तिनापुर आते तब-तब वे कुन्ती, सुभद्रा और द्रौपदी से अवश्य मिलते थे तथा वहाँ से

प्रस्थान करते समय भी वे उन सबसे मिलकर ही जाते थे। वनवास के समय भी कृष्ण द्रौपदी सहित उन सबसे मिलने आते रहते थे। स्वयं को उनकी सखी और ईश्वर मानकर द्रौपदी ने अपने मनोभाव भी उनके समक्ष यथावसर प्रकट किये हैं। काम्यक वन में जब श्रीकृष्ण, पाण्डवों से मिलने आते हैं तब अपने अपमान से दुःखी और क्षुब्ध द्रौपदी ने कृष्ण के समक्ष उनके ईश्वरीय स्वरूप का गुणगान करके उनसे कहा 'मधुसूदन! मैं आपके प्रति प्रेम होने के कारण आपसे अपना दुःख निवेदन करूँगी; क्योंकि दिव्य और मानव जगत् में जितने भी प्राणी हैं, उन सबके ईश्वर आप ही हैं। मेरी-जैसी स्त्री जो कुन्तीपुत्रों की पत्नी, आपकी सखी और धृष्टद्युम्न-जैसे वीर की बहिन हो, क्या किसी तरह सभा में घसीटकर लायी जा सकती है? मैं रजस्वला थी, मेरे वस्त्रों पर रक्त भी लगा हुआ था, शरीर पर एक ही वस्त्र था तथा लज्जा और भय से मैं थरथर काँप रही थी। उस दशा में मुझ दुःखिनी को कौरवों की सभा में घसीटकर लाया गया था। उस समय धृतराष्ट्र के पापात्मा पुत्रों ने मेरी हँसी उड़ायी थी। आप सभी के जीवित रहते हुये उन्होंने दासीभाव से मेरा उपभोग करने की इच्छा प्रकट की। मैं धर्मतः भीष्म और धृतराष्ट्र दोनों की पुत्रवधू हूँ तो भी उनके सामने ही बलपूर्वक दासी बनायी गयी।[215] मैं तो संग्राम में श्रेष्ठ इन महाबली पाण्डवों की ही निन्दा करती हूँ, जो अपनी यशस्विनी धर्मपत्नी को शत्रुओं द्वारा सतायी जाती हुयी देख रहे थे। भीमसेन के बल को धिक्कार है, अर्जुन के गाण्डीव धनुष को भी धिक्कार है, जो उन नराधमों द्वारा मुझे अपमानित होती देखकर भी सहन करते रहे, यथोक्तम्-

गर्हये पाण्डवांस्त्वेव युधि श्रेष्ठान् महाबलान। यत्क्लिश्यमानां प्रेक्षन्ते धर्मपत्नीं यशस्विनीम्।।
धिग् बलं भीमसेनस्य धिक् पार्थिवस्य च गाण्डिवम्।यौ मां विप्रकृतां क्षुद्रैर्मर्षयेतां जनार्दन।।[216]

द्रौपदी के इन वचनों में उसकी करुणा, वेदना, विवशता, दुःख आदि मनोभाव खुलकर प्रकट हुये हैं। इनसे पता चलता है कि जिस पत्नी को अपने पतियों पर विश्वास था, उसका वह विश्वास कितना आहत हुआ है। कौरवों की पुत्रवधू होने, वीर पाण्डवों की पत्नी और वीर भ्राता की बहिन होने का जो गर्व उसे था, वह धूमिल हो गया। वह कृष्ण से कहती है कि 'सत्पुरुषों द्वारा सदा आचरण में लाया हुआ यह धर्म का सनातन मार्ग है कि निर्बल पति भी अपनी पत्नी की रक्षा करते हैं। पत्नी की रक्षा करने से अपनी संतान सुरक्षित होती है और संतान की रक्षा होने पर अपने आत्मा की रक्षा होती है। अपना आत्मा ही स्त्री के गर्भ से जन्म लेता है इसीलिये वह जाया कहलाती है। पत्नी को भी अपने पति की रक्षा इसीलिये

करनी चाहिये कि यह किसी प्रकार मेरे उदर से जन्म ग्रहण करे। यह अपनी शरण में आने पर कभी किसी का त्याग नहीं करते किन्तु इन्हीं पाण्डवों ने मुझ शरणागत अबला पर तनिक भी दया नहीं की।[217] तत्पश्चात् वह धृतराष्ट्र पुत्रों द्वारा पूर्व में पाण्डवों पर किये गये अत्याचारों का वर्णन करने के अनन्तर अनेक प्रकार के कष्ट सहन करने वाली और अत्यन्त दुःखी, निःश्वास लेती हुयी अश्रुपूर्ण कण्ठ से कृष्ण से कहती है-

नैव मे पतयः सन्ति न पुत्रा न च बान्धवाः। न भ्रातरो न च पिता नैव त्वं मधुसूदन।।
ये मां विप्रकृतां क्षुद्रैरुपेक्षध्वं विशोकवत्। न च मे शाम्यते दुःखं कर्णो यत् प्राहसत् तदा।।
चतुर्भिः कारणैः कृष्ण त्वया रक्ष्यास्मि नित्यशः।सम्बन्धाद् गौरवात् सख्यात् प्रभुत्वेनैव केशव।।[218]

अर्थात् 'मधुसूदन! मेरे लिये न पति है, न बान्धव हैं, न भाई हैं, न पिता हैं और न आप ही हैं क्योंकि आप सभी, क्षुद्र मनुष्यों द्वारा जो मेरा अपमान हुआ था, शोकरहित होकर उसकी उपेक्षा कर रहे हैं। उस समय कर्ण ने जो मेरी हँसी उड़ायी थी उससे उत्पन्न दुःख मेरे हृदय से दूर नहीं होता है। केशव! चार कारणों से आपको सदा मेरी रक्षा करनी चाहिये। एक तो आप मेरे संबंधी हैं, दूसरे अग्निकुण्ड से उत्पन्न होने के कारण मैं गौरवशालिनी हूँ, तीसरे आपकी सखी हूँ और चैथे आप मेरी रक्षा करने में समर्थ हैं।'

द्रौपदी के इन वचनों से यह प्रतीत होता है कि परिवारजनों के होते हुये भी वह स्वयं को निस्सहाय और आश्रयहीन अनुभव कर रही है। यहाँ उसके हृदय की मर्मान्तक पीड़ा प्रकट हुयी है।

उसके वचनों को सुनकर श्रीकृष्ण ने उसे सान्त्वना देते हुये कहा 'मैं सत्य प्रतिज्ञापूर्वक कह रहा हूँ कि तुम राजरानी बनोगी। आकाश फट पड़े, हिमालय पर्वत विदीर्ण हो जाये, पृथ्वी के टुकड़े-टुकड़े हो जाये, समुद्र सूख जाये किन्तु मेरी यह बात असत्य नहीं हो सकती।'[219]

श्रीकृष्ण भी द्रौपदी के अपमान से दुःखी और क्रोधित थे।[220] उन्होंने संजय से कहा था 'जिस समय कौरवसभा में द्रौपदी का वस्त्र खींचा जा रहा था, मैं हस्तिनापुर से बहुत दूर था। उस समय कृष्णा ने आत्र्तभाव से गोविन्द कहकर जो मुझे पुकारा था, उसका मेरे ऊपर बहुत बड़ा ऋण है और यह ऋण बढ़ता ही जा रहा है। उसका भार मेरे हृदय से दूर नहीं हो सकता।'[221] श्रीकृष्ण भी चाहते थे द्रौपदी का अपमान करने वाले धृतराष्ट्रपुत्रों को दण्ड मिले।

जब युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण को संधिप्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर जाने के लिये कहा उस समय युधिष्ठिर के धर्मपूर्ण वचनों को सुनकर तथा भीमसेन को अत्यन्त शान्त देखकर मनस्विनी द्रौपदी को अत्यधिक पीड़ा हुयी। किन्तु पतियों हित सोचकर उसने श्रीकृष्ण से कहा कि 'आपके वहाँ जाने पर यदि दुर्योधन राज्य दिये बिना ही संधि करना चाहे तो आप इसे किसी तरह स्वीकार न कीजियेगा। पाण्डव सृंजय वीरों के साथ दुर्योधन की भयंकर सेना का अच्छी तरह सामना कर सकते हैं।[222] और साथ ही अपना दुःख प्रकट करके यह भी कहा कि 'यदि मैं आपकी अनुग्रहभाजन हूँ, यदि मुझ पर आपकी कृपा है तो आप धृतराष्ट्र के पुत्रों पर पूर्णरूप से क्रोध कीजिये। शत्रुओं के साथ संधि की इच्छा से आप जो-जो कार्य करें, उन सबमें दुःशासन के हाथों से खींचे हुये इन केशों को याद रखें। यथोक्तम्-

यदि तेऽहमनुग्राह्या यदि तेऽस्ति कृपामयि। धार्तराष्ट्रेषु वै कोपः सर्वः कृष्ण विधीयताम्।।
अयं ते पुण्डरीकाक्ष दुःशासनकरोद्धृतः। स्मर्तव्यः सर्वकार्येषु परेषां संधिमिच्छता।।[223]

कृष्ण! यदि भीमसेन और अर्जुन कायर होकर कौरवों के साथ संधि की कामना करने लगे हैं तो मेरे वृद्ध पिताजी अपने महारथी पुत्रों के साथ शत्रुओं से युद्ध करेंगे। मेरे पाँच महावीर पुत्र भी अभिमन्यु को आगे करके युद्ध करेंगे। यदि मैं दुःशासन की भुजा को कटकर धूलियुक्त न देखूँ तो मेरे हृदय को क्या शांति मिलेगी। प्रज्वलित अग्नि के समान इस प्रचण्ड क्रोध को हृदय में रखकर प्रतीक्षा करते हुये मुझे तेरह वर्ष व्यतीत हो गये हैं।[224] कृष्ण ने पुनः कृष्णा को सान्त्वना दी और अपनी प्रतिज्ञा दोहरायी। द्रौपदी के इन वचनों में वर्षों से उसके हृदय में दबे हुये संताप और वेदना की अभिव्यक्ति हुयी है। उसके वचनों से यह प्रतीत होता है कि वह अपने पतियों का हित तो चाहती थी किन्तु साथ ही वह यह भी चाहती थी कि उसके पति उसके तिरस्कार और कष्टों को अनदेखा न करें और उसके स्वाभिमान की रक्षा करें। द्रौपदी द्वारा कृष्ण के सम्मुख अपनी पीड़ा व क्रोध प्रकट करना तथा अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिये कहना; उसका कृष्ण के प्रति विश्वास को प्रकट करता है। कृष्ण का भी उसकी रक्षा करना, उसके दुःख को सुनकर उसे सान्त्वना देना तथा उससे की गयी प्रतिज्ञा को पूर्ण करना उसके प्रति व्यवहार द्रौपदी के साथ उनके दृढ़ सम्बन्ध और सख्यभाव को प्रकट करता है।

अद्भुत मृत्यु -

द्रौपदी का जन्मवृत्तान्त भी अद्भुत था और उसकी मृत्य भी। जब सभी पाण्डवों के साथ द्रौपदी भी योगधर्म में स्थित हो पृथ्वी की परिक्रमा पूर्ण करने की इच्छा से उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान कर रही थी, उस समय मार्ग में चलते हुये द्रौपदी का मन योग से विचलित हो गया और वह पृथ्वी पर गिर पड़ी (तेषां तु गच्छतां शीघ्रं सर्वेषां योगधर्मिणाम्, याज्ञसेनी भ्रष्टयोगा निपपात महीतले)[225] उसे गिरा हुआ देखकर भीमसेन ने धर्मराज युधिष्ठिर से पूछा 'राजपुत्री द्रौपदी ने कभी कोई पाप नहीं किया था। फिर बताइये, वह किस कारण से नीचे गिर गयी? तब युधिष्ठिर ने कहा 'उसके मन में अर्जुन के प्रति विशेष पक्षपात था; आज यह उसी का फल भोग रही है।'[226] उसने अपने पतियों से पहले शरीर का त्याग किया और स्वर्गलोक पहुँचकर अपने दैवीय रूप को प्राप्त किया।

इस प्रकार द्रौपदी की चारित्रिक विशेषताओं का अध्ययन तथा पर्यालोचन करने पर यह ज्ञात होता है कि वह अपूर्वसुन्दरी, नीलोत्पलसुगन्धिनी, सर्वशुभलक्षणों से सम्पन्न, सर्वधर्मविशेषज्ञा, धर्माचारिणी, सत्कर्मों से युक्त, आस्थावती, सत्य और प्रिय वचन बोलने वाली, दया-दाक्षिण्यादि गुणों से युक्त, लज्जाशील, अतिथि सत्कार में कुशल, गृहस्थ कत्र्तव्यों का पालन करने वाली, दैव को मानने वाली, गुरुजनों का सम्मान करने वाली, साधुव्रत में स्थित, स्त्रीसुलभचंचलता से युक्त, सबको प्रसन्न रखने वाली, सदाचार की शिक्षा देने में निपुण, प्रजाजनों के अनुकूल व्यवहार करने वाली, पतिव्रता स्त्री के कत्र्तव्यों की ज्ञाता, कत्र्तव्यपालन में तत्पर और सतत सावधान, क्षत्रिय धर्म के प्रति अनुराग रखने वाली और उसमें रत रहने वाली, तपोघोरव्रता और मनस्विनी स्त्री थी उसमें धैर्य, कष्टसहिष्णुता, संतोष, त्याग, करुणा, निर्लोभ, स्पष्टवादिता, तर्कशीलता, क्षमाशीलता, निर्भीकता, सरलता, आत्मविश्वास और वाक्चातुर्य का गुण विद्यमान था। वह दृढ़प्रतिज्ञ, व्यंग्य शैली में निपुण, स्व-अधिकार हेतु आवाज़ उठाने वाली, स्वाभिमानिनी स्त्री थी। धर्मदर्शिनी वह द्रौपदी अपने पतियों से प्रेम करने वाली, पतियों के मन को समझकर उनके अनुकूल चलने वाली, पतिहितैषिणी और उनकी सहधर्मिणी थी। वह पाण्डवों की मंत्रशक्ति, प्रभुशक्ति और उत्साह शक्ति थी। उसका कायिक, वाचिक और मानसिक तप कभी भी धैर्य विलुप्त नहीं हुआ था। उसमें उच्चकोटि की सहनशक्ति थी। वह धैर्य का सर्वोच्च प्रतिमान थी। नरेन्द्र शर्मा ने अपने खण्डकाव्य 'द्रौपदी' में बताया है कि 'पाँच पति पंचतत्व है और द्रौपदी जीवनीशक्ति है।'[227] धृतराष्ट्र ने उसे साक्षात् तेज की उपमा दी है (यज्ञसेनस्य दुहिता तेज एव तु केवलम्)228 उसने ब्राह्मणों की सेवा-पूजा से महान् धर्म

का संचय किया था। वह पौराणिक चरित्रों के श्रवण में रूचि रखने वाली, बहुश्रुता और पण्डिता स्त्री थी। वह एक आज्ञाकारिणी पुत्री, धृष्टद्युम्न की प्रिय भगिनी, आदर्श पुत्रवधू, वीर जननी और पुत्रवत्सला, श्रीकृष्ण की प्रिय सखी तथा पाण्डवों की प्रिय और पतिव्रता पत्नी थी। पतिव्रता स्त्री को परिभाषित करते हुये पद्मपुराणकार का कथन है-

कार्ये दासी रतौ वेश्या भोजने जननीसमा। विपत्सु मन्त्रिणी भर्तुः सा च भार्या पतिव्रता।।[229]

अर्थात् 'जो गृहकार्य करने में दासी, रमणकाल में वेश्या तथा भोजन के समय माता के समान आचरण करती है और जो विपत्ति में स्वामी को उचित परामर्श देकर मन्त्री का काम करती है, वह स्त्री पतिव्रता मानी गयी है' और यह कथन द्रौपदी के सम्बन्ध में पूर्णतया उचित प्रतीत होता है। द्रौपदी पाँच पाण्डु-पुत्रों का पतिरूप में वरण किया था, जो लौकिक नियम से परे था। अनेकभर्तृकता के सम्बन्ध में तैत्तिरीय संहिता में उल्लेख किया गया है कि 'एक यूप में वह दो मेखलाएँ बाँधता है, इसीलिये एक पुरुष दो पत्नियाँ प्राप्त करता है। वह दो यूपों के एक ही मेखला नहीं बाँधता, इसीलिये एक पत्नी दो पति प्राप्त नहीं करती।'[230] ऐतरेय ब्राह्मण में भी कहा गया है 'एक जन्म में एक पुरुष की अनेक पत्नियाँ होती है किन्तु एक जन्म में एक पत्नी के अनेक पति नहीं होते हैं।'[231] द्रौपदी ने अपने पाँचों पतियों को पूर्णरूप से प्रसन्न रखा। ऐतरेय ब्राह्मण में अनेकभर्तृकता के सम्बन्ध में दो उदाहरण दिये गये हैं जिनमें द्रौपदी का भी नाम है। जैसा कि कहा गया है-

एकजन्मनि यत् काचिद्दषीन् भेजे प्रचेतसः। भर्तृन् दश तथा यच्च द्रौपदी पंचपाण्डवान्।।।[232]

अपने पतिव्रता धर्म के निर्वाह के लिये वह अपने पुत्रों से भी दूर रही। अपनी ममता को हृदयस्थ ही रखा। इहलोक और परलोक दोनों में उसे अपने पतियों का सान्निध्य प्राप्त हुआ। द्रौपदी ने पातिव्रत्यधर्म के निर्वहन द्वारा आर्यस्त्री-जगत् में पूजनीय स्थान प्राप्त किया है। द्रौपदी का चरित्र इतना महान् है कि भारत के तमिलनाडु राज्य में द्रौपदी का मन्दिर है और वहाँ अगहन मास में बड़ा त्योहार मनाया जाता है; वह वहाँ अधर्म का नाश करने वाली ग्राम-रक्षक देवी के रूप में पूजी जाती है।[233] विद्वान् सुखमयभट्टाचार्य का कथन है कि 'द्रौपदी के चरित्र जैसा मृदु-कठोर नारी चरित्र महाभारत में एक भी नहीं है।'[234]

♦♦♦♦

सन्दर्भ

1. महाभारत, आदिपर्व, 68/157
2. महाभारत, आदिपर्व, 168/6-15
3. संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, पृ.सं.-767
4. ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, 116/22-24
5. महाभारत, आदिपर्व, 67/158-159; 166/44-47, सभापर्व, 65/33-34
6. महाभारत, विराटपर्व, 9/10-12
7. महाभारत, विराटपर्व, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-1055
8. बृहत्संहिता, 70/10
9. महाभारत, आदिपर्व, पृ.सं.-570
10. महाभारत, आदिपर्व, 184/11
11. महाभारत, आदिपर्व, 187/27
12. महाभारत, आदिपर्व, पृ.सं.-627
13. महाभारत, आदिपर्व, 191/14
14. महाभारत, आदिपर्व, 194/9-10, 13
15. महाभारत, आदिपर्व, 194/22-23, 27-28
16. महाभारत, आदिपर्व, 196/53; 197/1-2, 13
17. महाभारत, आदिपर्व, 197/14
18. महाभारत, आदिपर्व, 185वाँ अध्याय
19. महाभारत, आदिपर्व, 191/1-2
20. महाभारत, वनपर्व, 12/134-135
21. महाभारत, वनपर्व, 12/61
22. महाभारत, सौप्तिकपर्व, 11/18
23. महाभारत, आदिपर्व, 184/29-30
24. महाभारत, आदिपर्व, पृ.सं.-627
25. महाभारत, आदिपर्व, 191/9-10
26. महाभारत, आदिपर्व, 192/9
27. महाभारत, आदिपर्व, पृ.सं.-658-659
28. महाभारत, आदिपर्व, 207/13-15
29. महाभारत, आदिपर्व, 207/16
30. महाभारत, आदिपर्व, 212/3
31. महाभारत, आदिपर्व, 190/14

32. महाभारत, सभापर्व, 65/35-36
33. महाभारत, सभापर्व, 71/28, 32
34. महाभारत, सभापर्व, 72/1-3
35. महाभारत, सभापर्व, 76/12-13, 24 ; 77/1
36. महाभारत, सभापर्व, पृ.सं.-1058, 1061-1062
37. महाभारत, वनपर्व, 3/2, 32-34, 71-73
38. स्कन्दपुराण, काशीखण्ड, पूर्वार्द्ध, 49/12-13
39. स्कन्दपुराण, काशीखण्ड, पूर्वार्द्ध, 49/15
40. महाभारत, वनपर्व, 11/55
41. महाभारत, वनपर्व, 37/28-31
42. महाभारत, वनपर्व, 37/32-36
43. महाभारत, वनपर्व, 81/5
44. महाभारत, वनपर्व, 140/21
45. महाभारत, वनपर्व, 140/8
46. महाभारत, वनपर्व, 139/19
47. महाभारत, वनपर्व, 144/6, 17-20; 145/54; 160/24-26, 76-77
48. महाभारत, वनपर्व, 240/15-17
49. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 89/2-3
50. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, वेदखण्ड, पृ.सं.-567 ''यद्वै पत्नी यज्ञे करोति तन्मिथुनम्'' तथा ''अथो अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नीः''
51. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, वेदखण्ड, पृ.सं.-567 ''अयज्ञो वा एष योऽपत्नीकः''
52. मुण्डकोपनिषद्, 1/2/7, पृ.सं.-32-33 ''हि यस्मादेतेऽदृढा अस्थिरा यज्ञरूपा यज्ञनिर्वर्तका अष्टादशाष्टादशसंख्याकाः षोडशत्विजः पत्नी यजमानश्चेत्यष्टादश''
53. महाभारत, वनपर्व, 262/20-22 ; 263/1-2, 6-7, 17-18, 23-35
54. महाभारत, वनपर्व, 266/1-3
55. महाभारत, वनपर्व, 267/13-19
56. महाभारत, वनपर्व, पृ.सं.-842
57. महाभारत, वनपर्व, 268/21
58. महाभारत, वनपर्व, 268/24
59. महाभारत, वनपर्व, 268/25 ; 272/16
60. महाभारत, विराटपर्व, 14/1-2
61. महाभारत, विराटपर्व, 14/13-30, 47-48

62. महाभारत, विराटपर्व, 15/12
63. महाभारत, विराटपर्व, 15/17-20
64. महाभारत, विराटपर्व, 16/1-9
65. महाभारत, विराटपर्व, 16/10-12
66. महाभारत, विराटपर्व, 16/44
67. महाभारत, विराटपर्व, 22/35
68. महाभारत, विराटपर्व, 3/23 ''यथा न दुर्हृदः पापा भवन्ति सुखिनः पुनः।
कुर्यास्तत् त्वं हि कल्याणि लक्षयेयुर्न ते तथा।।''
69. महाभारत, विराटपर्व, 68/41-49 ''अवैक्षत स धर्मात्मा द्रौपदीं पाश्र्वतः स्थिताम्। सा ज्ञात्वा तमभिप्रायं भर्तुश्चित्तवशानुगा।। पात्रं गृहीत्वा सौवर्णं जलपूर्णमनिन्दिता। तच्छोणितं प्रत्यगृह्णाद् यत् प्रसुस्राव नस्ततः।।''
70. महाभारत, विराटपर्व, 68/55
71. महाभारत, शान्तिपर्व, 14वाँ अध्याय
72. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 89/10-14
73. महाभारत मीमांसा, पृ.सं.-239
74. महाभारत, शान्तिपर्व, 38/5-6
75. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 10/46-47
76. रघुवंशम्, 3/62
77. किरातार्जुनीयम्, 1/12
78. महाभारत, महाप्रस्थानिकपर्व, 1/19-21, 29, 32
79. महाभारत, महाप्रस्थानिकपर्व, 2/18; 3/6; स्वर्गारोहणपर्व, 4/5-9
80. महाभारत, स्वर्गारोहणपर्व, 4/10
81. महाभारत, आदिपर्व, 220/17
82. महाभारत, आदिपर्व, 220/23-24
83. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 88/2,4
84. महाभारत, सौप्तिकपर्व, 11/11; आश्वमेधिकपर्व, 66/13, 67/9
85. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 68/8-10, 70/6-7
86. महाभारत, आदिपर्व, 192/9
87. महाभारत, आदिपर्व, 198/3
88. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 1/9
89. महाभारत, वनपर्व, 233/40-41, 33
90. महाभारत, विराटपर्व, 20/23

91. महाभारत, वनपर्व, 233/41
92. महाभारत, वनपर्व, 233/40-41; शान्तिपर्व, 14/30
93. महाभारत, सभापर्व, 67/36
94. महाभारत, सभापर्व, 69/2
95. महाभारत, सभापर्व, 79/9
96. महाभारत, उद्योगपर्व, 137/12-13
97. महाभारत, वनपर्व, 12/117
98. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 16/30, 21/15, 22/15-16
99. महाभारत, वनपर्व, 235/10-12
100. महाभारत, उद्योगपर्व, 90/47
101. महाभारत, सौप्तिकपर्व, 11/13
102. महाभारत, सौप्तिकपर्व, 11/14-15
103. महाभारत, सौप्तिकपर्व, 11/19
104. महाभारत, सौप्तिकपर्व, 11/20-21
105. महाभारत, सौप्तिकपर्व, 16/35, 37
106. महाभारत, सभापर्व, 68/44-48
107. महाभारत, वनपर्व, 263/1, 6-7, 17-36
108. महाभारत, विराटपर्व, 15/17-20; 16/10-11
109. महाभारत, वनपर्व, 30/22-23
110. महाभारत, वनपर्व, 30/25-28
111. महाभारत, विराटपर्व, 20/7
112. महाभारत, विराटपर्व, 20/9, 18
113. महाभारत, विराटपर्व, 20/14-17
114. महाभारत, वनपर्व, 28,32,233वाँ अध्याय
115. महाभारत, वनपर्व, 32/60-61
116. महाभारत, वनपर्व, 32/62
117. महाभारत, वनपर्व, पृ.सं.-178-260
118. महाभारत, वनपर्व, पृ.सं.-326-327
119. महाभारत, वनपर्व, पृ.सं.-327-352, पृ.सं.-379-387
120. महाभारत, वनपर्व, पृ.सं.-592-615
121. महाभारत, वनपर्व, 233/3-8
122. महाभारत, सभापर्व, 67/16

123. महाभारत, सभापर्व, 69/11
124. महाभारत, सभापर्व, 233/10
125. महाभारत, सभापर्व, 233/11, 17
126. महाभारत, सभापर्व, 233/19-33
127. महाभारत, सभापर्व, 233/34-35, 37,39
128. महाभारत, सभापर्व, 233/42-52
129. महाभारत, सभापर्व, 65/37
130. महाभारत, वनपर्व, 233/53-5
131. महाभारत, वनपर्व, 3/82, 91/1-2, 9; 267/12-13
132. महाभारत, आदिपर्व, 221/23
133. महाभारत, सभापर्व, 78/11
134. महाभारत, उद्योगपर्व, 23/5; सभापर्व, 81/12-13;
135. महाभारत, सभापर्व, 79/4-5; उद्योगपर्व, 137/12
136. महाभारत, वनपर्व, 120/24, 183/27
137. महाभारत, वनपर्व, 235/12
138. महाभारत, सभापर्व, 71/27, 33; 81/20
139. महाभारत, उद्योगपर्व, 139/18
140. महाभारत, वनपर्व, 273/7
141. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/83
142. महाभारत, आदिपर्व, 186/23
143. महाभारत, सभापर्व, 67/4
144. महाभारत, सभापर्व, 67/5
145. महाभारत, सभापर्व, 67/7
146. महाभारत, सभापर्व, 67/34
147. महाभारत, सभापर्व, 67/40-41
148. महाभारत, सभापर्व, 67/42
149. महाभारत, सभापर्व, ◌67/44-45
150. महाभारत, सभापर्व, 67/47
151. महाभारत, सभापर्व, 67/50
152. महाभारत, सभापर्व, पृ.सं.-1023
153. महाभारत, सभापर्व, 68/40-48
154. महाभारत, सभापर्व, 69/4-10

155. महाभारत, शल्यपर्व, 5/19, सभापर्व, 80/20-21
156. महाभारत, वनपर्व, 268/12
157. महाभारत, वनपर्व, 268/13
158. महाभारत, वनपर्व, 271/43
159. महाभारत, वनपर्व, 271/45-46
160. महाभारत, विराटपर्व, 16/28-29
161. महाभारत, विराटपर्व, 16/33
162. महाभारत, सभापर्व, 71/33
163. महाभारत, सभापर्व, 71/34-36
164. महाभारत, विराटपर्व, 1/24-27; 2/1-4, 25-32; 3/3-4, 8-9
165. महाभारत, विराटपर्व, 3/14-17
166. महाभारत, विराटपर्व, 3/18
167. महाभारत, विराटपर्व, 3/19-21
168. महाभारत, विराटपर्व, पृ.सं.-1060
169. महाभारत, विराटपर्व, पृ.सं.-1058
170. महाभारत, सौप्तिकपर्व, 16/34
171. महाभारत, विराटपर्व, पृ.सं.-1060
172. हर्षचरितम्, प्रथम उच्छ्वास, पृ.सं.-39
173. आपस्तम्बस्मृति, 10/5
174. महाभारत, वनपर्व, 267/20
175. महाभारत, वनपर्व, पृ.सं.-842
176. महाभारत, वनपर्व, 268/2, 5-19
177. महाभारत, विराटपर्व, 22/5
178. महाभारत, विराटपर्व, 22/12-13
179. महाभारत, विराटपर्व, 22/14
180. महाभारत, विराटपर्व, 22/16-17
181. महाभारत, विराटपर्व, 14/47-52
182. महाभारत, सभापर्व, 50/29
183. महाभारत, सभापर्व, 50/30
184. महाभारत, वनपर्व, 146/5-6
185. महाभारत, वनपर्व, 146/7
186. महाभारत, शान्तिपर्व, 14/7-12

187. महाभारत, शान्तिपर्व, 14/14
188. महाभारत, शान्तिपर्व, 14/16-17
189. महाभारत, शान्तिपर्व, 14/18-25, 30-34
190. महाभारत, शान्तिपर्व, 14/37-39
191. महाभारत, सभापर्व, 68/52-53
192. महाभारत, सभापर्व, 71/14
193. महाभारत, कर्णपर्व, 83/25-29; शल्यपर्व, 59/12
194. महाभारत, सभापर्व, 77/43-44
195. महाभारत, वनपर्व, 293/1-2; उद्योगपर्व, 31/13-16, 81/3; कर्णपर्व, 74/22-25
196. महाभारत, वनपर्व, 11/16-18, 71
197. महाभारत, वनपर्व, 144/17-20
198. महाभारत, वनपर्व, 144/21-22
199. महाभारत, वनपर्व, 144/24-28
200. महाभारत, वनपर्व, 269/13
201. महाभारत, वनपर्व, 269/14
202. महाभारत, वनपर्व, 27/37-38
203. महाभारत, वनपर्व, 27/39-40
204. महाभारत, वनपर्व, 28/7-8
205. महाभारत, वनपर्व, 28/9-15
206. महाभारत, वनपर्व, 28/17-20
207. महाभारत, वनपर्व, 28/26-29
208. महाभारत, वनपर्व, 28/32
209. महाभारत, वनपर्व, 32/3, 8, 10-50
210. महाभारत, वनपर्व, 32/53, 58-59
211. संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश (वामन शिवराम आप्टे), पृ.सं.-609,
पण्डा+इतच्=पण्डित+टाप् प्रत्यय = पण्डिता
212. ON THE MEANING OF THE MAHABHARATA, PAGE NO. 35-36
213. महाभारत, आदिपर्व, 221/18-23
214. महाभारत, उद्योगपर्व, 59/4, 7
215. महाभारत, वनपर्व, 12/60-65
216. महाभारत, वनपर्व, 12/66-67
217. महाभारत, वनपर्व, 12/68-71
218. महाभारत, वनपर्व, 12/125-127

219. महाभारत, वनपर्व, 12/130-131
220. महाभारत, उद्योगपर्व, 29/37-43
221. महाभारत, उद्योगपर्व, 59/22
222. महाभारत, उद्योगपर्व, 82/10-11
223. महाभारत, उद्योगपर्व, 82/32, 36
224. महाभारत, उद्योगपर्व, 82/37-40
225. महाभारत, महाप्रस्थानिकपर्व, 2/3
226. महाभारत, महाप्रस्थानिकपर्व, 2/6
227. भारत में महाभारत, पृ.सं.-581
228. महाभारत, वनपर्व, 239/9
229. पद्मपुराण, सृष्टि खण्ड, 47/56
230. तैत्तिरीय संहिता, 6/6/4/3 'यदेकस्मिन् यूपे द्वे रशने परिव्ययति तस्मादेको द्वे जाये विन्दते यन्नैका रशना द्वयोर्यूपयो परिव्ययति तस्मान्नैका द्वौ पतो विन्दते'
231. ऐतरेय ब्राह्मण, 12/11, पृ.सं.-508 'एकस्य भर्तुभार्याः स्युर्बह्व्य एकत्र जन्मनि। नैकस्याः स्युश्च भर्तारो बहवस्त्वेकजन्मनि।।' अपि च 'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबेऽथ पतिते पतौ। पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते।' न द्वितीयो हि साध्वीनां क्वचिद् भर्तोपदिश्यते।'
232. ऐतरेय ब्राह्मण, 12/11
233. भारत में महाभारत, पृ.सं.-379
234. महाभारतकालीन समाज, पृ.सं.-68

अष्टम अध्याय

द्रौपदी के परवर्ती प्रमुख स्त्री पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का अध्ययन तथा पर्यालोचन

अष्टम अध्याय

द्रौपदी के परवर्ती प्रमुख स्त्री पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का अध्ययन तथा पर्यालोचन

उलूपी

'उलूपी' ऐरावत नाग के कुल में उत्पन्न कौरव्य नामक नाग की 'विशुद्ध जाम्बूनद नामक सुवर्ण के समान और वर्ण वाली' सुन्दरी कन्या थी। (ऐरावतकुले जातः कौरव्यो नाम पन्नगः। तस्यास्मि दुहिता राजन्नुलूपी नाम पन्नगी। इयं च जाम्बूनदशुद्धगौरी पार्थस्य भार्या भुजगेन्द्रकन्या)[1] यह अलौकिक शक्ति से सम्पन्न थी। उलूपी की चारित्रिक विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

पतिव्रता: नागराज कन्या 'उलूपी' ने स्वेच्छा से 'अर्जुन' का अपने पतिरूप में वरण किया था। इसके लिये उसने अपने पिता से स्वीकृति नहीं ली थी बल्कि उसने तो अर्जुन को देखते ही उस पर आसक्त होकर, गंगास्नान के लिये जल में उतरे हुये उसको, जल के भीतर से ही खींच लिया और अपने भवन में ले गयी।[2] वहाँ अपना परिचय देकर उसने 'अर्जुन' के समक्ष प्रणयनिवेदन करते हुये कहा 'आपको देखते ही मैं कामवेदना से मूर्च्छित हो गयी थी। मैंने आपके सिवा दूसरे को अपना हृदय अर्पण नहीं किया है अतः मुझे आत्मदान देकर आनन्दित कीजिये' (दृष्ट्वैव पुरुषव्याघ्र कन्दर्पेणाभिमूर्च्छिता। अनन्यां नन्दयस्वाद्य प्रदानेनात्मनोऽनघ)[3] उलूपी के ये वचन सुनकर अर्जुन ने बाहर वर्षों तक चलने वाले अपने ब्रह्मचर्यव्रत के विषय में उसे बताया तब उसने कहा कि 'आप जिस उद्देश्य से पृथ्वी पर विचर रहे हैं और आपके ज्येष्ठ भ्राता ने जिस प्रकार आपको ब्रह्मचर्य-पालन का आदेश दिया है, वह सब मैं जानती हूँ। आपके ज्येष्ठ भ्राता ने वहाँ धर्म की रक्षा के लिये केवल द्रौपदी को निमित्त बनाकर यह एक-दूसरे के प्रवास का नियम बनाया है। यहाँ आपका धर्म दूषित नहीं होता। मेरी रक्षा करने से आपके धर्म का लोप नहीं होगा। यदि आपके इस धर्म का थोड़ा-सा व्यतिक्रम भी हो जाये तो भी मुझे प्राणदान देने से तो आपको महान् धर्म होगा ही। मैं आपकी भक्त हूँ, मुझे स्वीकार कीजिये, यह आर्तरक्षण सत्पुरुषों का मत है। यदि आप मेरी

प्रार्थना पूर्ण नहीं करेंगे तो निश्चय जानिये, मैं मर जाऊँगी। अतः मुझे प्राणदान देकर अत्यन्त उत्तम धर्म का अनुष्ठान कीजिये; यथोक्तम्-

जानाम्यहं पाण्डवेय यथा चरसि मेदिनीम्। यथा च ते ब्रह्मचर्यमिदमादिष्टवान् गुरुः।।
तदिदं द्रौपदीहेतोरन्योन्यस्य प्रवासनम्।। कृतवांस्तत्र धर्मार्थमत्र धर्मो न दुष्यति।
कृत्वा मम परित्राणं तव धर्मो न लुप्यते। यदि वाप्यस्य धर्मस्य सूक्ष्मोऽपि स्याद् व्यतिक्रमः।।
स च ते धर्म एव स्याद् दत्त्वा प्राणान् ममार्जुन। भक्तां च भज मां पार्थ सतामेतन्मतं प्रभो।।
न करिष्यसि चेदेवं मृतां मामुपधारय। प्राणदानान्महाबाहो चर धर्ममनुत्तमम्।।[4]

उलूपी के ऐसा कहने पर अर्जुन ने धर्म को ही सामने रखकर उसकी प्रार्थना को पूर्ण किया। वह एक रात्रि वहाँ रुककर पुनः उलूपी के साथ गंगाद्वार आ गये।[5] अर्जुन के जाते समय उलूपी ने उसे वर दिया कि 'आप जल में सर्वत्र अजेय होंगे और सभी जलचर आपके वश में रहेंगे, इसमें संशय नहीं है।' (दत्त्वा वरमजेयत्वं जले सर्वत्र भारत, साध्या जलचराः सर्वे भविष्यन्ति न संशयः)[6] 'उलूपी' को अर्जुन का दर्शन पुनः युधिष्ठिर द्वारा आयोजित अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर यज्ञ-अश्व की रक्षार्थ नियुक्त अर्जुन के मणिपूर प्रदेश पहुँचने पर होता है। वहाँ चित्रांगदा के पुत्र बभ्रुवाहन तथा अर्जुन के मध्य युद्ध होने पर जब अर्जुन, अपने पुत्र के बाणों से घायल होकर मूर्च्छित हो गये तब उलूपी ने संजीवनी मणि का स्मरण किया और नागों के जीवन की आधारभूत उस मणि को बभ्रुवाहन को देकर उसे उसके पिता के हृदय पर रखने को कहा और उस मणि के प्रभाव से अर्जुन पुनः जीवित हो उठे।[7]

अर्जुन ने जब इसका कारण जानना चाहा तो उलूपी ने कहा 'प्रभो! पहले तो मैं आपके चरणों में सिर रखकर आपको प्रसन्न करना चाहती हूँ। यदि मुझसे कोई दोष बन गया हो तो भी उसके लिये आप मुझ पर क्रोध न करें क्योंकि मैंने जो कुछ किया है, वह आपकी प्रसन्नता के लिये ही किया है। महाभारत-युद्ध में आपने जो शान्तनुकुमार भीष्म को अधर्मपूर्वक मारा है, उस पाप का यह प्रायश्चित कर दिया गया है।'[8] 'आपने शिखण्डी का आश्रय लेकर उनका वध किया था। उसकी शान्ति किये बिना ही यदि आप प्राणों का परित्याग करते तो उस पापकर्म के प्रभाव से निश्चय ही नरक को प्राप्त होते। पूर्वकाल में वसुओं तथा गंगा जी ने इसी रूप में उस पाप की शान्ति निश्चित की थी जिसे आपने अपने पुत्र से पराजय के रूप में प्राप्त किया है', यथोक्तम्-

शिखण्डिना तु संयुक्तस्तमाश्रित्य हतस्त्वया। तस्य शान्तिमकृत्वा त्वं त्वजेथा यदि जीवितम्। कर्मणा तेन पापेन पतेथा निरये ध्रुवम्।। एषा तु विहिता शान्तिः पुत्राद् यां प्राप्तवानसि। वसुभिर्वसुधापाल गंगया च महामते।।[9]

वह इस विषय में आगे कहती है कि 'एक दिन जब मैं गंगातट पर गयी थी तब मैंने वसुओं के मुख से आपके द्वारा भीष्म की मृत्यु को अधर्मपूर्वक किया हुआ जानकर, आपको शाप देने की इच्छा के बारे में सुना और गंगाजी ने भी उनकी बात का अनुमोदन किया। यह बात सुनकर मैं अत्यन्त व्यथित हो गयी और पिताजी से इस सम्बन्ध में बात की तब पिताजी ने वसुओं के पास जाकर उनसे क्षमायाचना की और आपको शाप से मुक्त कर देने की प्रार्थना की, तब वसुओं ने कहा कि जब आपका पुत्र बभ्रुवाहन आपको युद्धभूमि में खड़ा होकर अपने बाणों द्वारा भूमि पर गिरा देगा, तब आप इस शाप से मुक्त हो जायेंगे। मैं समझती हूँ कि इसमें मेरा कोई दोष नहीं है।'[10] उलूपी के ऐसा कहने पर अर्जुन ने उसके कार्य की प्रशंसा की। उन्हें राजसूय यज्ञ के प्रारम्भ होने के समय पर आने के लिये कहकर अर्जुन वहाँ से चले गये।[11] जब उलूपी यज्ञ के समय हस्तिनापुर आती है तो वहीं रहकर अपने कत्र्तव्यों का पालन करती है और अर्जुन के महाप्रस्थान के समय पुनः गंगाजी के जल में प्रवेश कर जाती है (विवेश गंगा कौरव्य उलूपी भुजगात्मजा)।[12]

यहाँ 'उलूपी' प्रथमदृष्ट्या एक कामासक्त स्त्री की भाँति प्रतीत होती है किन्तु उसका अर्जुन के प्रति अनुराग और भक्ति देखकर तथा वसुओं के शाप से अपने पति को मुक्त कराने पर, उसके कर्तव्यपालन को देखकर उसके साध्वी और पतिव्रता होने का ज्ञान होता है। वह अलौकिक शक्ति से सम्पन्न थी और उसे अर्जुन से सम्बन्धित सभी घटनाओं का ज्ञान पहले से ही था। उसने अर्जुन को वर भी दिया। इन सभी बातों से उसकी अद्भुत क्षमताओं का ज्ञान होता है। उसके पिताजी ने भी उसकी समस्या को दूर करने में उसका सहयोग किया, इसमें प्रतीत होता है कि उसके पिता को उस पर पूर्ण विश्वास था। वे अपनी पुत्री से अत्यधिक प्रेम करते थे। भले ही उसने उनकी स्वीकृति के बिना ही अर्जुन के साथ सम्बन्ध स्थापित किया था। उलूपी ने अर्जुन के जीवित रहते हुये सदैव अपने पातिव्रत्य-धर्म का पालन किया।

सपत्नी रूपः 'उलूपी' का चित्रांगदा, द्रौपदी, सुभद्रा आदि सभी से प्रेमपूर्ण व्यवहार था। वह सभी का सम्मान करती थी।[13]

माता रूपः 'उलूपी' ने अर्जुन के संयोग से अत्यन्त मनोहर तथा महान् बल-पराक्रम से सम्पन्न 'इरावान्' नामक महाभाग पुत्र को उत्पन्न किया था।[14] जिसने महाभारत-युद्ध में अपने पिता का सहयोग किया था और शत्रुओं से लड़ते हुये वीरगति को प्राप्त किया था।[15] पुत्र की मृत्यु पर अर्जुन का तो पुत्रप्रेम प्रकट हुआ है किन्तु उलूपी का नहीं।

इसी प्रकार विमाता रूप में बभ्रुरवाहन के प्रति कहे गये उसके वचनों से उसके पुत्र प्रेम का और उसके सहृदय होने का पता चलता है। जब अर्जुन अश्वमेध के अश्व का अनुसरण करते हुये मणिपूर प्रदेश पहुँचते हैं तो उनके आने का समाचार सुनकर बभ्रुरवाहन अत्यधिक प्रसन्न होता है और बहुत सा धन लेकर उनके दर्शन के लिये उपस्थित होता है किन्तु अर्जुन को यह बात अच्छी नहीं लगी और उसने अपने पुत्र से क्षत्रिय धर्म का आश्रय लेकर युद्ध करने के लिये कहा।[16] तब उलूपी अर्जुन के अभिप्राय को समझकर और उनके द्वारा किये गये पुत्र के तिरस्कार को सहन न करने के कारण धरती छेदकर वहाँ चली आयी। (तमेवमुक्तं भर्ता तु विदित्वा पन्नगात्मजा। अमृष्यमाणा भित्त्वोर्वीमुलूपी समुपागमत्)[17] उसने देखा कि पुत्र बभ्रुरवाहन नीचे मुख किये किसी सोच-विचार में लगा हुआ है और युद्धार्थी पिता उसे बारंबार फटकार रहे हैं।[18] तब उसने पुत्र से कहा कि 'पुत्र! तुम्हें विदित होना चाहिये कि मैं तुम्हारी माता नागकन्या उलूपी हूँ। तुम मेरी आज्ञा का पालन करो। इससे तुम्हें महान् धर्म की प्राप्ति होगी। तुम्हारे पिता कुरुकुल के श्रेष्ठ वीर और युद्ध के मद से उन्मत्त रहने वाले हैं अतः इनके साथ अवश्य युद्ध करो। ऐसा करने से ये तुम पर प्रसन्न होंगे। इसमें संशय नहीं है (उलूपी मां निबोध त्वं मातरं पन्नगात्मजाम्। कुरुष्व वचनं पुत्र धर्मस्ते भविता परः।। युध्यस्वैनं कुरुश्रेष्ठं पितरं युद्धदुर्मदम्। एवमेष हि ते प्रीतो भविष्यति न संशयः)[19] तब वह माता से प्रेरित होकर युद्ध के लिये तैयार हुआ। उसने युद्ध में अपने पिता को बाणों से घायल कर दिया जिससे अर्जुन मूर्च्छित हो गये[20], तब उन्हें मृत जानकर बभ्रुवाहन विलाप करता हुआ अत्यधिक शोक-संतप्त होकर आमरण उपवास का संकल्प लेकर बैठ गया।[21] उस समय उलूपी ने अपने पुत्र को धैर्य बँधाते हुये कहा, "पुत्र! उठो, शोक न करो। ये तुम्हारे द्वारा परास्त नहीं हुये हैं। ये तो सभी मनुष्यों और इन्द्र सहित सम्पूर्ण देवताओं के लिये भी अजेय हैं।"[22] यह तो मैंने आज तुम्हारे यशस्वी पिता पुरुषेन्द्र का प्रिय करने के लिये मोहिनी माया दिखलायी है। तुम इनके पुत्र हो। ये तुम जैसे पुत्र का बल-

पराक्रम जानना चाहते थे इसीलिये मैंने तुम्हें युद्ध के लिये प्रेरित किया है। तुम अपने में अणु-मात्र पाप की भी आशंका न करो, यथोक्तम्-

मया तु मोहिनी नाम मायैषा सम्प्रदर्शिता। प्रियार्थं पुरुषेन्द्रस्य पितुस्तेऽद्य यशस्विनः।।
जिज्ञासुह्येष पुत्रस्य बलस्य तव कौरवः। तस्मादसि मया पुत्र युद्धाय परिचोदितः।
मा पापमात्मानः पुत्र शंकेथा ह्यण्वपि प्रभो।।[23]

इस तरह उसे सान्त्वना देकर अपनी दिव्यमणि को उसके हाथ में देकर उसे अपने पिता के हृदय पर लगाने के लिये कहा और फलस्वरूप अर्जुन पुनः जीवित हो गये और यह देखकर बभ्रुरवाहन अत्यन्त प्रसन्न हुआ।[24]

यहाँ उलूपी का बभ्रुवाहन के प्रति प्रेम, उसे दुविधा में देखकर कर्तव्यपालन हेतु प्रेरित करना तथा अपने पिता की मृत्यु का हेतु स्वयं को जानकर विषाद में आकण्ठ डूबे, उसे सान्त्वना प्रदान करते तार्किक शीतल वचन, उसके विमाता रूप के उज्ज्वल पक्ष का प्रदर्शन तो करते ही हैं साथ ही उसके हृदयस्थ वात्सल्य भाव का निदर्शन भी कराते हैं जो कि स्वयं के पुत्र इरावान् के सम्बन्ध में अप्रकट ही रहा है किन्तु इस सम्पूर्ण घटनाक्रम के मूल में उलूपी द्वारा अपने पातिव्रत्यधर्म की पालनान्तर्गत पति अर्जुन के प्राणों की वसुओं के शाप से रक्षा करना ही प्रधान था।

वधूरूपः अश्वमेध के अवसर पर उलूपी, चित्रांगदा और बभ्रुरवाहन सहित हस्तिनापुर आयी और उन दोनों ने एक साथ ही विनीत भाव से अपनी श्वश्रू कुन्ती और सपत्नी द्रौपदी के चरण स्पर्श किये। फिर सुभद्रा तथा कुरुकुल की अन्य स्त्रियों से भी वे दोनों यथायोग्य मिलीं। (ततश्चित्रांगदा देवी कौरव्यस्यात्मजापि च। पृथां कृष्णां च सहिते विनयेनोपजग्मतुः। सुभद्रां च यथान्यायं याश्चान्याः कुरुयोषितः)[25] वधू रूप में उसका व्यवहार सभी के प्रति सम्मान से युक्त था। उलूपी, अपनी श्वश्रू और गान्धारी की दासी की भांति सेवा किया करती थी (याश्चान्याः पाण्डवस्त्रियः, समां वृत्तिमवर्तन्त तयोः श्वसुरवोर्यथाविधि)[26] जब कुन्ती ने भी गान्धारी और धृतराष्ट्र के साथ वन जाकर तपश्चर्या का निश्चय किया तो वे सब उनके जाने से पहले ही दुःखी थी, और अब कुन्ती का निश्चय सुनकर वे सब अत्यधिक दुःखी होकर और अधिक विलाप करने लगी।[27] उनके वन में चले जाने पर उलूपी भी अन्य पाण्डुपत्नियों के साथ अपने श्वसुर और श्वश्रू से मिलने वन में जाती है।[28] उनकी मृत्यु पर भी वे सब अत्यधिक विलाप करती है।[29] वधू रूप में उलूपी का आचरण धर्मानुसार ही रहा है।

यहाँ उलूपी के चरित्र में पतिव्रता होने का गुण ही मुख्यतः उभरकर सामने आता है। अपने पत्नीधर्म का पालन उसने पूर्णनिष्ठा के साथ किया है किन्तु उसके सपत्नी, माता और वधू रूपों पर अत्यल्प ही प्रकाश पड़ा है तथापि उसके लिये प्रयुक्त किये गये शब्दों से उसके गौरवशालिनी होने का ज्ञान होता है। चित्रांगदा ने उसे आर्यधर्मज्ञा, पतिव्रता और त्रैलोक्यविदिता कहकर उसकी प्रशंसा करते हुये उसके गुणों को ही प्रकट किया है तथा उसे 'साध्वी' कहकर उसके 'सदाचार' को प्रमाणित किया गया है। वह अनिन्द्यसुन्दरी, पतिव्रता, बुद्धिमती, विनम्र, गुणवती, धैर्यशीला, तेजस्विनी, पतिहितैषिणी, अलौकिकशक्तिसम्पन्ना और प्रत्युत्पन्नमतित्व आर्यस्त्री है।

चित्रांगदा

'चित्रांगदा' मणिपूर के स्वामी धर्मज्ञ चित्रवाहन की रूपयौवनसम्पन्ना 'दुहिता'30 थी, जिसकी अंगकान्ति नवीन मधूक-पुष्पों के समान थी (मणिपूरेश्वरं राजन् धर्मज्ञं चित्रवाहनम्। तस्य चित्रांगदा नाम दुहिता चारुदर्शना।। यैषा सवर्णार्द्रमधूकपुष्पैः)[31] नारद के कथनानुसार पाण्डवों ने द्रौपदी के विषय में यह नियम बनाया था कि 'द्रौपदी के साथ एकान्त में बैठे हुये हममें से एक भ्राता को यदि दूसरा देख ले, तो वह बारह वर्षों तक ब्रह्मचर्यपूर्वक वन में निवास करे' (द्रौपद्या नः सहासीनानन्योन्यं योऽभिदर्शयेत्। स नो द्वादश वर्षाणि ब्रह्मचारी वने वसेत्)[32] अर्जुन के द्वारा इसी नियम-भंग के फलस्वरूप वनवास गमन के समय वे मणिपूर प्रदेश पहुँचे। नगर में विचरण करती हुयी राजकुमारी 'चित्रांगदा' को देखकर अर्जुन के मन में उसे प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न हुयी अतः उसके साथ विवाह का प्रस्ताव लेकर अर्जुन, मणिपूर नरेश 'चित्रवाहन' के समक्ष गए।[33] राजा ने 'अर्जुन' का परिचय जानकर, उसे अपनी पुत्री के योग्य समझकर, अपनी पुत्री का विवाह 'अर्जुन' के साथ कर दिया।[34] 'चित्रांगदा' अपने पिता की आज्ञाकारिणी पुत्री थी। उन्होंने 'पुत्रिका धर्म' की शर्त के अनुसार अपनी पुत्री का विवाह अर्जुन से किया था।[35] शास्त्रों में भी 'पुत्रिकाविधि' का उल्लेख मिलता है।[36] उसने अपने पिता की इच्छा से ही विवाह किया था।

पतिव्रता: वह आज्ञाकारिणी पुत्री होने के साथ ही पतिव्रता पत्नी भी थी। अपने पति की प्रसन्नता का ध्यान रखना और उनके वचनों की पालना करना ही उसका धर्म था। अर्जुन के साथ तीन वर्षों तक विहार करने के पश्चात् 'चित्रांगदा' ने 'बभ्रुरवाहन' नामक पुत्र को जन्म

दिया और इसके कुछ समय पश्चात् अर्जुन गोकर्णतीर्थ की ओर चले गये।[37] जाते समय अर्जुन ने 'चित्रांगदा' से कहा 'तुम यहीं रहो और बभ्रुरवाहन का पालन-पोषण करो। महाराज युधिष्ठिर के द्वारा अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किये जाने पर तुम भी अपने पिता के साथ आ जाना। मेरे वियोग से तुम सन्तप्त न होना। बभ्रुरवाहन के नाम से मेरा प्राण ही इस भूतल पर विद्यमान है अतः इसका भरण-पोषण करो। शोक मत करो।'[38] अपने पति के वचनों का पालन करते हुये ही उसने अनेक वर्ष व्यतीत कर दिये। अश्वमेधयज्ञ के निमित्त युधिष्ठिर के यज्ञ-सम्बन्धी अश्व की रक्षा करते हुये अर्जुन पुनः मणिपूर प्रदेश पहुँचे तो वहाँ बभ्रुरवाहन और अर्जुन के मध्य युद्ध हुआ, जिसमें पुत्र के बाण से घायल होकर अर्जुन मूर्च्छित हो गये, पिता की ऐसी अवस्था देखकर वह भी मूर्च्छित हो गया। तत्पश्चात् इन दोनों को ऐसी अवस्था में देखकर चित्रांगदा का हृदय शोक से सन्तप्त हो गया और रोती, काँपती, विलाप करते हुये वह संज्ञाशून्य होकर पृथ्वी पर गिर गयी।[39] पुनः चेतना आने पर, पतिवियोगजन्य दुःख से सन्तप्त होकर उसने उलूपी को अपने समक्ष देखकर कहा 'देखो, हम दोनों के स्वामी मृत्यु को प्राप्त कर रणभूमि में सो रहे हैं। तुम्हारी प्रेरणा से ही मेरे पुत्र ने समरविजयी अर्जुन का वध किया है। तुम तो आर्यधर्म को जानने वाली और पतिव्रता हो तथापि तुम्हारे कारण ये रणभूमि में मारे गये हैं।' किन्तु यदि ये अर्जुन सर्वथा तुम्हारे अपराधी हों तो भी आज क्षमा कर दो। मैं तुमसे इनके प्राणों की याचना करती हूँ। तुम इनको जीवित कर दो। शुभे! तुम धर्मज्ञा और त्रैलोक्यविदिता हो, तो भी आज पुत्र से पति की हत्या कराकर तुम्हें शोक नहीं हो रहा है, इसका क्या कारण है? मृत पुत्र के लिये मैं शोक नहीं करती। मुझे केवल पति के लिये शोक हो रहा है, जिनका मेरे यहाँ इस तरह अतिथि-सत्कार किया गया, यथोक्तम्-

किंतु सर्वापराधोऽयं यदि तेऽद्य धनंजयः। क्षमस्व याच्यमाना वै जीवयस्व धनंजयम्।।
ननु त्वमार्ये धर्मज्ञा त्रैलोक्यविदिता शुभे। यद् घातयित्वा पुत्रेण भर्तारं नानुशोचसि।।
नाहं शोचामि तनयं हतं पन्नगनन्दिनि। पतिमेव तु शोचामि यस्यातिथ्यमिदं कृतम्।।[40]

ऐसा कहकर वह पुनः विलाप करने लगी। उसकी तो एक ही इच्छा थी कि 'पति जीवित हो जाय भले ही पुत्र भूमि पर सदा के लिये सोता रह जाय' (कामं स्वपितु बालोऽयं भूमौ मृत्युवशं गतः, लोहिताक्षो गुडाकेशो विजयः साधु जीवतु)[41] वह उलूपी से कहती है 'कोई पुरुष बहुत-सी स्त्रियों को पत्नी बनाकर रखे, तो उनके लिये यह अपराध नहीं है। स्त्रियाँ यदि

ऐसा करें तो यह उनके लिये अवश्य दोष की बात होती है अतः तुम्हारी बुद्धि ऐसी क्रूर नहीं होनी चाहिये। विधाता ने पति और पत्नी की मित्रता सदा रहने वाली और अटूट बनायी है। इस सख्यभाव के महत्त्व को समझो और ऐसा उपाय करो जिससे तुम्हारी इनके साथ की हुयी मैत्री सत्य एवं सार्थक हो। तुम्हीं ने पुत्र को लड़ाकर उसके द्वारा पतिदेव की हत्या करवायी है। यह सब करके यदि आज तुम पुनः इन्हें जीवित करके न दिखा दोगी तो मैं भी प्राण त्याग दूँगी' यथोक्तम्-

नापराधोऽस्ति सुभगे नराणां बहुभार्यता। प्रमदानां भवत्येष मा तेऽभूद् बुद्धिरीदृशी।।
सख्यं चैतत् कृतं धात्रा शश्वदव्ययमेव तु। सख्यं समभिजानीहि सत्यं संगतमस्तु ते।।
पुत्रेण घातयित्वैनं पतिं यदि न मेऽद्य वै। जीवन्तं दर्शयस्यद्य परित्यक्ष्यामि जीवितम्।।[42]

ऐसा कहकर पुत्र और पति दोनों से वंचित होकर शोकार्त्त हो वह आमरण उपवास का संकल्प लेकर बैठ गयी।[43] तत्पश्चात् उलूपी ने अपनी शक्ति से 'अर्जुन' को जीवित कर दिया, उन्हें जीवित देखकर 'चित्रांगदा' अत्यन्त प्रसन्न हुयी।

यहाँ चित्रांगदा के पतिव्रता रूप के दर्शन होते हैं। जैसा कि शास्त्रों में वर्णित है कि 'पति ही देवता है, पति ही गुरु है और पति ही धर्म, तीर्थ एवं व्रत है अतः स्त्री सब छोड़कर एकमात्र पति की पूजा करे' (भर्ता देवो गुरुर्भर्ता धर्मतीर्थव्रतानि च, तस्मात् सर्वं परित्यज्य पतिमेकं समर्चयेत्)[44] वह भी अपने पातिव्रत्य धर्म का पालन करना ही अपने जीवन का ध्येय समझती थी। उसने धैर्य का अवलम्बन करके अर्जुन के बिना अनेक वर्ष व्यतीत किये। अर्जुन की मृत्यु पर उसका करुण विलाप और उलूपी के प्रति कथित वचनों में उसका प्रेम, वियोगजन्य दुःख, पीड़ा, भय, दीनता, संवेदनशीलता कर्त्तव्यनिष्ठा का भाव स्पष्ट रूप से प्रकट होते हैं। वह तो पहले ही अपने पति से इतने वर्षों तक दूर रही और जब मिली तो ऐसा अतिथि-सत्कार हुआ, जिसमें पुनर्मिलन की संभावना भी न रही, और अपने ही पुत्र के द्वारा पति से वियोग, जिसका दुःख उसके शब्दों में प्रकट हो रहा था। उस पर भी सपत्नी की प्रेरणा से ही यह कार्य हुआ, यह जानकर उसकी वेदना बढ़ गयी थी। इसी कारण वह उलूपी को भी धर्मयुक्त कार्य करने और शास्त्रोक्त वचनों का अनुसरण करने के लिये कहती है। पति के लिये वह पुत्र का त्याग करने के लिये भी प्रस्तुत है। इस प्रकार चित्रांगदा ने सपत्नी उलूपी के लिये ईर्ष्या-भाव न दिखाकर, उसके प्रति विनम्रता का व्यवहार करके अपने सदाचरण को ही दिखलाया है। उसने उलूपी पर दोषारोपण अवश्य किया किन्तु मर्यादित आचरण का त्याग

नहीं किया। अर्जुन के महाप्रस्थान के समय भी वह अत्यन्त दुःखी हुयी। बाद में वह अपने देश लौट गयी थी।[45]

पुत्रवत्सला: जब अपने पुत्र बभ्रुवाहन और पति अर्जुन के मध्य युद्ध होने पर वह दोनों को ही मृत मानकर शोकसन्तप्त होकर करुण विलाप करती है तब उसका पुत्र-प्रेम दृष्टिगत होता है। वह कहती है कि 'मैं पति और पुत्र दोनों से वंचित होकर दुःख में डूब गयी हूँ' (साहं दुःखान्विता देवि पतिपुत्रविनाकृता)[46] किन्तु पुत्रवियोग से ज्यादा उसे पतिवियोग ही अधिक था और पातिव्रत्य-धर्म का निर्वाह करने वाली अपनी दृढ़हृदया माता को मृत्यु का निश्चय करके बैठे हुये देखकर भी पुत्र को, अपने लिये दुःख नहीं होता कि माता मेरा त्याग कर रही है या मुझसे प्रेम नहीं करती प्रत्युत् वह तो स्वयं भी अपनी माता के साथ आमरण अनशन का संकल्प ले लेता है।[47] इससे ज्ञात होता है कि चित्रांगदा ने अपने पुत्र को उत्तम संस्कार दिये हैं और उसे साधुजनों द्वारा प्रशंसित मार्ग का अनुसरण करना सिखाया है। इस प्रकार उसने अपने पुत्र को सत्यमार्ग का अवलम्बन करने, धर्माचरण करने की उच्च शिक्षा प्रदान की है। यहाँ एक पुत्र का भी अपनी माता के प्रति अत्यधिक आदर भाव प्रकट होता है। न तो पुत्र अपनी माता को और न ही माता अपने पुत्र को कर्त्तव्य-कर्म या स्वधर्म पालन से विलग रहने को कहते हैं।

सपत्नी रूप: 'चित्रांगदा' ने सदैव उलूपी, द्रौपदी तथा सुभद्रा का आदर किया है। उलूपी स्वयं ही कहती है कि 'यह तो सदा दासी की भाँति मेरी आज्ञा के अधीन रहती है' (न जनित्री तथास्येयं मम या प्रेष्यवत् स्थिता)[48] सुभद्रा और द्रौपदी से भी प्रथम मिलन पर वह इनके चरणस्पर्श करती है।[49]

वधू रूप: अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर जब चित्रांगदा हस्तिनापुर आती है तो उसने अपनी श्वश्रू कुन्ती के तथा अन्य स्त्रियों के चरणस्पर्श किये और वहीं रहकर अपनी श्वश्रू की विधिवत् सेवा की।[50] अपनी श्वश्रू के वनगमन के समय उसे बहुत दुःख हुआ।[51] वह अन्य स्त्रियों के साथ वन में अपनी दोनों श्वश्रुओं से मिलने भी गयी थी।[52] उनकी मृत्यु पर भी उसे बहुत दुःख हुआ था।[53] वह एक अच्छी वधू थी और वधू रूप में उसने सभी की यथायोग्य सेवा की।

इस प्रकार चित्रांगदा एक आज्ञाकारिणी पुत्री, पतिव्रता पत्नी, अच्छी वधू, ममतामयी माता और प्रेमभाव से पूर्ण सपत्नी के रूप में यहाँ दृष्टिगत होती है। यहाँ उसका अर्जुन के प्रति शाश्वत प्रेम तथा उसमें निहित धैर्य, त्याग, विनम्रता, संवेदनशीलता, कत्र्तव्यनिष्ठा जैसे गुण दिखायी देते हैं। वह एक सदाचारयुक्ता, धर्मज्ञा और पतिव्रता स्त्री थी और स्त्री जीवन में पति के सर्वस्व होने की धार्मिक भावना की ही शरण लिये हुये थी। शंखस्मृति का कथन है ''सा भाय्र्या या पतिप्राणा सा भाय्र्या या प्रजावती''।[54]

सुभद्रा

सुभद्रा वृष्णिवंश के राजा वसुदेव जी की लाडली पुत्री, श्रीकृष्ण की बहिन और सारण की सगी बहिन थी। (ममैषा भगिनी पार्थ सारणस्य सहोदरा, सुभद्रा नाम भद्रं ते पितुर्मे दयिता सुता)[55] उस अनिन्द्य सुन्दरी सुभद्रा का विवाह कुन्तीपुत्र अर्जुन के साथ हुआ था। वीर पुत्री सुभद्रा का चरित्र जिन विशेषताओं से समन्वित है, वे हैं-

सौन्दर्यशालिनी: सुभद्रा अतिशय रूप-सौन्दर्य से युक्त कन्या थी जो किसी का भी मन मोह सकती थी (रूपेण चैषा सम्पन्ना कमिवैषा न मोहयेत्)[56] उसके समस्त अंग सुन्दर थे। उसके नेत्र बड़े-बड़े और कुछ लाल-लाल थे (पृथुताम्राक्षी) तथा सुवर्ण से भी उत्तम कान्ति से वह युक्त थी (कनकोत्तमाभा) और वह देवताओं के लिये भी दुर्लभ थी (दुर्लभा देवतैरपि)।[57]

आस्थावती: सुभद्रा देवताओं की पूजा-अर्चना करती थी। आदिपर्व में उल्लेख है कि 'सुभद्रा गिरिराज रैवतक तथा सब देवताओं की पूजा करके, ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराकर, पर्वत की परिक्रमा करके द्वारका की ओर लौट रही थी (सुभद्रा त्वथ शैलेन्द्रमभ्यच्र्यैव हि रैवतम्। दैवतानि च सर्वाणि ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च।। प्रदक्षिणं गिरेः कृत्वा प्रययौ द्वारकां प्रति।)[58] इस कथन से उसकी भगवान् के प्रति आस्था व्यक्त होती है और वह दान देने के स्वभाववाली भी थी।[59]

उत्सवप्रिया: वृष्णि और अन्धक वंश के लोगों ने रैवतक पर्वत पर एक महोत्सव का आयोजन किया था जिसमें वसुदेव पुत्री सुभद्रा भी शृंगार से सुसज्जित होकर सखियों के साथ सम्मिलित हुई (तत्र चङ्क्रममाणौ तौ वसुदेवसुतां शुभाम्, अलंकृतां सखीमध्ये भद्रां ददृशतुस्तदा)[60] उत्सवप्रिय होने के साथ ही उसकी रूचि भ्रमण और जलविहार में भी थी

(वने काश्चिज्जले काश्चित् काश्चिद् वेश्मसु चांगनाः, यथायोग्यं यथाप्रीति चिक्रीडुः पार्थकृष्णयोः)।[61]

पतिव्रताः सुभद्रा ने अपने माता-पिता की इच्छा से या स्वेच्छा से विवाह नहीं किया था बल्कि कुन्तीपुत्र अर्जुन ने सुभद्रा के प्रति आसक्त होकर उसे धर्मपत्नी बनाने की इच्छा से उसका अपहरण करके, तत्पश्चात् सभी गुरुजनों के आशीर्वाद से उसके साथ विवाह किया था।[62] किन्तु अपहरण होने पर भी सुभद्रा ने कोई प्रतिकार नहीं किया, संभवतः वह भी अर्जुन के प्रति अनुरक्त रही होगी। विवाह के पश्चात् जब वह खाण्डवप्रस्थ आयी तो अर्जुन ने उसके लाल रेशमी वस्त्रों को उतरवाकर उसके स्थान पर उसका ग्वालिन का-सा वेश बनाकर उसे महल में भेजा (सुभद्रां त्वरमाणश्च रक्तकौशेयवासिनीम्, पार्थः प्रस्थापयामास कृत्वा गोपालिकावपुः)[63] सुभद्रा ने वैसा ही किया और अर्जुन से इस विषय में कोई प्रश्न भी नहीं पूछा। इससे उसके आज्ञाकारिणी होने का पता चलता है। पाण्डवों के वनवास के समय सुभद्रा के मनोभावों का चित्रण नहीं किया गया है। इतना अवश्य है कि वनवास में जब श्रीकृष्ण, काम्यकवन में अर्जुन से मिले तब अर्जुन ने कृष्ण से अपनी पत्नी सुभद्रा की कुशल पूछी थी (कथं सुभद्रा च स चाभिमन्युः)[64] और अभिमन्यु का विवाह उत्तरा के साथ करवाने के लिये अर्जुन ने राजा विराट के यहाँ अभिमन्यु के साथ सुभद्रा को भी बुलवाया था।[65] इससे प्रतीत होता है कि 'सुभद्रा' अर्जुन को प्रिय थी। वह उसकी चिन्ता करता था। उसका सम्मान करता था और सुभद्रा ने भी सदैव पति की आज्ञा को शिरोधार्य करके अपने पातिव्रत्यधर्म का ही पालन किया। स्कन्दपुराण में भी कहा गया है कि ''जहाँ-जहाँ पति की रूचि हो, वहाँ-वहाँ उसे भी प्रेम रखना चाहिये। स्त्रियों के लिये यही सबसे उत्तम व्रत, यही महान् धर्म और यही पूजा है कि वह पति की आज्ञा का उल्लंघन न करे।''[66] श्रीमद्भागवत-महापुराण में उल्लेख है कि 'सुभद्रा भी अर्जुन के प्रति अनुरक्त थी तथा देवकी-वसुदेव और श्रीकृष्ण की अनुमति से ही अर्जुन ने सुभद्रा का हरण किया था।' (हसन्ती व्रीडिता-पांगी तन्न्यस्तहृदयेक्षणा। जहारानुमतः पित्रोः कृष्णस्य च महारथः)।[67]

भगिनी रूपः सुभद्रा का अपने भ्राताओं के प्रति प्रेम था और वे भी अपनी बहिन को अत्यधिक प्रेम करते थे। किन्तु कृष्ण और सुभद्रा का एक-दूसरे के प्रति अत्यधिक प्रेमभाव ही यहाँ प्रकट होता है और वह कृष्ण पर बहुत विश्वास भी करती थी। सुभद्रा का अर्जुन के साथ विवाह श्रीकृष्ण की सम्मति से ही हुआ था। उन्होंने ही अर्जुन को अपनी कल्याणी

भगिनी सुभद्रा का हरण करने का परामर्श भी दिया और सहयोग भी।[68] अर्जुन को योग्य मानकर ही उन्होंने ऐसा किया और सभी वृष्णिवंशियों को भी धर्म और अर्थयुक्त वचनों से संतुष्ट करके इस विवाह के लिये मनाया क्योंकि अर्जुन के द्वारा अपनी बहिन का अपहरण किये जाने से वे सभी वृष्णिवंशी क्रोधित थे।[69] विवाह के पश्चात् भी श्रीकृष्ण ने सदैव अपनी बहिन का ध्यान रखा। खाण्डवप्रस्थ से जब श्रीकृष्ण द्वारका जाने लगे तो 'वे जाने से पूर्व अपनी बहिन सुभद्रा से मिलने गये। वह उनके प्रस्थान की बात सुनकर बहुत दुःखी हुयी। वह चाहती थी कि कृष्ण वहीं रुक जायें तब कृष्ण ने हितकारी व अकाट्य वचनों द्वारा अपने जाने की आवश्यकता बतायी और उसे धैर्य बँधाया। मंगलमय वचन बोलने वाली कल्याणी सुभद्रा ने भाई की पूजा करके मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और माता-पिता आदि स्वजनों से कहने के लिये संदेश दिये', यथोक्तम्-

अश्रयं तथ्यं हितं वाक्यं लघु युक्तमनुत्तरम्। उवाच भगवान् भद्रां सुभद्रां भद्रभाषिणीम्।।
तया स्वजनगामीनि श्रावितो वचनानि सः। सम्पूजितश्चाप्यसकृच्छिरसा चाभिवादितः।।[70]

इससे सुभद्रा का श्रीकृष्ण के प्रति अत्यधिक प्रेमभाव प्रकट होता है। युद्ध में अभिमन्यु की मृत्यु हो जाने पर श्रीकृष्ण अपनी बहिन को धीरज बँधाते हैं। वह कहते हैं कि- ''तुम वीरमाता, वीरपत्नी, वीरकन्या और वीरभाइयों की बहिन हो। तुम पुत्र के लिये शोक न करो। वह उत्तम गति को प्राप्त हुआ है। बालक की हत्या कराने वाला वह पापकर्मी सिंधुराज जयद्रथ रात्रि व्यतीत होने पर प्रातःकाल होते ही अपने सुहृदों और बन्धु-बान्धवों सहित इस अपराध का फल पायेगा।''[71] ऐसे अनेक वचनों से वह अपनी बहिन को आश्वासन देते हैं।[72] जब उसकी वधू उत्तरा के गर्भ से मृत बालक का जन्म होता है तब भी वह कल्याण की कामना करती हुयी अपने भाई श्रीकृष्ण के समक्ष उनसे अपना दुःख व्यक्त करती है।[73]

सपत्नी रूप: सुभद्रा ने सपत्नियों के प्रति सदैव सम्मान का भाव ही प्रकट किया है। द्रौपदी से प्रथम मिलन पर वह उसके चरण स्पर्श करती है और कहती है कि 'देवि! मैं आपकी दासी हूँ।' (ततोऽभिगम्य त्वरिता पूर्णेन्दुसदृशानना। ववन्दे द्रौपदीं भद्रा प्रेष्याहमिति चाब्रवीत्)[74] तथा उलूपी और चित्रांगदा से भी मिलने पर उसने उन्हें अपनी ओर से नाना प्रकार के उपहार दिये।[75]

सदाचारिणी वधूः वसुदेव-पुत्री सुभद्रा ने सदैव अपने गुरुजनों का आदर किया है।[76] वह अपनी श्वश्रुओं कुन्ती और गान्धारी की समान रूप से दासी की भाँति परिचर्या करती थी।[77] उनके वनगमन से वह अत्यन्त दुःखी होकर विलाप करती है और उनकी मृत्यु पर भी वह शोकमग्न हो जाती है।[78] वन में तपश्चर्या करने वाले अपने श्वसुर और श्वश्रुओं से वह भी मिलने के लिये अन्य स्त्रियों के साथ वन में जाती है।[79]

वात्सल्यपरिपूर्णाः सुभद्रा को अपने पुत्र अभिमन्यु से अत्यधिक प्रेम था। उसकी मृत्यु का समाचार सुनकर पुत्रशोक से व्याकुल और अत्यन्त दुःखी होकर वह विलाप करने लगी। जो पुत्र माता का आज्ञाकारी था और उस माता की वाणी सुनकर शीघ्र ही गृह से निकल पड़ता था (ननु नामाद्य वैराटि श्रुत्वा मम गिरं सदा, भवनान्निष्पतत्याशु.....)[80] वही पुत्र आज उसके समक्ष नहीं है। वह शोकविह्वल होकर कहती है कि ''पुत्र! तुम्हें देखने के लिये मेरी आँखें तरस रही हैं, इनकी प्यास नहीं बुझी। कितनी मन्दभागिनी हूँ। निश्चय ही आज मैं यमलोक को चली जाऊँगी। आज मुझे सारी पृथ्वी सूनी और कान्तिहीन-सी दिखायी देती है। पुत्र! आओ। तुम्हें प्यास लगी होगी। तुम्हारे दर्शन से अतृप्त हुयी मुझ अभागिनी माता की गोद में बैठकर दुग्धपूर्ण स्तनों का पान करो।'' यथोक्तम्-

अतृप्तदर्शना पुत्र दर्शनस्य तवानघ। मन्दभाग्या गमिष्यामि व्यक्तमद्य यमक्षयम्।।
अद्य पश्यामि पृथिवीं शून्यामिव हतत्विषम्।एह्येहि तृषितो वत्स स्तनौ पूर्णौ पिबाशु मे।
अंकमारुह्य मन्दाया ह्यतृप्तायाश्च दर्शने।।[81]

वह कहती है कि 'भीमसेन के बल को धिक्कार है, अर्जुन के धनुष धारण को धिक्कार है, वृष्णिवंशी वीरों के पराक्रम को धिक्कार है तथा पांचालों के बल को भी धिक्कार है। केकय, चेदि तथा मत्स्यदेश के वीरों और सृंजयवंशी क्षत्रियों को भी धिक्कार है, जो युद्ध में गये हुये तुम जैसे वीर की रक्षा न कर सके। पुत्र! स्वप्न में मिले हुये धन की भाँति मुझे दिखायी दिये और नष्ट हो गये।[82] अहो! यह मनुष्य जीवन पानी के बुलबुले के समान चंचल एवं अनित्य है। निश्चय ही काल की गति बड़े-बड़े विद्वानों के लिये भी अत्यन्त दुर्बोध है, जिसके अधीन होकर तुम श्रीकृष्ण-जैसे संरक्षक के रहते हुये संग्रामभूमि में अनाथ की भाँति मारे गये। (अहो ह्यनित्यं मानुष्यं जलबुद्बुदचंचलम्। नूनं गतिः कृतान्तस्य प्राज्ञैरपि सुदुर्विदा। यत्र त्वं केशवे नाथे संग्रामेऽनाथवद्धतः)[83] अपने पुत्र के लिये मंगलकामना करती हुयी वह

कहती है कि ''पुत्र! यज्ञकर्ता, दानशील, जितेन्द्रिय, ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, पुण्यतीर्थों में स्नान करने वाले, कृतज्ञ, उदार, गुरुसेवापरायण, दक्षिणा देने वाले, सहस्त्र गोदान करने वाले शूरवीरों, यज्ञ के लिये दान देने वाले, याचकों को उनकी अभीष्ट वस्तु प्रदान करने वाले, शरणागतवत्सल, क्षमाशील, उत्तम व्रत का पालन करने वाले, अतिथिसत्कारपरायण, माता-पिता की सेवा करने वाले, धैर्यवान्, धर्मशील, सभी प्राणियों के प्रति समदृष्टि रखने वाले, सदाचारी, पिशुनवृत्ति से दूर रहने वाले, सर्वशास्त्रज्ञ, लज्जाशील, ज्ञानतृप्त, व्यसन से दूर रहने वाले, सत्यवादी, अपनी स्त्री में अनुराग रखने वाले, परायी स्त्रियों से दूर रहने वाले पुरुषों को तथा पतिव्रता स्त्रियों को जो गति प्राप्त होती है, वही गति तुम्हें भी सुलभ हो।''[84]

सुभद्रा के इन वचनों में पुत्रवियोग से उत्पन्न दुःख, उसके शोकसन्तप्त हृदय की करुणवेदना, पुत्रदर्शन की उत्कट अभिलाषा स्पष्ट रूप से प्रकट हो रही है। प्रथम तो युद्धभूमि में उपस्थित होने पर भी वीर पाण्डवों द्वारा पुत्र के प्राणों की रक्षा न कर पाने से सुभद्रा का पुत्र-धन को खो देने का दुःख, क्षोभ में परिवर्तित हो जाता है और फिर विधि को प्रबल मानते हुये दार्शनिकता का आश्रय लेकर स्वयं को सान्त्वना देते हुये अपने पुत्रवियोगजन्य दुःख को कम करने का वह प्रयत्न करती हुयी दिखायी देती है। अन्त में अपने पुत्र की सद्गति के लिये मंगलकामना करती है। इस प्रकार सुभद्रा का पुत्र के प्रति असीम प्रेम यहाँ दृष्टिगत होता है।

श्वश्रू रूपः सुभद्रा, अपनी वधू उत्तरा से बहुत प्रेम करती थी और यह प्रेम अभिमन्यु की मृत्यु के अवसर पर दिखायी देता है। अपने पुत्र की मृत्यु हो जाने पर वह अपनी वधू उत्तरा के लिये अत्यन्त दुःखी होती है किन्तु पुत्रशोक में निमग्न वह स्वयं को अपनी वधू को धैर्य बँधाने में असमर्थ सी अनुभव करती है[85] और उस परिस्थिति में उत्तरा के गर्भस्थ शिशु के मृत पैदा होने पर उसकी स्थिति अत्यन्त दयनीय हो जाती है। वह श्रीकृष्ण के सम्मुख दुःखार्त होकर कहती है कि ''द्रौणपुत्र अश्वत्थामा ने भीमसेन को मारने के लिये जो सींक का बाण उठाया था, वह उत्तरा पर, तुम्हारे सखा विजय पर और मुझ पर गिरा है।''[86] वह श्रीकृष्ण को उनके वचन का स्मरण कराते हुये, उत्तरा के मृत बालक को पुनः जीवनदान देने की प्रार्थना करते हुये कहती है कि ''जब द्रौणपुत्र अश्वत्थामा पाण्डवों के गर्भ की हत्या करने का प्रयत्न कर रहा था, उस समय तुमने उससे कुपित होकर कहा था कि मैं तेरी इच्छा पूर्ण नहीं होने दूँगा। अर्जुन के पौत्र को अपने प्रभाव से जीवित कर दूँगा।[87] यदि तुम ऐसी प्रतिज्ञा

करके अपने मंगलमय वचन का पूर्णतः पालन नहीं करोगे तो यह समझ लो, सुभद्रा जीवित नहीं रहेगी। यदि तुम्हारे जीवित रहते पुत्र अभिमन्यु को पुनः जीवनदान न मिला तो तुम मेरे किस काम आओगे'' (यद्येतत् त्वं प्रतिश्रुत्य न करोषि वचः शुभम्। सकलं वृष्णिशार्दूल मृतां मामवधारय।। अभिमन्योः सुतो वीर न संजीवति यद्ययम्। जीवति त्वयि दुर्धर्ष किं करिष्याम्यहं त्वया)[88] इस प्रकार वह अनेक करुणापूर्ण वचन कहती है और उत्तरा के मृत पुत्र को पुनर्जीवित करने की प्रार्थना करती है।

वसुदेवपुत्री श्रीकृष्ण की लाडली बहिन 'सुभद्रा' अनुपम सुन्दरी एवं सुकुमारी थी। वह ईश्वरीय आस्था से युक्त, उत्सवप्रिया तथा दानपुण्य के स्वभाव वाली स्त्री थी। वह पति की आज्ञा का पालन करने वाली, सपत्नियों के प्रति विनम्र, गुरुजनों के प्रति सेवाभाव से युक्त, अपने पुत्र से अतिशय प्रेम करने वाली तथा अपनी वधू के प्रति प्रेमभाव से परिपूर्ण थी। वस्तुतः वह धैर्यवती, ईष्र्यारहिता, संवेदनशीला, भद्रभाषिणी, व्यवहारकुशला, ज्ञानिनी, सेवाभाविनी, सदाचारिणी आर्यस्त्री थी। अपने इन्हीं चारित्रिक गुणों से उसने भारतीय स्त्री के गौरव को उच्चता प्रदान की है।

उत्तरा

'उत्तरा' राजा विराट और सुदेष्णा की प्रिय पुत्री थी। उसका विवाह अर्जुन-पुत्र अभिमन्यु के साथ हुआ था। उत्तरा के चरित्र में जिन चारित्रिक गुणों का समावेश है, वे निम्नलिखित हैं-

अतीवरूपसम्पन्ना: विराटकुमारी उत्तरा स्त्रियों में रत्नस्वरूपा और मन को प्रिय लगने वाली थी। उसके नेत्र बड़े-बड़े और मुख पूर्णिमा के चन्द्रमा की भाँति मनोहर था। उसके अंग नूतन पल्लवों के समान कृश तथा अंगकान्ति कमल-दल के समान आभावाली थी। उसकी कमर यज्ञ की वेदी के समान सूक्ष्म थी। उसकी परस्पर सटी हुयी जाँघें हाथी की सूँड़ के समान सुशोभित थी। उसके दाँत चमकीले और मनोहर थे। शरीर का मध्य भाग सुन्दर था। उसके ओष्ठ बिम्बफल के समान लाल थे। उसकी चाल मतवाले हाथी के समान मन्दगति से युक्त थी सुवर्ण के समान उज्ज्वल वर्ण वाली वह सुकुमारी 'उत्तरा' अनुपम शोभा से युक्त थी। उसके अंग सभी शुभलक्षणों से युक्त थे। वह अलंकारप्रिय थी। वह विराट के राजभवन में इन्द्र की राजलक्ष्मी के समान सम्मानित थी। (सा रत्नभूता मनसः प्रिया, सुकुमारीं विशालाक्षीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम्, बालपल्लवतन्वंगी मत्तमातंगगामिनीम्, बिम्बाधरोष्ठीम्, कनकोज्ज्वलत्वचं,

कांचनमाल्यधारिणी, सुदक्षिणा वेदिविलग्नमध्या सा पद्मपत्राभनिभा शिखण्डिनी, तन्वी शुभांगी मणिचित्रमेखला, सा हस्तिहस्तोपमसंहितोरूः स्वनिन्दिता चारुदती सुमध्यमा, अर्चिता सुता विराटस्य यथेन्द्रलक्ष्मीः)।[89]

आज्ञाकारिणी पुत्री: राजकुमारी उत्तरा अपने से बड़ों का सम्मान करती थी। उनकी आज्ञा का पालन करती थी। उसने सदैव अपने पिता की इच्छा का सम्मान किया है और उनकी आज्ञा का पालन भी सहर्ष किया है। जब राजकुमार उत्तर, अपना गोधन हरण करने वाले कौरवों पर विजय प्राप्त कर, गोधन को सुरक्षित करके महल की ओर आ रहे थे, तब उसकी विजय के उपलक्ष्य में उसकी अगवानी करने के लिये राजा विराट अपनी पुत्री उत्तरा को आज्ञा देते हैं कि 'वह उत्तम शृंगार और सुन्दर वेशभूषा से सुशोभित हो अन्य राजकुमारियों के साथ मेरे पुत्र की अगवानी में जाये' (उत्तरा च कुमारीभिर्बह्वीभिः परिवारिता। शृंगारवेषाभरणा प्रत्युद्यातु सुतं मम)[90] उत्तरा ने भी वैसा ही किया। जब राजा विराट ने अभिमन्यु के साथ उसका विवाह निश्चित किया तो उनकी आज्ञा को स्वीकार करते हुये उत्तरा ने अपने पिता का मान बढ़ाया।[91]

भ्राताहितैषिणी: यशस्विनी उत्तरा का अपने भ्राता के प्रति अत्यधिक प्रेम था। जब कौरव उनके गोधन का अपहरण करके ले गये तो राजकुमार उत्तर उनसे अपना गोधन छुड़ाने के लिये एक योग्य सारथि की खोज कर रहे थे तब सैरन्ध्री के यह बतलाने पर कि बृहन्नला आपकी सहायता कर सकते हैं, उत्तर ने अपनी बहिन को अपनी समस्या से अवगत कराके बृहन्नला के समीप भेजा[92], तो उत्तरा शीघ्र बृहन्नला के समीप गयी और अपने भ्राता की सहायता करने के लिये कहा। वह कहती है कि ''हमारे राष्ट्र की गौओं को कौरव हाँककर लिये जाते हैं अतः उन्हें जीतने के लिये मेरे भाई धनुष धारण करके जाने वाले हैं। थोड़े ही दिन हुये उनके रथ का सारथि एक युद्ध में मारा गया। इस कारण कोई ऐसा योग्य सूत नहीं है, जो उनके सारथि का काम सँभाल सके। सैरन्ध्री ने उन्हें बताया था कि तुम अश्वविद्या में कुशल हो और पूर्व में अर्जुन की प्रिय सारथि रह चुकी हो।'[93] अतः इससे पहले कि कौरव हमारी गौओं को बहुत दूर लेकर चले जायँ, तुम मेरे भ्राता के सारथि का कार्य अच्छी तरह कर दो। मैं बड़े प्रेम से यह बात कहती हूँ। यदि आज इतना अनुरोध करने पर भी तुम मेरी बात नहीं मानोगी, तो मैं प्राण त्याग दूँगी'' (सा सारथ्यं मम भ्रातुः कुरु साधु बृहन्नले। पुरा

दूरतरं गावो ह्रियन्ते कुरुभिर्हि नः।। अथैतद् वचनं मेऽद्य नियुक्ता न करिष्यसि। प्रणयादुच्यमाना त्वं परित्यक्ष्यामि जीवितम्)।[94]

उसके इन वचनों में अपने भाई के लिये चिन्ता, उसका हित करने की अभिलाषा और भ्रातृ-प्रेम स्पष्टतया परिलक्षित होते हैं, साथ ही उसमें निहित आज्ञाकारिता का गुण भी दिखायी देता है और वह मधुर संभाषण करने के स्वभाव वाली भी है।

कलाप्रिय: राजकुमारी उत्तरा को नृत्य और संगीत में रूचि थी। राजा विराट ने अपनी पुत्री को नृत्य-संगीत की शिक्षा प्रदान करने के लिये बृहन्नलारूपधारी अर्जुन को नियुक्त किया था। इसके लिये उन्होंने बृहन्नला की कलाओं में परीक्षा करके और स्त्रियों द्वारा उसके नपुंसकत्व की जाँच करवा कर ही उसे अपनी कन्या के अन्तःपुर में जाने की आज्ञा दी थी।[95] वहाँ उसने उत्तरा सहित, उसकी सखियों और सेविकाओं को भी गीत, वाद्य एवं नृत्यकला की शिक्षा प्रदान की (स शिक्षयामास च गीतवादितं सुतां विराटस्य धनंजयः प्रभुः। सखीश्च तस्याः परिचारिकास्तथा)।[96]

वह कलाप्रिय होने के साथ ही क्रीडाप्रिय भी थी। उसे पांचालिका के साथ खेलने में रूचि थी। जब उत्तर, अर्जुन को सारथि के रूप में साथ लेकर महल से युद्ध के लिये प्रस्थित हुआ तब उत्तरा ने बृहन्नलारूपधारी अर्जुन से कहा कि 'तुम युद्ध-भूमि में आये हुये भीष्म, द्रोण आदि प्रमुख कौरववीरों को जीतकर हमारी गुड़ियों के लिये उनके महीन, कोमल और विचित्र रंग के सुन्दर वस्त्र ले आना', यथोक्तम्-

अथोत्तरा च कन्याश्च सख्यस्तामब्रुवंस्तदा। बृहन्नले आनयेथा वासांसि रूचिराणि च।।
पांचालिकार्थं चित्राणि सूक्ष्माणि च मृदूनि च।विजित्य संग्रामगतान् भीष्मद्रोणमुखान् कुरून्।।[97]

और विजय के पश्चात् जब बृहन्नला ने वे सभी वस्त्र उत्तरा को लाकर दिये तो वह उन भाँति-भाँति के नवीन और बहुमूल्य वस्त्रों को लेकर बहुत प्रसन्न हुयी (उत्तरा तु महार्हाणि विविधानि नवानि च। प्रतिगृह्याभवत् प्रीता तानि वासांसि भामिनी।।)[98]

शीलवती: राजकुमारी उत्तरा अपने सदाचार के कारण सभी की प्रिय थी। जब राजा विराट ने अर्जुन के समक्ष अपनी पुत्री के साथ विवाह करने का प्रस्ताव रखा तो अर्जुन ने इसे अस्वीकार कर दिया। वह जानता था कि उत्तरा ने उस पर पिता की भाँति ही विश्वास किया है और वह उसे सदैव आचार्य की भाँति मानती आयी है और साथ ही कलाप्रवीणता के कारण उसका उसके प्रति बहुत अधिक प्रेम भी है अतः अपने और उसके चरित्र की शुद्धि की

स्पष्टता के लिये अर्जुन ने अपने पुत्र अभिमन्यु के साथ उत्तरा के विवाह का प्रस्ताव रखकर उसे अपनी वधू रूप में स्वीकार किया। (रहस्यं च प्रकाशं च विश्वस्ता पितृवन्मयि।। प्रियो बहुतमश्चासं नर्तको गीतकोविदः। आचार्यवच्च मां नित्यं मन्यते दुहिता तव।। तस्मान्निमन्त्रयेऽहं ते दुहितां मनुजाधिप। शुद्धो जितेन्द्रियो दान्तस्तस्याः शुद्धिः कृता मया।)[99]

इससे उत्तरा के विचारों की पवित्रता और उसका शीलवती होना प्रकट होता है।

पतिव्रता पत्नी : सदाचारिणी उत्तरा को वैवाहिक सुख बहुत ही कम समय के लिये प्राप्त हुआ था। महाभारत के युद्ध में उसके पति को वीरगति प्राप्त होती है। पति की मृत्यु से इतनी अधिक शोकसन्तप्त थी कि उसने कई दिनों तक भोजन नहीं किया और उसे अपने गर्भस्थ शिशु की भी याद न रही। वह शिशु गर्भ में ही रहकर क्षीण होने लगा। उसकी वह दशा बहुत ही करुणाजनक थी (सुबहुनि च राजेन्द्र दिवसानि विराटजा। नाभुङ्क्त पतिदुःखार्ता तद्भूत् करुणं महत्। कुक्षिस्थ एव तस्याथ गर्भो वै सम्प्रलीयत्)[100] वह बार-बार यही कह रही थी कि पति और पुत्र से हीन होने पर भी मेरे इस हृदय के टुकड़े क्यों नहीं हो जाते (पतिपुत्रविहीनाया हृदयं न विदीर्यते)[101] अपने पति का स्मरण करते हुये वह श्रीकृष्ण से करुणविलाप करती हुयी कहती है कि 'मैंने युद्ध के मुहाने पर यह प्रतिज्ञा की थी कि ''मेरे वीर पतिदेव! यदि आप मारे गये तो मैं शीघ्र ही परलोक में आपसे आ मिलूँगी परन्तु मैंने उस प्रतिज्ञा का पालन नहीं किया। मैं बड़ी कठोर हृदया हूँ। मुझे पतिदेव नहीं, ये प्राण ही प्यारे हैं। यदि इस समय मैं परलोक में जाऊँ तो वहाँ वे मुझसे क्या कहेंगे?'' (मया चैतत् प्रतिज्ञातं रणमूर्धनि केशव। अभिमन्यौ हते वीर त्वामेष्याम्यचिरादिति। तच्च नाकरवं कृष्ण नृशंसा जीवितप्रिया। इदानीं मां गतां तत्र किं नु वक्ष्यति फाल्गुनिः)[102] यहाँ उत्तरा का दैन्यभाव, निराशा, सन्ताप, प्रतिज्ञापालन न करने से उत्पन्न दुःख तथा पातिव्रत्य-धर्म के प्रति अनुराग स्पष्ट रूप से प्रकट हो रहे हैं।

वधू रूप: वधू रूप में वह सभी की प्रिय थी। सुभद्रा को अपनी इस वधू पर गर्व था। वह कहती है कि ''यह उत्तरा जाति से उत्तम, सुशीला, प्रियभाषिणी, यशस्विनी तथा मेरी प्यारी वधू है'' (उत्तरामुत्तमां जात्या सुशीलां प्रियभाषिणीम्। शनकैः परिरभ्यैनां स्नुषां मम यशस्विनीम्)[103] उत्तरा उनसे अपनी बातें भी बताती थी।[104] अभिमन्यु की मृत्यु से दुःखी उत्तरा को देखकर सभी उसे धीरज बँधाते थे। स्वयं वेदव्यास जी उसकी दयनीय अवस्था को जानकर उसके

समीप उसे धीरज बँधाने आते हैं। वे कहते हैं कि ''उत्तरा! तुम यह शोक त्याग दो। तुम्हारा पुत्र महातेजस्वी होगा।''[105] इसी प्रकार कुन्ती आदि सभी उसको धैर्य धारण करने के लिये कहते हैं।[106] उत्तरा केवल अपने लिये ही दुःखी नहीं थी अपितु अपनी श्वश्रू के लिये भी वह अत्यन्त दुःखी थी (उत्तिष्ठ पुत्र पश्येमां दुःखितां प्रपितामहीम्, आर्तामुपप्लुतां दीनां निमग्नां शोकसागरे। आर्यां च पश्च पांचालीं सात्वतीं च तपस्विनीम्)[107] जब धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्ती वन में तपश्चर्या के लिये जाते हैं, तब वह दुःखी होती है और वह वन में उनसे मिलने के लिये भी जाती है, उनकी मृत्यु पर भी वह बहुत विलाप करती है।[108] उसने कभी भी अपने सेवाकार्यों में शिथिलता नहीं दिखायी।[109]

पुत्रवत्सला: 'उत्तरा' वैधव्य दुःख से तो पहले से ही पीड़ित थी और उसका बालक भी मृत ही जन्मा था। इस कारण उसका दुःख अत्यधिक बढ़ गया था। वह श्रीकृष्ण के समक्ष अपना दुःख प्रकट करते हुये उनसे अपने पुत्र को जीवित करने की प्रार्थना करती है।[110] वह विलाप करते हुये कहती है कि ''मेरा सारा मंगल नष्ट हो गया है। मैं अकिंचन हो गयी हूँ। अब मैं धर्मराज की आज्ञा लेकर विष खा लूँगी अथवा प्रज्वलित अग्नि में प्रविष्ट हो जाऊँगी'' (मर्तव्ये सति जीवामि हतस्वस्तिरकिंचना। अथवा धर्मराज्ञाहमनुज्ञाता महाभुज। भक्षयिष्ये विषं घोरं प्रवेक्ष्ये वा हुताशनम्)[111] वह बार-बार कहती है कि ''पुत्र! उठ जा। व्याध के बाणों से बिंधी हुयी हरिणी की भाँति अत्यन्त दुःख से आर्त हुयी मुझ अपनी माँ को भी देख ले''[112] और जब श्रीकृष्ण उत्तरा के मृत पुत्र को जीवित कर देते हैं तो वह अत्यधिक प्रसन्न होती है। फिर यथासमय उठकर पुत्र को गोद में लिये हुये वह श्रीकृष्ण के समीप आकर उन्हें प्रणाम करती है (उत्थाय तु यथाकालमुत्तरा यदुनन्दनम्। अभ्यवादयत प्रीता सह पुत्रेण भारत)[113]

यहाँ उत्तरा का पुत्र के प्रति अतिशय प्रेम प्रकट होता है। वह अपने पुत्र के बिना जीवित रहना नहीं चाहती। उसके लिये तो जैसे यह सारा संसार ही शून्य हो गया था। हृदय के सारे मनोरथ ही निष्फल हो गये थे। उसके शोकसन्तप्त हृदय की अत्यन्त कारुणिक दशा यहाँ प्रकट हुयी है।

विराटकुमारी उत्तरा अपूर्व सौन्दर्यशालिनी कन्या थी जो आज्ञाकारिणी और मृदुभाषिणी होने के कारण अपने माता-पिता की हृदयकणिका थी। वह भ्रातृहित में सदैव तत्पर रहने वाली और गुरुजनों के प्रति आदरदृष्टि से युक्त थी। वह उत्सवप्रिय, क्रीडाप्रिय और नृत्य-संगीत आदि ललित कलाओं में विशेष रूचि रखती थी। वैवाहिक सुखप्राप्ति के अत्यल्प समय के

पश्चात् उसे वैधव्य का असह्य दुःख सहना पड़ा और उस दुःसह दुःखाग्नि को गर्भस्थ शिशु की मृत्यु रूप अंगार ने और अधिक प्रज्वलित कर दिया। किन्तु उस समय भी स्वयं शोक निमग्न होने पर भी उसे अपनी श्वश्रुओं सुभद्रा, द्रौपदी, कुन्ती के पुत्रशोक का पूर्णतः ज्ञान था और वह उसे अपने चिन्तन में प्रकट भी करती है। वह धार्मिक आचार से युक्त, सद्गुणों से विभूषित, पुण्य में अनुराग रखने वाली, पवित्रहृदया, प्रशंसा के योग्य आचरण वाली, प्रियभाषिणी, सदा पातिव्रत्य धर्म का पालन करने वाली गुणवती स्त्री और पुत्रवत्सला माता थी, जिसने अपने सदाचरण से पितृकुल और पतिकुल दोनों को गौरवान्वित किया। पतिव्रता स्त्री की प्रशंसा में स्कन्दपुराण का कथन है कि ''संसार में वह माता धन्य है, वह पिता धन्य है तथा वह पति धन्य है, जिसके घर में पतिव्रता स्त्री विराजती है'', यथोक्तम्-

धन्या सा जननी लोके धन्यऽसौ जनकः पुनः।
धन्यः स च पतिः श्रीमान् येषां गेहे पतिव्रता।।[114]

दुःशला

'दुःशला' राजा धृतराष्ट्र तथा गान्धारी की सदाचारिणी कन्या और सौ वीर भाइयों की बहिन थी। गान्धारी का अपनी पुत्री के प्रति विशेष प्रेम था। धृतराष्ट्र ने अपनी सौभाग्यशालिनी पुत्री दुःशला का विवाह सैन्धव देश के राजा जयद्रथ के साथ विधिपूर्वक सम्पन्न किया था।[115] पितृकुल से पतिकुल में आकर दुःशला ने सदैव अपने कत्र्तव्यों का पूर्ण रूप से निर्वहन किया। अपने पति के अवगुणों और अनुचित कार्यों को जानने के पश्चात् भी उसने अपने पत्नीधर्म का त्याग नहीं किया। अपने पति की मृत्यु पर वह अत्यन्त दुःखी होकर पाण्डवों को कोसती भी है (आत्मना हन्ति चात्मानमाक्रोशन्ती च पाण्डवान्)[116] जबकि उन्हीं पाण्डवों ने अपनी पत्नी द्रौपदी का अपहरण करने पर भी उसके पति को क्षमादान दिया था।[117] उसके लिये आक्रोशित होना स्वाभाविक भी था। उसका पति उसके लिये पूज्य था क्योंकि वह एक पतिव्रता स्त्री थी। जैसा कि शास्त्रों में वर्णित है कि ''सदाचार से हीन, परस्त्री में अनुरक्त और विद्या आदि गुणों से हीन भी पति पतिव्रता स्त्रियों के लिये देवताओं के समान पूज्य होता है।''[118] महाभारत के युद्ध में पाण्डवों की विजय के पश्चात् अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर यज्ञ-अश्व के पीछे-पीछे चलने वाला वीर अर्जुन जब सैन्धव देश पहुँचा तो दुःशला अपने पौत्र को साथ लेकर वहाँ सैन्धव सैनिको से युद्ध करने वाले अपने भ्राता अर्जुन के समीप पहुँचकर उसे तथा सभी सैनिकों को युद्ध रोककर शान्त रहने के लिये कहती है।[119]

फिर वह अपने भाई से अपना दुःख प्रकट करते हुये कहती है कि "मेरे पुत्र सुरथ ने पहले से सुन रखा था कि तुम्हारे द्वारा ही उसके पिता की मृत्यु हुयी है। इसके बाद जब उसने यह सुना कि तुम अश्व के पीछे-पीछे युद्ध के लिये यहाँ आ पहुँचे हो तो वह पितृशोक से सन्तप्त हो अपने प्राणों का परित्याग कर बैठा। 'अर्जुन आये' इन शब्दों के साथ तुम्हारा नाममात्र सुनकर ही मेरा पुत्र विषाद से पीड़ित हो पृथ्वी पर गिरा और मर गया। उसको ऐसी अवस्था में देख उसके पुत्र को साथ लेकर मैं शरण चाहती हुयी आज तुम्हारे पास आयी हूँ।"[120]

फिर वह अपने पौत्र की रक्षा के लिये अर्जुन से प्रार्थना करती हुयी कहती है "यह अबोध बालक है, कुछ नहीं जानता है। इसके बन्धुजन नष्ट हो चुके हैं। तुम इसके ऊपर कृपा करो। क्रोध के वशीभूत न होओ। इस बालक का पितामह अनार्य, नृशंस और तुम्हारा अपराधी था। उसको भूल जाओ और इस पर कृपा करो" (बालस्य हतबन्धोश्च पार्थ किंचिदजानतः, प्रसादं कुरु धर्मज्ञ मा मन्युवशमन्वगाः, तमनार्यं नृशंसं च विस्मृत्यास्य पितामहम्, आगस्कारिणमत्यर्थं प्रसादं कर्तुमर्हसि)[121] उसके ऐसे करुणायुक्त वचन सुनकर, उसे सान्त्वना देकर, हृदय से लगाकर अर्जुन उसे उसके घर भेजता है।[122] तत्पश्चात् वह अश्वमेध यज्ञ के समय हस्तिनापुर आती है। वहाँ युधिष्ठिर उसके पौत्र को पिता के राज्य पर अभिषिक्त कर उसे बहुत-सा धन, आभूषण, रत्न इत्यादि देकर विदा करते हैं।[123]

महाभारत में दुःशला के विषय में बहुत ही कम लिखा गया है अतः उसके चारित्रिक गुण पूर्ण रूप से प्रस्फुटित नहीं हो पाये हैं तथापि उसके द्वारा निर्वहन की गयी भूमिकाओं से यह ज्ञात होता है कि वह एक आज्ञाकारिणी पुत्री, पतिव्रता पत्नी, पाण्डवों की प्रिय भगिनी, ममतामयी माता और पौत्र से प्रेम करने वाली तथा उसका संरक्षण करने वाली पितामही थी। उसने अपने भ्राता अर्जुन के समक्ष अपने पति के अनार्य होने की और पाण्डवों के प्रति किये गये अन्याय की सत्यता को स्वीकार किया, इससे विदित होता है कि उसमें सत्य को स्वीकार करने का साहस था। अर्जुन के सैन्धव प्रदेश में आने पर, उस भय से अपने पुत्र की मृत्यु होने पर भी वह अपने मृत पुत्र को छोड़कर तत्काल अपने पौत्र की रक्षा के लिये रणक्षेत्र पहुँचकर अर्जुन से भेंट करती है, इससे ज्ञात होता है कि वह धैर्यशीला थी और परिस्थिति के अनुरूप निर्णय लेने का सामर्थ्य रखती थी। अतः उसमें धैर्य, संयम, विवेक, सहिष्णुता, विनम्रता, साहस जैसे गुण विद्यमान थे। पति की मृत्यु पर दुःशला का दुःख, उसकी वेदना और पुत्र की मृत्यु पर भी उसके पास न रूक पाने की विवशता और साथ ही पौत्र के

जीवन की रक्षा हेतु अर्जुन के समक्ष याचना करने में उसकी निरीहता और परवशता स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है।

हिडिम्बा

'हिडिम्बा' हिडिम्ब नामक राक्षस की भगिनी थी वह एक नरभक्षिणी राक्षसी थी और अपनी प्रसन्नता व्यक्त करने के लिये वह नृत्य भी करती थी (भक्षयित्वा च मांसानि मानुषाणां प्रकामतः, नृत्याव सहितावां दत्ततालावनेकशः।)[124] पाण्डवों को अपना परिचय देते हुये उसने कहा था, 'मैं राक्षस जाति की सुशीला कन्या हूँ और मेरा नाम सालकटंकटी है। मैं देवोपम कान्ति से युक्त और युवावस्था से सम्पन्न हूँ। मैं न तो यातुधानी हूँ और न निशाचरी ही हूँ (न यातुधान्यहं त्वार्ये न चास्मि रजनीचरी, कन्या रक्षस्सु साध्व्यस्मि राज्ञि सालकटंकटी, पुत्रेण तव संयुक्ता युवतिर्देववर्णिनी)।[125]

कुन्तीपुत्र भीम के साथ गान्धर्व विवाह करने वाली और घटोत्कच नामक वीरपुत्र प्रसविनी राक्षसी हिडिम्बा की निम्नलिखित चारित्रिक विशेषतायें दृष्टिगोचर होती हैं-

अलौकिकशक्तिसम्पन्नाः राक्षसी हिडिम्बा अलौकिक शक्ति से सम्पन्न थी। वह आकाश में विचरण करने वाली और इच्छानुसार रूपपरिवर्तन की क्षमता से युक्त थी। (अन्तरिक्षचरी ह्यस्मि कामतो विचरामि च। सा कामरूपिणी रूपं कृत्वा मानुषमुत्तमम्)[126] वह दिव्यज्ञान से भूत और भविष्य की घटनाओं को भी देख सकती थी। उसने पाण्डवों और कुन्ती से कहा था कि 'मैं दिव्यज्ञान से भूत और भविष्य की घटनाओं को देखती हूँ। अतः आप लोगों के कल्याण की बात बता रही हूँ। यहाँ से थोड़ी ही दूर पर एक उत्तम सरोवर है। आप आज वहाँ जाकर उस सरोवर में स्नान करके वृक्ष के नीचे विश्राम करें। कुछ दिन पश्चात् कमलनयन व्यासजी का दर्शन पाकर आप शोकमुक्त हो जायेंगे। दुर्योधन के द्वारा आप सभी का हस्तिनापुर से निकाला जाना, वारणावत नगर में जलाया जाना और विदुरजी के प्रयत्न से आप सभी की रक्षा होना आदि बातें उन्हें ज्ञानदृष्टि से ज्ञात हो गयी हैं। वे महात्मा व्यास शालिहोत्र मुनि के आश्रम में निवास करेंगे।'[127]

सत्यवादिनीः राक्षसकुल में उत्पन्न हिडिम्बा अपने भाई के कहने पर कुन्ती और उसके पुत्रों की हत्या करने के उद्देश्य से वन में उनके समीप आयी थी, तब कुन्ती के द्वारा उसका परिचय पूछने पर, अपने राक्षसी रूप का त्यागकर सुन्दर स्त्री का रूप धारण करके आयी हुयी

उसने अपना वास्तविक परिचय देते हुये और अपना उद्देश्य बताते हुये कहा कि ''आप मुझे उस राक्षसराज हिडिम्ब की बहिन समझें। मेरे भाई ने मुझे आपकी और आपके पुत्रों की हत्या करने की इच्छा से भेजा था (भ्रात्रा सम्प्रेषितामार्ये त्वां सुपुत्रां जिघांसता)[128] उनकी बुद्धि बड़ी क्रूरतापूर्ण है, उनके कहने से मैं यहाँ आयी और नूतन, सुवर्ण-सी आभा वाले आपके महाबली पुत्र पर मेरी दृष्टि पड़ी और उन्हें देखते ही मैं उनकी वशवर्तिनी हो गयी। तदनन्तर मैंने आपके महाबली पुत्र का अपने मन में पतिरूप में वरण कर लिया और इस बात के लिये प्रयत्न किया कि उन्हें लेकर यहाँ से अन्यत्र दूर ले चलूँ परन्तु आपके पुत्र की स्वीकृति न मिलने से मैं इस कार्य में सफल नहीं हो सकी।''[129] जब भीम ने हिडिम्ब राक्षस का वध कर दिया और हिडिम्बा ने पुनः अपनी प्रणययाचना भीम के समक्ष प्रकट की तब भीम ने उसके राक्षसी होने के कारण उस पर अविश्वास प्रकट कर उसे मारने की इच्छा की। तब युधिष्ठिर ने उसे ऐसा करने से रोक दिया।[130] तत्पश्चात् अपने प्रेम की पवित्रता और सत्यता को प्रमाणित करने के लिये हिडिम्बा ने कुन्ती से कहा, 'स्त्रियों को इस जगत् में जो कामजनित पीड़ा होती है, उसे आप जानती ही हैं। मैंने समय की प्रतीक्षा में उस महान् दुःख को सहन किया है। अब वह समय आ गया है। आशा है, मुझे अभीष्ट सुख की प्राप्ति होगी। मैंने अपने हितैषी सुहृदों, स्वजनों तथा स्वधर्म का परित्याग करके आपके पुत्र भीमसेन को अपना पति चुना है। यदि ये वीरवर या आप मेरी इस प्रार्थना को स्वीकार नहीं करेंगी तो मैं जीवित नहीं रह सकूँगी। यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ।'' (आर्ये जानासि यद् दुःखमिह स्त्रीणामनंगजम्। सोढं तत् परमं दुःखं मया कालप्रतीक्षया। सोऽयमभ्यागतः कालो भविता मे सुखोदयः।। मया ह्युत्सृज्य सुहृदः स्वधर्मं स्वजनं तथा। वृतोऽयं पुरुषव्याघ्रस्तव पुत्रः पतिः शुभे।। वीरेणाहं तथानेन त्वया चापि यशस्विनि। प्रत्याख्याता न जीवामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।।[131]

उपर्युक्त विवेचन से हिडिम्बा के सत्यवादिनी होने तथा भीम के प्रति उसके मन में अतिशय प्रेम के होने का ज्ञान होता है। उसके मन में भीम के प्रति आसक्ति न होकर सच्चा प्रेम भाव ही था और उसके लिये उसने छल-कपट का आश्रय न लेकर अपनी वास्तविकता को सबके सामने प्रकट किया। भीम के क्रोध करने पर भी उसने क्रोध नहीं किया अपितु विनम्रता से अपने मनोभावों से सबको अवगत कराया। भीम को पति रूप में वरण करने के लिये उसने अपने कुलधर्म का भी परित्याग कर दिया। यह उसकी प्रेम की पवित्रता का द्योतक है।

धर्मज्ञा: हिडिम्बा राक्षस जाति में जन्म लेने पर भी धर्म का ज्ञान रखने वाली थी। इस बात से कुन्ती भी सहमत थी। उसकी बातों को सुनकर कुन्ती ने कहा था कि ''यह राक्षसी अपनी वाणी द्वारा तो उत्तम धर्म का ही प्रतिपादन करती है'' (राक्षस्येषा हि वाक्येन धर्मं वदति साधुवै)[132] जब वह भीम के प्रति आसक्त होकर विचार करती है कि 'पतिप्रेम ही अत्यन्त प्रबल होता है। भाई का सौहार्द्र उसके समान नहीं होता' (पतिस्नेहोऽतिबलवान् न तथा भ्रातृसौहृदम्)[133] तो उसका यह वचन शास्त्रीय ज्ञान को ही व्यक्त करता है क्योंकि स्कन्दपुराण में पातिव्रतधर्मवर्णन में भी कहा गया है कि ''पिता थोड़ा सुख देता है, भाई अल्प सुख देता है और पुत्र भी अल्प ही सुख देता है, अपरिमित सुख देने वाला तो पति ही है।''[134] जब वह कुन्ती से स्वयं को भीम के लिये स्वीकार करने की याचना करती है तब भी वह धर्मयुक्त वचन कहती है। हिडिम्बा ने कहा ''जिस उपाय से भी आपत्ति से मुक्ति मिले और प्राणों की रक्षा हो सके, धर्म का अनुसरण करने वाले पुरुष को वह सब स्वीकार करके उस उपाय को काम में लाना चाहिये। जो आपत्तिकाल में धर्म को धारण करता है, वही धर्मात्माओं में श्रेष्ठ है। धर्मपालन में संकट उपस्थित होना ही धर्मात्मा पुरुषों के लिये आपत्ति कही जाती है। पुण्य ही प्राणों को धारण करता है, इसीलिये पुण्य प्राणदाता कहलाता है। अतः जिस-जिस उपाय से धर्म का आचरण हो सके, उसके करने में कोई निन्दा की बात नहीं है। साधु पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के सभी पुरुषार्थों के लिये शरणागतों पर दया करते हैं। धर्मानुरागी महर्षि दया को ही श्रेष्ठ धर्म मानते हैं।[135] उसके धर्मयुक्त वचनों से प्रभावित होकर ही कुन्ती ने हिडिम्बा के विवाह-प्रस्ताव को स्वीकार किया और भीम के साथ उसका गान्धर्व-विवाह सम्पन्न कराया।

वचनपालनतत्परा: हिडिम्बा ने न केवल धर्मतत्त्व का प्रतिपादन किया अपितु युधिष्ठिर, कुन्ती और भीम द्वारा कहे गये वचनों का पूर्ण निष्ठा के साथ पालन भी किया। विवाह से पूर्व युधिष्ठिर ने हिडिम्बा के समक्ष शर्त रखी थी कि ''जब भीमसेन स्नान, नित्यकर्म तथा मांगलिक वेश-भूषा आदि धारण कर ले, तब तुम प्रतिदिन उनके साथ रहकर सूर्यास्त होने से पहले तक ही उनकी सेवा कर सकती हो। तुम मन के समान वेग से चलने वाली हो, अतः दिन में तो तुम इनके साथ इच्छानुसार विहार करो परन्तु रात्रि को सदा तुम्हें भीमसेन को हमारे पास पहुँचा देना होगा। और नित्य-निरन्तर इनकी रक्षा करनी होगी। तुम भीमसेन के

साथ सुखपूर्वक तब तक रहो जब तक कि तुम्हें यह ज्ञात न हो जाय कि तुम्हारे गर्भ में बालक आ गया है।''[136] भीम ने भी उसके समक्ष यही शर्त रखी कि ''जब तक तुम्हें पुत्र की उत्पत्ति न जो जाय, तभी तक मैं तुम्हारे साथ विहार के लिये चलूँगा'' (यावत् कालेन भवति पुत्रस्योत्पादन शुभे; तावत् कालं गमिष्यामि त्वया सह सुमध्यमे)[137] और हिडिम्बा ने भी इस शर्त को स्वीकार करके सदैव उनके वचनों का पालन किया। वह तो पहले ही मन में भीम को अपना पति मान चुकी थी अतः विवाहपूर्व ही उसने उनके कार्यों में सहयोग की भावना से पाण्डवों के लिये निवासस्थान के निर्माण के निमित्त उन सबके लिये पर्णशाला तैयार करने के बाद उसने अपने और कुन्ती के लिये एक दूसरी जगह पर्णशाला बनायी।[138] और विवाह पश्चात् भीमसेन की सेवा में रहते हुये उसने घटोत्कच नामक पुत्र को उत्पन्न कर, यह कहकर कि 'भीमसेन के साथ रहने का मेरा समय समाप्त हो गया', आवश्यकता के समय पुनः मिलने की प्रतिज्ञा करके अपने अभीष्ट स्थान को चली गयी। (संवाससमयो जीर्ण इत्याभाष्य ततस्तु तान्, हिडिम्बा समयं कृत्वा स्वां गतिं प्रत्यपद्यत)[139] जैसा कि याज्ञवल्क्यस्मृतिकार का कथन है कि 'स्त्रियों को पति के वचन का पालन करना चाहिये क्योंकि स्त्री का यही परम धर्म है' (स्त्रीभिर्भर्तृवचः कार्यमेष धर्मः परः स्त्रियाः)[140] हिडिम्बा ने शास्त्रोक्त वचन का ही पालन किया। उसने घटोत्कच जैसे वीर और सदाचारी पुत्र को उत्पन्न किया जो सदैव पाण्डवों की आज्ञा के अधीन रहा। युधिष्ठिर भी उसकी आज्ञाकारिता के इस गुण की प्रशंसा करते हैं और इसका कारण हिडिम्बा को मानते हैं। स्कन्द पुराण में युधिष्ठिर का कथन है कि 'पुत्र! तुम्हीं हमारे भक्त और सहायक हो। निश्चय ही जैसी माता होती है, वैसा ही उसका पुत्र भी होता है। तुम्हारी माता हम लोगों के प्रति अविचल भक्ति रखने वाली है, तुम भी ऐसे ही हो। मेरी प्यारी पतोहू बड़ा कठिन कार्य कर रही है जो कि अपने प्यारे पति की सेवा का सुख छोड़कर तपस्या में ही संलग्न है।'[141]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिडिम्बा अलौकिक शक्ति सम्पन्ना, सत्य बोलने वाली, धर्म का ज्ञान रखने वाली, धर्म का आचरण करने वाली, वचनपालन में दृढ़ रहने वाली, तपस्विनी तथा पतिव्रता स्त्री थी। यद्यपि वह नरभक्षिणी राक्षसी थी तथापि भीम जैसे पुरुष को प्राप्त कर उसी के सद्गुणों से संयुक्त हुई। उसने घटोत्कच जैसे सदाचारी पुत्र को जन्म देकर इस शास्त्रोक्त बात को सिद्ध किया है कि 'स्त्री जिस प्रकार के पति का सेवन करती है उसी प्रकार की सन्तान को उत्पन्न करती है' (यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम्)।[142]

सुदेष्णा

केकयराजकुमारी 'सुदेष्णा' कीचकबन्धुओं की छोटी बहिन तथा मत्स्यराज विराट की परमसम्मता और प्रिय रानी थी। उस सती-साध्वी मालवी कन्या सुदेष्णा का अपर नाम 'चित्रा' भी था।[143] उसे महारानी के रूप में पाकर राजा विराट का दुःख दूर हो गया (सुदेष्णां महिषीं लब्ध्वा राजा दुःखमपानुदत्)[144] कहा भी गया है 'सा भार्या यत्र निवृत्तिः' अर्थात् भार्या वही है जिससे सुख प्राप्त हो।[145] रानी सुदेष्णा ने राजा विराट से अपने कुल की वृद्धि के लिये उत्तर और उत्तरा नामक दो सन्तानों को उत्पन्न किया।[146] वह एक बुद्धिमती स्त्री थी, जिसका ज्ञान उसके द्वारा किये गये द्रौपदी के शारीरिक लक्षणों के वर्णन से होता है क्योंकि उसे विश्वास ही नहीं होता कि ऐसी रूपवती स्त्रियाँ दासी हो सकती हैं।[147] उसकी सुन्दरता के कारण वह द्रौपदी को सैरन्ध्री के कार्य में नियुक्त नहीं करना चाहती थी क्योंकि उसे आशंका थी कि 'राजा विराट उसका दिव्य रूप देखते ही मुझे छोड़कर सम्पूर्ण चित्त से उसी में आसक्त हो जायेंगे' (राजा विराटः सुश्रोणि दृष्ट्वा वपुरमानुषम्, विहाय मां वरारोहे गच्छेत् सर्वेण चेतसा)।[148] किन्तु द्रौपदी द्वारा आश्वासन दिलाये जाने पर वह उसे अपने यहाँ दासी कार्य में नियुक्त कर लेती है।[149] जब सुदेष्णा का भाई कीचक द्रौपदी पर आसक्त होकर उसे पाने की इच्छा करता है तो पहले तो वह अपने भाई को समझाते हुये कहती है कि ''यह सुन्दरी मेरी शरण में आयी है। इसे मैंने अभय दे रखा हैं यह बड़ी सदाचारिणी है। मैं इससे तुम्हारी मनोगत बात नहीं कह सकती। इसे कोई भी दूसरा पुरुष मन में दूषित भाव लेकर स्पर्श नहीं कर सकता। सुनती हूँ, पाँच गन्धर्व इसकी रक्षा करते हैं और इसे सुख पहुँचाते हैं। इसे ध्यान में रखने से तुम अत्यन्त दुःखदायिनी संकटपूर्ण परिस्थिति में नहीं पड़ोगे। गन्धर्व बलवान् हैं, वे तुम्हारे कुल और सम्पत्ति का भी नाश कर सकते हैं।''[150] इसलिये यदि तुम्हें अपने प्राण प्रिय हैं और यदि तुम मेरा भी प्रिय करना चाहते हो तो इस सैरन्ध्री में मन न लगाओ। उसका चिन्तन छोड़ दो और उसके पास कभी न जाओ (तस्मान्नास्यां मनः कर्तुं यदि प्राणाः प्रियास्तव, मा चिन्तयेथा मा गास्त्वं मत्प्रियं च यदीच्छसि)[151] किन्तु जब उसका भाई उसकी बातों पर ध्यान नहीं देता तो वह उसे फटकारती है और दुःखी होकर कहती है कि ''निश्चय ही तेरी आयु समाप्त हो गयी है; तभी तू इस प्रकार काम से मोहित हो रहा है। नराधम! तू मुझे ऐसे पापपूर्ण कार्य में लगा रहा है, जो कदापि करने योग्य नहीं है। मेरे लिये सबसे महान् दुःख की बात यह है कि मैं सारे परिणामों को जानकर भी भ्रातृ-स्नेह के कारण तेरी बात को मानूँगी। तू अपने कुल का संहार करके संतुष्ट हो ले'', यथोक्तम्-

ध्रुवं गतायुस्त्वं पाप यदेवं काममोहितः। अकर्तव्ये हि मां पापे नियुनङ्क्षि नराधम।।
एतत् तु मे दुःखतरं येनाहं भ्रातृसौहृदात्। विदितार्था करिष्यामि तुष्टो भव कुलक्षयात्।।[152]

फिर वह मदिरा लाने के व्याज से द्रौपदी को कीचक के घर भेज देती है। जहाँ कीचक द्वारा उसका अपमान होता है।[153]

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट होता है कि सुदेष्णा अत्यन्त विनम्र, बुद्धिमती, स्वकत्र्तव्यनिर्धारण में कुशल, सरल स्वभाव वाली, मृदुभाषिणी और पतिव्रता स्त्री थी। उसे अपने पति और अपने भ्राता कीचक से अत्यधिक प्रेम था। पति से दूर होने का भय और भ्रातृहितचिन्तन उसके वचनों में स्पष्ट दिखायी देता है किन्तु धर्मज्ञा होने पर भी वह भ्रातृ-स्नेह के कारण उसके अनुचित कार्य में सहयोग देती है तथा एक स्त्री होकर भी दूसरी स्त्री के अपमान का कारण बन जाती है।

निष्कर्ष -

द्रौपदी के परवर्तीकालीन स्त्रीपात्रों के चरित्र-विश्लेषण द्वारा तत्कालीन स्त्रीपात्रों के समक्ष उपस्थित विषम परिस्थितियों में उनके धैर्य, संयम, सहिष्णुता और त्याग का गुण सहज ही परिलक्षित होता है। इन सभी स्त्रीपात्रों ने प्रतिकूल और अनुकूल दशाओं में स्वकर्तव्य का पूर्ण निष्ठा के साथ पालन करते हुये मर्यादित आचरण को प्रस्तुत किया है। सुदेष्णा का चरित्र यहाँ अपवाद है क्योंकि उसने द्रौपदी के प्रति अनुचित व्यवहार किया था किन्तु वह भी अन्य स्त्रियों की भाँति ही शास्त्रों द्वारा अनुमोदित अपने कुल का उद्धार करने वाली, मधुर वचन बोलने वाली, शुभलक्षणों वाली, शोभन आचार वाली, पति से विद्वेष न रखने वाली, कार्यकुशल, पुत्रवती व पतिव्रता स्त्री थी। कुरुकुल की सभी स्त्रियाँ एक-दूसरे का सम्मान करने वाली, पति के सम्बन्धियों को प्रसन्न रखने वाली, गुरुजनों की शुश्रूषा करने वाली, सर्वदा पति के नियमों की रक्षा करने वाली, सम्पत्ति और विपत्ति में पति के साथ एकरूप होकर रहने वाली, सत्य को स्वीकार करने के साहस वाली, परिस्थिति के अनुसार निर्णय करने वाली, धर्मानुरागिणी तथा शील-रूप-विद्या आदि गुणों से संयुक्त थी। वे सभी पतिव्रता होने के कारण आत्मबल से सुरक्षित थीं। इन्होंने पूर्ण मनोयोग से अपनी पारिवारिक विभिन्न भूमिकाओं का निर्वहन किया है चाहे वह भूमिका पुत्री, भगिनी, पत्नी, वधू, सपत्नी, माता, श्वश्रू अथवा पितामही की ही क्यों न हो। जहाँ उलूपी, चित्रांगदा और सुभद्रा को अल्पावधि के लिये पतिसुख से वंचित रहना पड़ा वहीं हिडिम्बा और उत्तरा को अल्पावधि तक ही पतिसुख का सौभाग्य प्राप्त हुआ किन्तु ये सभी, कभी भी भाग्य पर दोषारोपण करके, दुःखी होकर स्वकत्र्तव्यों से विमुख नहीं हुयीं। बल्कि धर्म को सामने रखकर अपने पति के वचनों का पालन करते हुये धैर्य और संयम के साथ अपने दायित्वों का निर्वहन किया। इन्होंने अपने पति को हर प्रकार का सुख प्रदान किया। इन पतिव्रता स्त्रियों की प्रशंसा में स्कन्दपुराण में कहा गया है, ''कार्यकुशल, पुत्रवती, पतिव्रता, मीठे वचन बोलने वाली और अपने अधीन रहने वाली-इन गुणों से युक्त पत्नी वस्तुतः स्त्री के रूप में साक्षात् लक्ष्मी है।'' यथोक्तम्- दक्षा प्रजावती साध्वी प्रियवाक् च वशंवदा।

गुणैरमीभिः संयुक्ता सा श्रीः स्त्रीरूपधारिणी।।[154]

♦♦♦♦

सन्दर्भ

1. महाभारत, आदिपर्व, 213/18, आश्रमवासिकपर्व, 25/11
2. महाभारत, आदिपर्व, 213/12-14
3. महाभारत, आदिपर्व, 213/19-20
4. महाभारत, आदिपर्व, 213/24, 26, 28-30
5. महाभारत, आदिपर्व, 213/33-35
6. महाभारत, आदिपर्व, 213/36
7. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 79/1, 19, 34 ; 80/41-42, 50, 52
8. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 81/7-8
9. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 81/9-11
10. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 81/12, 14-18, 21
11. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 81/22
12. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 88/2, महाप्रस्थानिकपर्व, 1/27
13. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 88/2-3
14. महाभारत, आदिपर्व, 213वाँ अध्याय, पृ.सं.-707
15. महाभारत, भीष्मपर्व, 90/76
16. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 79/1-4
17. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 79/8
18. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 79/9-10
19. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 79/11-12
20. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 79/13, 35
21. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 80/36
22. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 80/44
23. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 80/45-47
24. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 80/51-53
25. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 88/2-3
26. महाभारत, आश्रमवासिक पर्व, 1/9
27. महाभारत, आश्रमवासिक पर्व, 15/10-11
28. महाभारत, आश्रमवासिक पर्व, 23/12, 25/11
29. महाभारत, आश्रमवासिक पर्व, 37/43
30. निरूक्तम्, पृ.-255 (दुर्हिता, दूरे हिता, दोग्धेर्वा)
31. महाभारत, आदिपर्व, 214/15, आश्रमवासिक पर्व, 25/11

32. महाभारत, आदिपर्व, 211/29
33. महाभारत, 214/16-17
34. महाभारत, 214/26
35. महाभारत, 214/24-25
36. मनुस्मृति, 9/127, ऋग्वेद संहिता, 3/31/1, याज्ञवल्क्यस्मृति, 2/128
37. महाभारत, आदिपर्व, 216/24, 34 ; 214/26
38. महाभारत, आदिपर्व, 216/26, 31, 34
39. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 79/38-39, 80/1
40. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 80/5-7
41. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 80/13
42. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 80/14-16
43. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 80/18
44. सं. स्कन्दपुराण, पृ.-722, सं. पद्मपुराण, पृ.-274
45. महाभारत, महाप्रस्थानिक पर्व, 1/28
46. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 80/17
47. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 80/40
48. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 81/6
49. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व,88/2-3
50. महाभारत, आश्रमवासिक पर्व, 1/23-24
51. महाभारत, आश्रमवासिक पर्व, 15/10-11, 18/2-3
52. महाभारत, आश्रमवासिक पर्व, 25/11
53. महाभारत, आश्रमवासिक पर्व, 37/43
54. शंखस्मृति, 4/15
55. महाभारत, आदिपर्व, 218/17
56. महाभारत, आदिपर्व, 218/18
57. महाभारत, आदिपर्व, 220/21, आश्रमवासिकपर्व, 25/10, सभापर्व, पृ. 872
58. महाभारत, आदिपर्व, 219/6-7
59. महाभारत, आदिपर्व, 221/23
60. महाभारत, आदिपर्व, 218/14
61. महाभारत, आदिपर्व, 221/22
62. महाभारत, आदिपर्व, 220/6, 13
63. महाभारत, आदिपर्व, 220/19

64. महाभारत, वनपर्व, 183/14
65. महाभारत, विराटपर्व, 72/22
66. सं. स्कन्दपुराण, पृ.-722
67. श्रीमद्भागवत-महापुराण, दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध), 86/7, 9
68. महाभारत, आदिपर्व, 219/1-2
69. महाभारत,आदिपर्व, 220/1
70. महाभारत, सभापर्व, 2/5-6
71. महाभारत, द्रोणपर्व, 77/17-18
72. महाभारत, द्रोणपर्व, 77/19-26
73. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 67वाँ अध्याय
74. महाभारत, आदिपर्व, 220/22-23
75. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 88/4
76. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 1/9, आदिपर्व, 220/21-22, उद्योगपर्व, पृ.-2055
77. महाभारत, आश्रमवासिक पर्व, 1/9
78. महाभारत, आश्रमवासिक पर्व, 15/10-11, 37/43
79. महाभारत, आश्रमवासिक पर्व, 25/10
80. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 61/29
81. महाभारत, द्रोणपर्व, 78/10, 14, 16
82. महाभारत, द्रोणपर्व, 78/12-13, 17
83. महाभारत, द्रोणपर्व, 78/17, 20
84. महाभारत, द्रोणपर्व, 78/21-35
85. महाभारत, द्रोणपर्व, 78/18
86. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 67/3
87. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 67/10-11
88. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 67/13-14
89. महाभारत, विराटपर्व, 37/1, 3-5, द्रोणपर्व, 78/पृ. 243
90. महाभारत, विराटपर्व, 68/26
91. महाभारत, विराटपर्व, 72/22, 32-33
92. महाभारत, विराटपर्व, 36/23-24
93. महाभारत, विराटपर्व, 37/8-10
94. महाभारत, विराटपर्व, 37/12-13
95. महाभारत, विराटपर्व, 11/11

96. महाभारत, विराटपर्व, 11/12-13
97. महाभारत, विराटपर्व, 37/28-29
98. महाभारत, विराटपर्व, 69/16-17
99. महाभारत, विराटपर्व, 72/2-3, 5
100. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 62/8-9
101. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 69/10
102. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 68/23-24
103. महाभारत, द्रोणपर्व, 78वाँ अध्याय; पृ. 243
104. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 66/22-24
105. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 62/10-11
106. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 61/39-40
107. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 69/11-12
108. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 15/10-11, 25/15, 37/43
109. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, 1/9
110. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 68/13
111. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 69/8-9
112. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 69/11-12
113. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 70/9
114. संक्षिप्त स्कन्दपुराण, पृ.-619, नारीशिक्षा (सती-माहात्म्य)
115. महाभारत, आदिपर्व, 116/17-18
116. महाभारत, स्त्रीपर्व, 22/14
117. महाभारत, वनपर्व, 272/18
118. मनुस्मृति, 5/154 (विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः।।)
119. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 78/38
120. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 78/29-32
121. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 78/39-40
122. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 78/43-44
123. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, 89/35
124. महाभारत, आदिपर्व, 151/14
125. महाभारत, आदिपर्व, 154वाँ अध्याय; पृ.सं.-535
126. महाभारत, आदिपर्व, 151/30, 21

127. महाभारत, आदिपर्व, पृ. 535, 154वाँ अध्याय
128. महाभारत, आदिपर्व, 153/6
129. महाभारत, आदिपर्व, 153/7-9
130. महाभारत, आदिपर्व, 154/1-2
131. महाभारत, आदिपर्व, 154/5-8
132. महाभारत, आदिपर्व, 154/पृ.सं.- 536
133. महाभारत, आदिपर्व, 151/19
134. सं. स्कन्दपुराण, काशीखण्ड, पूर्वार्द्ध, पृ.सं.- 722
135. महाभारत, आदिपर्व, 154/13-15, पृ.सं.-535
136. महाभारत, आदिपर्व, 154/17-18, पृ.सं.-536
137. महाभारत, आदिपर्व, 154/20
138. महाभारत, आदिपर्व, 154/पृ.सं.-537
139. महाभारत, आदिपर्व, 154/40
140. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/77
141. सं. स्कन्दपुराण, माहेश्वर खण्ड - कुमारिका खण्ड, पृ.सं.-220
142. मनुस्मृति (सम्पूर्ण), 9/9
143. महाभारत, विराटपर्व, 9/6 (विराटस्य तु कैकेयी भार्या परमसम्मता), 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-1059
144. महाभारत, विराटपर्व, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-1059
145. चाणक्यनीतिदर्पण, 2/4
146. महाभारत, विराटपर्व, 16वाँ अध्याय, पृ.सं.-1059
147. महाभारत, विराटपर्व, 9/9-13
148. महाभारत, विराटपर्व, 9/25
149. महाभारत, विराटपर्व, 9/35
150. महाभारत, विराटपर्व, 15/पृ.सं. 1046
151. महाभारत, विराटपर्व, 15वाँ अध्याय, पृ.सं.-1046
152. महाभारत, विराटपर्व, 15वाँ अध्याय, पृ.सं.-1047
153. महाभारत, विराटपर्व, 15/10, 16-17, 16वाँ अध्याय
154. सं. स्कन्दपुराण, काशीखण्ड, पूर्वार्द्ध, पृ.सं.-810

नवम अध्याय

प्राचीन स्त्री पात्र तथा आधुनिक स्त्री की अवधारणा-तुलनात्मक दृष्टिकोण

(क) स्त्री शिक्षा

(ख) दहेज प्रथा

(ग) नारी सुरक्षा

(घ) नारी स्वतंत्रता

(ङ) पति-पत्नी संबंध

(च) लिव-इन-रिलेशनशिप

नवम अध्याय

प्राचीन स्त्री पात्र तथा आधुनिक स्त्री की अवधारणा-तुलनात्मक दृष्टिकोण

इस अध्याय के अन्तर्गत प्राचीन स्त्री पात्र तथा आधुनिक स्त्री का तुलनात्मक अध्ययन प्रमुख परिस्थितियों के अधीन किया गया है। जो निम्न प्रकार हैं-

(क) स्त्री शिक्षा

प्राचीन काल में स्त्रियों की शिक्षा उच्चस्तरीय थी। स्त्रियों को शिक्षा प्रदान करने हेतु किसी पाठशाला या गुरुकुल के नाम का उल्लेख वहाँ नहीं किया गया है किन्तु पी.वी. काणे महोदय ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि 'नारी शिक्षिकाओं की परम्परा अवश्य रही होगी क्योंकि पाणिनि की काशिका वृत्ति ने 'आचार्या एवं उपाध्याया' नामक शब्दों के साधनार्थ व्युत्पत्ति की है।'[1] आश्वलायन गृह्यसूत्र में गार्गी वाचक्नवी, वडवा प्रातिथेयी एवं सुलभा मैत्रेयी नामक तीन स्त्री शिक्षिकाओं के नाम का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] आल्तेकर महोदय का इस विषय में कथन है कि Usually, however, ordinary girls who did not go in for higher education were educated in their own families by their father, uncles or brothers or by local lady teachers.[3] इससे ज्ञात होता है कि स्त्रियों को शिक्षा प्रदान करने में परिवार के सदस्यों के साथ ही स्त्री शिक्षिकाओं की भी भूमिका रही होगी। स्त्रियों को मुख्यतः गृहकर्मों की शिक्षा दी जाती थी। अथर्ववेद में स्त्रियों के द्वारा वस्त्र बुनने, सिलाई करने तथा केश-विन्यास का उल्लेख प्राप्त होता है।[4] वहाँ कहा गया है कि रमणीय होने पर भी जो कन्याएँ गृहस्थ धर्म के अयोग्य हैं, वे सभी कल्पों में दोषपूर्ण मानी जाती है।[5] नाट्य, संगीत और नृत्य आदि कलाओं की शिक्षा भी वे प्राप्त करती थी। तैत्तिरीय संहिता में उल्लेख है कि सोमयाग में सिर पर कलश लेकर मार्जालीय अग्नि की परिक्रमा करती हुयी 'इदं मधु' आदि गाती हुयी दासकुमारियाँ (स्त्रियाँ) नृत्य करती थी (उदकुम्भानधिनिधाय दास्यो मार्जालीयं परिनृत्यन्ति पदो निध्नतीरिदुं मधुं गायन्त्यः)[6] डॉ. आल्तेकर महोदय ने भी अपने ग्रन्थ में लिखा है- The cultivation of fine arts like music, dancing and painting was encouraged in the case of girls since very early times. Musical recitation of the sama hymns was orginally the special

function of ladies.[7] शतपथ ब्राह्मण में स्त्रियों के नृत्य करने और गीत गाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[8] कुछ स्त्रियाँ अस्त्र-संचालन और रथ-संचालन की शिक्षा भी प्राप्त करती थी। विश्पला ने अपने पति के साथ युद्ध में भाग लिया था[9] और मुद्गल ऋषि की पत्नी ने सारथी बनकर अपनी गाँओं को शत्रु से मुक्त कराया था।[10] भगवतशरण उपाध्याय सैन्यशिक्षा के अन्तर्गत विश्पला और मुद्गलानी के नाम का उल्लेख ने अपने ग्रन्थ में किया है। Mudgalani is another case where a woman is equipped with military training.[11] 'दास' नमुचि की स्त्री-सेना का वर्णन भी मिलता है (स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे)[12] गृहकार्यों में कुशल होने के साथ ही कुछ स्त्रियाँ आध्यात्मिक शिक्षा भी प्राप्त करती थी जैसे लोपामुद्रा, विश्ववारा, घोषा, अपाला, गार्गी, मैत्रेयी।[13] मत्स्यपुराण में उल्लेख है कि त्रिपुर की स्त्रियाँ अपनी भावभंगिमाओं से लोगों को प्रसन्न रखती थी और विष्णुपुराण में वाणासुर के मंत्री कुष्माण्ड की कन्या की सखी चित्रलेखा के द्वारा अनेक आकृतियों के चित्र अंकित करने का उल्लेख है।[14] महाभारत में भी विराट पुत्री उत्तरा और उसकी सखियों को गीत, नृत्य और वादित्र सिखलाने के लिये वृहन्नला की नियुक्ति की उल्लेख है तथा महल में ही नृत्यशाला होने का उल्लेख भी है।[15] वहाँ कहा गया है कि नृत्यशाला में दिन में शिक्षा प्राप्त करके कन्याएँ अपने गृह लौट जाती है और रात्रि को नृत्यशाला सूनी रहती है।[16] महाभारत में भी कन्याओं के लिये पृथक् से शिक्षण-संस्था का उल्लेख नहीं मिलता है। जब द्रौपदी ने युधिष्ठिर को 'बृहस्पति नीति' के बारे में वर्णन किया था, तब उसने कहा था कि इसका ज्ञान उसने अपने पिता के यहाँ रहते हुये ही किसी विद्वान् से सुनकर प्राप्त किया था।'[17] सत्यवती को 'परापरधर्मतत्त्वज्ञा', गान्धारी को 'अर्थशास्त्रविशारदा', द्रौपदी को 'पण्डिता' कहकर सम्बोधित किया है।[18] द्रौपदी को पतिव्रता स्त्रियों के कर्त्तव्य का ज्ञान थी, उसे राजनीतिविषयक, पौराणिककथाओं का तथा गृहस्थ-कर्त्तव्यों का भी भली-भाँति ज्ञान था।[19] शकुन्तला का दुष्यन्त की राजसभा में जाकर उनसे धर्मविषयक वार्ता[20], सावित्री का यमराज के साथ धर्मसम्बन्धी वार्तालाप[21], विदुला का अपने पुत्र को क्षत्रियधर्म सम्बन्धी शिक्षा देना[22], गौतमी का ब्राह्मणधर्म सम्बन्धी ज्ञान[23], अरुन्धती का धर्मसम्बन्धी ज्ञान[24], सुलभा का राजा जनक से मोक्षधर्म सम्बन्धी चर्चा करना[25], कुन्ती का अनेक राजर्षियों और ब्राह्मण क्षत्रियधर्मसम्बन्धी ज्ञान[26], देवयानी का गीत, नृत्य, वाद्य सम्बन्धी प्रेम[27], संगीत विद्या में निपुण ययाति पुत्री माधवी[28], शिखण्डी का कन्या अवस्था में धनुर्विद्या, शिल्पादि शिक्षा ग्रहण करना[29], ओघवती का वेदोक्त विधि द्वारा अतिथि-सत्कार[30],

द्रौपदी के द्वारा अर्जुन के लिये स्वास्तिवाचन[31] सुभद्रा के द्वारा अभिमन्यु की मृत्यु पर देवताओं से उसकी अच्छी गति के लिये प्रार्थना करना[32], द्रौपदी द्वारा कृष्णस्तुति[33], उत्तरा के द्वारा पांचालिका को कपड़ों से सजाना[34], सत्यवती का पिता का सहायतार्थ नाव चलाना'[35] इत्यादि से ज्ञात होता है कि स्त्रियों को धर्मशास्त्र की शिक्षा का ज्ञान विशेष रूप से होता था। गृहस्थधर्मों की शिक्षा उन्हें विशेष रूप से दी जाती होगी तथा कुछ स्त्रियाँ आवश्यकता के कारण तो कुछ अपनी रूचि के अनुसार पृथक्-पृथक् शिक्षाएँ गृह में ही रहकर प्राप्त करती थीं। दासी, धात्री, गणिका, स्त्री-गुप्तचर, शैलूषी, रंगस्त्री, पाशु, वेश्या, नटी, गोपी, किराती, शबरी, नर्तकी, तान्तुकी, तुन्नवायिकी जैसे स्त्रियों के निर्देशों से स्त्रियों के व्यवसायों की कल्पना की जा सकती है।[36] इनके उनके पृथक-पृथक शैक्षिक ज्ञान का भी पता चलता है। प्राचीन काल में कन्या शिक्षा के लिये किसी पुरुष शिक्षक की नियुक्ति नहीं की जाती थी अपितु वे घर में रहते हुये ही अपने माता-पिता, भ्राता, पति, विद्वान् अतिथि इत्यादि से श्रवण द्वारा ज्ञान प्राप्त करती थीं।

आधुनिक काल में स्त्रियों की शिक्षा के स्वरूप में परिवर्तन हुआ है। अब वे भी शिक्षण संस्थाओं में जाकर शिक्षा ग्रहण कर सकती हैं। वे पुरुष शिक्षक और स्त्री शिक्षिका दोनों से ही शिक्षा ग्रहण कर सकती हैं। पिछली कुछ शतियों से स्त्रियों की सामाजिक स्थिति बहुत ही दयनीय रही है। उन्हें शिक्षा के अधिकार से वंचित कर दिया गया था जिसके परिणामस्वरूप असमानता, शोषण, अन्याय, बाल-विवाह, देहे (यौतुक) जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। किंतु संवैधानिक प्रयासों ने एक ऐसा सामाजिक वातावरण तैयार किया है, जिसके फलस्वरूप स्त्रियाँ उपर्युक्त कुरीतियों एवं समस्याओं से किसी सीमा तक मुक्त हुयी हैं। स्त्रियों की शिक्षा को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते हुये पं. जवाहरलाल नेहरू का कथन है- ''In order to awaken the people it is the women who has to be awakened. Once she is on the move, The household moves the country moves and.....thus, we build the India of tomarrow.''[37] आज कला और विज्ञान के साथ-साथ लड़कियों को गृह-विज्ञान, हस्तकला, शिल्पकला और संगीत की शिक्षा प्राप्त करने की सुविधाएँ उपलब्ध हैं। मेडिकल कॉलेजों, इंजीनियरिंग कॉलेजों में लड़कियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। शिक्षा के प्रसार के कारण स्त्रियों को बालविवाह, पर्दाप्रथा आदि कुरीतियों से छुटकारा मिल गया है। आज मेडिकल कॉलेज तथा व्यावसायिक व औद्योगिक कॉलेजों में कुल विद्यार्थियों में 34 प्रतिशत

लड़कियाँ पढ़ रही हैं और प्रशिक्षण पा रही हैं। विश्वविद्यालयों तथा कॉलेजों में इनका प्रतिशत 16 प्रतिशत है।[38] 'श्री के.एम. पणिक्कर' ने स्त्री शिक्षा की इस प्रगति को देखते हुये कहा कि ''स्त्रीशिक्षा ने विद्रोह की उस कुल्हाड़ी की धार तेज़ कर दी है जिससे हिन्दू सामाजिक जीवन की जंगली झाड़ियों को साफ करना सम्भव हो गया है।''[39] आधुनिक काल में सन् 1854 में शिक्षामहाधिकार पत्र, हण्टर आयोग, श्रीमती एनीबेसेण्ट द्वारा स्थापित भारतीय महिला संगठन, महात्मा गाँधी की शिक्षा-भारतीय महिला जागृति, वैवाहिक अवस्था में सुधार, प्रांतीय स्वयात्रा (1937), कोठारी आयोग (1966) इत्यादि आयोगों एवं संगठनों के द्वारा स्त्रीशिक्षा को प्रोत्साहन मिला और उनकी शिक्षा के लिये उपयोगी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयीं। शिक्षा प्रसार के कारण अब स्त्रियों ने अपनी अखिल भारतीय संस्थायें स्थापित कर सभी क्षेत्रों में पुरुष की भाँति समान अधिकार प्राप्त कर लिये हैं। अब उनका कार्यक्षेत्र गृह की परिधि तक सीमित न रहकर पुरुष की भाँति विस्तृत हो गया है।[40]

शिक्षा, चिकित्सा, तकनीकी, विज्ञान, कला, साहित्य-सृजन सभी क्षेत्रों में नारी-शक्ति विद्यमान है। यहाँ तक कि सेना, पुलिस, प्रशासन, रेल सेवा, हवाई सेवा, परिवहन सेवा में नारी प्रवेश कर रही है। राजनीति जैसे पुरुष प्रधान क्षेत्र में भी वे अपनी सशक्तता दर्ज करा रही है। आज अनेक नारियाँ सांसद एवं विधानसभा की सदस्य है।[41] अपनी शिक्षा का उपयोग कर स्त्रियाँ अर्थोत्पादन में भी संलग्न है। अब वे पुरुषों पर निर्भर न रहकर आत्मनिर्भर हो गयी है। श्रीमति इंदिरा गाँधी, श्रीमति सरोजनी नायडू, किरण बेदी (पुलिस सेवा) सुचेता कृपलानी (मंत्री), आशापूर्णा देवी (साहित्य) मीरा साहिब फातिमा बीबी (न्यायधीश), कोर्नोलिया सोराबाजी (वकील) श्रीमति प्रतिभा पाटिल, श्रीमति वसुन्धरा राजे सिंधिया, कल्पना चॉवला (अंतरिक्ष), गुंजन सक्सेना (पायलट), शकुन्तला देवी (गणितज्ञ) आदि ऐसी नारियाँ है जिन्होंने शिक्षा के माध्यम से पृथक्-पृथक् क्षेत्रों में उपलब्धि प्राप्त की हैं।[42]

आज कई माध्यमों से स्त्रियाँ शिक्षा प्राप्त कर सकती है जैसे औपचारिक शिक्षा, अनौपचारिक शिक्षा, दूरस्थ शिक्षा आदि। सुनीता कुमावत ने अपनी पुस्तक में लिखा है- Modern education with its various forms, i.e. formal, non-formal, distance education etc. has opened the door for the choice of various vacations and status mobility for all human being in spit of their socio-economic and cultural differences.[43] (श्रीमती चंदा कोचर (बैंकिंग सेवा), श्रीमती अनन्या गोयनका (पत्रकारिता), श्रीमती फिरोजा गोदरेज (वस्त्र उद्योग), शबाना आज़मी

(कलाकार), सुष्मिता सेन (कलाकार) आधुनिक काल में स्त्री शिक्षा के अन्तर्गत बालिका शिक्षा का कई शिक्षण संस्थायें जैसे प्राथमिक विद्यालय, माध्यमिक विद्यालय, उच्च माध्यमिक विद्यालय, नवोदय विद्यालय, केन्द्रीय विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय, व्यावसायिक शिक्षण संस्थाओं के माध्यम से प्रचार-प्रसार अनवरत किया जा रहा है तथा शिक्षा के लिये संविधान की धारा 45 के अनुसार 6-14 आयु वर्ग के लिये निःशुक्ल एवं अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान किया गया है और स्त्रीशिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिये विशेष छात्रवृत्तियाँ, निःशुल्क पुस्तकें और गणवेश आदि देने तथा छात्रावास आदि की विशेष व्यवस्थायें की जा रही हैं।[44] शिक्षा की 10+2+3 प्रणाली ने लड़कों और लड़कियों के बीच भेदभाव के बिना उच्च शिक्षा के लिये एक समान नींव रखी हैं। नयी प्रणाली के तहत लड़के और लड़कियाँ दोनों, विज्ञान और गणित, सामाजिक विज्ञान और मानविकी की मूल बातें सीख सकेंगे।[45]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्राचीनकाल में शिक्षा का स्तर अत्यन्त उच्च था। किंतु शिक्षा प्राप्ति के क्षेत्र पूर्व निश्चित एवं सीमित थे किन्तु वर्तमान समय में शिक्षा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। आज पुरुष के साथ स्त्री को भी अपनी रूचि, जिज्ञासा और कार्यक्षेत्र का निश्चय कर शिक्षा क्षेत्र का चयन करने की स्वतंत्रता प्राप्त है। पूर्वकाल में विदुषी स्त्रियों का सर्वत्र आदर किया जाता था किन्तु वर्तमान समय में समाज की संकीर्ण दृष्टि के चलते शिक्षित, कामकाजी स्त्री के चरित्र में दोषान्वेषण की प्रवृत्ति अधिक दृष्टिगोचर होती है। प्राचीनकाल में स्त्री शिक्षा हेतु पृथक् से शिक्षण संस्थाओं अथवा आश्रमों आदि का अस्तित्व ही नहीं था किन्तु आधुनिक काल में स्त्री शिक्षा को आदर्श समाज की स्थापना हेतु अनिवार्य शर्त मानकर अनेक शैक्षणिक संस्थाओं की स्त्री शिक्षा हेतु स्थापना की गयी हैं। अनेक सांविधानिक प्रावधानों द्वारा स्त्रीशिक्षा को संरक्षण प्रदान किया गया है। प्राचीनकाल में शिक्षा प्राप्ति का उद्देश्य केवल धार्मिक अनुष्ठानों में सहभागिता एवं गार्हस्थ्यधर्म के उचित निर्वाह तक सीमित था किन्तु वर्तमान समय में शिक्षा का व्यवसायीकरण हो गया है और स्त्रियाँ व्यावसायिक रूप से प्राप्त शिक्षा का धनार्जन में उपयोग अपने परिवार को आर्थिक संबल प्रदान करने में समर्थ हुयी है।

(ख) दहेज प्रथा

'दहेज' उस धन या सम्पत्ति को कहते हैं जो विवाह के समय कन्या पक्ष द्वारा वर पक्ष को दी जाती है।[46] किन्तु आज दहेज प्रथा का जो स्वरूप भारतीय समाज में व्याप्त है, वह प्राचीन काल में नहीं था। वैदिक काल में यह प्रथा 'उपहार या दान' के रूप में विद्यमान थी जो विवाह के पश्चात् पुत्री अथवा कन्या के गृह छोड़ते समय उपहार या दान के रूप में दी जाती थी। जैसा कि आल्तेकर महोदय ने अपने ग्रन्थ में लिखा है "Dowry system, therefore was generally unknoun in early societies.....The dowry system is connected with the conception of marriage as a dana or gift."[47]

भगवतशरण उपाध्याय ने भी अपने ग्रन्थ में 'दहेज प्रथा' के इसी स्वरूप के बारे में बताया है।[48] अथर्ववेद में एक स्थान पर आया है कि- माता-पिता अपनी कन्या के लिये 'शय्या' इत्यादि वस्तुएँ दान में दिया करते हैं (नास्य जाया शतवादी कल्याणि शय)।[49] सूर्या के विवाह में भी सूर्य देवता ने पुत्री के प्रति स्नेह रूप धन स्रवित किया, गौओं के रूप में। (सूर्याया वहतुः प्रागात्सविता यमवासृजत्। अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते)[50] आल्तेकर महोदय ने लिखा है "A religious gift in kind is usually accompanied by a gift in cash or gold."[51] विवाह के पश्चात् गृह छोड़ते समय द्रौपदी, सुभद्रा और उत्तरा के माता-पिता ने उनके लिये उपहार के रूप में बहुत से हाथी, घोड़े, अलंकार, रथ, दास-दासियाँ, बहुमूल्य रत्न आदि दिये थे।[52]

स्मृतिग्रन्थों में जो अष्टविध विवाह बताये गये हैं, उनमें से देव, आर्ष, प्राजापत्य, ब्राह्म विवाह में कन्या को अलंकृत कर कन्यादान किया जाता है। इनमें से आर्ष विवाह में 'गो-मिथुन' कन्या को देने के लिये वर से लेकर विधिपूर्वक कन्यादान किया जाता है।[53] कन्या को दिये जाने वाले ये उपहार स्नेहवश ही कन्या को दिये जाते थे।

श्रीमती वनमाला भवालकर ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि 'कन्या को स्वीकार करने में वर के बान्धवों द्वारा दहेज की मांग का एक भी उदाहरण या चर्चा महाभारत में नहीं है।'[54] गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र कहीं भी उस उपहार राशि की अनुशंसा नहीं करते है।[55] स्मृतियों में या नाटकों में दहेज का कोई उल्लेख नहीं मिलता।[56] निश्चित रूप से स्मृतियाँ ये परामर्श देती है कि विवाह में वधू को उपयुक्त आभूषणों के साथ दिया जाना चाहिये लेकिन उनकी संख्या और कीमत पूर्णतया वधू के पिता के विवेक और क्षमता पर छोड़ दी जाती है।

इस सम्बन्ध में विवाह-पूर्व अनुबंध न तो विचाराधीन है और न ही माना जाता है।[57] अतः स्पष्ट है कि प्राचीन काल में दहेज प्रथा का अस्तित्व नहीं था।

इसका प्रचलन मध्यकाल में आरंभ हुआ विशेषकर उच्च और राजघरानों से। यह स्थिति 19वीं शताब्दी के मध्य तक थी लेकिन 20वीं शताब्दी में इस प्रथा का प्रचलन मध्य और निम्न समाज में भी हो गया और वर्तमान में इसका प्रचलन इतना कठोर हो गया कि यह एक सामाजिक समस्या बन गयी।[58]

दहेज प्रथा के विकास के लिये अनेक कारण उत्तरदायी है[59]-

(1) अन्तर्विवाहों पर रोक :- अन्तर्वर्ण विवाहों के समाप्त होने और प्रत्येक वर्ण में अनेक जातियों और उपजातियों के बन जाने के कारण जीवन साथी के चुनाव का क्षेत्र बहुत सीमित हो गया तथा लड़कियों के लिये योग्य वर चयन की समस्या गंभीर हो गयी। इस कारण वर पक्ष वाले अधिक दहेज की मांग करने लगे और यह एक प्रथा बन गयी जिसने आज समाज में विकराल रूप धारण कर लिया है।

(2) कुलीन विवाह प्रथा :- प्रत्येक हिन्दू अपनी लड़की का विवाह अपने से उच्च कुल में करना चाहता है। इस कारण उच्च या कुलीन परिवारों में लड़कों की संख्या की न्यूनता के कारण वर पक्ष वाले अधिक से अधिक दहेज की मांग करते हैं। कन्या पक्ष को योग्य वर की प्राप्ति के लिये विवश होकर अधिक दहेज देना पड़ता है।

(3) बाल-विवाह :- बाल विवाहों के प्रचलन से लड़के-लड़कियों को अपने जीवन साथी चयन का अवसर नहीं मिलता था फलतः वर पक्ष वाले इस स्थिति का लाभ उठाने लगे और अधिक दहेज की मांग करने लगे।

(4) हिन्दू लड़कियों के लिये विवाह एक अनिवार्य संस्कार माना गया है। अतः इसका लाभ उठाकर वर पक्ष वाले अधिक दहेज की माँग करने लगे और कन्यापक्ष के लोगों को बाध्य होकर देना पड़ता है। कभी अपनी कुरूप, विकलांग या किसी अन्य शारीरिक अथवा मानसिक दोष वाली कन्या के विवाह के लिये क्षतिपूर्ति के रूप में वरपक्ष वालों को अत्यधिक धन देने के लिये बाध्य होना पड़ता है।

(5) उच्च शिक्षा एवं व्यक्तिगत प्रतिष्ठा :- वर्तमान में उच्च शिक्षा प्राप्त और किसी अच्छे व्यवसाय में कार्यरत लड़के की सामाजिक और आर्थिक स्थिति ऊँची उठ जाती है।

इस कारण वरपक्ष वाले लड़के के लिये कन्या पक्ष वालों से अधिक दहेज की माँग करते है।

(6) धन का महत्त्व :- धन-सम्पत्ति के आधार पर ही व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा निश्चित होती है। धन को आधार बनाकर मनुष्यों का क्रय-विक्रय भी होता है। धनी व्यक्ति अधिक दहेज देकर अपनी कन्या के लिये योग्य वर का चयन कर लेते हैं अतः प्रतिस्पर्धा के कारण योग्य वरों का मूल्य बढ़ जाता है इसलिये कन्या पक्ष को विवश होकर सामर्थ्य से अधिक दहेज देना पड़ता है।

(7) महंगी शिक्षा :- लड़कों को उच्च शिक्षा दिलाने के लिये माता-पिता को बहुत धन व्यय करना पड़ता है और इस कार्य के लिये उन्हें ऋण भी लेना पड़ता है अतः क्षतिपूर्ति करने हेतु वे अत्यधिक दहेज की माँग करते हैं।

(8) वर्तमान में प्रदर्शन की प्रवृत्ति मनुष्यों में बढ़ती जा रही है। अपनी जाति या उपजाति में तथा अपने सम्बन्धियों, मित्रों की दृष्टि में अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा दिखाने की इच्छा से लोग अधिक दहेज देने और लेने में संकोच नहीं करते लेकिन कुछ लोगों का यह व्यवहार अन्य जनों के लिये दहेज की समस्या के रूप में परिणत हो जाती है।

उपर्युक्त कारणों से स्पष्ट है कि दहेज समस्या सम्पूर्ण समाज में अपनी जड़े जमा चुकी है। अतः सामाजिक कुरीति के रूप में विद्यमान 'दहेज प्रथा' के अनेक दुष्परिणाम भी सामने आये है। कन्या-भ्रूण हत्या, बालिका वध, पारिवारिक विघटन, आत्महत्या, ऋणग्रस्तता निम्न जीवन स्तर, बहु-पत्नी विवाह, बेमेल विवाह अर्थात् अपंग, अयोग्य, वृद्ध व्यक्ति साथ अपनी कन्या का विवाह करना, अविवाहित जीवन, विवाह-सम्बन्ध-विच्छेद, बाल विवाह, अपराध प्रवृत्ति को प्रोत्साहन (यथा रिश्वत अथवा अनुचित साधन से अर्थ-प्राप्ति), अनैतिकता, मानसिक व्याधियाँ, स्त्री शिक्षा में अवरोध इत्यादि अनेक ऐसी सामाजिक समस्याएँ दहेज प्रथा के कारण समाज में उत्पन्न हो चुकी है।[60]

समाज में फैली इस कुरीति के कारण उत्पन्न समस्याओं के समाधान हेतु सरकार ने अनेक सांविधानिक प्रावधान किये हैं। इसके अन्तर्गत 1961 में दहेज निषेध अधिनियम लागू किया गया। इसके अन्तर्गत 'दहेज देने, लेने वाले और दहेज की धनराशि और वस्तुओं की सौदेबाजी में सहायक होने वाले व्यक्ति को 6 मास की सजा और रूपये पाँच हजार तक

जुर्माना या दोनों दण्ड का प्रावधान किया गया है। इस अधिनियम की धारा-9 में कहा गया है कि जो दहेज दिया जाये, उसे लड़की या उसके उत्तराधिकारी के कल्याण के लिये व्यय किया जाये। पति तो उस संपत्ति को ट्रस्टी के रूप में अपने पास रखता है। यदि पत्नी माँग करे तो पति को वह संपत्ति एक साल की अवधि में उसे सौंप देनी चाहिये। यदि पति ऐसा नहीं करता तो पत्नी कानूनन ऐसा करा सकती है।'[61]

यद्यपि सरकार ने इस अधिनियम को व्यावहारिक बनाने का प्रयास किया लेकिन यह कानून प्रभावी रूप से सफल नहीं हो पाया इसीलिये इस अधिनियम में 1984 में संशोधन किया गया। पुनः 1986 में इस अधिनियम को संशोधित किया गया और दहेज को परिभाषित करने में व्यापक दृष्टिकोण अपनाया गया और दहेज संबंधी पूर्व की परिभाषा का विस्तार किया गया।

इसके अन्तर्गत कहा गया कि ''दहेज लेना या देना या दहेज की माँग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से करना अपराध ठहराया है। विवाह, विवाह से पहले अथवा विवाह के समय अथवा विवाह के बाद किसी एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष को अथवा किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किसी पक्ष को कोई भी सम्पदा, धन या मूल्यवान वस्तुएँ इत्यादि विवाह के सम्बन्ध में दिये जायें तो वह दहेज कहलायेगा। दूसरे सीधा या किसी भी रूप में दहेज माँगना अपराध है लेकिन कोई भेंट या उपहार आम रिवाज के अनुसार होना चाहिये। इनका मूल्य देने वाले की हैसियत के अनुसार होना चाहिये। संशोधित अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार विवाह संबंधी भेंटों अथवा उपहारों की सूचियाँ तैयार करना भी अनिवार्य कर दिया गया। यह सूचियाँ विवाह के समय या विवाह के पश्चात् यथाशीघ्र तैयार की जानी चाहिये। शादी में उपहार स्वरूप मिली भेंट जो वधू-वर को मिलेगा, उसकी सूची वर रखेगा ''इन सूचियों में प्रत्येक उपहार का संक्षिप्त विवरण, उसका अनुमानित मूल्य, भेंटकर्ता का नाम और वर या वधू से उसके संबंध का विवरण होगा। परन्तु वर-वधू दोनों के हस्ताक्षर अनिवार्य कर दिये गये हैं। दोषी व्यक्ति को भारतीय दंड संहिता की धारा 498ए-114, 379 तथा दहेज अधिनियम की धारा-3 तथा 4 के तहत सजा देने का प्रावधान है। दहेज-हत्या की बढ़ती घटनाओं को देखते हुये, भारतीय दंड संहिता की धारा 304बी जोड़ा गया। इसके तहत कम से कम 7 साल तथा अधिकतम आजीवन कारावास के दंड की व्यवस्था की गयी है। दहेज-हत्या के मामले में यह व्यवस्था की गयी है कि यदि विवाह के 7 वर्ष के भीतर विवाहिता की मौत हो जाती

है तथा मौत संदेहास्पद लगती है तो बिना किसी के शिकायत दर्ज कराये भी दो उच्च पुलिस अधिकारी उसकी तफ़्तीश कर सकते हैं।''[62]

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि पूर्व में 'दहेज प्रथा' दान या उपहार के रूप में की थी जो कि धर्म का ही अंग था किन्तु समय परिवर्तन के साथ मनुष्यों की विचारधारा भी परिवर्तित होती चली गयी, चाहे उसका कारण झूठा प्रदर्शन अथवा प्रतिष्ठा हो या अर्थ सम्बन्धी दृष्टिकोण परन्तु इसका दुष्प्रभाव स्त्री के जीवन पर बहुत व्यापक रूप से हुआ। इस प्रथा ने स्त्री के जीवन को ही असुरक्षित कर दिया किन्तु आज इस बात की आवश्यकता है कि पुनः इस प्रथा के मूल में धार्मिक भावना ही विद्यमान हो, स्वार्थ नहीं।

(ग) नारी-सुरक्षा

प्राचीनकाल में नारी-सुरक्षा परिवार का कर्त्तव्य माना जाता था। कन्या के भरण-पोषण संरक्षण का भार पिता अथवा उसके अभाव में भाई पर रहता था। धर्मसूत्रों में कहा गया है ''माता का भरण-पोषण पुत्र का कर्त्तव्य है, चाहे वह व्यभिचारिणी, जातिभ्रष्टा, पतिता ही क्यों न हो। पतित पिता त्याज्य है किन्तु पुत्र के लिये माता कभी पतित नहीं होती तथा बोधायन धर्मसूत्र में ऐसी स्थिति में केवल भाषण के लिये निषेध किया गया है।[63] वहाँ पत्नी को अपने पति द्वारा रक्षा और भरण-पोषण का अधिकार था। वेदों में पत्नी और माता को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था, पत्नी गृह स्वामिनी मानी जाती थी तथापि उनका सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं था।[64] पति के कर्त्तव्यों में पत्नी के भरण-पोषण से अधिक महत्त्व उसकी सुरक्षा को दिया गया था। स्मृतियों में चारों वर्णों की स्त्रियों को सर्वदा रक्षणीय बताया गया है।[65] वहाँ कहा गया है कि कौमार्य अवस्था में स्त्री की रक्षा पिता करता है, युवावस्था में पति करता है और वृद्धावस्था में पुत्र करते हैं।[66] पत्नी की सुरक्षा के अधिकार के संबंध में द्रौपदी ने श्रीकृष्ण के समक्ष कहा था कि ''सत्पुरुषों के द्वारा सदा आचरण में लाया हुआ यह धर्म का सनातन मार्ग है कि निर्बल पति भी अपनी पत्नी की रक्षा करते हैं। पत्नी की रक्षा करने से अपनी संतान सुरक्षित होती है और संतान की रक्षा होने पर अपने आत्मा की रक्षा होती है। अपनी आत्मा ही स्त्री के गर्भ से जन्म लेती है। इसीलिये वह जाया कहलाती है। पत्नी को भी अपने पति की रक्षा इसलिये करनी चाहिये कि यह किसी प्रकार मेरे उदर से जन्म ग्रहण करे। इन पाँच पतियों से उत्पन्न हुये मेरे पाँच महाबली पुत्र हैं, उनकी देखभाल के लिये भी मेरी रक्षा

आवश्यक थी।''[67] मनुस्मृतिकार ने भी यही विचार प्रकट किये हैं।[68] और वहाँ यह भी उल्लिखित है कि व्यभिचारिता से, चित्त की चंचलता से और स्वभावतः स्नेह का अभाव होने से यत्नपूर्वक सुरक्षित भी ये पतियों में विकृत हो जाती है। ब्रह्मा की सृष्टि से ही इनका ऐसा स्वभाव जानकर पुरुष इनकी रक्षा के लिये विशेष यत्न करें। यथोक्तम्-

पौंश्चल्याच्चलित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः। रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते।।
एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजापतिनिसर्गजम्। परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणं प्रति।।[69]

स्त्री की रक्षा का उत्तरदायित्व पुरुष पर होने के कारण पत्नी पर आक्रमण हो या उसकी शीलभंग हो तो उसमें उसकी रक्षा न करने वाला पति ही दोषी समझा जाता था तथा भार्या की रक्षा न करने वाले पति को भ्रूण हत्या का दोषी माना जाता था।[70] प्राचीनकाल में स्त्रियों को अवध्या माना जाता था। वहाँ स्त्रियों को सदैव रक्षणीया कहा गया है।[71] नारियों को उनकी सुरक्षा के लिये राजकीय संरक्षण प्राप्त था, आपत्ति में राजा उनका पालन-पोषण भी करता था तथा उन पर शस्त्र प्रहार का निषेध किया गया है।[72] अनाथा, प्रमदा, बाला, वृद्धा, भीता, तपस्विनी की वंचना करने वालों की नरकगति बतलायी गयी है।[73] कृपण अनाथ, वृद्ध तथा विधवा स्त्रियों के योगक्षेम एवं जीविका का सदा ही प्रबन्ध किया जाना चाहिये।[74]

स्त्रियों के संपत्ति के अधिकार के संबंध में महाभारत में उल्लिखित है कि ''स्त्री को तीन हजार से अधिक लागत का धन नहीं देना चाहिये। पति के देने पर ही उस धन को वह यथोचित रूप से उपयोग में ला सकती है। स्त्रियों को पति के धन से जो भाग मिलता है, उसका उपभोग ही फल माना गया है। पति के दिये हुये स्त्री-धन से पुत्र आदि को कुछ नहीं लेना चाहिये। ब्राह्मणी को पिता की ओर से जो धन मिला हो, इस धन को उसकी पुत्री ले सकती हो क्योंकि जैसा पुत्र है, वैसी ही पुत्री भी है। पुत्री, पुत्र के समान ही है, ऐसा शास्त्र का विधान भी है। इस प्रकार वही धन के विभाजन की धर्मयुक्त प्रणाली बतायी गयी है। इस तरह धर्म का चिन्तन एवं अनुस्मरण करते हुये ही धन का उपार्जन एवं धन का संग्रह करें। पुत्र अपने आत्मा के समान है और कन्या भी पुत्र के ही तुल्य है अतः आत्मस्वरूप पुत्र के रहते हुये दूसरा कोई उसका धन कैसे ले सकता है? माता को दहेज में जो धन मिलता है, उस पर कन्या का ही अधिकार है। यदि पहले कन्या उत्पन्न हुयी और वह पुत्र रूप में स्वीकार कर ली गयी तथा उसके बाद पुत्र भी पैदा हुआ तो वह पुत्र उस कन्या के साथ ही पिता के धन का अधिकारी होता हैं यदि दूसरे का पुत्र गोद लिया गया हो तो उस दत्तक पुत्र की अपेक्षा अपनी दुहिता ही श्रेष्ठ मानी जाती है। कन्या के भाई-बन्धुओं द्वारा यदि वस्त्र-

आभूषण के लिये धन ग्रहण किया गया हो तो वह सम्पूर्ण धन, कन्या को ही अर्पित कर देना चाहिये।''[75]

इस प्रकार प्राचीनकाल में कुछ निर्बन्धों के साथ नारी को आर्थिक सुरक्षा के साथ ही शारीरिक सुरक्षा भी प्रदान की गयी है। इसके पीछे मुख्य कारण यही था कि स्त्रीजाति ही धर्म की सिद्धि का मूल कारण है। रतिभोग, परिचर्या, सन्तानोत्पत्ति और उसका लालन-पालन तथा लोकयात्रा का निर्वाह आदि कार्य स्त्रियों के ही अधीन हैं।

किन्तु धीरे-धीरे स्त्रियों के गौरव में, उसके अधिकारों में सामाजिक विचारधाराओं में परिवर्तन के कारण उसे अनेक शारीरिक, मानसिक और आर्थिक उत्पीड़न का सामना करना पड़ रहा है। राष्ट्रपति के.आर. नारायणन ने अपने भाषण में कहा था कि ''No place is safe for women, not in their mother's womb. They are put to death before they are born.''[76] आज नारी कहीं भी सुरक्षित नहीं है। उसे कन्या भ्रूणहत्या, घरेलू हिंसा के कारण अनेक शारीरिक, मानसिक अत्याचार सहने पड़ रहे हैं और इसी कारण उसकी आर्थिक सुरक्षा पर भी संकट आ गया है तथा उसके लिये जीवन यापन करना भी कठिन हो गया है। अब उसे उपभोग और आर्थिक लाभ की वस्तु मानकर प्रताड़ित किया जाने लगा है अतः उसे शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आर्थिक रूप से सुरक्षित करने के लिये सरकार ने संविधान में अनेक कानूनों का निर्माण किया है। सरकारी तंत्र एवं सामाजिक संस्थाओं ने नारी की वर्तमान भूमिका को सुनिश्चित करने हेतु एवं पुरुषों के बराबर मान्यता देने हेतु संविधान में अनुच्छेद 39, 42, 43, 243 घ (3-4) में विशेष प्रावधान किये हैं। समान कार्य हेतु समान वेतन, कामकाजी महिलाओं हेतु प्रसूति सुविधा, महिला आरक्षण, दहेज हत्या, बाल-विवाह आदि के सम्बन्ध में कानून बनाकर तथा पंचायती राज संस्थाओं में 33 प्रतिशत स्थान आरक्षित करके महिला को सशक्त बनाने के प्रयासस्वरूप उन्हें सुरक्षित किया जा रहा है।[77]

बिना नारी के परिवार की कल्पना नहीं की जा सकती है। वह सभी की आश्रयदात्री है तथा परम्परा से प्राप्त संस्कारों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित करने में मुख्य भूमिका निभाती है। सम्बन्धों की रक्षा का उत्तरदायित्व केवल नारी का ही नहीं पुरुष का भी है। वह परिवार रूप सामाजिक संस्था को जीवन प्रदान करते हैं। डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में ''Man is not a tyrant nor is woman a slave but both are servents of a higher ideal to which their individual inclination are to be subordinated sensual love is sublimated into self-forgetful devotion. ''[78]

सरकार ने महिलाओं को न्याय दिलाने, उनके अधिकारों की रक्षा करने हेतु सन् 1992 में महिला आयोग की स्थापना की तथा पारिवारिक लोक अदालतें, परिवार परामर्श केन्द्रों की

स्थापना कर पारिवारिक विवादों के समाधान, दहेज सम्बन्धी समस्या, यौनहिंसा सम्बन्धी समस्याओं के समाधान का प्रयास किया जा रहा है।[79] अल्पावास गृह का निर्माण भी नारी सुरक्षा की दृष्टि से ही किया गया था। अल्पावास गृह या शॉर्ट स्टे होम्स नगरों और महानगरों में स्थापित उन आवास गृहों को कहा जाता है, जिनमें किसी भी संकट के समय स्त्रियाँ जाकर अस्थायी रूप में रह सकें और इस दौरान उन्हें सुरक्षा भी मिलें। मुम्बई की तर्ज पर नई दिल्ली में भगवानदास रोड़ पर अखिल भारतीय महिला परिषद् द्वारा संचालित बापनू घर ऐसी ही एक शरणस्थली है।[80]

घरेलू हिंसा से स्त्रियों को सुरक्षित रखने के लिये सरकार 'घरेलू हिंसा निषेध कानून' 26 अक्टूबर, 2005 से लागू कर दिया था। घरेलू हिंसा को परिभाषित करते हुये कहा गया है 'जब एक बालिक व्यक्ति द्वारा अपने ही सम्बन्धियों के मध्य दूसरे व्यक्ति पर नियंत्रण बनाये रखने के लिये अपनी शक्तियों का दुरुपयोग किया जाता है, इस प्रक्रिया को घरेलू हिंसा कहा जाता है।'[81] घरेलू हिंसा के अन्तर्गत महिला का शारीरिक, यौन, मौखिक, भावनात्मक या आर्थिक उत्पीड़न करना या उसके लिए खतरा उत्पन्न करना भी अपराध है। इस कानून के अन्तर्गत पत्नी और महिला मित्र ही नहीं, घर में रहने वाली बहिन, माँ, विधवा आदि पुरुषों के विरुद्ध उत्पीड़न की शिकायत कर सकती है। कानून का उल्लंघन करने पर एक साल की सजा अथवा बीस हजार रूपये जुर्माना या दोनों। घर पर उनका कानूनन हक हो या न हो, महिला को घर से नहीं निकाला जा सकता। कोई मजिस्ट्रेट किसी महिला के विरुद्ध रेजिडेंस ऑर्डर नहीं जारी कर सकता। प्रत्येक जिले में संरक्षण अधिकारी नियुक्त होंगे जो सामान्यतः महिलाएँ होंगी।[82]

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा को भी तीन भागों में वर्गीकृत किया गया है-

(1) आपराधिक हिंसा- जैसे बलात्कार एवं अपहरण आदि।

(2) घरेलू हिंसा - जैसे दहेज सम्बन्धी मृत्यु, पत्नी को पीटना, लैंगिक दुर्व्यवहार आदि।

(3) सामाजिक हिंसा - जैसे पत्नी एवं पुत्रवधू को मादा भ्रूण हत्या के लिये बाध्य करना/विधवा को सती होने के लिये विवश करना, दहेज के लिये परेशान करना आदि।[83]

महिलाओं की सुरक्षा हेतु संवैधानिक उपबन्धों के अन्तर्गत अनु. 42, 43 तथा 47 के अन्तर्गत नागरिकों के पोषण और जीवन स्तर तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा उचित कार्यदशाएँ सुनिश्चित करने के प्रयास किये हैं। इसके अतिरिक्त प्रसूति प्रसुविधा अधिनियम, 1961; कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948; राष्ट्रीय मातृत्व लाभ स्कीम, जननी सुरक्षा

योजना, गर्भवती महिलाओं हेतु सुविधा, संस्थागत प्रसव योजना इत्यादि का प्रावधान भी किया गया है।[84]

संविधान का अनुच्छेद 14 से 18 में स्त्री और पुरुष को समानता का अधिकार दिया गया है। अनुच्छेद 15 (1) तथा 15(2) में धर्म, मूल, वंश, जाति, लिंग, जन्म, स्थान के आधार पर विभेद अमान्य हैं। इसमें महिला और पुरुष दोनों को समान रूप से जीविका के निर्वहन हेतु पर्याप्त साधन उपलब्ध कराने की चर्चा की गयी है लेकिन अनुच्छेद 15(3) कहता है कि स्त्रियों की दयनीय स्थिति, कुरीतियों के कारण होने वाले उत्पीड़न, बाल विवाह तथा बहु विवाह आदि के कारण शोषण की स्थिति में राज्यों में व राज्यों को उनके लिये विशेष प्रबन्ध तथा विशेषाधिकार दिया गया है।[85]

"अनुच्छेद 23 के अन्तर्गत महिलाओं का क्रय-विक्रय, उनसे वेश्यावृत्ति कराना, भीख मँगवाना आदि दण्डनीय अपराध हैं। अनुच्छेद 24 के अनुसार 14 साल से कम उम्र के बालक या बालिकाओं को जोखिमपूर्ण कार्य में लगाना अपराध है। भारतीय दंड संहिता की धारा 494 के अनुसार पहली पत्नी अथवा पति के जीवित रहते हुये यदि कोई दूसरा विवाह करता है तो यह अपराध है। बालविवाह अवरोध अधिनियम 1929 एवं बालविवाह अवरोध अधिनियम 1978 के अन्तर्गत भी कन्या सुरक्षा का प्रावधान किया गया है।"[86]

प्राचीन स्त्री और आधुनिक स्त्री के सुरक्षा संबंधी तुलनात्मक अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि पूर्व में भारतीय समाज स्त्रियों की रक्षा-विषय में चिन्तनशील था और उस समय स्त्री-रक्षा को धर्म समझा जाता था अतः उसके लिये नियमों का भी प्रावधान किया गया था किन्तु उनमें भी दिखायी देती है क्योंकि सभी स्त्री वर्गों की एक सी स्थिति नहीं थी। दासी वर्ग ज्यादा असुरक्षित था जैसा कि विराट सभा में द्रौपदी का अपमान (दासी बनने के कारण), उसके साथ बलपूर्वक कोटिकास्य का सम्बन्ध बनाने की इच्छा लेकिन वही द्रौपदी जब वनवास में जयद्रथ द्वारा अपमानित होती है तब पाण्डव उसे दण्ड देते हैं। आज आधुनिक स्त्री का शोषण प्राचीन काल की अपेक्षा कहीं ज्यादा है अतः उसके लिये आवश्यक प्रावधान बनाये गये हैं। आज स्त्री कहीं भी सुरक्षित नहीं हैं, उसे हर प्रकार से सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिये क्योंकि उसी पर समाज की अवस्थिति अवलम्बित है। वस्तुतः पूर्ववत् स्त्री-सम्मान और सुरक्षा के लिये पुनः हमें उस गौरवपूर्ण अतीत में जाना होगा, उसे समझना होगा और वही आदर्श विचारधारा अपनानी होगी।[87]

(घ) नारी स्वतंत्रता

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' अर्थात् जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहीं देवता निवास करते हैं। इसका तात्पर्य है कि स्त्रियों का सम्मान किया जाना चाहिये क्योंकि एहलौकिक और पारलौकिक फल उसी के अधीन हैं। स्त्री, पुरुष की सहचरी है। स्त्री के बिना पुरुष अपूर्ण माना गया है। वह समाज को विकास और दिशा दोनों प्रदान करती है अतः आवश्यक है कि उसके व्यक्तित्व के विकास और सुरक्षा के लिये, पारिवारिक दायित्वों के भली प्रकार से निर्वहन के लिये उसे स्वतंत्रता भी प्रदान करना आवश्यक है।

वैदिक काल में उसे कई स्वतंत्रताएँ प्राप्त थी जो उस समाज में उसके उच्च जीवन स्तर और गरिमामय स्थिति को दर्शाती है। वैदिक समय में उसे समाज में कहीं भी आने-जाने की स्वतंत्रता थी। "She was free to go about in the society and join in all social functions. "[88] वहाँ 'समन' उत्सव का उल्लेख है जिसमें स्त्री और पुरुष एक साथ सम्मिलित होते थे और उत्सव का आनंद उठाते थे।[89] वह वैदिक शिक्षा प्राप्त करती थी।[90] अथर्ववेद में कन्या के उपनयन संस्कार का भी उल्लेख मिलता है (ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्)[91] स्त्री को वरचयन की स्वतंत्रता प्राप्त थी।[92] ऋग्वैदिक परिवार में पुत्री नम्र शर्मीली और दुर्बल प्राणी नहीं थी बल्कि वह साहसी, स्वतंत्र और दृढ़ थी। वह जो सोचती थी, वह करती थी।[93] वेदों में विधवा पुनर्विवाह का निषेध नहीं किया गया है, ऋग्वेद में एक ही स्थान पर इसका संकेत मिलता है, जहाँ कहा गया है कि 'हे मृतक पत्नी! आपके पति मृत्यु को प्राप्त कर चुके हैं। इन्हें छोड़कर आप अपने पुत्रादि और घर-परिवार पर विचार करती हुयी उठें। आप अपने पति के साथ सन्तानोत्पादन आदि स्त्री-कर्त्तव्य का निर्वाह कर चुकी हैं, अतः घर लौट चलें।'[94] इस उदाहरण के विषय में भगवतशरण उपाध्याय जी का कथन है कि स्त्रियाँ पुनर्विवाह कर सकती थी और उसके दूसरे विवाह के लिये विभिन्न संस्कारों का प्रदर्शन आवश्यक नहीं था।[95] उसे धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन में स्वतंत्रता प्राप्त थी। वह सभी धार्मिक उत्सव में व क्रियाओं में पति की सहयोगिनी रहती थी तथा उन कार्यों में उसकी उपस्थिति अनिवार्य थी। जैसा कि भगवतशरण उपाध्याय महोदय लिखते हैं- 'The religious functions and sacrifices could not be complete unless they were performed by the wife and her husband together.'[96] वहीं आल्तेकर महोदय ने अपने ग्रन्थ में लिखा है- "Her presence and coopration were absolutely necessary in religious rites and ceremonies. "[97] दहेज प्रथा, सती प्रथा जैसी कुरीतियाँ उस समय प्रचलित नहीं थी।[98] ऋग्वेद में स्त्री को जलाने का एक भी उल्लेख नहीं है।[99] परदा प्रथा का भी उस समय अस्तित्व नहीं था। जैसा कि भगवतशरण

उपाध्याय लिखते हैं- "There was no seclusion of woman and the hated purdah of later times was absolutely unknown. "[100]

जैसा कि ऋग्वेद में वर्णित है ''सम्प्रेरते अनु वातस्य विष्ठा ऐनं गच्छन्ति समनं न योषाः'' तथा ''अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अस्मिन्''।[101] वहाँ स्त्री वध को अतिनिन्दनीय माना गया है।[102] कुछ निर्बन्धों के साथ विवाह-विच्छेद हो सकता था।[103] क्रिश्चियन युग की प्रारंभ से पूर्व इसकी अनुमति थी। महोदय पी.वी. काणे ने अपने धर्मशास्त्र में कहा है कि ''वेद में विधवा का पुनर्विवाह निषिद्ध एवं वर्जित नहीं माना जाता था। वैदिक काल में परदा प्रथा विद्यमान नहीं थी। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार वधू को अपने गृह ले जाते समय वर को चाहिये कि वह प्रत्येक निवेश स्थान पर दर्शकों को ऋग्वेद के उपर्युक्त मन्त्र (10/85/33) के साथ देखे। वैदिक काल में वधुओं द्वारा अवगुण्ठन नहीं धारण किया जाता था।[104] वैदिक समय में स्त्रियों को पैतृक सम्पत्ति या स्त्री धन नहीं प्राप्त होता था। जैसा कि पी.वी. काणे महोदय ने कहा है ''पैतृक धन के भाग पर स्त्रियों का अधिकार नहीं होता है।''[105] भगवतशरण उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ में लिखा है ''स्त्री धन के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रमाण वेद में नहीं मिलते।''[106] महाभारत कालीन समाज में वर के चयन में कन्या को स्वतंत्रता प्रदान की गयी है। जैसे देवयानी और शर्मिष्ठा द्वारा ययाति का चयन, दमयन्ती द्वारा नल का चयन, शकुन्तला द्वारा दुष्यन्त का चयन आदि।[107] स्त्रियों को विवाह-विच्छेद की भी स्वतंत्रता प्राप्त थी। किन्तु इसका स्पष्टतः उल्लेख वहाँ नहीं किया गया है। सभा में कर्ण और दुःशासन ने पाण्डवप्रिया द्रौपदी को दासी बनायी जाने पर, उससे कहा था कि पराजित पाण्डव अब तेरे पति नहीं रहे अतः उन्हें छोड़कर वह अन्य किसी का वरण करे।[108] कीचक ने भी सैरन्ध्री बनकर दासी कार्य करने वाली द्रौपदी से अपनी भार्या बन जाने के लिए कहा था।[109] इन उदाहरणों से यही स्पष्ट होता है कि विवाहिता दासियों के लिये नियमों में शिथिलता थी। वह अपने पति को छोड़कर अन्य पुरुष का वरण कर सकती थी। किन्तु पतिव्रता स्त्री के लिये तो आजीवन पातिव्रत्य का पालन करना ही आदर्श था। जैसा कि कुन्ती, उत्तरा, सत्यवती, अम्बिका व अम्बालिका ने पति की मृत्यु के पश्चात् भी द्वितीय वर का वरण नहीं किया। वनमाला भवालकर जी ने लिखा है ''पुनर्भू, परदारा, क्रीता, गतागता, कारिता, भ्रातृजाया, सगोत्रभार्या-इनको भी भार्याओं में स्थान देकर और उनके पुत्रों को औरस पुत्रों के रूप में मान्यता देकर आपदग्रस्त नारियों के प्रति जो उदारता प्रकट की गयी है, वह प्रशंसनीय है। परवर्ती युग में बालविधवाओं, अपहृत तथा बलात्कार से दूषित नारियों की दुर्गति देखते हुये महाभारत का युग विवाह व्यवस्था में समाज का नारियों के प्रति अधिक

उदारता का भाव प्रकट होता है।'[110] उत्सवों और अन्य मांगलिक कार्यों में स्त्रियाँ उपस्थित रहती थी। 'विहार' में भी वे पुरुषों के साथ जा सकती थी। यथा सुभद्रा का रैवतक पर्वत की परिक्रमा लगाना, चित्रांगदा का नगर पर्यटन, द्रौपदी और सुभद्रा का कृष्ण और अर्जुन के साथ विहार यात्रा; कुन्ती और माद्री का अर्जुन के जन्मदिवस के उत्सव पर ब्राह्मण अतिथियों को भोजन परोसना, 'ओघवती के द्वारा ब्राह्मण अतिथि का सत्कार, द्रौपदी के द्वारा जयद्रथ आदि का सत्कार आदि।[111] पर्दाप्रथा का उदाहरण महाभारत में प्राप्त नहीं होता लेकिन इतना अवश्य है कि राजपरिवार की स्त्रियाँ महत्त्वपूर्ण कार्य से ही प्रासाद से निकलती थी। सामान्यजनों को उनके दर्शन कम ही होते थे। जैसा कि नल के वचन दमयन्ती के विषय में, द्रौपदी द्वारा स्वयं के विषय में कहे गये वचन।[112]

अतः हम कह सकते हैं कि प्राचीन कालीन स्त्री को अनेक स्वतंत्रताएँ प्राप्त थी वहीं आधुनिक काल की स्त्री के लिये सरकार ने तत्कालीन समय की अपेक्षा अधिक नियम बनाये हैं। प्राचीन काल में स्त्रियों का गौरव इतना अधिक था कि उन्हें अपने सम्मान के लिये प्रत्येक पद पर आज की भाँति शोषण का सामना नहीं करना पड़ता था। आज स्त्रियों को व्यक्तिगत स्वतंत्रता के साथ-साथ सामाजिक स्वतंत्रता और आर्थिक स्वतंत्रता के लिये भी जागरुक होना आवश्यक है ताकि वे समाज को पुनः संरक्षित और पल्लवित कर सके। आज स्त्रियों का शारीरिक शोषण, आर्थिक शोषण किया जा रहा है अतः उन्हें प्रत्येक क्षेत्र में अग्रसर कराकर नारी स्वतंत्रता को नयी दिशा मिल सके। सरकार ने अनेक प्रावधान बनाकर उन्हें स्वतंत्रता प्रदान की है। 'भारत के संविधान के भाग-3 के अन्तर्गत देश के नागरिकों को सात मौलिक अधिकार प्रदान किये गये परन्तु 44वें संवैधानिक संशोधन (1979) द्वारा 'सम्पत्ति के अधिकार' को मौलिक अधिकार के रूप में समाप्त कर एक कानूनी अधिकार की मान्यता दी गयी। संविधान के भाग-3 के अनुच्छेद 12 से 35 तक नागरिकों के मूल अधिकारों का प्रावधान किया गया है। महिला अधिकारों की दृष्टि से संविधान के अनुच्छेद 1, अनु. 15,, अनु 15(3), अनं.16(1) तथा (2) व अनु. 19 विशेष उल्लेखनीय हैं।'[113] इसका विवरण इस प्रकार है[114]-

अनुच्छेद 14 के अनुसार विधि के समक्ष समानता तथा विधियों का समान संरक्षण प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है।

अनुच्छेद 15 के अनुसार, राज्य द्वारा धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेधा।

अनुच्छेद 15 (3) के अनुसार राज्य को महिलाओं एवं बच्चों के लिये विशेष प्रावधान करने का अधिकार है।

अनुच्छेद 16 (1) तथा (2) के अधीन भारत के सभी नागरिकों को राज्य के अधीन किसी पद पर नियुक्ति या नियोजन से संबंधित विषयों में अवसर की समानता का अधिकार दिया गया है और किसी भी नागरिक के साथ केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, उद्भव, जन्मस्थान या निवास के आधार पर राज्य के अधीन किसी नियोजन या पद के संबंध में विभेद नहीं किया जा सकता।

अनुच्छेद 19 भारत के समस्त नागरिकों को छह आधारभूत स्वतंत्रताओं अर्थात् भाषण और अभिव्यक्ति, बिना हथियारों के शांतिपूर्वक सम्मेलन, संघ बनाने, भारत के राज्यक्षेत्र में निर्बाध भ्रमण तथा निवास करने और कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार करने की स्वतंत्रता का अधिकार देता है।

अनुच्छेद 21 अधिकार देता है कि किसी भी व्यक्ति को विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अलावा उसके जीवन या उसकी वैयक्ति स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जायेगा।

अनु. 21 (क) 6-14 वर्ष की आयु के सभी बच्चों के लिये निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान करता है।

अनु. 39 के अनुसार, राज्य अपनी नीति का इस प्रकार संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से सभी पुरुषों तथा स्त्रियों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो.....।

अनु. 51 (क) का उपभाग (ङ) के अनुसार भारत में सभी लोग.....ऐसी प्रथाओं का त्याग करें जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हों।

इसके अतिरिक्त 2005 हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम पुत्र और पुत्री का पैतृक सम्पत्ति पर समान अधिकार का प्रावधान किया गया है। अनु. 25-28 में धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार दिया गया है। भारतीय तलाक अधिनियम, 1869 के अन्तर्गत भारतीय महिला को विशेष आधारों पर अपने पति से तलाक लेने का अधिकार प्रदान किया गया। हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1859 के अन्तर्गत हिन्दू विधवा महिला को पुनर्विवाह का अधिकार प्रदान किया। बंगाली सती निषेध अधिनियम के अन्तर्गत सती प्रथा दण्डनीय है। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के अन्तर्गत हिन्दू महिला स्त्री को अपने मृतक पति की सम्पत्ति में अपना हिस्सा प्राप्त करने का अधिकार है।[115]

इसी प्रकार उन्हें आर्थिक और सामाजिक अधिकार 16 दिसम्बर, 1966 के द्वारा प्रदान किये गये जिसमें प्रावधान किये गये हैं116-

(क) रोजगार का अधिकार (अनं.-4) (ख) समान कार्य के लिये समान वेतन (अनु.-5)

(ग) सामाजिक सुरक्षा (अनु.-10) (घ) बच्चों का स्वास्थ्य विकास (अनु.-13)

नारी स्वतंत्रता के सम्बन्ध में प्राचीनकालीन स्त्री और आधुनिक स्त्री के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा यह ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में नारी को पर्याप्त स्वतंत्रताएँ प्राप्त थी तथा उनका समाज में उच्च स्थान था किन्तु समय परिवर्तन के साथ उनके गौरवपूर्ण स्थान का ह्रास होता गया अतः आधुनिक समय में पुनः उनके उसी गौरव को प्राप्त कराने के लिये सरकार के द्वारा समय-समय पर प्रावधान बनाये गये ताकि उनकी स्थिति में सुधार हो सके। अब उनकी शिक्षा का क्षेत्र और कार्यक्षेत्र पहले की अपेक्षा ज्यादा विस्तृत है। अब उन्हें धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में पुरुषों के समान ही स्वतंत्रता दी गयी है।

(ङ) पति-पत्नी सम्बन्ध

वैदिक समय में पति और पत्नी को एक ईकाई माना जाता था। उनका सम्बन्ध अविच्छिन्न था। ऋग्वेद में यह प्रार्थना की गयी है कि 'ये पति और पत्नी आदर्श दम्पती सिद्ध हों' (जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः)[117] तथा सूर्या को आशीर्वाद देते हुये कहा गया है कि 'वहाँ आप गृहस्वामिनी बने और सबको अपने नियंत्रण में रखने वाली बने, वहाँ आप विवेकपूर्ण वाणी का प्रयोग करें' (गृहान्गच्द गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि)।[118] वहाँ यह भी कहा गया है कि 'पतिगृह में सुसन्ततियुक्त होकर आपके स्नेह की वृद्धि हो और इस गृह में गृहस्थधर्म के कर्त्तव्यों के निर्वाह के लिये सदैव जागरुक रहें। स्वामी के साथ आप संयुक्त होकर रहें। वृद्धावस्था में आप श्रेष्ठ उपदेश करें।'[119] उपर्युक्त वचन वधू के लिए मंगलकामना मात्र ही नहीं है बल्कि। प्रत्युत इन्हीं वचनों पर कुटुम्ब की परिभाषा आधारित है, जो वर्तमान समय में अनवरत भी जारी है। यहाँ पति के अपनी पत्नी के लिये कहे गये ये वचन आज भी प्रासांगिक है। पति ने अपनी पत्नी से कहा 'हे वधू! आपके हस्त को सौभाग्य वृद्धि के लिये मैं ग्रहण करता हूँ। मुझे पति रूप में हस्त को सौभाग्य वृद्धि के लिये मैं ग्रहण करता हूँ। मुझे पति रूप में स्वीकार करके, आप वृद्धावस्था पर्यन्त साथ रहना, यही मेरी प्रार्थना है। भग, अर्यमा, सविता और पूषादेवों ने आपको मेरे निमित्त गृहस्थ धर्म का पालन करने के लिये प्रदान किया है।' यथोक्तम्-

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।।[120]

ऋग्वेद में वर-वधू के लिये मंगलकामना करते हुये कहा गया है कि 'आप दोनों यहीं रहें। कभी भी परस्पर पृथक् न हों। सम्पूर्ण आयु का विशेष रीति से उपभोग करें। अपने गृहस्थ धर्म का निर्वाह करते हुये पुत्र-पौत्रादि सन्तानों के साथ आमोद-प्रमोदपूर्वक जीवन व्यतीत करें। आप मंगलमयी होकर पतिगृह में प्रविष्ट हों। आप हमारे सम्माननीय बन्धुओं और पशुओं के लिये मंगलकारिणी हों। आप शान्ति दृष्टि युक्त और पति के निमित्त दुःखों से रहित मंगलमयी हों सुविचारों से युक्त, तेजस्वी, वीर प्रसविनी और देवों की उपासिका रूप होकर कल्याणकारी हों। आप श्वश्रू, श्वसुर, ननद और देवरों की सम्राज्ञी (महारानी) के समान हों, आप सबके ऊपर स्वामिनी स्वरूपा हों।'[121]

पति ने जिस भावना से पत्नी के हाथ को ग्रहण किया है, वही भावना आज भी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले प्रत्येक पुरुष के लिये आवश्यक है। दोनों को एक-दूसरे के साथ वृद्धावस्था तक साथ-साथ चलना हैं। आज भी यदि यही भावना वर-वधू में विद्यमान हों तो विवाह-विच्छेद का अवसर ही उपस्थित न हो। यहाँ बन्धन में कोई अनुबंध नहीं है। अथर्ववेद में उल्लेख है कि 'हे नारी! मैं पुरुष प्राणतत्त्व विष्णु हूँ, तो आप रमि हैं, मैं सामगान हूँ, तो आप ऋक् (ऋचा) हैं, मैं द्युलोक हूँ तो आप (सहनशीलता की प्रतीक) पृथ्वी हैं, हम दोनों पारस्परिक स्नेह से एकत्र होकर श्रेष्ठ सन्तति को जन्म दें। हम जीवित रहने तक अन्न-धन आदि महान् सामर्थ्य की प्राप्ति हेतु एक साथ रहें।'[122]

ऐतरेय आरण्यक में कहा गया है कि 'पत्नी को प्राप्त करके ही मनुष्य पूर्ण होता है (पुरुषों जायां वित्त्वा कृत्स्नतरम् इवात्मानं मन्यते)[123] तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी 'सप्तपदी' के महत्त्व को बतलाकर दाम्पत्यजीवन की प्रगाढ़ता को बतलाया गया है।[124] लोपामुद्रा, शशीयसी, विश्ववारा आत्रेयी, घोषा के वचनों से दाम्पत्य जीवन का महत्त्व प्रकट होता है। इनका विवेचन प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। पुराणों में भी प्रातिथेयी, अनसूया, शैव्या, पद्मा, सुकुला आदि के वचनों में दाम्पत्य जीवन अर्थात् पति-पत्नी संबंधों के बारे में ज्ञात होता है। वहाँ पातिव्रत्य पर ही अत्यधिक बल दिया गया है लेकिन पुरुष के लिये भी प्रतिबन्ध लगाये गये हैं।[125]

महाभारत में भी पति-पत्नी सम्बन्धों की आधार वेद और पुराण ही थे। आदिपर्व में उल्लेख है कि उद्दालक पुत्र श्वेतकेतु ने विवाह की मर्यादा की स्थापना की। श्वेतकेतु ने एक दिन देखा कि 'एक ऋषि ने उसकी माता का हाथ पकड़ लिया था, इसमें उसे क्रोध आ गया।

तभी उसने यह मर्यादा बनायी। उसने कहा, 'जो स्त्री पति को छोड़ किसी अन्य पुरुष से समागम करेगी, उसे भ्रूरण हत्या का पातक लगेगा।[126] किन्तु इसके साथ ही उसने ये भी नियम बना दिया कि 'जो पुरुष अपनी स्त्री को छोड़कर अन्य स्त्री से समागम करेगा उसे भी यही पाप लगेगा।'[127] कुन्ती, माद्री, गान्धारी, द्रौपदी का अपने पतियों के प्रति प्रेम और कर्त्तव्यनिष्ठा पद-पद पर दिखलायी देती है। कुन्ती, माद्री की अपने पति के साथ वनगमन, वहीं रहकर वानप्रस्थ के समान जीवनचर्या अपनाकर प्रसन्न रहना, गान्धारी का भी महाभारत युद्ध के पश्चात् अपने पति धृतराष्ट्र के साथ वन में निवास, दमयन्ती का भी अपनी संतति को साथ न लेकर, अपने पति के साथ वन में प्रस्थान करना, लोपामुद्रा का विवाह होते ही उसे भी अगस्त्य के साथ राजमहल को त्यागकर वन में रहना पड़ा आदि उदाहरणों से स्पष्ट है कि पत्नी, पुत्रों का त्याग कर सकती है। लेकिन पतिधर्म नहीं छोड़ सकती। पत्नी के सम्मान में युधिष्ठिर के ये वचन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। वह द्रौपदी के लिये कहते हैं कि 'यह द्रौपदी हमारी प्रिया पत्नी, प्राणों से भी अधिक बढ़कर है, माता के समान पालन करने योग्य तथा ज्येष्ठा भगिनी के समान पूज्या है।' यथोक्तम्-

इयं हि नः प्रिया भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी।
मातेव परिपाल्या च पूज्या ज्येष्ठेव च स्वसा।।[128]

पत्नी का सम्मान करना इसलिये भी आवश्यक है क्योंकि 'वह पुरुष की अर्धांगिनी, श्रेष्ठतम सखा, त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की मूल और संसार-सागर से तरने की इच्छा वाले पुरुष के लिये भार्या ही प्रमुख साधन है।'[129] जिनके पत्नी हैं, वे ही यज्ञ आदि कर्म कर सकते हैं। यही विचार वेदों में भी प्रकट हुये हैं।[130] वहाँ यह भी कहा गया है कि 'स्त्रियाँ पति के आत्मा के जन्म लेने का सनातन पुण्य क्षेत्र हैं। रति, प्रीति तथा धर्म पत्नी के ही अधीन है, ऐसा सोचकर पुरुष को चाहिये कि वह कुपित होने पर भी पत्नी के साथ कोई अप्रिय व्यवहार न करे।'[131] पति का भी यह धर्म है कि वह पत्नी के प्रति कोमल और मधुर वाणी बोले।[132] वनमाला जी अपने ग्रन्थ में लिखा है कि 'दम्पत्योः समशीलत्वं धर्मो वै गृहमेधिनाम्', 'गृहस्थ धर्मों राजेन्द्र सर्वभूत-हितैषिता' जैसे महान् आदर्शों से प्रेरित दम्पती 'भार्यापती द्वौ विहितौ विधात्रा' शरीरमेकं दम्पत्योः विधात्रा पूर्वनिर्मितम्, जैसे सिद्धान्तों पर विश्वास के कारण परस्पर तादात्म्य की भावना का अनुभव करते थे। दोनों के उद्देश्य एक रूप हो जाते थे।'[133]

अतः स्पष्ट है कि प्राचीन काल में पति-पत्नी सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ होते थे। उनमें साहचर्य और सम्मान की भावना निहित होती थी। 'दम्पती' का आदर्श रूप वहाँ दिखायी देता है।

किन्तु वर्तमान में पति और पत्नी एक ईकाई न रहकर पृथक्-पृथक ईकाई बन चुके हैं। समाज में व्याप्त विसंगतियों के कारण पति-पत्नी सम्बन्धों पर भी दुष्प्रभाव पड़ा है। बालविवाह, दहेजप्रथा, अपहरण, अशिक्षा, यौनहिंसा, मद्यमान, शारीरिक शोषण, घरेलू हिंसा, कमजोर आर्थिक स्थिति आदि के कारण पति-पत्नी सम्बन्धों में अस्थिरता आ रही है। साथ ही स्त्री की बढ़ती महत्त्वाकाक्षायें, युवक-युवतियों में आर्थिक सम्पन्नता की चाह एवं सुख-सुविधापूर्ण जीवन जीने की लालसा इत्यादि पति-पत्नी के मधुर सम्बन्धों में अलगाव के कारण बन रहे हैं।

आर्थिक दृष्टि से आज की स्त्री को जो स्वतंत्रता प्राप्त हुयी है, उसके विस्तार की असंख्य संभावनायें हैं। जैसे-जैसे उसके कर्मक्षेत्र की लक्ष्मणरेखा मिटती जाती है वैसे-वैसे यह नवीन कर्त्तव्य संभालने की क्षमता प्राप्त करती जाती है पर समाज की स्थिति के कारण यह आर्थिक स्वावलम्बन भारतीय स्त्री को पारिवारिक सहानुभूति से वंचित कर नितान्त अकेला बनाता जाता है। बदलते परिवेश में आधुनिक नारी वैवाहिक जीवन से उत्पन्न होने वाली यातनाओं को सहन करने के लिये तैयार नहीं है। कभी-कभी स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तिगत जीवन के विकास के लिये विवाह विच्छे अनिवार्यता बन जाती है। अन्यथा आत्महत्या अथवा विकासगृहों के आश्रय के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प इसके सामने नहीं रह जाता।[134] अधिकांश महिलायें पति के व्यभिचारी व्यवहार से ही घर छोड़कर चली जाती हैं या फिर उन्हें घर से निकाल दिया जाता है। पति के द्वारा शारीरिक बलात्कार, सास के दुर्व्यवहार, पति के व्यभिचारी चरित्र से त्रस्त महिलायें घर छोड़कर अनाथालयों में लचली जाती हैं।[135]

समाज में पारंपरिक मूल्यों में लगातार हो रहे विघटन, नवीन मूल्यों को मिल रही मान्यतायें, पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्धों में निष्ठा और सौहार्द के अभाव के कारण समाज में परपुरुष और परायी नारी के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा है।[136]

स्वातंत्र्योत्तर नारियाँ अपने पति के सम्मुख भी अपने स्वाभिमान एवं सम्मान की रक्षा तथा अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखने की चेष्टा रखने लगी हैं जिससे पति-पत्नी एवं सास-बहू के संबंधों के प्रति विद्रोह की भावना पनपने लगी है।[137]

दहेज के कारण तो पति-पत्नी संबंधों में कटुता आ ही रही है तथा दहेज जैसी समस्या से बचने के लिये बहुत से माता-पिता अपनी संतान का विवाह बचपन में ही कर देते हैं। अधिक संतानोत्पत्ति, दुर्बल देह, अल्प आय, पारिवारिक उत्पीड़न एवं उचित पोषण के अभाव से नवदम्पती जल्दी टूट जाते हैं और पारिवारिक जिम्मेदारियों को नहीं सह पाते।[138] मद्यपान के कारण भी पारिवारिक ढाँचा नष्ट हो जाता है। ऐसा व्यक्ति अपनी संतान और

पत्नी के साथ दुर्व्यवहार करता है। पति से मतभेद होने पर तथा पति के अन्य स्त्री से सम्बन्ध होने पर पति-पत्नी सम्बन्धों में विभेद हो जाता है और यही उनके विवाह-विच्छेद का कारण बन जाता है।[139]

उषा महाजन के अनुसार औरतों की आजादी और समानाधिकार की माँग ने दाम्पत्य संबंधों के पारिवारिक ढाँचे को तोड़ दिया है। महिलायें अब पति के गलत व्यवहार को चुपचाप सहन नहीं करतीं। आर्थिक स्वतंत्रता ने उनमें एक प्रकार की सुरक्षा और आत्मसम्मान को जन्म दिया है जो हमारे पुरुषप्रधान समाज में अहं का कारण बन गयी है।[140]

एक समय था जब नारी को मूक प्राणी समझा जाता था कि आज वही नारी अपना सिर ऊँचा किये हर क्षेत्र में भाग लेकर चुनौतीपूर्ण कार्य करने में सफल हो रही है। वह घर-परिवार को सुधारने के साथ-साथ पुरुष साथ कंधे से कंधा मिलाकर सामाजिक व राष्ट्रीय जीवन में योगदान दे रही है किन्तु यह भी सत्य है कि औद्योगिकरण, नगरीकरण, वैज्ञानिक विकास, शैक्षिक विकास, दूरसंचार के साधन, मीडिया के बढ़ते प्रभावों, पश्चिमीकरण बढ़ते प्रभाव आदि ऐसे कारक हैं जिनके कारण भी पति-पत्नी संबंधों में कुछ परिवर्तन हो रहे हैं।[141]

विमला पारीख के अनुसार 'हर सफल व्यक्ति के पीछे एक महिला का होता है' की कहावत में पात्रों का परिवर्तन होने लगा है। आज ऐसे पतियों की संख्या तेजी से बढ़ रही है जो पत्नी की सफलता के लिये पूर्ण सहयोग एवं समर्थन देते हैं।[142]

प्राचीनकालीन स्त्रीपात्रों तथा आधुनिक स्त्रियों की वर्तमान में स्थिति का तुलनात्मक विश्लेषण करने पर यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि वैदिक, औपनिषादिक, पौराणिक और महाभारतकालीन समाज में विवाह को सबसे पवित्र सम्बन्ध की मान्यता प्राप्त थी और पति-पत्नी दोनों ही उसके निर्वहन में एक-दूसरे को श्रेष्ठता एवं समर्पण भाव हेतु सम्मानपूर्ण दृष्टि देखते थे। वहीं आधुनिक काल में विवाह संबंध के प्रति पूर्वकाल जितना आदर्श की मान्यता एवं सम्मान दृष्टि का अभाव प्रकट होता है। पति एवं पत्नी दोनों ही परिवार पर अपने प्रभुत्व की लड़ाई लड़ते हुये दृष्टिगोचर होते हैं। जहाँ पत्नी दिनभर के अपने समय का व्यय पति, सास-ससुर एवं बच्चों की इच्छापूति हेतु रसोई में करने को अपनी महानता से जोड़ने लगी है वहीं पति भी पत्नी, माता-पिता, संतान एवं सामाजिक आयोजनों में होने वाले आर्थिक व्यय एवं आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु कार्यालय में किये जाने वाले अपने शारीरिक एवं मानसिक श्रम को इसका श्रेय देता है। सामान्यतः पति-पत्नी संबंध परस्पर सामंजस्य एवं एक-दूसरे को सम्मान एंव वैयक्तिक स्वतंत्रता दिये जाने पर अपने मधुरतम स्वरूप में परिवार को सुखी, समृद्धि प्रदान करते हैं किन्तु इनके अभाव में सुसंगठित पारिवारिक ढाँचे टूटता दिखायी देने

लगता है। कहीं वैचारिक मतभेद, समाज में व्याप्त कुरीतियाँ यथा बाल-विवाह, दहेज प्रथा, घरेलू हिंसा, नशा इत्यादि, पति के व्यभिचारी चरित्र, नारी के आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने तथा स्व के प्रति स्वाभिमान की प्रवृत्ति ने दाम्पत्य जीवन में विच्छेद की स्थिति उत्पन्न कर दी है तो कहीं एक-दूसरे के सामंजस्य से उनके सम्बन्धों में मधुरता विद्यमान है।

(च) लिव-इन-रिलेशनशिप

भारत शाश्वत जीवन मूल्यों और रीति-रिवाजों वाला समृद्ध देश है। आज भी भारतीय समाज में परम्पराओं का पालन किया जाता है। वहाँ विवाह को एक पवित्र बन्धन के रूप में मान्यता प्राप्त है। अतः भारतीय समाज में 'एक स्त्री और पुरुष का बिना विवाह के साथ-साथ रहना' पाप समझा जाता है।

लिव-इन-रिलेशनशिप की यह अवधारणा भारत में नई नहीं है, प्राचीनकाल में इसे 'मैत्रीकरार' के रूप में जाना जाता था। जिसमें दे विपरीत लिंगों के बीच एक लिखित समझौता किया गया था कि वे एक साथ मित्र के रूप में रहेंगे और एक-दूसरे की देखभाल करेंगे। साथ ही आठ हिन्दू विवाहों में से एक गान्धर्व विवाह, जिसमें ऐसी घटनायें होती हैं जो लिव-इन-रिलेशनशिप में पायी जाने वाली घटनाओं से लगभग साम्य रखती हैं। लिब-इन-रिलेशनशिप की अवधारणा को न तो शब्दकोश में परिभाषित किया गया है और न ही कानून में।[143]

लिव-इन-रिलेशनशिप का अर्थ है 'एक पुरुष और एक महिला एक साथ, एक समयावधि के लिये पति और पत्नी के रूप में रहना अर्थात् उचित अवधि के लिये उससे शादी किये बिना एक साथ स्त्री-पुरुष का रहना।[144]

लिव-इन-रिलेशनशिप एक वॉक-इन और वॉक-आउट रिश्ता है जहाँ न तो कोई तार जुड़ा होता है, न ही यह दोनों पक्षों के बीच कोई कानूनी बंधन बनाता है। यह एक साथ रहने का एक अनुबन्ध है जिसे दोनों पक्षों द्वारा हर दिन नवीनीकृत किया जाता हैं और कर सकते हैं, किसी भी पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष की सहमति के बिना जिसे समाप्त किया जा सकता है और एक पक्ष किसी भी समय अपनी इच्छा से बहिर्गमन कर सकता है। जैसा कि दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा कहा गया है-

"Live-in realationship is a walk-in and walk out relationship where neither any string are attached, nor does it creates any legal bond between the parties. It is a contract of living together which is renewed every day by the parties and can be terminated by either of the parties without the consent of the party and one party can walk out at will at any time."[145]

खुशबू बनाम कन्नियाम्मल मामले में 23 मार्च 2010 को सुप्रीम कोर्ट के फैसले से लिव-इन-रिलेशनशिव की मंजूरी दी गयी थी। अदालत ने खुशबू पर लगाये गये आरोपों को रद्द करते हुये कहा कि ''ऐसा कोई कानून नहीं है जो विवाह पूर्व संबंधों को प्रतिबंधित करता हो।'' तीन सदस्यीय न्यायाधीशों की पीठ जिसमें मुख्य न्यायाधीश के.जी. बालकृष्णन, न्यायमूर्ति दीपक वर्मा और न्यायमूर्ति बी.एस. चौहान ने लता सिंह बनाम उत्तरप्रदेश राज्य का संज्ञान लिया और न्यायमूर्ति बी.एस. चौहान ने लता सिंह बनाम उत्तरप्रदेश राज्य का संज्ञान लिया और निरीक्षण किया विषम लैंगिक सेक्स के दो सहमति वाले वयस्कों के मध्य लिव-इन संबंध किसी भी अपराध की गिनती में नहीं आते (व्यभिचार के स्पष्ट अपवाद के साथ) भले ही इसे अनैतिक माना जा सकता है। एक वयस्क लड़की अपनी पसंद के किसी से भी विवाह करने के लिये स्वतंत्र है या किसी के साथ रहना, जिसे वह पसंद करती है।[146]

न्यायालय के द्वारा लिव-इन-रिलेशनशिप के पाँच प्रकार चिह्नित किये गये हैं[147]-

1. एक वयस्क पुरुष और एक वयस्क महिला के मध्य घरेलू संबंध, दोनों अविवाहित। यह सबसे जटिल प्रकार का सम्बन्ध है।
2. एक विवाहित पुरुष और एक वयस्क अविवाहित महिला के मध्य घरेलू संबंध।
3. एक वयस्क अविवाहित पुरुष और एक विवाहित स्त्री के मध्य घरेलू संबंध, जानते हुये भी प्रवेश किया।
4. एक अविवाहित वयस्क स्त्री और एक विवाहित पुरुष, के मध्य घरेलू संबंध अनजाने में प्रवेश किया।
5. समान लिंग वाले स्त्री अथवा पुरुष के मध्य घरेलू संबंध

कानूनी प्रावधान (लिव-इन में रहने वाले स्त्री-पुरुष के अधिकार से संबंधित)

1. जीवन का अधिकार[148] - इसके अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय ने कहा कि 'ऐसा कोई कानून नहीं है जो लिव-इन-रिलेशनशिप या विवाह से पूर्व सेक्स को प्रतिबंधित करता हों। उच्चतम न्यायालय ने अनुच्छेद 21 का जिक्र करते हुये कहा, जो मौलिक अधिकार के रूप में जीवन और स्वतंत्रता के अधिकार की गारंटी देता है।
2. रखरखाव का अधिकार[149] - दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 के अनुसार पत्नियों को भरण-पोषण का कानूनी अधिकार प्राप्त है। यह कहा गया है कि भरण-पोषण का दावा करने के लिये विवाह को सख्त रूप में दिखाने की आवश्यकता नहीं है। भारत में रख-रखाव के प्रावधान हिन्दू विवाह अधिनियम 1956, हिन्दू दत्तक और रखरखाव

अधिनियम 1956, आपराधिक प्रक्रिया संहिता की धारारा 125 और घरेलू हिंसा से महिलाओं की सुरक्षा अधिनियम 2005 में निहित है। इन सब अधिनियमों के अन्तर्गत लिव-इन में रहने वाली महिला को भरण-पोषण प्राप्त करने का अधिकार कुछ निर्बन्धों के साथ प्राप्त है।

3. दहेज और घरेलू हिंसा के अन्य रूपों के उत्पीड़न से लिव-इन के अन्तर्गत महिलाओं की सुरक्षा[150] - 'एक लिव-इन-रिलेशनशिप में विवाह की प्रकृति में संबंध' में रहने वाली पीड़ित महिला एक आवेदन के माध्यम से घरेलू हिंसा अधिनियम, 2005 से महिलाओं की सुरक्षा का संरक्षण ले सकती है। अधिनियम की धारा बार के तहत न्यायाधीश के पास जायें और सुरक्षा आदेश माँगे। धारा 18 के अन्तर्गत, धारा 19 के अन्तर्गत निवास आदेश और 2005 के अधिनियम की धारा 31 के तहत प्रतिवादी द्वारा संरक्षण आदेश के उल्लंघन के लिये दण्ड का प्रावधान है।

4. लिव-इन में रहने के दौरान परिवार में रहने का साझा अधिकार[151] - विवाह की प्रकृति के रिश्ते में रहने वाली पीड़ित महिला को साझा गृहस्थी में रहने का अधिकार है।

5. मेडीकल टर्मिनेशन ऑफ प्रेग्नेंसी एक्ट, 1971 के तहत सुरक्षा का अधिकार[152]- यह प्रावधान विवाह की प्रकृति में लिव-इन में रहने वाली महिलाओं को नियंत्रित करता और अनुदान देता है।

6. लिव-इन पार्टनर के विरुद्ध भारतीय दंड संहित 1860 की धारा 376 के संरक्षण का अधिकार[153]- यदि लिव-इन पार्टनर द्वारा साथी महिला की सहमति के बिना ही उससे यौन दुराचार का प्रयास किया जाता है तो धारा 376 के अन्तर्गत लिव-इन-पार्टनर के विरुद्ध और साथी महिला के संरक्षण का प्रावधान है।

7. उत्तराधिकार और लिव-इन-पार्टनर का अधिकार[154]- इसके अन्तर्गत सुप्रीमकोर्ट ने यह निर्णय दिया कि यदि एक अविवाहित युगल पति-पत्नी के रूप में एक साथ रहता है तो उन्हें कानूनी रूप से विवाहित माना जायेगा और महिला पुरुष की मृत्यु होने पर उत्तराधिकारी होगी।

8. लिव-इन-रिलेशनशिप से जन्मे बच्चे से संबंधित अधिकार[155]-

(क) लिव-इन-रिलेशनशिप से जन्मी संतान वैध होगी

(ख) इसके अन्तर्गत लिव-इन संबंधों से जन्में बच्चे को भरण-पोषण का अधिकार दिया गया है।

(ग) हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की संशोधित धारा 16(3) के अन्तर्गत माता-पिता (केवल

अपने) की संपत्ति पर बच्चे का अधिकार है।

(घ) बच्चे की अभिरक्षा के लिये लिव-इन युगल का अधिकार- इस संदर्भ में न्यायालय द्वारा लिव-इन-रिलेशन से जन्मे बच्चे के लिये स्पष्ट निर्देशें का अभाव है।

(ड) लिव-इन युगल द्वारा दत्तक पुत्र को बोद लेने अथवा गोद देने संबंधी अधिकार - अविवाहित युगल (लिव-इन) को संतान गोद लेने अथवा देने के संबंध में विशेष प्रावधान नहीं है।

समाज पर प्रभाव - मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मानव जब समूह में निवास करते हुये अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं से ऊपर उठकर पूरे समूह के हित में निर्णय लेता है तो वह अपने सामाजिक कर्त्तव्यों का निर्वहन करता है और जब हमारे निर्णय उस समूह के हित अथवा अहित का विचार कर परिवर्तित होने लगते हैं तो कहा जा सकता है कि मनुष्य समाज का आधार है और मानव से ही समाज का अस्तित्व है। परिवारों के संयोजन से ही समाज रूपी संस्था के अस्तित्व का निर्माण होता है। परिवार की सबसे छोटी इकाई पुत्र अथवा पुत्री होता है। परिवार ही वह संस्था है जहाँ नवजात शिशु के पालन-पोषण के दौरान उसे परिवार के बड़ों और बुजुर्गों के साथ व्यवहार करना, सामाजिक दृष्टिकोणों का अभ्यास सिखया जाता है एवं बालक बड़े होते हुये अपनी रूचि का विस्तार करता है और घर-परिवार के साथ ही अन्य सामाजिक स्थितियों के साथ समन्वय करना भी सीखता है किन्तु आधुनिक समय में संयुक्त परिवारों के साथ ही एकल परिवार का प्रचलन भी समाज में बढ़ा है।

संयुक्त परिवार भारत में पारिवारिक संरचना की सबसे पुरानी संस्था थी। संयुक्त परिवार की प्रकृति और लोकाचार गौरवमयी थी और इन परिवारों को भारतीय समाज में आदर्श संस्थान माना जाता था लेकिन औद्योगिक अर्थव्यवस्था के विकास ने इस पारंपरिक पारिवारिक व्यवस्था में कई परिवर्तन किये। इसके अतिरिक्त आधुनिक समाज की दृष्टि से पारंपरिक मूल्यों में परिवर्तन आया है। इसकी कई पारंपरिक मान्यतायें उदाहरण के लिये

संयुक्त सम्पत्ति, सम्मिलित रसोई, गृहपति की भूमिका आदि बड़े पैमाने पर प्रवास और व्यक्तिवाद की आधुनिक धारणाओं के कारण निरन्तर न रह सकी।[156]

आधुनिक समाज ने परिवार की धारणा को नये अर्थ प्रदान कर स्थिति को और भी गंभीर बना दिया है। आधुनिक समय की लोकप्रिय धारणाओं जैसे लिव-इन रिलेशनशिप, व्यक्तिगत परिवार, एक पुरुष/एक महिला परिवार आदि के आधार पर संयुक्त परिवार, परिवारों के इन विविध समूहों में खो गया प्रतीत होता है। एक रोचक तथ्य जो सामने आया, वह यह था कि महानगरों में युवाओं के मध्य बिना विवाह के सहवास भी प्रचलित है जिसे लोकप्रिय रूप से लिव-इन रिलेशनशिप कहा जाता है। युवा पीढ़ी सोचती है कि विवाह से पहले एक-दूसरे को जानना बहुत आवश्यक है, यदि संभव हो तो वे बिना विवाह के साथ रहने में संकोच नहीं करेंगे, यदि वे एक-दूसरे के साथ सामंजस्य बिठाने में असमर्थ हैं तो वे कभी-भी अपने रिश्ते को समाप्त कर सकते हैं।[157]

युवा पीढ़ी की यही सोच अपने माता-पिता के साथ अपने संबंधों से प्राप्त से प्राप्त खुशी और संतुष्टि के मापदंड पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकती है और इस प्रकार उनके जीवन की गुणवत्ता पर प्रभाव पड़ सकता है। भारत जैसे देश में जहाँ गैर वैवाहिक सहवास की सामाजिक स्वीकृति की सीमा कम है और विवाह की स्थिति पर प्रदत्त मूल्य अधिक है, बिना विवाह के साथ-साथ रहने का निर्णय लेने से परिवार से भावनात्मक और भौतिक समर्थन की मात्रा कम हो सकती है।[158] आमतौर पर युवाओं से अपेक्षा की जाती है कि वे अपनी शिक्षा पूरी करें, एक स्थायी आजीविका का माध्यम खोजें, अपने माता-पिता की सहायता का संभावित स्रोत बनें किंतु ऐसा न होने पर अविवाहित युवा वयस्कों के उत्तरदायित्वों और प्रतिबद्धताओं से बचने के रूप में माना जा सकता है और उनकी अविवाहित स्थिति उनके माता-पिता और परिवार के अन्य सदस्यों के साथ उनके संबंधों पर नकारात्मक प्रभाव डाल सकती है। समाज एवं परिवार के साथ ही लिव-इन-रिलेशनशिप में रहने वाले स्त्री और पुरुष पर भी इसका नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। बैंगलोर में क्लीनिकल सायकोलॉजी के सहायक प्रोफेसर डॉ. अहल्या रघुराम का कहना है कि 'लिव-इन-रिलेशनशिप में कोई एक विशेष रूप से कमजोर होता है क्योंकि उस पर रिश्ते को बनाये रखने के लिये दबाव होता है और साथ

ही एक असंगत समाज और माता-पिता की अस्वीकृति का सामना करना पड़ता है। किसी का परिवार रिश्ते की असुरक्षा के कारण एक व्यक्ति का मानसिक तौर पर विनाश कर सकता है। इस रिश्ते में एक महिला को अचानक पता चलता है कि वह विवाह करना चाहती है किन्तु पुरुष साथी विवाह नहीं करना चाहता है तो वह उसे एक खतरनाक स्थिति में पहुँचा
देता है।[159]

लिव-इन-रिलेशन का प्रभाव संतान पर भी पड़ता है क्योंकि गैर वैवाहिक सहवास विवाह की तुलना में नाजुक और अस्थिर है और अविवाहित माता-पिता के घरों में रहने वाले बच्चों को विवाहित माता-पिता के घरों में रहने वालों की तुलना में पारिवारिक संक्रमण का अनुभव होने की अधिक संभावना है। आमतौर पर विवाहित माता-पिता से यह अपेक्षा की जाती है कि वे बच्चे के पालन-पोषण की प्रक्रिया के लिये समर्पित हो लेकिन गैर विवाहित माता-पिता उनकी तुलना में अलग-अलग पालन-पोषण के व्यवहार का पालन करते हैं। अन्य पारिवारिक संरचनाओं की तुलना में गैर वैवाहिक संबंध बालविकास और कल्याण सुनिश्चित करने के लिये असुविधाजनक या अपर्याप्त परिवेश का प्रतिनिधित्व करते हैं।[160]

उपर्युक्त तथ्यों से यह प्रकट होता है कि लिव-इन-रिलेशनशिप पाश्चात्य जीवन शैली को अपनाने के फलस्वरूप उत्पन्न हुयी एक ऐसी विसंगति है जो आदर्श भारतीय समाज की अवधारणा से पूर्णतया विपरीत है। तथा जिसके कारण स्वयं लिव-इन में रहने वाले स्त्री-पुरुष, उनके परिवार एवं सन्तान के मानसिक स्वासथ्य पर दुष्प्रभाव पड़ता है और उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा में भी कमी आती है। इसके कारण उत्पन्न तलाक, कई विवाह, विवाह पूर्व संबंध, विवाह पूर्व गर्भधारण जैसी समस्यायें समाज को विघटित करने का कार्य कर रही हैं। सरकार ने लिव-इन में रहने वाले स्त्री और पुरुष के लिये प्रावधान किये हैं किन्तु कुछ पक्षों पर अभी भी अस्पष्टता है।

♦♦♦♦

सन्दर्भ

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ.सं.-249
2. आश्वलायन गृह्यसूत्र, 3/4/4
3. THE POSITION OF WOMEN IN HINDU CIVILISATION, Page No. 16-17
4. अथर्ववेद संहिता, 14/1/45, 56; 14/2/51; ऋग्वेद संहिता, 5/47/6
5. अथर्ववेद संहिता, 20/128/8
6. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, वेद-खण्ड, पृ.सं.-569
7. THE POSITION OF WOMEN IN HINDU CIVILISATION, Page No. 23
   WOMEN IN RGVEDA, Page No.-179-180
8. शतपथब्राह्मण, 3/2रु4/6, पृ.सं.-284; वैदिक वाङ्मय में नारी, पृ.सं.-56
9. ऋग्वेद संहिता, 10/39/8
10. ऋग्वेद संहिता, 10/102/2
11. WOMEN IN RGVEDA, Page No.-182
12. ऋग्वेद संहिता, 5/30/9
13. ऋग्वेद संहिता, 1/1791, 5/28 (मं./सू.), 8/91 (मं./सू.), 10/39 (मं./सू.)
14. वैदिक वाङ्मय में नारी, पृ.सं.-56
15. महाभारत, विराटपूर्व, 11/11-13
16. महाभारत, विराटपर्व, 22/16-17
17. महाभारत, वनपर्व, 32/60-61
18. महाभारत, आदिपर्व, 1/104/39, 63/112; वनपर्व, 27/2
19. महाभारत, वनपर्व, 28, 332, 263 वाँ अध्याय
20. महाभारत, आदिपर्व, 74वाँ अध्याय
21. महाभारत, वनपर्व, 297वाँ अध्याय
22. महाभारत, उद्योगपर्व, 133वाँ अध्याय
23. महाभारत, अनुशासनपर्व, 1/27-79
24. महाभारत, अनुशासनपर्व, 130/3-4
25. महाभारत, शांतिपर्व, 320वाँ अध्याय
26. महाभारत, वनपर्व 304/1-8; उद्योगपर्व, 132/9, 133/1, 90/18-19, 29, आदिपर्व, 120/17 (वनपर्व-304/9)
27. महाभारत, आदिपर्व, 76/24-26
28. महाभारत, उद्योगपर्व, 116/3
29. महाभारत, उद्योगपर्व, 189/1-2
30. महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय-2

31. महाभारत, वनपर्व, 37/32-36
32. महाभारत, द्रोणपर्व, 78/21-35
33. महाभारत, वनपर्व, 12/51-60
34. महाभारत, विराटपर्व, 37/28-29
35. महाभारत, आदिपर्व, 63/69
36. महाभारत में नार, द्वितीय अध्याय, पृ.सं.-48
37. Women in Indian Society, Page No.-209
38. महिलाओं के मौलिक अधिकार, पृ.सं.-31
39. महिलाओं के मौलिक अधिकार, पृ.सं.-31
40. नारी विमर्श, पृ.सं.-125-127
41. नारी विमर्श, पृ.सं.-132, 136
42. 21वीं सदी में नारी : अधिकार एवं कल्याण, पृ.सं. 59-65
43. इक्कीसवीं सदी में महिला राजनैतिकरणः राजनैतिक सशक्तीकरण एवं महिला नेतृत्व की वास्तविकताएँ, पृ.सं. 108-181
44. सामाजिक विकास और प्रगतिशील महिलायें, पृ.सं. 83-87
45. Women in Indian Society, Page No.-216
46. भारतीय समाज में दहेज समस्या, पृ.सं.-82
47. THE POSITION OF WOMEN IN HINDU CIVILISATION, Page n. 82-84
48. WOMEN IN RGVEDA, Page no.-67-68
49. अथर्ववेद संहिता, 5/17/12
50. ऋग्वेद संहिता, 10/85/13
51. THE POSITION OF WOMEN IN HINDU CIVILISATION, Page no. 84
52. महाभारत, आदिपर्व, पृ.सं.-660, 723-725, विराटपर्व, पृ.सं.-1214-1215
53. मनुस्मृति, पृ.सं.-66-67
54. महाभारत में नारी, पृ.सं.-158
55. THE POSITION OF WOMEN IN HINDU CIVILISATION, Page no.-86
56. महाभारत में नारी, पृ.सं.-84
57. महाभारत में नारी, पृ.सं.-84
58. भारतीय समाज में दहेज समस्या, पृ.सं.-81
    THE POSITION OF WOMEN IN HINDU CIVILISATION, Page No.-85
59. भारतीय समाज में दहेज समस्या, पृ.सं.-81-84
60. भारतीय समाज में दहेज समस्या, पृ.सं.-85-88
61. 21वीं सदी में नारी : अधिकार एवं कल्याण, पृ.सं.-15

62. भारतीय समाज में दहेज समस्या, पृ.सं.-112, महिलाओं के मौलिक अधिकार, पृ.सं.-57 21वीं सदी में नारी : अधिकार एवं कल्याण, पृ.सं.-15
63. प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी, पृ.सं.-73
64. ऋग्वेद संहिता, 10/85/26
65. मनुस्मृति, पृ.सं.-309
66. मनुस्मृति, 9/3
67. महाभारत, वनपर्व, 12/68-72
68. मनुस्मृति, 9/5-9
69. मनुस्मृति, 9/15-16
70. महाभारत में नारी, पृ.सं.-230
71. महाभारत, अनुशासनपर्व, पृ.सं.-236, आदिपर्व, 154/2
72. महाभारत, विराटपर्व, पृ.सं.-1052, श्लोक सं. 19-21, शांतिपर्व, पृ.सं.-215, श्लोक सं. 12, 15 पृ.सं.-179, श्लोक सं. 41-42; पृ.सं.-310, श्लोक सं. 48, पृ.सं.-410, श्लोक सं. 14, पृ.सं.-813, श्लोक सं. 53
73. महाभारत, अनुशासनपर्व, 23/64
74. महाभारत, शान्तिपर्व, 86/24
75. महाभारत, अनुशासनपर्व, 47/23-26 ; 46/1-2; 45/11-14
76. सामाजिक विकास और प्रगतिशील महिलायें, पृ.सं.-109
77. सामाजिक विकास और प्रगतिशील महिलायें, पृ.सं.-36
78. सामाजिक विकास और प्रगतिशील महिलायें, पृ.सं.-108
79. नारी विमर्श, पृ.सं.-14-17
80. नारी विमर्श, पृ.सं.-20
81. 21वीं सदी में नारी : अधिकार एवं कल्याण, पृ.सं.-115
82. नारी विमर्श, पृ.सं.-27; भारतीय नारी परिवर्तन एवं चुनौतियाँ, पृ.सं.-166-167
83. नारी विमर्श, पृ.सं.-101; नारी चेतना, पृ.सं.-26
84. सामाजिक विकास और प्रगतिशील महिलायें, पृ.सं.-135-136, 144
85. सामाजिक विकास और प्रगतिशील महिलायें, पृ.सं.-151
86. सामाजिक विकास और प्रगतिशील महिलायें, पृ.सं.-148-149
87. सम्पूर्ण मनुस्मृति, 3/56
88. WOMEN IN RGVEDA, Page No.-45-46
89. अथर्ववेद संहिता, 20/126/10 ('सहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति')
90. THE POSITION OF WOMEN IN HINDU CIVILISATION, Page No. 235 (Women used to recieve Vedic education.)

91. अथर्ववेद संहिता, 11/7/18

92. ऋग्वेद संहिता, 10/27/12

93. WOMEN IN RGVEDA, Page No.-39-40

94. ऋग्वेद संहिता, 10/18/8

    उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।

    हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ।।

95. WOMEN IN RGVEDA, Page No.-95-96

96. WOMEN IN RGVEDA, Page No.-136

97. THE POSITION OF WOMEN IN HINDU CIVILISATION, Page No.-232

98. WOMEN IN RGVEDA, Page No.-146
    THE POSITION OF WOMEN IN HINDU CIVILISATION, Page No.-136

99. THE POSITION OF WOMEN IN HINDU CIVILISATION, Page No.-380 'The killing of a woman was regarded as a very disgraceful offence since very early times.'

100. WOMEN IN RGVEDA, Page No.-185

101. ऋग्वेद संहिता, 10/168/2; 4/58/8

102. THE POSITION OF WOMEN IN HINDU CIVILISATION, Page No.-380
    WOMEN IN RGVEDA, Page No.-96

103. THE POSITION OF WOMEN IN HINDU CIVILISATION, Page No.-98

104. धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-1, पृ.सं.-336,348

105. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ.सं.-328; शतपथ ब्राह्मण, 4/4/2/13

106. WOMEN IN RGVEDA, Page No.-146; THE POSITION OF WOMEN IN HINDU CIVILISATION, Page No.-259

107. महाभारत, आदिपर्व, 73वाँ अध्याय, 81-82वाँ अध्याय; वनपर्व, 57वाँ अध्याय

108. महाभारत, सभापर्व, 67/27

109. महाभारत, विराटपर्व, 14/45

110. महाभारत में नारी, पृ.सं.-198

111. महाभारत, आदिपर्व, 214, 218, 221वाँ अध्याय, 124 वनपर्व, 265वाँ अध्याय, अनुशासनपर्व, अध्याय-2

112. महाभारत, सभापर्व, 69/5; वनपर्व, 62/21

113. महिला मानवाधिकार, ज्वलंत मुद्दे एवं प्रमुख व्यवस्थायें, पृ.सं-313

114. महिला मानवाधिकार, ज्वलंत मुद्दे एवं प्रमुख व्यवस्थायें, पृ.सं.-33-34

115. 21वीं सदी में नारी : अधिकार एवं कल्याण, पृ.सं.-19 महिला मानवाधिकार; ज्वलंत मुद्दे एवं प्रमुख व्यवस्थायें, पृ.सं.-35, नारी चेतना, पृ.सं.-75-88, 92, 23

116. महिला मानवाधिकार, ज्वलंत मुद्दे एवं प्रमुख व्यवस्थायें, पृ.सं.-130

117. ऋग्वेद संहिता, 10/85/23
118. ऋग्वेद संहिता, 10/85/26
119. ऋग्वेद संहिता, 10/85/36
120. ऋग्वेद संहिता, 10/85/36
121. ऋग्वेद संहिता, 10/85/42-46
122. अथर्ववेद संहिता, 14/2/71-72
123. ऐतरेय आरण्यक, 1/3/6, पृ.सं. 81-82
124. तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3/7/7/11, पृ.सं. 514 सायण व्याख्या
125. संक्षिपत पद्मपुराण, पृ.सं.-294
126. महाभारत मीमांसा, पृ.सं.-220
127. महाभारत मीमांसा, पृ.सं.-221
128. महाभारत, विराटपर्व, 3/14
129. महाभारत, आदिपर्व, 3/14
130. WOMEN IN RGVEDA, PAGE NO. 146, महाभारत, आदिपर्व, 74/42-43,51 THE POSITION OF WOMEN IN HINDU CIVILISATION, Page no. 232
131. महाभारत, आदिपर्व, 74/51-52
132. महाभारत, उद्योगपर्व, 38/10
133. महाभारत में नारी, पृ.सं.-239, महाभारत, अनुशासनपर्व, 146/49
134. नारी चेतना, पृ.सं.-30,76
135. नारी चेतना, पृ.सं.-93
136. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में बहुआयामी विद्रोह, अध्याय-8, पृ.सं.-1
137. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में बहुआयामी विद्रोह, अध्याय-6, पृ.सं.-4
138. नारी चेतना, पृ.सं.-116
139. महिला मानवाधिकार, ज्वलंत मुद्दे एवं प्रमुख व्यवस्थायें, पृ.सं.-95-96
140. महिला सशक्तिकरण से ग्रामीण परिवारों में पति-पत्नी के सम्बन्धों पर प्रभावः एक समाजशास्त्रीय अध्ययन, अध्याय-8, पृ.सं.-11
141. महिला सशक्तिकरण से ग्रामीण परिवारों में पति-पत्नी के सम्बन्धों पर प्रभावः एक समाजशास्त्रीय अध्ययन, अध्याय-7, पृ.सं.-6, अध्याय-8, पृ.सं.-85
142. महिला सशक्तिकरण से ग्रामीण परिवारों में पति-पत्नी के सम्बन्धों पर प्रभावः एक समाजशास्त्रीय अध्ययन, अध्याय-12
143. LIVE-IN-RELATIONSHIP IN INDIA-PROBLEMS AND PERSPACTIVE, PAGE NO.-59
144. LIVE-IN-RELATIONSHIP IN INDIA-PROBLEMS AND PERSPACTIVE, PAGE NO.-59

145. SOCIO-LEGAL STATUS OF LIVE-IN-RELATIONSHIP : A COMPARATIVE STUDY OF FRANCE PHILIPPINES, SCOTLAND AND INDIA, PAGE NO. 78
146. SOCIO-LEGAL STATUS OF LIVE-IN-RELATIONSHIP : A COMPARATIVE STUDY OF FRANCE PHILIPPINES, SCOTLAND AND INDIA, PAGE NO. 79
147. LIVE-IN-RELATIONSHIP IN INDIA-PROBLEMS AND PERSPACTIVE, PAGE NO.-164
148. SOCIO-LEGAL STATUS OF LIVE-IN-RELATIONSHIP : A COMPARATIVE STUDY OF FRANCE PHILIPPINES, SCOTLAND AND INDIA, PAGE NO.-120
149. SOCIO-LEGAL STATUS OF LIVE-IN-RELATIONSHIP : A COMPARATIVE STUDY OF FRANCE PHILIPPINES, SCOTLAND AND INDIA, PAGE NO.-135-136
150. SOCIO-LEGAL STATUS OF LIVE-IN-RELATIONSHIP : A COMPARATIVE STUDY OF FRANCE PHILIPPINES, SCOTLAND AND INDIA, PAGE NO.-136
151. SOCIO-LEGAL STATUS OF LIVE-IN-RELATIONSHIP : A COMPARATIVE STUDY OF FRANCE PHILIPPINES, SCOTLAND AND INDIA, PAGE NO.-150
152. SOCIO-LEGAL STATUS OF LIVE-IN-RELATIONSHIP : A COMPARATIVE STUDY OF FRANCE PHILIPPINES, SCOTLAND AND INDIA, PAGE NO.-151
153. SOCIO-LEGAL STATUS OF LIVE-IN-RELATIONSHIP : A COMPARATIVE STUDY OF FRANCE PHILIPPINES, SCOTLAND AND INDIA, PAGE NO.-154-155
154. SOCIO-LEGAL STATUS OF LIVE-IN-RELATIONSHIP : A COMPARATIVE STUDY OF FRANCE PHILIPPINES, SCOTLAND AND INDIA, PAGE NO.-156-158
155. SOCIO-LEGAL STATUS OF LIVE-IN-RELATIONSHIP : A COMPARATIVE STUDY OF FRANCE PHILIPPINES, SCOTLAND AND INDIA, PAGE NO.-160-175
156. SOCIO-LEGAL STATUS OF LIVE-IN-RELATIONSHIP : A COMPARATIVE STUDY OF FRANCE PHILIPPINES, SCOTLAND AND INDIA, PAGE NO.-103
157. SOCIO-LEGAL STATUS OF LIVE-IN-RELATIONSHIP : A COMPARATIVE STUDY OF FRANCE PHILIPPINES, SCOTLAND AND INDIA, PAGE NO.-103
158. SOCIO-LEGAL STATUS OF LIVE-IN-RELATIONSHIP : A COMPARATIVE STUDY OF FRANCE PHILIPPINES, SCOTLAND AND INDIA, PAGE NO.-105
159. SOCIO-LEGAL STATUS OF LIVE-IN-RELATIONSHIP : A COMPARATIVE STUDY OF FRANCE PHILIPPINES, SCOTLAND AND INDIA, PAGE NO.-106
160. SOCIO-LEGAL STATUS OF LIVE-IN-RELATIONSHIP : A COMPARATIVE STUDY OF FRANCE PHILIPPINES, SCOTLAND AND INDIA, PAGE NO.-107-108

उपसंहार

उपसंहार

महर्षि वेदव्यास की लेखनी से निबद्ध हुयी, साहित्यशास्त्रकारों की उपजीव्य बनी हुयी कालजयी रचना 'महाभारत' जो कि भारतीय संस्कृति की अमूल्य थाती है, जिसमें विविध आख्यानों और उपाख्यानों के माध्यम से मनुष्य मात्र को चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, श्रेष्ठ धर्मपालन और निरन्तर कर्त्तव्य करने की शिक्षा प्रदान की गयी है, जिसमें मनुष्य-जीवन में घटित होने वाले विविध क्रियाव्यापारों का समावेश है, उसकी उपादेयता अधुनातन भी बनी हुयी है।

भारतीय स्त्री जीवन का महाभारत में उपस्थित स्त्री पात्रों के जीवन से घनिष्ठ संबंध है। पृथक्-पृथक् विचारधारा वाले पात्रों के वैविध्य से संपृक्त महाभारत ग्रंथ भारतीय जीवन मूल्यों और आदर्शों की स्थापना करने के साथ ही विभिन्न परिस्थितियों में स्त्री-पुरुषों द्वारा किये जाने वाले व्यवहार को भी वास्तविकता के साथ प्रस्तुत करता है। गांधारी, कुंती, द्रौपदी, दमयन्ती, सावित्री जैसी स्त्रियों का सतीत्व पातिव्रत्यधर्म, पतिनिष्ठा, कर्त्तव्य के प्रति समर्पण भाव, धैर्यशीलता, कष्टसहिष्णुता जैसे गुण आज भी भारतीय स्त्री के लिये उसके जीवन में उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने प्राचीनकाल में थे। महाभारतकालीन स्त्री पात्र अध्येताओं को चरित्र के अनुशीलन द्वारा समस्त विसंगतियों एवं विषमताओं के मध्य अपनी अस्मिता एवं अस्तित्व को अक्षुण्ण रखने की प्रेरणा देते हैं। अतः इन स्त्रीपात्रों के आदर्श चरित्र की विशेषताओं को अधिस्थापित करने के प्रयास स्वरूप मैंने यह शोधप्रबंध नौ अध्यायों में विभक्त किया है जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

प्रथम अध्याय - इसके अन्तर्गत मैंने वेद, उपनिषदों तथा पुराणों का महत्त्व अतिसंक्षिप्त रूप में वर्णित किया है। मैंने लिखा है कि वेदों ने जिन कर्मों का विधान किया है, वे धर्म हैं और जिनका निषेध किया है, वे अधर्म हैं। वेद स्वयं भगवान के स्वरूप हैं। भारत की सनातन मान्यताओं के अनुसार वेद अपौरुषेय हैं। वेदों में मानवमात्र को एक जीवन लक्ष्य, एक हृदय और एक मन वाला होकर रहने की प्रार्थना की गयी है। वेद हमें संवेदना से पूर्ण

हृदय से युक्त होने और मननशील मनुष्य बनने की ओर उत्प्रेरित करते हैं। वेदों में वर्णाश्रम धर्म, गार्हस्थ्यसूत्र, जीवनशुचिता, पारिवारिक सदस्यों के अन्तर्सम्बन्धों, आत्मोन्नति के उपाय, पारिवारिक और सामाजिक जीवन में स्त्रियों की भूमिका एवं उनके गुणों इत्यादि पर प्रकाश डाला गया है। वेदों में निहित ज्ञान ही उपनिषदों में समुज्जवल रूप में प्रकट हुआ है।

उपनिषदों में मुख्य रूप से ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन ही किया गया है और उनमें वर्णित स्त्री पात्रों के द्वारा ब्रह्मविषयक तत्त्वों का ही प्रकटीकरण एवं प्रतिपादन किया गया है।

अनादिकाल से वेदों की भाँति ही पुराण भी भारतीयों के जीवनदर्शन के पथप्रदर्शक रहे हैं। पुराणों में कथाओं के माध्यम से मनुष्यों को चारित्रिक उत्थान की तथा जीवनोपयोगी शिक्षा प्रदान की गयी है। वहाँ पर वर्णित स्त्री पात्र ईश्वरीय शक्ति पर विश्वास करने वाले और मुख्यतः धर्म पर ही दृष्टि रखकर स्वकर्त्तव्यों का निर्वाह करने वाले हैं। पुराणों में वर्णित शिक्षा सरल शैली में होने के कारण सभी मनुष्यों के लिये ग्राह्य है।

वेद-वर्णित प्रमुख स्त्री पात्रों के चारित्रिक विश्लेषण में मैंने प्रखर बुद्धि और सात्विक प्रवृत्ति द्वारा ऋषिका और देवता पद को प्राप्त करने वाली तथा अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा, संयम एवं तपोबल द्वारा आर्यसंस्कृति को गौरवान्वित करने वाली लोपामुद्रा, अपाला, घोषा, रोमशा, उर्वशी, गोधा, शशीयसी इत्यादि ऋषिकाओं के मर्यादित आचरण को प्रस्तुत किया है। मैंने लिखा है कि जहाँ समाज में विद्यमान वैदिक स्त्री-रत्नों ने ऋचाओं का दर्शन किया, वहीं उपनिषदों में आये स्त्री पात्रों गार्गी, मैत्रेयी आदि ने ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया और पौराणिक स्त्रियों अनसूया, देवहूति, शैव्या, पद्मा, प्रातिथेयी इत्यादि ने सत्वगुण समन्वित सदाचरण से भारतीय संस्कृति का उन्नयन किया है। समाज में साध्वी, पतिव्रता स्त्रियों की प्रशंसा की गयी है तथा अशोभनीय आचरण से युक्त स्त्रियों को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा गया है। स्त्रियों की विविध भूमिकाओं को देखते हुए ही पुराण में उन्हें पितृकुल और श्वसुर कुल की प्रतिष्ठा का आधार बताया गया है और साथ ही यह भी कहा गया है कि स्त्री पर ही स्वर्ग-नरक, कीर्ति-अपकीर्ति, संतति, वंश, सुहृद सभी की अवस्थिति निर्भर है।

द्वितीय अध्याय - इसके अन्तर्गत मैंने प्राचीन नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों को आधार बनाकर नायिका-भेदों और प्रभेदों का वर्णन किया है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के आधार पर नायिका

के अंगरचना और अन्तःप्रवृत्ति के अनुसार नारी के दिव्यसत्त्वा, मनुष्यसत्त्वा आदि बाइस भेदों का नामोल्लेखपूर्वक प्रकृति भेद से 'उत्तम, मध्यम तथा अधम' तीन भेद, सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से 'दिव्या, नृपस्त्री, कुलांगना तथा सामान्य' चार भेद, शील की दृष्टि से चार भेद तथा कामदशा की स्थिति के आधार पर वासकसज्जा आदि आठ भेदों का, दशरूपक के आधार पर नायिका के 'स्वीया, परकीया तथा साधारण स्त्री' ये तीन भेद तथा इनके भी प्रभेदों का, अवस्था के आधार पर स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कंठिता आदि आठ भेदों का, नाट्यदर्पण में उल्लिखित 'ललिता, उदात्ता, पूर्वोदात्ता' तीन भेद तथा इनके भी अन्य प्रभेदों का, भावप्रकाशनकार के अनुसार तीन प्रकार के नायिकाओं ओर उनके प्रभेदों का तथा इसी प्रकार शृंगारप्रकाश, साहित्यदर्पण, काव्यानुशासन, शृंगारतिलक, रसमंजरी इत्यादि में भी उल्लिखित नायिका-भेदों का विवेचन किया है। साथ ही आधुनिक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के भी नामों का उल्लेख करके उनमें नायिका-भेद हैं या नहीं, इसका भली प्रकार वर्णन किया गया है।

तृतीय अध्याय - 'महाभारत' ग्रन्थ ही मेरे शोध-प्रबन्ध का आधार है। अतः इसके महत्त्व को बतलाना आवश्यक था। शोध-प्रबंध में अनावश्यक विस्तार न हो जाए, इस भय से मैंने संक्षिप्त रूप से ही महाभारत के महत्त्च का निरुपण किया है। एतदर्थ मेरे द्वारा इसके धार्मिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक और आर्थिक पक्ष की विवेचना की गयी है, जिसमें लिए मैंने प्राचीन भारतीय विद्वानों सी.वी. वैद्य, सुखमय भट्टाचार्य, वासुदेवशरण अग्रवाल, वी.एस. सुक्थणकर, प्रभाकर श्रोत्रिय, वाचस्पति गैरोला आदि तथा पाश्चात्य विद्वानों मैक्समूलर, मेक्डॉनेल, विन्टरनित्ज़, पार्जीटर आदि के विचारों को भी उद्धृत किया है। स्वंय वेदव्यासी जी ने महाभारत को वेद और पुराणों की ज्ञानराशि से सम्पन्न कहा है, साथ ही इसे इतिहास, पुराण और काव्य कहकर इसे धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और मोक्षशास्त्र की संज्ञा भी दी है।

चतुर्थ अध्याय - इसके अन्तर्गत महाभारत में वर्णित अवान्तर कथाओं में आये स्त्री पात्रों यथा शकुन्तला, देवयानी, शर्मिष्ठा, दमयन्ती, सीता, सुकन्या, सुवर्चला इत्यादि की चारित्रिक विशेषताओं को प्रकट किया गया है। ये सभी स्त्री पात्र अद्भुत क्षमताओं से युक्त थे। इनमें शारीरिक सौन्दर्य वियमान होने के साथ ही आन्तरिक सुन्दरता का भी प्राधन्य था, जिसे

इनके गुणों की व्याख्या के माध्यम से प्रकट किया गया है। इसमें वर्णित किया गया है कि कौनसे गुणों को अपने जीवन में स्थान देकर इन्होंने संसार में महान् कीर्ति को प्राप्त किया है। ये सभी गार्हस्थ्य धर्म का पालने करने वाली, अवसरानुकूल उचित निर्णय लेने वाली, परामर्शदात्री, स्वकर्त्तव्यपालन में तत्पर, निस्स्वार्थ प्रेम से आप्लावित, तपस्यानुरागिणी स्त्रियाँ ही नहीं थीं अपितु इनमें से कुछ स्त्रियों ने यथा सुवर्चला, सुलभा, कुणिर्गर्ग की पुत्री, वृद्ध कन्या ने ब्रह्मतत्त्वविषयक ज्ञान भी प्राप्त किया था। वहीं देवयानी और अम्बा जैसी स्त्रियों ने अपनी हठधर्मिता और अहम् के कारण अपने जीवन को दुःखमय भी बना लिया था तथा अपनों के दुःख का भी ये कारण बन गयी थीं वहाँ विदुला जैसी आदर्श माता का चरित्र भी नितान्त उपादेय है जिसने अपने कुलधर्म को विस्मृत करने वाले कायर पुत्र के मन में ऊर्जा का स्फुरण किया था और उसे सन्मार्ग की ओर प्रेरित किया था। आदर्श माता रूप में मदालसा का चरित्र भी प्रेरणास्पद है। ये सभी स्त्रियाँ तेजस्विनी और मनस्विनी थीं और परिस्थितिवश इनमें आये व्यवहारगत परिवर्तनों और कारणों पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

पंचम अध्याय - इसके अन्तर्गत मैंने कुरुवंशीय गान्धारी, कुन्ती के पूर्ववर्ती स्त्री पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन किया है। गंगा, सत्यवती, अम्बिका और अम्बालिका का परिचय देकर उनके शारीरिक सौन्दर्य के वर्णन के साथ ही उनके आन्तरिक गुणों यथा उदारहृदया, बुद्धिमती, शीलाचार, आज्ञाकारिता इत्यादि भी विवेचित किया गया है। इनकी पारिवारिक भूमिकाओं जैसे पुत्री रूप, पत्नी रूप, माता रूप, श्वश्रू रूप में इनके व्यवहार को भी दर्शाया गया है। देवनदी गंगा का मानुषी रूप में अवतरण का कारण और उसका मानवोचित व्यवहार, उसके अनुबंध (शर्त), निषादराज कन्या सत्यवती के पूर्वजनम का वृत्तान्त तथा उसका धर्मानुराग, अम्बिका और अम्बालिका का तपस्विनी रूप, उने द्वारा श्वश्रू की आज्ञानुपालना का तथा इनके जीवन में आयी समस्याओं और उनके समाधान हेतु लिये गये निर्णय तथा फलस्वरूप प्राप्त परिणामों को उजागर किया गया है।

षष्ठ अध्याय - इस अध्याय में मैंने महाभारत के प्रमुख स्त्री पात्रों सुबलपुत्री गान्धारी, कुन्तिभोजकुमारी कुन्ती, मद्रदेश के राजा शल्य की भगिनी माद्री के चारित्रिक गुणों को उभारा गया है। पुत्री रूप में गांधारी और कुन्ती की आज्ञाकारिता तथा भगिनी रूप में माद्री की आज्ञाकारिता, पत्नि रूप में इनके धर्माचरण, माता रूप में इनके वात्सल्य को प्रकट करने

के साथ ही इनके परस्पर अन्तर्सम्बन्धों की भी विवेचना तात्कालिक परिस्थितियों के संदर्भ में की गयी है। अपने पति और पुत्र को कुलधर्म का ज्ञान कराने वाली धर्माचारिणी और पथप्रदर्शिका के रूप में इनकी भूमिका को भी व्याख्यायित किया गया है। श्वश्रू रूप में गांधारी और कुन्ती के निर्मल और स्नेहपूर्ण भावों और व्यवहारों को भी बतलाया गया है। इन्होंने सदैव धर्म को दृष्टिपथ में रखकर कर्त्तव्यमार्ग का अवलम्बन करके स्वयं के सदाचारिणी होने का परिचय दिया है। यह कहना कदापि अत्युक्ति नहीं होगी कि इन्होंने पतिभक्ति की पराकाष्ठा का आदर्श प्रस्तुत किया है, चाहे वह गांधारी का अपने सदाचरण द्वारा विवाहोपरान्त जीवनपर्यंत अपने नेत्रों पर पट्टिका बाँधने का कठिन संकल्प हो अथवा माद्री द्वारा अपने पति पाण्डु की मृत्यु पर उनकी प्रज्वलित चिता के साथ जलकर सती होना हो अथवा कुंती द्वारा वैधव्य के असह्य दुःख का दंश निरन्तर अपने हृदय में अनुभव करते हुये, आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुये स्वंय के पातिव्रत्यधर्म को सुरक्षित रखते हुये अपने तथा सपत्नी माद्री के पुत्रों के पालन-पोषण करने के गुरुतर भार का वहन करना हो। इनकी प्रणय भावना भौतिक सम्बन्धों की आवश्यकताओं पर आधारित न होकर आध्यात्मिक संबंधों की परिचायक थी। इन तीनों का ही अपने पति के प्रति प्रेम इतनी उच्च भावभूमि पर प्रतिष्ठित था कि उस पर समय एवं परिस्थितियों का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा। इनके इसी व्यवहार को यहाँ विवेचित किया गया है।

सप्तम अध्याय - इस अध्याय के अन्तर्गत वीर पुत्री, वीर भगिनी, वीर भार्या, वीर प्रसविनी, सुकुमारी एवं पूजितलक्षणा, द्रौपदी के चरित्र को चारित्रिक गुणों के आधार पर व्याख्यायित किया गया है। आदर्श भार्या और आदर्श वधू के रूप में विषम से विषम परिस्थितियों में स्वधर्म का पालन कर्तव्यनिष्ठा के साथ करते हुये द्रौपदी ने पितृकुल और श्वसुरकुल के गौरव का सर्वतोमुखी विस्तार किया है। द्रौपदी के अयोनिजा होने तथा उसके पूर्वजन्म के वृत्तान्त, अपूर्व सुन्दरता, शास्त्रविहित उसके शुभ लक्षणों, उसके पातिव्रत्य और पतिहितैषिणी रूप, उसकी तर्कशीलता, ईश्वर में आस्था, स्त्रीसहजईर्ष्या, कथाश्रवण में उसके अनुराग, उसके स्वाभिमान और स्पष्टवादिता, श्रीकृष्ण के साथ उसके मैत्रीपूर्ण संबंधों आदि का विश्लेषण इस अध्याय में किया गया है।

अष्टम अध्याय - इस अध्याय में द्रौपदी के परवर्ती प्रमुख स्त्री पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का संकलन है। इसमें ऐरावत नाग के कुल में उत्पन्न कौरव्य नामक नाग की रूपवती कन्या उलूपी, मणिपूर के स्वामी चित्रवाहन की रूप-यौवन संपन्ना कन्या चित्रांगदा, वृष्णिवंश के राजा वसुदेव एवं कृष्ण की बहिन सुभद्रा, राजा विराट और रानी सुदेष्णा की पुत्री

उत्तरा, धृतराष्ट्र तथा गांधारी की सदाचारिणी पुत्री दुःशला, हिडिम्ब नामक राक्षक की भगिनी हिडिम्बा और मत्स्यराज विराट की प्रिय पत्नी सुदेष्णा के गुणों का विश्लेषण किया गया है। यहाँ विविध भूमिकाओं का निर्वहन करते हुये इन स्त्री पात्रों के द्वारा प्रतिकूल ओर अनुकूल अवस्थाओं में स्वकर्त्तव्य का पूर्ण निष्ठा के साथ पालन करते हुये उनके आचरण को प्रकाशित किया गया है।

नवम अध्याय - इस अध्याय में प्राचीन स्त्री पात्र और आधुनिक स्त्री की अवधारणा को तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इनके तुलनात्मक अध्ययन को छः बिन्दुओं में वर्गीकृत किया गया है- (क) 'स्त्री-शिक्षा' के अन्तर्गत प्राचीन काल में स्त्री शिक्षा के लिये क्या व्यवस्था थी तथा उसकी शिक्षा किस स्तर की थी तथा आधुनिक समय में स्त्री-शिक्षा का स्वरूप क्या है, इसे बताया गया है। (ख) 'यौतुक प्रथा' के अन्तर्गत इस तथ्य को विवेचित किया गया है कि प्राचीन काल में यौतुक प्रथा का स्वरूप क्या था और वर्तमान समय में इसके स्वरूप में क्या परिवर्तन आया है तथा इस प्रथा का स्त्री जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा है ? (ग) 'नारी सुरक्षा' के अन्तर्गत प्राचीन काल में स्त्री कितनी सुरक्षित थी, परिवार और समाज में इसकी सुरक्षा को लेकर क्या विचार थे तथा उसके क्या अधिकार थे और आज क्या अधिकार हैं। इसका वर्णन किया गया है। (घ) 'नारी स्वतंत्रता' के अन्तर्गत उसे प्राचीन काल में परिवार में और समाज में कितनी स्वतंत्रता प्राप्त थी तथा वर्तमान में वह कितनी स्वतंत्र है, इस पर प्रकाश डाला गया है। (ङ) 'पति-पत्नी सम्बन्ध' इसके अन्तर्गत प्राचीनकाल और आधुनिक काल के 'पति-पत्नी सम्बन्ध' कैसे थे, को विश्लेषित किया गया है। (च) 'स्त्री-पुरुष का बिना विवाह के साथ-साथ रहना' अर्थात् 'लिव-इन-रिलेशनशिप' का प्राचीन काल में क्या स्वरुप था और आधुनिक काल में इसका स्वरुप तथा इससे उत्पन्न होने वाली स्त्री समस्याओं ओर उसके समाधान के रूप में कानूनी अधिकारों का वर्णन किया गया है।

♦♦♦♦

शोध सारांश

शोध सारांश

त्रिकालदर्शी महर्षि वेदव्यास द्वारा प्रणीत 'महाभारत' ग्रन्थ भारतीय संस्कृति और भारतीय संस्कृत साहित्य की जाज्वल्यमान कृति है। समस्त प्राणियों के लिये समस्त धर्मों का दिग्दर्शन कराने वाले तथा पथभ्रष्ट मनुष्यों को दिशाबोध कराने वाले इस ग्रन्थ में अनेक स्त्री-रत्नों का समुदाय है, जिन्होंने अपने सदाचरण से अपने परिवार और समाज को कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर होने तथा निरन्तर सत्यधर्मपालन में तत्पर रहने की प्रेरणा दी है। किसी भी राष्ट्र की संस्कृति के निर्माण और विकास में स्त्रियों का विशेष रूप से योगदान होता है। क्योंकि स्त्रियों का उदात्त चरित्र ही सफल समाज के सृजन में सहायक है। विविध कौटुम्बिक भूमिकाओं का निर्वाह करते हुये अपने शीलाचार और सेवा-शुश्रूषा से वह प्रत्यक्ष रूप से स्वपरिवार तथा समाज को प्रभावित करती है। सभी प्राणियों की जननी होने के नाते उसमें श्रेष्ठ संस्कार उत्पन्न करने की क्षमता विद्यमान है। महाभारतकालीन स्त्रीपात्र सच्चरित्रता, वैदुष्य, परस्पर सामंजस्य सहिष्णुता, वसुधैवकुटुम्बकम् की मूल भावना से ओत-प्रोत है तथा परिवार के सर्वांगीण विकास में ही स्वयं की उन्नति समझने के आदर्श भाव से युक्त है। अपने जीवन और आचरण में व्यवहृत परिस्थितियों के प्रतिकूल होने पर भी पूर्ण स्पष्टवादिता एवं सत्यता के साथ निर्भीकता से अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ को अभिव्यक्ति देने में सक्षम हैं, महाभारतकालीन स्त्रीपात्र तथा साथ ही वे शान्ति एवं आत्मिक संतोष जैसे गुणों को आचरण में लाकर अनेक अभावों के पश्चात् भी अपने जीवन को सुखमय बनाने की भी सामर्थ्य रखती हैं और आधुनिक समय में भी स्त्रियों को जीवन में समस्त विसंगतियों एवं विशेषताओं के मध्य अपनी अस्मिता एवं अस्तित्व को जीवित रखने की प्रेरणा देने में समर्थ हैं- उनकी इन्हीं विशेषताओं से प्रभावित होकर मैंने अपने शोध प्रबन्ध में उनके चारित्रिक गुणों को व्याख्यायित किया है।

मेरे शोध-प्रबन्ध में नौ अध्याय है, जिनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

प्रथम अध्याय : 'प्राचीनतम संस्कृत साहित्य में स्त्री पात्रों का सर्वेक्षण' - इस अध्याय को मैंने चार भागों में विभाजित किया है (क) वेद, उपनिषदों तथा पुराणों का महत्व- वेदों, उपनिषदों तथा पुराणों के महत्त्व का मेरे द्वारा पूर्ण विस्तारपूर्वक उल्लेख करने के स्थान पर अतिसंक्षिप्त रूप से उल्लेख किया गया है क्योंकि मेरे शोध का केन्द्र 'स्त्री पात्र एवं उनका चरित्र-चित्रण' करना है किंतु वेद, उपनिषदों और पुराणों के महत्त्व को जाने बिना इनसे संबंधित स्त्री पात्रों का चरित्र निर्धारण के साथ न्याय किया जाना संभव नहीं था जो कि मेरे द्वितीय भाग का विषय है। प्रस्तुत अध्याय से यह ज्ञात हुआ है कि इनमें मनुष्य धर्म के उच्चतम आदर्श और ग्रहणीय स्वरूप विद्यमान है। वेद हमें संवेदनशील हृदय से परिपूर्ण होने चिंतनशील मनुष्य बनने की प्रेरणा देते हैं। वेद संपूर्ण धर्म के मूल हैं। वेदों ने जिन कर्मों का विधान किया है, उन्हें ही धर्म के रूप में स्वीकार किया गया है और जिन कर्मों का निषेध किया गया है, उन्हें अधर्म माना गया है। 'सर्वज्ञानमयो हि सः' कहकर मनु ने वेदों को सभी विद्याओं का स्रोत बतलाया है। वेदों में भारतीयों के धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक उन्नति का विस्तृत विवेचन है। वेदों में गार्हस्थ्य सूत्र, विवाह संस्कार, कुटुम्बीजनों के पारस्परिक सम्बन्धों, आत्मिक गुणों, जीवन शुचिता, जीवन-मुक्ति के उपाय, शुभ और अशुभ कर्मों का जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों, स्त्रियों के पारिवारिक कर्त्तव्य तथा सामाजिक जीवन में स्त्रियों की भूमिका इत्यादि का विवेचन है। वेदों में निहित ज्ञान ही उपनिषदों में भी प्रकट हुआ है किन्तु आध्यात्मिक चिन्तन, आत्मतत्त्व और ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन करना ही उपनिषदों में मुख्यतः वर्णित है परन्तु उपनिषद् भी मनुष्यों को आत्मिक उन्नति और सुखमय जीवन के लिये निरन्तर कर्म करने का उपदेश देते हैं। पुराण भी भारतीय जीवन के पथप्रदर्शक हैं उनमें कथाओं के माध्यम से मनुष्य को शिक्षा प्रदान की गयी है। चरित्र की उत्कृष्टता का दर्शन कराना ही पुराणों का मुख्य भाव है ताकि श्रवण करने वाले पर प्रभाव पड़े और वह अपना उन्नयन कर सके। इनका पठन करने से मनुष्यों में परस्पर प्रेम, कर्त्तव्यनिष्ठा, सत्यपालन, सौहार्द, विनम्रता, आर्जव इत्यादि भावों की अभिवृद्धि होती है। वैदिक साहित्य प्रतीकात्मक होने से सामान्य व्यक्ति की अवधारणा से परे है। धर्म और संस्कृति के प्रसार के लिये सरल शैली का होना आवश्यक था। मेरा मत है कि स्वयं वेदव्यास भी इससे परिचित थे और इसीलिये वेद के जटिल और रहस्यमय अभिप्रायों को धर्म का आधार लेकर पुराणों को कथात्मक और मनोरंजक शैली में ही रखकर अवान्तर रूप से वेद की ही रक्षा की है।

द्वितीय भाग : वेद-वर्णित प्रमुख स्त्री पात्रों का चारित्रिक विश्लेषण के अन्तर्गत लोपामुद्रा, रोमशा, शशीयसी, आत्रेयी, अपाला, यमी वैवस्वती, घोषा, विश्पला, सूर्या सावित्री, मुद्गलानी, गोधा, उर्वशी- इन स्त्री पात्रों का चरित्र-विश्लेषण किया गया है। इनके चरित्र विश्लेषण से यह ज्ञात हुआ है कि ये सभी तपोबल से युक्त और स्वधर्म-पालनरता थीं। इन सभी ने ऋचाओं का दर्शन कर मंत्रद्रष्ट्री ऋषिका पद को प्राप्त किया तथा अपनी प्रखर बुद्धि और सात्त्विक प्रकृति से देवता पद को प्राप्त किया तथा अपनी प्रखर बुद्धि और सात्त्विक प्रकृति से देवता पद को भी प्रतिष्ठित किया है। लोपामुद्रा की संयमशीलता, विनम्रता तथा क्षमाशीलता, रोमशा की स्वधर्मपालन में तत्परता, शशीयसी की सहृदयता और परोपकारिता, आत्रेयी की सुदृढ़ एवं सुखी दाम्पत्य जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टि, अपाला की धैर्यशीलता और दृढ़इच्छाशक्ति, घोषा की उत्साही प्रवृत्ति, समर्पणभाव, आशावादिता और प्रयासों की निरंतरता, विश्पला का धैर्य, साहस, निर्भीकता, पराक्रम और सहिष्णुता, सूर्या सावित्री की आज्ञाकारिता और स्पष्टवादिता, मुद्गलानी की नेतृत्व क्षमता और पराक्रम, गोधा ऋषिका की अहिंसक प्रवृत्ति और धर्माचरण तथा उर्वशी का जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण, ये ऐसे आत्मगुण हैं जिनका अवलंबन कर इन्होंने परिवार और समाज के कल्याण के लिये स्त्रियों को करणीय कर्म करने का उपदेश दिया है। यहाँ यमी वैवस्वती का चरित्र त्याज्य है क्योंकि इसने पअने सहोद भ्राता से समागम की याचना की थी। जबकि स्वयं यम ने ही इसके प्रस्ताव को अनुचित कहा है। इनके संवाद से यह ज्ञात हुआ है कि भाई और बहिन का सम्बन्ध अत्यन्त पवित्र होता है तथा प्रत्येक परिस्थिति में संबंधों की मर्यादा को बनाये रखना चाहिये।

तृतीय भाग : उपनिषद् वर्णित प्रमुख स्त्री पात्रों का चारित्रिक विश्लेषण के अन्तर्गत उमा हेमवती, गार्गी, मैत्रेयी और कात्यायनी के चरित्रों का विश्लेषण किया गया है। इनके चरित्र का विश्लेषण करने से यह ज्ञात हुआ है कि उमा हेमवती दैवीय शक्ति के रूप में वहाँ उपस्थित है जिसने ब्रह्म की शक्ति का ज्ञान कराने के लिये राक्षसों पर विजय प्राप्त करने के कारण अहंभाव से युक्त देवताओं को प्रेरक शक्ति बनकर सत्य से अवगत कराया था। ऋषि वचक्नु की पुत्री गार्गी उत्कट कोटि के ज्ञान से युक्त, तर्कशीला, विदुषी और ब्रह्मतत्त्वविषयक जिज्ञासा से युक्त थी। उसकी वाणी विनम्र, संयमित और उसका आचरण मर्यादित था। जहाँ गार्गी याज्ञवल्क्य ऋषि से ब्रह्मतत्त्व विषयक शास्त्रार्थ करती है वहीं याज्ञवल्क्य ऋषि की पत्नी मैत्रेयी आत्मकल्याण की उदात्त भावना से युक्त होकर अपने पति द्वारा दी गयी सम्पत्ति को तुच्छ समझकर उसका त्याग करके ब्रह्मतत्त्व का उपदेश प्राप्त करने की इच्छा करती है। उसके चरित्र में धैर्य, संयम, विनम्रता, निर्लोभ जैसे गुणों का समावेश होने के साथ ही आत्मकल्याण

की भावना भी विद्यमान थी। महर्षि याज्ञवल्क्य की द्वितीय पत्नी कात्यायनी, मैत्रेयी की भाँति ही एक पतिव्रता पत्नी थी किंतु आत्मविषयक ज्ञान के संबंध में उसकी जिज्ञासा शून्य थी। उसकी बुद्धि साधारण स्त्रियों की भाँति थी किन्तु स्कन्दपुराण के अनुसार उसने भी अपने पति से मैत्रेयी के समान ही प्रेम और सम्मान पाने की इच्छा से गौरी की उपासना की थी जिसके फलस्वरूप उसे इच्छित फल की प्राप्ति हुयी और उसने भी अपने पति से ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया।

चतुर्थ भाग : पुराण-वर्णित प्रमुख स्त्रीपात्रों का चारित्रिक विश्लेषण के अन्तर्गत प्रातिथेयी, पतिव्रता ब्राह्मणी और अनसूया, शैव्या, देवहूति, पद्मा, कन्दली, पद्मावती, सुदेवा, सुमना, सुकला और मदालसा के चारित्रिक गुणों का विश्लेषण किया गया है। इनके चरित्र विश्लेषण से यह ज्ञात हुआ है कि इन्होंने अपने सत्त्वगुणसमन्वित सदाचरण से भारतीय संस्कृति को गौरवान्वित किया है। ये सभी स्त्रियाँ तपोबल से समन्वित थीं और इन सभी ने विषम परिस्थितियों में भी पातिव्रत्यधर्म का निर्वाह किया है। माता रूप में प्रातिथेयी और मदालसा ने अपनी संतति को जीवन के समुन्नयन हेतु सदाचार की शिक्षा प्रदान की है। इन श्रेष्ठ स्त्रीरत्न समुदाय के मध्य कन्दली और पद्मावती सदृश स्त्रियाँ भी हैं जिन्होंने अपनी चारित्रिक दुर्बलताओं के कारण अपने जीवन को दुःखमय बना लिया। कंदली का क्रोधपूर्वक कटुभाषण करने तथा कलह करने के स्वभाव वाली होना और पद्मावती की स्वच्छंद प्रवृत्ति। इन दोनों के ही ऐसे अशोभनीय आचरण के कारण जहाँ इनका दाम्पत्य जीवन प्रसन्नतायुक्त नहीं रहा वहीं कंदली के प्राणांत रूप चरम अपकर्ष का कारण भी बन गया। इन सभी के चरित्रों का समेकित रूप से अध्ययन करने पर यह ज्ञात हुआ कि समाज में साध्वी तथा पतिव्रता स्त्रियाँ अपने आदर्श चरित्र निर्वाह के कारण सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति में देवीस्वरूपा होकर वंदनीया मानी गयी हैं। अतः इनके द्वारा जो विषम परिस्थितियों में सत्त्वगुण गुणान्वित मर्यादित आचरण आचरित है वह निश्चित रूप से प्रत्येक देश-काल-परिस्थिति में ग्राह्य एवं अनुकरणीय है।

द्वितीय अध्याय : 'काव्यशास्त्रीय परम्परा में नायिका अथवा स्त्रीपात्रों की अवधारणा'- इसके अन्तर्गत मैंने नायिका भेदों और प्रभेदों का उल्लेख किया है। इस अध्याय को दो भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग में 'प्राचीन नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उल्लिखित नायिका की अवधारणा' को प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत अध्याय में ज्ञात हुआ है कि भरतमुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' में नारी की सामाजिक प्रतिष्ठा, आचार की शुद्धता, काम की विविध दशाएँ, वय की विशेषता, अंगरचना और प्रकृति की आधार भूमि को लेकर नायिका भेद प्रस्तुत किया है। स्त्रियों की प्रकृति की भिन्नता के आधार पर आचार्य ने देव, असुर, गन्धर्व, राक्षस, नाग, पक्षी

आदि बाइस भेदों को लक्षण सहित बताया है। प्रकृति भेद से 'उत्तम, मध्यम तथा अधम' तीन भेद, आचरण की दृष्टि से 'बाह्य, आभ्यान्तरा तथा बाह्याभ्यान्तरा' तीन भेद, सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से 'दिव्या, नृपस्त्री, कुलांगना तथा सामान्या' चार भेद, शील की दृष्टि से 'ललिता, उदात्ता, निभृता, धीरा' चार भेद तथा कामदशा की स्थिति के आधार पर 'वासकसज्जा, विरहोत्कंठिता, स्वाधीनभर्तृका, कलहान्तरिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका, अभिसारिका' ये आठ भेद वर्णित किये हैं। इन सभी को आचार्य ने लक्षण, सहित स्पष्ट किया है।

आचार्य धनंजय कृत 'दशरूपक' में नायिका के तीन प्रकार बताये गये हैं 'स्वकीया, परकीया तथा साधारण स्त्री'। फिर उन्होंने 'स्वकीया' के 'मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा' ये तीन भेद किये हैं। फिर उन्होंने मध्या और प्रगल्भा के 'धीरा, अधीरा, धीराधीरा' ये तीन भेद तथा इनके भी 'ज्येष्ठा और कनिष्ठा' भेद करके, स्वकीया नायिका के 13 भेद बताये हैं। सभी को लक्षणों और उदाहरणों सहित स्पष्ट किया गया है। फिर उन्होंने अवस्था भेद के आधार पर नायिकाओं की आठ अवस्थाओं स्वाधीनतपतिका आदि का वर्णन किया है। नाट्यदर्पणकार ने भी अपने ग्रन्थ में नायिकाओं के विषय में बतलाते हुये कहा है कि नायिका, कुलीन, दिव्य, सुन्दर, क्षत्रिय, कामोत्पन्न तथा उदात्त होनी चाहिये और धीरललित रूपक आदि में तो पण्यस्त्री भी नायिका होती है। फिर उन्होंने उदात्त नायिका के तीन भेद करके पुनः नायिका के मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा-ये तीन भेद बताये है। तत्पश्चात् अवस्था के भेद से नायिकाओं का अष्टधा विभाजन किया है। रुद्रट कृत काव्यालंकार में नायिका के 'आत्मीया, परकीया और वेश्या' ये तीन भेद किये हैं, तत्पश्चात् इनके भी भेदों का वर्णन किया है। भानुमिश्र कृत रसमंजरी में मुख्यतः नायिका के तीन भेदों का वर्णन किया है। भानुमिश्र कृत रसमंजरी में मुख्यतः नायिका के तीन भेदों 'स्वीया, परकीया और सामान्या' का उल्लेख है, फिर इनके भेदों-प्रभेदों का वर्णन है। भोजकृत शृंगार प्रकाश में 'स्वकीया, परकीया, पुनर्भूः तथा सामान्या' ये चार प्रकार की नायिकाओं का वर्णन है। इन्हें उदाहरण के माध्यम से ही बतलाया गया है। रुद्रभट्ट कृत 'शृंगारतिलक' में तीन प्रकार की नायिकायें 'स्वकीया, परकीया तथा सामान्यवनिता' का वर्णन किया गया है तथा उनके भेद-प्रभेद, रति-स्वभाव तथा कोपचेष्टाओं की विवेचना भी की गयी है। हेमचन्द्र कृत काव्यानुशासन और विश्वनाथ कृत साहित्यदर्पण में भी नायिका भेदों का वर्णन किया गया है। मैंने इसके साथ नायिका तथा शृंगार रस, नायिका के प्रति पुरुष की भूमिका का भी वर्णन किया है।

द्वितीय भाग में मैंने 'आधुनिक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नायिका अथवा स्त्रीपात्रों की अधारणा' को प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत अध्याय से ज्ञात हुआ है कि जिस प्रकार पूर्ववर्ती

आचार्यों ने अपने नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नायिका के जिन भेदों और प्रभेदों को प्रदर्शित और विवेचित किया है उसी प्रकार से आधुनिक काव्यशास्त्रकारों के द्वारा नहीं किया गया है। नायिका भेद निरूपण को काव्यशास्त्रकारों ने अपने ग्रन्थों में स्थान नहीं दिया है। मेरे द्वारा वर्तमानकालिक प्रमुख काव्यशास्त्रकार तथा उनकी कृतियों का नामोल्लेख किया गया है। इनके समग्र अध्ययन से यह तथ्य उभरकर आया है कि भरत के अतिरिक्त पश्चात्वर्ती आचार्यों ने केवल रति के आधार पर ही नायिका भेद प्रस्तुत किया है वहीं आधुनिक काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में नायिका अथवा सामान्य नारी पर कोई महत्वपूर्ण चर्चा नहीं है। नारी जीवन का बहुआयामी और जो विशाल फलक है, उसमें से केवल काम प्रसंग की दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत करना, मैं मानती हूँ कि नारी का समग्रता के साथ वर्णन नहीं है। नाट्यकारों, गद्यकारों आदि ने नायिका भेद को देखकर अपनी नायिकाओं को प्रस्तुत नहीं किया है। शकुन्तला, सीता आदि पर रचित नाटक और काव्यों को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि इन नायिका भेदों के प्रति प्रायः उदासीन ही है। वहाँ तो शुद्ध नारीत्व के ही चित्र उपस्थित है।

तृतीय अध्याय : **'महाभारत का महत्त्व'** इस अध्याय में मैंने महाभारत के महत्त्व को ऐतिहासिक, धार्मिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक इन पाँच दृष्टियों में विभाजित किया है। प्रथम भाग के अन्तर्गत यह ज्ञात हुआ है कि पाश्चात्य विद्वानों एवं भारतीय विद्वानों में इस मान्यता को लेकर मत विभेद की स्थिति है कि 'महाभारत इतिहास ग्रन्थ है अथवा नहीं' इस पर अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि महाभारत में घटित घटनाओं और इतिहास वर्णित तिथिक्रम का साम्य नहीं होने के कारण उसे इतिहास ग्रन्थ नहीं माना जा सकता। वहीं भारतीय विद्वानों का मत है कि भारतीय इतिहास प्रणाली पाश्चात्य इतिहास प्रणाली से सर्वथा भिन्न है। निष्कर्ष रूप में यह ज्ञात हुआ कि महाभारत ऐतिहासिक घटनाओं के तिथिक्रम के आधार पर लिखा गया होता तो उसका इतना सर्वव्यापक प्रभाव कभी नहीं होता जो तत्कालीन समय से अभी तक निरंतर बना हुआ है। अतः महाभारत की ऐतिहासिकता संदेह से परे है क्योंकि महाभारत में अनेक राजर्षियों, राजवंशों, देवताओं, महर्षियों, पौराणिक कथाओं इत्यादि का वर्णन है।

द्वितीय भाग में महाभारत के महत्त्व को धार्मिक दृष्टि से विश्लेषित किया गया है। इस विश्लेषण से यह ज्ञात हुआ है कि महाभारत में धर्म के उदार स्वरूप के दर्शन होते हैं। महाभारत में धर्म के अनन्त भेदों और उनकी शाखाओं का विस्तारपूर्वक उल्लेख प्राप्त होता

है। 'यज्ञ, दान, अध्ययन, तप, सत्य, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह और लोभ का परित्याग' - ये धर्म के आठ मार्ग महाभारत में वर्णित हैं।

तृतीय भाग में महाभारत के महत्त्व को साहित्यिक दृष्टि से विवेचित किया गया है। विद्वान् महाभारत को काव्यशैली में लिखे गये महान् कार्यों का सबसे पहला उदाहरण मानते हैं। महाभारत के कथानक का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि महाभारत अनेक नायकों, वीर, अद्भुत, शान्त इत्यादि रसों से युक्त, इतिहास प्रसिद्ध कथानकों से युक्त, पुरुषार्थचतुष्ट्य, प्रकृतिचित्रण, छन्दों, अलंकारों और भावों से परिपूर्ण श्रेष्ठ महाकाव्य एवं साहित्यिक रचना है।

चतुर्थ भाग में महाभारत के महत्त्व का सांस्कृतिक दृष्टि से विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व महाभारत में सुंदर और प्रभावी रूप में अभिव्यक्त हुये हैं। महाभारत मानव मात्र को कल्याण भावना से ओत-प्रोत करने के लिये मनन दृष्टि प्रदान करता है। मनुष्य जीवन के अनेकानेक सांस्कृतिक पक्ष महाभारत में समाहित हैं यथा- वर्णाश्रमकर्त्तव्य, संस्कार, पंचमहायज्ञ, ऋणत्रय, अतिथि माहात्म्य, भोजन नियम, सूर्य और अग्नि की नित्य उपासना, संध्यावदन और होम करना, देवस्तुति, दानक्रिया, श्राद्धक्रिया, गो सेवा का महत्त्व, नृशंस के लक्षण, गृहस्थाश्रम की महत्ता, सत्संग का महत्त्व आदि।

पंचम भाग में महाभारत के महत्त्व आर्थिक दृष्टि से विश्लेषण करने पर ज्ञात हुआ है कि महाभारत में अर्थ का स्वरूप और उसकी प्रधानता का कारण स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। महाभारत में धन को सर्वप्रिय और दुर्लभ वस्तु बताया गया है। इसकी प्राप्ति या सिद्धि हो जाने पर मनुष्य संसार में अपनी सम्पूर्ण मनःकामनायें पूर्ण कर सकता है किन्तु धनहीन मनुष्य की सारी क्रियाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सभी दृष्टियों से महाभारत ग्रन्थ का महत्त्व स्वयंसिद्ध है अतः महाभारत को इतिहास ग्रंथ, धर्मशास्त्र, महाकाव्य, संस्कृति का संवर्धक ग्रंथ एवं अर्थशास्त्र कहना पूर्णतया उचित ही है, इसमें अंशमात्र भी अत्युक्ति नहीं है।

चतुर्थ अध्याय : 'अवान्तर कथाओं में आये स्त्री पात्रों का संक्षिप्त सर्वेक्षण' के अन्तर्गत मैंने शकुन्तला, देवयानी, शर्मिष्ठा, दमयन्ती, लोपामुद्रा, सत्यवती, रेणुका, सुकन्या, पतिव्रता ब्राह्मणी, सीता, सावित्री, गुणकेशी, तपस्विनी शाण्डिली, माध्वी, विदुला, अम्बा, श्रुतावती, वृद्धकन्या, कौसल्या, सुवर्चला, सुलभा, गौतमी, ओघवती, राजा कुशिक की पत्नी, सुप्रभा, रूचि, अरुन्धती, अहल्या और शाण्डिली इनके चारित्रिक विशेषताओं को प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत अध्याय से यह ज्ञात होता है कि महाभारत में वर्णित ये सभी पात्र साधारण मानुषी स्त्री रूप

में होकर भी असाधारण क्षमताओं से युक्त थे। इनमें बाह्य सौन्दर्य और आन्तरिक सौन्दर्य का मणिकांचन योग था। ये सभी अतिशय तेजबल से सम्पन्न थी तथापि इन्होंने कभी भी अपनी क्षमताओं का अनुचित प्रयोग नहीं किया। अपने आत्मिक गुणों की वृद्धि हेतु कठोर नियमों का पालन किया। ऋषि कन्या हो अथवा राजकन्या अथवा साधारण स्त्री-इन्होंने सदैव सम और विषम परिस्थितियों में स्वयं को दृढ़ रखते हुये अपनी मनः स्थिति और व्यवहार को संयत रखा तथा पारिवारिक सदस्यों के मध्य सम्बन्धों को भी अपने विशुद्ध हृदय और प्रेम से प्रगाढ़ बनाये रखा। कण्वपुत्री शकुन्तला का दुष्यन्त के साथ सशर्त गान्धर्व विवाह करना, दुष्यन्त का यह प्रतिज्ञा करके चले जाना कि वह शीघ्र उसे लेने आयेगा। लेकिन दुष्यन्त के द्वारा यह वचन विस्मृत कर देने पर भी शकुन्तला का कभी भी उस पर दोषारोपण न करना बल्कि अपने प्रेम और उनके वचन को सत्य मानकर ही अपना जीवन व्यतीत करना - इन सबसे शकुन्तला के निस्स्वार्थ प्रेम को ही प्रकट किया गया है। देवयानी और अम्बा ऐसी स्त्री पात्र है जिन्होंने अपनी इच्छा को ही सर्वोपरी माना तथा अपने अहंभाव को और हठधर्मिता को परिवार से ज्यादा महत्त्व दिया। इसी कारण इनका जीवन आनन्दमय होने के स्थान पर दुःखमय बन गया। इन दोनों का ही चरित्र सरलता की भावभूमि से विलग हठधर्मिता से युक्त था तथापि कठोर जीवनचर्या द्वारा इन्होंने तपोराशि का अर्जन किया था। वृद्ध कन्या और सुलभा ने अपने योग्य वर न मिलने पर विवाह न करने का निर्णय लिया और आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये कठोर तपस्या का आश्रय लेकर न केवल अलौकिक शक्ति का संचय किया अपितु आत्मतत्त्व का ज्ञान भी प्राप्त किया। स्वर्गलोक की प्राप्ति करने के लिये ही वृद्धकन्या ने नारद के कथनानुसार एक तपस्वी विद्वान् के साथ विवाह करके, एक रात्रि पर्यन्त अपने पति के यहाँ निवास करके स्वर्गलोक जाने का मार्ग प्रशस्त किया। वहीं सुलभा में अपने तपोबल से कहीं भी आने जाने में समर्थ थी। अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध करके उसमें इतना सामर्थ्य आ गया था कि वह किसी के भी शरीर में प्रवेश कर सकती थी। उसमें वृद्ध कन्या के समान ही रूप परिवर्तन की अद्भुत क्षमता विद्यमान थी। श्रुतावती के मन में पतिरूप में इन्द्र को प्राप्त करने की इच्छा थी और इसके लिये उसने स्वयं को भी इंर्धन के रूप में अग्निदेवता के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। ओघवती और राजा कुशिक की पत्नी ने अतिथि-सत्कार के लिये स्वयं तक को प्रस्तुत कर दिया। जहाँ ओघवती ने अपने शरीर का दान किया वहीं राजा कुशिक की पत्नी ने अपनी पीठ पर चाबुक खाये। दमयन्ती, सीता, सावित्री, सुकन्या, शर्मिष्ठा, सुवर्चला और अरुन्धती जैसी स्त्रियों ने अपने पातिव्रत्य धर्म के निर्वाह द्वारा इस जगत् में अक्षुण्ण कीर्ति का अर्जन किया ये सभी अपने

पतियों से प्रेम करने वाली, पति की हित-चिन्तन करने वाली, प्रशंसनीय आचरण से युक्त, निरन्तर धर्म पर दृष्टि रखकर स्वकर्त्तव्यों का निर्धारण करने वाली, पूर्ण निष्ठा के साथ उत्तरदायित्व का निर्वहन करने वाली, क्षमाशील किन्तु अवसर आने पर उचित क्रोध का प्रदर्शन करने वाली, कुलधर्म और जातिधर्म का ज्ञान रखने वाली तथा कुलमर्यादा का संरक्षण करने वाली, दृढ़माना स्त्रियाँ थी। ये सभी पितृकुल और श्वसुरकुल का उद्धार करने वाली स्त्रियाँ थीं। ये सभी लौकिक व्यवहार का ज्ञान रखने वाली तथा गार्हस्थ्य कर्त्तव्यों के ज्ञान से भी युक्त थीं। लज्जा, विनय, सन्तोष, प्रेम, त्याग, सत्य, संयम रूपी अलंकरणों से ये शोभायमान थीं। विषम परिस्थितियों में भी असीम धैर्य रखकर प्रयत्न के अवसर का अन्वेषण करती थीं। चित्त की एकाग्रता से युक्त परिस्थिति अनुसार कार्यों के उचित-अनुचित का ज्ञान भी इन्हें भली-भाँति था। ये सभी दृढ़निश्चयी, सत्यप्रतिज्ञ और सत्यभाषिणी, देवपूजा करने वाली, गंभीर स्वभाव से युक्त, स्त्रीधर्मों की पोषणकर्त्री थीं। वस्तुतः ये सभी साध्वी स्त्रियाँ थीं जिन्होंने इस सम्पूर्ण जगत् को अपने सदाचरणों से पवित्र किया है।

पंचम अध्याय : 'महाभारत में कुरुवंशीय कुन्ती, गान्धारी के पूर्ववर्ती स्त्रीपात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का अध्ययन तथा पर्यालोचन' इस अध्याय को मैंने चार स्त्री पात्रों गंगा, सत्यवती, अम्बिका तथा अम्बालिका में विभाजित किया है। प्रथम भाग में गंगा के मानवीरूप का ही विवेचन किया है। गंगा का चरित्र उदारहृदया, विदुषी, पतिव्रता, वात्सल्यपूर्णा आदि श्रेष्ठ चारित्रिक गुणों से संयुक्त होकर अत्यन्त गरिमामय हो गया है। वह अलौकिक शक्ति से सम्पन्न जह्नु की पुत्री और महर्षिगण द्वारा सेवित, त्रिपथगा, दिव्यरूपिणी देवनदी थी। वसिष्ठ ऋषि के शाप के प्रभाव से जब वसुदेवता स्वर्ग से नीचे गिरने लगे तब उन वसुओं की प्रार्थना स्वीकार कर ही उदारहृदया देवी गंगा मानवी रूप में पृथ्वी पर अवतरित हुयीं और प्रतीप पुत्र राजा शान्तनु का पतिरूप में वरण किया। पत्नीरूप में देवी गंगा को प्राप्त कर उसके शीलस्वभाव, सदाचार, रूप, उदारता, सद्गुण तथा एकांतसेवा से राजा शांतनु बहुत संतुष्ट रहते थे। देवी गंगा एक अच्छी पत्नी होने के साथ ही श्रेष्ठ माता भी थीं। एक जननी के रूप में वह अपने पुत्र गंगादत्त (भीष्म) को सदैव समयोचित मार्गदर्शन देती रहीं और उसके हितसाधन में तत्पर रही। वह संवेदनशीला और सर्वभूतहितौषिणी स्त्री थी।

द्वितीय स्त्री पात्र 'सत्यवती' के चरित्र का महाभारत में अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि सत्यवती 'मत्स्यगन्धा, गन्धवती, गन्धकाली, योजनगन्धा' आदि विशेषणों से युक्त निषादराज की कन्या थी। वह अतिशयसौन्दर्ययुक्ता, पवित्र मुस्कान और मनमोहक हँसी वाली, समस्त सद्गुणों से सम्पन्न, रूप और सत्त्वगुण से संयुक्त, धर्मपरायणा, पित्राज्ञानुगामिनी,

शीलवती, लज्जावती, पतिव्रता, पुत्रवत्सला, धर्मतत्त्वज्ञा, तपोव्रता आदि गुणों से युक्त सच्चरित्रा स्त्री थी। पूर्व जन्म में सत्यवती 'अद्रिका' नामक अप्सरा थी। सत्यवती ने चित्रांगद और विचित्रवीर्य को पुत्र रूप में शान्तनु से प्राप्त किया था किन्तु पराशर ऋषि से उसे 'वेदव्यास' की प्राप्ति पुत्र रूप में हुयी थी। दोनों पुत्रों के निःसन्तान ही मृत्यु को प्राप्त हो जाने पर वह अपने वंश का नाम नष्ट हो जाने की आशंका से चिन्तित हो जाती है। भीष्म अपनी भीषण प्रतिज्ञा को माता सत्यवती के कहने पर भी भंग करने को तैयार नहीं होते तब अपने पुत्र वेदव्यास जी को बुलवाकर वह अपनी पुत्रवधुओं अम्बिका और अम्बालिका का गर्भाधान करवाती है और पौत्र रूप में उसे धृतराष्ट्र व पाण्डु की प्राप्ति होती है। इस प्रसंग में भी यहाँ सत्यवती का कुलमर्यादारक्षिका की उज्ज्वल छवि ही प्रकाशित होती है।

तृतीय भाग में अम्बिका और अम्बालिका नामक स्त्री पात्रों के चरित्र की विवेचना की गयी है। अम्बिका और अम्बालिका दोनों ही काशिराज की सर्वगुण सम्पन्न कन्यायें थीं। इनका विवाह सत्यवती के धर्मात्मा पुत्र विचित्रवीर्य के साथ हुआ था। उनके चरित्र का अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ है कि वे दोनों शारीरिक सौन्दर्य में अप्सराओं के समान थी। अपनी प्रत्येक पारिवारिक भूमिका का निर्वहन उन्होंने पूर्ण निर्दोष भाव से किया। विवाह से पूर्व वे अपने पिता काशिराज की आज्ञाकारिणी पुत्रियाँ थीं। विवाह पश्चात् वे धर्माचारिणी पत्नियाँ, अपनी श्वश्रू सत्यवती की प्रत्येक आज्ञा को शिरोधार्य करने वाली आज्ञाकारिणी पुत्रवधुएँ थीं। अम्बिका और अम्बालिका ने क्रमशः धृतराष्ट्र और पाण्डु पुत्ररत्नों को जन्म दिया था। वे दोनों ही अपने पुत्रों के प्रति अपने हृदय में ममता का सागर समेटे रहती थीं।

निष्कर्ष रूप में यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि गंगा, सत्यवती, अम्बिका और अम्बालिका द्वारा पातिव्रत्यधर्म, धैर्य, सहृदयता, सदाशयता, विनम्रता, बुद्धिमत्ता, मृदुभाषण, आज्ञापालन, धर्मपालन, क्षमाशीलता, सहनशीलता इत्यादि गुणों की पालना करने से इन्होंने स्त्री की गरिमा को उन्नति के शिखर पर स्थापित किया है।

षष्ठ अध्याय : 'गान्धारी, माद्री और कुन्ती की चारित्रिक विशेषताओं का अध्ययन तथा पर्यालोचन' को मैंने तीन स्त्री पात्रों गान्धारी, माद्री और कुन्ती में विभाजित कर उनके चरित्र का विवेचन किया है। प्रथम भाग में मैंने गान्धारराज सुबल की परम रूपवती एवं सौभाग्यवर्धिनी कन्या गान्धारी का चरित्र चित्रण किया है। गांधारी राजपरिवार में जन्मी थीं फिर भी धन-मद से पूर्णतया मुक्त वह संयम, त्याग और गौरव की प्रतिमूर्ति बनी रही। उसने अपने उदात्त चरित्र द्वारा कर्त्तव्यों के विविध सोपानों को पार करते हुये अपने शुद्धाचरण से परिवार एवं समाज को दिशा देने का कार्य किया। उसने कुलमर्यादा की रक्षा व

उच्चता के लिये स्वहितचिन्तन से ऊपर उठकर सदैव कर्त्तव्यकर्म का ही अवलम्बन किया। जन्मांध धृतराष्ट्र संग विवाह निश्चित होने पर उसने यह विचार कर कि 'मेरे पति जिस दर्शनेन्द्रियजन्य सुखों से वंचित हैं मैं कैसे उस इन्द्रियसुख का उपभोग कर सकती हूँ' तत्क्षण रेशमी वस्त्र की पट्टिका बनाकर अपने नेत्रों पर जीवनपर्यन्त के लिये धारण कर ली। उसका पातिव्रत्यधर्म की अनुपालना में किया गया यह त्याग सभी कालों में, सम्पूर्ण स्त्री समाज हेतु अनुकरणीय एवं प्रेरणास्पद बन गया। वह धर्मज्ञा होने के साथ ही धर्माचारिणी भी थी। जब-जब धृतराष्ट्र द्वारा पुत्रमोहातिरेक के वशीभूत होकर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार किये बिना पुत्र दुर्योधन द्वारा कूटरचित कार्यों में अपनी सहमति दी गयी तब-तब गान्धारी धर्म को दृष्टिपथ में रखकर अपने पति की भर्त्सना करते हुये उन्हें सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करने की चेष्टा करती दिखलायी देती है। सभी मातायें पुत्रवत्सला तो होती ही हैं किन्तु महाभारत में गान्धारी के चरित्र का अध्ययन करने पर यह ज्ञात हुआ है कि धर्मदर्शिनी, दीर्घदर्शिनी, महाप्रज्ञा, सत्यभाषिणी इत्यादि विशेषणों से समादृता गान्धारी अपने कुलविध्वंसक, दुर्मति पुत्र दुर्योधन को कुमार्ग से सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने का यथासम्भव प्रयत्न करती है। गान्धारी अतिथिसेवा में तत्पर रहने वाली, धार्मिक कार्यों से प्रसन्न होने वाली और दान-पुण्य के स्वभाव वाली स्त्री थी। गान्धारी में परिस्थिति के अनुसार स्वविवेक का प्रयोग करने की अद्भुत क्षमता विद्यमान थी। उसका हृदय कोमल और संवेदनशील था। उसमें परदुःखकातरता का भाव निहित था। निष्कर्ष रूप में गान्धारी का चरित्र तेजस्विता, ओजस्विता, पातिव्रत्य-शक्ति, सहिष्णुता आदि सद्गुणों से युक्त होने के साथ ही वह स्वयं सर्वधर्मतत्त्वज्ञा, कालपर्यायवेदिनी, महाप्राज्ञा और सत्यवादिनी स्त्री थी।

द्वितीय भाग में मद्रदेश के राजा, बाह्लीक शिरोमणि की रूपवती भगिनी 'माद्री' के चरित्र का युक्तियुक्त विवेचन मेरे द्वारा किया गया है। माद्री एक पतिव्रता पत्नी थी जिसका विवाह कुरुवंशी राजा पाण्डु के साथ सम्पन्न हुआ था। कल्याणमयी, साध्वी माद्री की जीवनचर्या सदैव पति के अनुकूल ही रही, चाहे राजप्रासाद का राजसी, आनन्दमय जीवन हो या वन का तपस्विनी जीवन। पति पाण्डु की मृत्यु होने पर वह उनकी प्रज्वलित चिता पर आरूढ़ हो पतिव्रता का आदर्श प्रस्तुत करती है। माद्री ने अपनी सपत्नी कुन्ती के प्रति सदैव शिष्टतापूर्ण आदरभाव ही प्रकट किया है। निष्कर्ष रूप में माद्री का चरित्र त्याग, धैर्य, विनम्रता, मितभाषिता, संयमशीलता, स्पष्टवादिनी, सत्यभाषिणी, सहजता, सरलता, साहस, स्वाभाविकता वात्सल्यपूर्णा इत्यादि गुणों से समन्वित था।

तृतीय भाग में राजा कुन्तिभोज की अप्रतिम सौन्दर्य से युक्त पुत्री 'कुन्ती' का चारित्रिक विश्लेषण मेरे द्वारा किया गया है। कुन्ती के चरित्र का अध्ययन एवं विवेचन करने पर ज्ञात हुआ है कि कुन्ती वास्तविकता में राजा शूरसेन की पुत्री थी जिसे उन्होंने अपने निःसन्तान फुफेरे भ्राता कुन्तिभोज को प्रदान किया था। वह स्त्रियों में रत्नस्वरूपा, कुलीना, मनोहर रूप, विशाल नेत्रों वाली, उत्तम गुणों से सम्पन्न, एकमात्र धर्म में रत रहने वाली और महान् व्रतों का पालन करने वाली तेजस्विनी, पतिव्रता, साध्वी स्त्री थी। उसके चरित्र को इस भाग में मेरे द्वारा 'आज्ञाकारिणी और गुणवती पुत्री, पतिव्रता, धर्मज्ञा तथा धर्मचारिणी, गार्हस्थ्यनियमपालनकर्त्री, आदर्श सपत्नी, पुत्रवत्सला, कुंती का कर्ण के प्रति वात्सल्य, संवेदनशीला, विमाता रूप, पौराणिक ज्ञानसम्पन्ना, कर्त्तव्यपथप्रदर्शिका, अधर्मभीता, क्षत्रियधर्मज्ञा, आदर्श श्वश्रू, सन्तापनिमग्ना, तपस्विनी एवं दृढ़संकल्पव्रता इत्यादि बिन्दुओं में विभाजित कर उसकी सविस्तार विवेचना की गयी है। कुन्ती द्वारा ऋषि दुर्वासा की जो उत्तमोत्तम सेवा-शुश्रूषा की गयी उसके परिणामस्वरूप उसे ऋषि द्वारा देवों का आवाहन करने संबंधी मंत्रसमूह का उपदेश दिया गया था जो कालान्तर में किंदम मुनि के शाप के प्रभाव से संतानोत्पत्ति में अक्षम हुये राजा पाण्डु को संतानसुख प्राप्ति का माध्यम बना। यदि कुन्ती उस अवसर पर अपनी मंत्रशक्ति का उपयोग नहीं करती तो संभवतः पाण्डुवंश का अस्तित्व महाराज पाण्डु के साथ ही समाप्त हो जाता। अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'गान्धारी, माद्री और कुन्ती' इन तीनों का ही पतिप्रेम इतनी उच्च भावभूमि पर प्रतिष्ठित था कि उस पर समय एवं परिस्थितियों का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा। क्योंकि इनकी प्रणयभावना भौतिक सम्बन्धों की आवश्यकताओं पर आधारित न होकर आध्यात्मिक संबंधों की परिचायक थी। वे यथार्थ में अपने पतियों की सहधर्मिणी थी। ये सभी विपरीत परिस्थितियों में धैर्य और धर्म का त्याग न कर सदैव कर्त्तव्यपथ पर अग्रसर रहीं।

सप्तम अध्याय : **'द्रौपदी की चारित्रिक विशेषताओं का अध्ययन तथा पर्यालोचन'** के अन्तर्गत मैंने द्रौपदी के चारित्रिक गुणों का विश्लेषण किया है। प्रस्तुत अध्याय से ज्ञात हुआ है कि महाभारत के प्रमुख स्त्री पात्रों में द्रौपदी के चरित्र को सर्वाधिक विस्तार प्राप्त हुआ है। वह इस ग्रन्थ की नायिका है। महाकाव्यकार ने द्रौपदी की संवेदनाओं को मुखरित होने का अवसर प्रदान किया है। राजा द्रुपद के कुल में यज्ञ की वेदी से द्रौपदी का जन्म हुआ था। वह शची के अंश से उत्पन्न हुयी थी। अयोनिजा द्रौपदी पूर्वजन्म में एक ऋषि-कन्या थी जिसने पति प्राप्त करने के लिये भगवान् शंकर की कठोर तपस्या की थी। शिवजी ने उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा तब उसने पाँच बार एक ही वाक्य

दोहराया कि मुझे पति चाहिये 'अतः शिवजी ने उसे पाँच भरतवंशी पति होने का वर उसे प्रदान किया। किन्तु ब्रह्मवैवर्त पुराण में द्रौपदी को 'छाया सीता' का ही रूप बताया है तथा उसे 'त्रिहायणी कृष्णा' कहा है। द्रुपद कुमारी द्रौपदी अपूर्व सुन्दरी, नीलोत्पलसुगन्धिनी, सभी शुभ लक्षणों से युक्त, पिता की आज्ञाकारिणी पुत्री थी। वह धृष्टद्युम्न की प्रिय भगिनी थी। राजा द्रुपद ने उसके विवाह के लिये लक्ष्यवेध की शर्त रखी थी तथा उस शर्त को पूर्ण करने वाले ब्राह्मणवेशधारी अर्जुन का उसने स्वयंवर में वरण किया था। उसने स्वयंवर में उपस्थित सभी राजाओं का परिचय सुनने के पश्चात् सूतपुत्र कर्ण से विवाह के लिये मना कर दिया था। वह स्वतंत्र विचारों वाली स्पष्टवादिनी स्त्री थी। जब वह अर्जुन और भीम के साथ उनके गृह पहुँची तब उन दोनों ने उसे भिक्षा के रूप में अपनी माता कुन्ती को समर्पित किया तब कुन्ती ने बिना देखे ही उसे (भिक्षा को) सभी भाइयों में मिलकर बाँटने के लिये कह दिया और उस एक वाक्य ने द्रौपदी को पाँचों पाण्डवों की पत्नी बना दिया। अपनी माता की बात असत्य न हो स्वयं के तथा अन्य पाण्डवों की दृष्टि में द्रौपदी के प्रति प्रेम देखकर युधिष्ठिर ने इस बात की स्वीकृति दी कि कृष्णा सभी पाण्डवों की पत्नी बनेगी। उसकी इस बात को व्यासजी ने उनके पूर्वजन्म की घटना नियत हो चुकी है। उसका विवाह पाँचों पाण्डवों के साथ अलग-अलग दिन सम्पन्न हुआ था और प्रतिवाद विवाह के दूसरे ही दिन वह कन्या भाव को प्राप्त हो जाती थी। पाण्डव द्रौपदी के साथ और द्रौपदी उन पाँचों वीर पतियों के साथ अत्यन्त प्रसन्न रहती थी। पाण्डवों ने द्रौपदी को लेकर एक नियम भी बनाया था कि द्रौपदी प्रत्येक पाण्डव के साथ एक वर्ष तक निवास करेगी तथा एकान्त में बैठे हुये जो कोई उन्हें देख लेगा तो उसे बारह वर्षों तक वनवासी होना पड़ेगा। विवाह के पश्चात् जब वह हस्तिनापुर पहुँची तो वह सदैव अपनी श्वश्रू की आज्ञा का पालन करती और उनकी परिचर्या करती थी। वहाँ कुछ समय पश्चात् आयोजित हुयी द्यूतक्रीडा में युधिष्ठिर अपना सर्वस्व हारने के पश्चात् द्रौपदी को भी दाँव पर लगाकर हार गये। तब उसके कारण दुःशासन तथा अन्य कौरवों द्वारा उसका सभा में जो अपमान किया गया, उससे वह बहुत दुःखी हुयी। दुःशासन द्वारा उसके वस्त्रों को खींचे जाने, से उसका स्वाभिमान आहत हुआ। यह एक स्त्री का अपमान था। उसने न केवल सभा में यह प्रश्न उठाया कि युधिष्ठिर पहले अपने को हारे थे या मुझे बल्कि दुःशासन द्वारा भरी सभा में अपमान किये जाने पर उसने मौन धारण करने वाले समस्त गुरुजनों की भी भर्त्सना की थी। श्रीकृष्ण द्वारा उसकी अस्मिता की रक्षा किये जाने तथा उसके धर्मानुकूल वचनों से प्रभावित होकर धृतराष्ट्र ने द्रौपदी को इच्छित वर प्रदान किये जिसके फलस्वरूप सभी पाण्डव दास्य भाव से मुक्त हो गये। किन्तु पुनः द्यूतक्रीड़ा में

हार जाने पर समस्त पाण्डवों को बारह वर्ष की वनवास तथा एक वर्ष का अज्ञातवास मिला। साध्वी द्रौपदी भी अपने पतियों के साथ राजमहल से एकवस्त्रा और रजस्वला अवस्था में बाहर निकली और वन में उनके साथ गयी। वह हमेशा पतिहितैषिणी ही रही। उसने वन में भी दुर्वासा ऋषि के कोप से पाण्डवों की रक्षा की थी। ब्राह्मणों के लिये अन्नदान की समस्या होने पर सूर्यदेव से प्राप्त स्थालीपात्र से वह समस्या दूर हो गयी किन्तु इसका भार भी द्रौपदी पर ही था। वह सभी को भोजन परोसने के पश्चात् ही सबसे अन्त में स्वयं भोजन करती थी क्योंकि उस बटलोई में अन्न तब ही रहता था जब तक द्रौपदी स्वयं भोजन न कर ले। वनवास के समय वह पतिधर्म का निर्वाह करने के लिये अपनी सन्तानों से भी दूर रही। वन में जयद्रथ से और अज्ञातवास के समय कोटिकास्य से अपने सतीत्व की रक्षा के लिये वह संघर्षरत रही। वन में अनेक कष्ट सहे और जब युधिष्ठिर ने दुर्योधन के लिये संधिप्रस्ताव भेजा तब उसे यह सहन नहीं हुआ और उसने युधिष्ठिर के क्रोध को उभाड़ने का प्रयत्न किया और श्रीकृष्ण से कहा संधि की बात करते समय मेरे इन खुले केशों को याद रखे। वह अपने अपमान का प्रतिशोध चाहती थी। महाभारत युद्ध में पुत्रों की मृत्यु के पश्चात् ही उसका पुत्रवत्सला रूप प्रकट हुआ था। अपने पुत्रों की हत्या करने वाले अश्वत्थामा से उसके मस्तक पर धारण की हुयी मणि को युधिष्ठिर के मस्तक पर धारण कराकर ही उसका क्रोध शांत हुआ था। हस्तिनापुर में रहते हुये उसका, मयनिर्मित सभाभवन को देखने वाले दुर्योधन के भ्रम के कारण वापी में गिरने पर हँसना, भीम से सौगन्धिक कमल की याचना करना इसमें उसकी स्त्रीसुलभचंचलता के दर्शन हुये हैं। वह सर्वधर्म विशेषज्ञा, धर्माचारिणी, आस्थावती, सत्यवादिनी, प्रियंवदा, उदारहृदया, गृहस्थकार्यों में कुशल, लज्जाशील, गुरुजनों का सम्मान करने वाली और उनके द्वारा समादृता, सदाचार की शिक्षा देने में निपुण, प्रजाजनों के अनुकूल व्यवहार करने वाली, पतिव्रता स्त्रियों की ज्ञाता, क्षत्रियधर्मानुरागिणी, स्वाभिमानिनी, कष्टसहिष्णु, धैर्यशीला, तर्कशीला, आत्मविश्वास से युक्त, क्षमाशीला, निर्भीक, दृढ़प्रतिज्ञ और स्व-अधिकार हेतु आवाज उठाने वाली तेजस्विनी स्त्री थी। वह पाण्डवों की मंत्रशक्ति, प्रभुशक्ति और उत्साह शक्ति थी। उसकी पौराणिक कथाओं के श्रवण में रूचि थी। वह एक बुद्धिमती स्त्री थी। द्रौपदी में धैर्य और सहिष्णुता का चरमोत्कर्ष दिखायी देता है। वह वीर पुत्री, वीर भगिनी, पाण्डव प्रिया, वीरप्रसविनी, सुकुमारी, श्रीकृष्ण की प्रिय सखी थी। आदर्श भार्या और आदर्शवधू के रूप में विषम स्थितियों में स्वधर्म का पालन कर्त्तव्यनिष्ठा के साथ करते हुये द्रौपदी ने पितृकुल और श्वसुरकुल के यश का सर्वतोमुखी विस्तार किया है।

अष्टम अध्याय : 'द्रौपदी के परवर्ती प्रमुख स्त्री पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का अध्ययन तथा पर्यालोचन' को मैंने सात स्त्रीपात्रों उलूपी, चित्रांगदा, सुभद्रा, उत्तरा, दुःशला, हिडिम्बा एवं सुदेष्णा में विभाजित कर उनका चारित्रिक विश्लेषण किया है। प्रथम भाग में ऐरावत नाग के कुल में उत्पन्न कौरव्य नामक नाग की सुंदरी कन्या 'उलूपी' के चरित्र का अध्ययन एवं विवेचन किया है। उलूपी ने पाण्डुपुत्र अर्जुन के प्रति अनुरक्त थी। उलूपी के प्रणयनिवेदन को अर्जुन द्वारा स्वीकार कर लिया गया था। वह अलौकिक शक्ति सम्पन्न थी। उसने वसुओं तथा गंगा के शाप से अर्जुन के प्राणों की रक्षा की थी। वह पतिव्रता स्त्री थी। उसका सपत्नियों से भी प्रेमपूर्ण व्यवहार था, वह सभी का यथोचित सम्मान करती थी। उलूपी ने अर्जुन के संयोग से अत्यन्त मनोहर तथा बल-पराक्रम से सम्पन्न 'इरावान्' नामक पुत्र को उत्पन्न किया था जिसने महाभारत युद्ध में पिता की सहायता की थी। उलूपी का बभ्रुरवाहन के प्रति प्रेम, उसे दुविधा में देखकर कर्त्तव्यपालन हेतु प्रेरित करना, उसे सान्त्वना प्रदान करते उलूपी के तार्किक शीतल वचन, उसके विमाता रूप के उज्ज्वल पक्ष का प्रदर्शन तो करते ही हैं साथ ही उसके हृदयस्थ वात्सल्यभाव का निदर्शन भी कराते हैं। वधूरूप में उलूपी का आचरण धर्मानुसार ही रहा है।

द्वितीय भाग में मणिपूर के राजा चित्रवाहन की रूपयौवनसम्पन्ना पुत्री और पाण्डुपुत्र अर्जुन की धर्मपत्नी 'चित्रांगदा' के चारित्रिक गुणों का पूर्ण विश्लेषण मेरे द्वारा किया गया है। चित्रांगदा आज्ञाकारिणी पुत्री होने के साथ ही पतिव्रता पत्नी भी थी साथ ही अच्छी वधू, ममतामयी माता और प्रेमभाव से पूर्ण सपत्नी रूप में यहाँ दृष्टिगत होती है। उसमें धैर्य, त्याग, विनम्रता, संवेदनशीलता, कर्त्तव्यनिष्ठा जैसे गुण दिखायी देते हैं। वह एक सदाचारयुक्ता, धर्मज्ञा स्त्री थी और जीवन में पति के सर्वस्व होने की धार्मिक भावना की ही शरण लिये हुये थी।

तृतीय भाग में सुभद्रा के चरित्र का अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ है कि सुभद्रा वृष्णिवंश के राज वसुदेव की पुत्री, श्रीकृष्ण और सारण की भगिनी, पाण्डुपुत्र अर्जुन की भार्या एवं अभिमन्यु की वात्सल्यपूर्णा माता थी। सुभद्रा के चरित्र का विश्लेषण मेरे द्वारा जिन बिन्दुओं के अन्तर्गत किया गया है, वे हैं- सौन्दर्यशालिनी, आस्थावती, उत्सवप्रिया, पतिव्रता, भ्रातृस्नेहयुक्ता, सपत्नियें के प्रति आदरभाव युक्ता, सदाचारिणी वधू, वात्सल्य परिपूर्णा, उत्तम श्वश्रू। वस्तुतः वह धैर्यवती, ईर्ष्यारहिता, संवेदनशीला, संवेदनशीला, भद्रभाषिणी, व्यवहारकुशला, ज्ञानिनी, सेवाभाविनी, सदाचारिणी आर्य स्त्री थी।

चतुर्थ भाग में राजा विराट और रानी सुदेष्णा की प्रिय पुत्री, अर्जुन पुत्र अभिमन्यु की पत्नी। 'उत्तरा' के चरित्र को मेरे द्वारा व्याख्यायित किया गया है। उत्तरा का चारित्रिक विश्लेषण

मैंने अतीवरूपसम्पन्ना, आज्ञाकारिणी पुत्री, भ्राताहितैषिणी, कलाप्रिय, शीलवती, पतिव्रता पत्नी, आदर्श वधू, पुत्रवत्सला माता इन चारित्रिक बिन्दुओं के अन्तर्गत किया है। उत्तर के चरित्र का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि वह धार्मिक आचार से युक्त, सद्गुणों से विभूषित, पुण्यकार्यों में अनुराग रखने वाली, पवित्रहृदया, प्रशंसा के योग्य आचरण वाली, मधुरभाषिणी, सदा पातिव्रत्यधर्म का पालन करने वाली गुणवती स्त्री थी।

पंचम भाग में राजा धृतराष्ट्र तथा गान्धारी की सदाचारिणी पुत्री, कौरवों-पाण्डवों की भगिनी एवं सैन्धवराज जयद्रथ की भार्या 'दुःशला' के चरित्र का विवेचन मेरे द्वारा किया गया है। पितृकुल से पतिकुल में आकर दुःशला ने सदैव अपने कर्त्तव्यों का पूर्णरूप से निर्वहन किया। दुःशला के चरित्र का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि वह धैर्यशीला थी एवं परिस्थिति के अनुरूप निर्णय लेने का सामर्थ्य रखती थी। निष्कर्ष रूप में उसमें धैर्य, संयम, विवेक, विनम्रता, सहिष्णुता, साहस जैसे उत्तम गुण विद्यमान थे।

षष्ठ भाग में हिडिम्ब राक्षस की भगिनी, पाण्डुपुत्र भीमसेन की भार्या एवं घटोत्कच की वीर माता 'हिडिम्बा' का चारित्रिक विश्लेषण मेरे द्वारा किया गया है। हिडिम्बा का चारित्रिक विश्लेषण मैंने 'अलौकिकशक्तिसम्पन्ना, सत्यवादिनी, धर्मज्ञा, वचनपालनतत्परा, पतिव्रतापत्नी एवं पुत्र को धर्म का उपदेश करने वाली माता' इन चारित्रिक बिन्दुओं के अन्तर्गत किया है। निष्कर्ष रूप में वह अद्भुत शक्ति से सम्पन्न, दृढ़संकल्पवती, धर्मचारिणी, धर्मज्ञा, सत्यभाषिणी, पतिव्रता आदि सद्गुणों से सम्पन्न स्त्री थी।

सप्तम भाग में मेरे द्वारा केकयराजकुमारी, कीचक बन्धुओं की अनुजा और मत्सयराज विराट की प्रिय पत्नी सुदेष्णा के चरित्र का विवेचन किया गया है। सुदेष्णा के चरित्र का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि वह अत्यन्त विनम्र, बुद्धिमती, स्वकर्त्तव्यनिर्धारण में कुशल, सरल स्वभाव वाली, मृदुभाषिणी और पतिव्रता पत्नी थी। अध्याय के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इन सभी स्त्री पात्रों में विषम परिस्थितियों में धैर्य, संयम, सहिष्णुता और त्याग आदि श्रेष्ठ गुणों का समाचरण किया गया है। इन सभी ने प्रतिकूल और अनुकूल दशाओं में स्वकर्त्तव्य का पूर्ण निष्ठा का पालन करते हुये मर्यादित आचरण को प्रस्तुत किया है और स्त्री-गौरव को उच्चता प्रदान की है।

नवम अध्याय : 'प्राचीन स्त्री पात्र तथा आधुनिक स्त्री की अवधारणा-तुलनात्मक दृष्टिकोण' प्रस्तुत अध्याय को मैंने छः भागों में वर्गीकृत किया है (क) स्त्री-शिक्षा (ख) यौतुक प्रथा (ग) नारी सुरक्षा (घ) नारी स्वतंत्रता (ङ) पति-पत्नी सम्बन्ध (च) स्त्री-पुरुष का बिना विवाह के साथ-साथ रहना (लिव-इन-रिलेशनशिप)

इसके प्रथम भाग 'स्त्री शिक्षा' के अन्तर्गत मेरे द्वारा प्राचीनकालीन स्त्री पात्रों एवं आधुनिक काल में स्त्री शिक्षा के विषय, कार्यक्षेत्र, आवश्यकता का तुलनात्मक विश्लेषण किया है। अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ है कि वैदिक काल से लेकर महाभारत काल में स्त्री शिक्षा अत्यन्त उच्च स्तर की थी और शिक्षा अथवा ज्ञान प्राप्ति का अन्तिम लक्ष्य परमतत्त्व (ईश्वर दर्शन) एवं मोक्ष प्राप्ति थ। प्राचीनकाल में विदुषी एवं ब्रह्मवादिनी स्त्रियों का सर्वत्र आदर होता था। मध्यकाल में स्त्रियों की दशा में और सम्मान की बड़ी हानि हुई परिणामस्वरूप उस समय नारी को मात्र उपभोग की वस्तु एवं गृहकार्य तक सीमित माना जाने लगा किंतु आधुनिक समय में स्त्री शिक्षा एवं ज्ञान के आधार पर पुनः अपनी खोयी हुयी प्रतिष्ठा को प्रापत करने में प्रयत्नशील है। इस कार्य में निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का अधिकार एवं अन्य सांविधानिक प्रावधान उसका सम्बल बने हैं। यहाँ स्त्री शिक्षा की आवश्यकता, उसके विषय और उसके कार्यक्षेत्रों का विवेचन है।

इसके द्वितीय भाग 'यौतुक प्रथा ' के अन्तर्गत मेरे द्वारा प्राचीन समय में इसका स्वरूप तथा आधुनिक काल में इसके स्वरूप में आये परिवर्तन, उत्पत्ति के कारण, इसके दुष्परिणामों एवं निवारण हेतु वैधानिक प्रावधानों का विवेचन किया गया है। प्रस्तुत अध्याय के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि प्राचीन समय में कन्या के विवाह के अवसर पर दहेज देने की परम्परा नहीं थी। वहाँ पर कन्या के विवाह में परिवारजनों द्वारा महान् उपहार के रूप में यह प्रचलित था किन्तु आधुनिक समय में इसका स्वरूप विकृत हो गया और अब यह सामाजिक समस्या बन गयी है। आज कन्या के माता-पिता को बाध्य होकर अपनी सामर्थ्य से अधिक दहेज के रूप में धन तथा अन्य वस्तुएँ वर पक्ष को देने को विवश होना पड़ता है अन्यथा कन्या के योग्य वर की प्राप्ति नहीं होती। कुछ माता-पिता समाज में अपनी प्रतिष्ठा और वैभव प्रदर्शन के लिये बढ़-चढ़कर दहेज देते हैं। अतः इनके दुष्परिणाम स्वरूप कन्याभ्रूण-हत्या, बालविवाह, अनैतिकता, बेमेल विवाह, स्त्रीशिक्षा में अवरोध जैसी समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं तथा इनको रोकने के लिये प्रशासन द्वारा कुछ अधिकारों का प्रावधान एवं दण्डात्मक नीतियाँ भी हैं।

इसके तृतीय भाग 'नारी सुरक्षा' के अन्तर्गत प्राचीनकाल में नारी सुरक्षा निमित्त क्या सामाजिक एवं शासकीय प्रावधान किये गये थे एवं आधुनिक काल में नारी किन कारणों से असुरक्षित होती जा रही है और उसकी सुरक्षा सुनिश्चित करने हेतु क्या-क्या प्रशासकीय एवं सांविधानिक प्रावधान किये गये हैं, उनका मेरे द्वारा विवेचन यहाँ किया गया है। प्राचीनकाल में नारी को देवीस्वरूपा एवं मातृवत् आदर प्रदान किया जाता था वह स्वयं तपोबल,

पातिव्रत्यशक्ति से समन्वित थी एवं राजा, ऋषिगणों द्वारा सतत संरक्षित थी प्राचीन समय में स्त्री को अवध्या माना गया है। उस पर शस्त्राघात का निषेध किया गया है। उस पर आक्रमण एवं वंचना का भी निषेध वर्णित है किन्तु वर्तमान समय में कन्याभ्रूण हत्या, बालविवाह, सतीप्रथा, दहेज, शारीरिक शोषण लिंग भेद इत्यादि कारणों से नारी सर्वाधिक असुरक्षित दिखायी देती है।

इसके चतुर्थ भाग 'नारी स्वतंत्रता' के अन्तर्गत प्राचीन काल में नारी को परिवार, समाज में क्या स्वतंत्रता प्राप्त थीं और आधुनिक काल की स्त्री को विभिन्न क्षेत्रों में कितनी स्वतंत्रता प्राप्त है, इसका तुलनात्मक अध्ययन मेरे द्वारा किया गया है। प्रस्तुत अध्याय निमित्त अध्ययन करने पर यह ज्ञात हुआ है कि प्राचीनकाल में विवाह में कन्या को वरचयन की स्वतंत्रता प्राप्त थी। पुनर्विवाह और विवाह-विच्छेद की स्वतंत्रता उसे प्राप्त थी। पर्दाप्रथा से पूर्णतया मुक्त थी। अपने विचारों को निःसंकोच हो अभिव्यक्त करने की, इच्छा से स्थानों पर आवागमन की, शिक्षा प्राप्ति की एवं गृहस्थकर्त्तव्यों के निर्वहन हेतु धन का व्यय व संचय करने की स्वतंत्रता उसे प्राप्त थी। आधुनिक काल में नारी स्वतंत्रता का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया है। अब संसार में ऐसा कोई कार्यक्षेत्र नहीं है जहाँ पर मात्र पुरुष एकाधिकार हो। अब नारी हर क्षेत्र, हर स्थान पर अपनी इच्छा से आवागमन करते हुये अपनी रूचि के कार्यक्षेत्र का चयन करने हेतु स्वतंत्र है। अब उसे पैतृक संपत्ति पुत्र समान ही बराबरी का अधिकार प्राप्त है।

इसके पंचम भाग 'पति-पत्नी सम्बन्ध' के अन्तर्गत मेरे द्वारा प्राचीनकाल के पति-पत्नी संबंधों का विवेचन प्रस्तुत कर आधुनिक काल में पति-पत्नी के संबंधों में क्या कुछ परिवर्तन, भिन्नतायें आयी हैं, उनको तुलनात्मक रूप से विश्लेषित किया गया है। वेदों में सप्तपदी के निर्वहन के संबंध में यह स्पष्ट कथन है कि विवाह पश्चात् पति और पत्नी दोनों ही इस संबंध का पूर्ण निष्ठा से निर्वहन करें, न तो पति द्वारा पत्नी का त्याग किया जाये और न ही पत्नी द्वारा पति का। पूर्वकाल में वैवाहिक जीवन की सफलता इसी में थी कि पति और पत्नी एक दूसरे की इच्छानुसार चलें, वे दोनों एक-दूसरे से संतुष्ट हों तथा उनहें वित्रर्ग की प्राप्ति हो किन्तु वर्तमान समय में भौतिकता और सम्पन्नता के दिखावे की चाह ने एक इकाई रूप में परिवार पर उत्तरदायित्वों के भार में वृद्धि कर उसके सुखपूर्वक निर्वहन को कष्टसाध्य बना दिया है। आर्थिक संकट से मुक्ति हेतु जहाँ पति-पत्नी दोनों को ही कामकाजी होकर अर्थोपार्जन करना पड़ रहा है। ऐसे में सहिष्णुता और क्षमाभाव का अभाव छोटी-छोटी बातों पर भावावेश में विवाह-विच्छेद के गंभीर परिणाम के रूप में दिखायी देने लगा है।

इसके षष्ठ भाग 'स्त्री-पुरुष का बिना विवाह के साथ-साथ रहना (लिव-इन-रिलेशनशिप)' के अन्तर्गत आधुनिक काल में स्त्री-पुरुष संबंधों में नवीन विसंगति के रूप में उत्पन्न इस समस्या का स्वरूप, परिभाषा और इस संबंध में स्त्री को क्या-क्या वैधानिक अधिकार प्राप्त हैं और समाज पर इसका क्या नकारात्मक प्रभाव प्रकट हो रहा है, इसका अध्ययन व विश्लेषण किया गया है। साथ ही प्राचीनकाल से तुलना करने पर ज्ञात हुआ है कि प्राचीनकाल में इस (लिव-इन-रिलेशनशिप) का अस्तित्व ही नहीं था प्रत्युत वहाँ तो विवाह को इतना पवित्र संस्कार माना जाता था कि अविवाहित स्त्री को स्वर्ग प्राप्ति का अधिकारी ही नहीं माना जाता था चाहे उसने कितना ही महान् तपोबल अथवा पुण्य क्यों न प्राप्त कर लिया हो।

उपसंहार : निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वेदों में स्त्रियों के संबंध में जिस करणीय कर्म का उपदेश किया गया है उसी को आदर्श रूप में स्वीकार कर महाभारतकालीन स्त्री-चरित्रों द्वारा उन्हीं का शब्दशः जीवन पर्यंत आचरण किया गया है। उनके चारित्रिक गुण तत्कालीन समय में तो आदर्श की मान्यता प्राप्त थे ही यदि आधुनिक काल की स्त्रियाँ मन से पूर्वाग्रहों का त्याग कर उन श्रेष्ठ आत्मगुणों को हृदयस्थ कर व्यवहार करें तो पति-पत्नी संबंध तो मधुर होंगे ही साथ ही सुखी, आदर्श समाज एवं कल्याणकारी, आत्मनिर्भर राष्ट्र की संकल्पना भी साकार हो सकेगी।

प्रस्तुत अध्यायों से यह तथ्य प्रकट होता है कि वैदिककालीन स्त्रियाँ जहाँ उच्च बुद्धिलब्धि से युक्त और विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न थीं तथा अपने गुणों के उन्नयन द्वारा देवता पद को भी प्राप्त करने में समर्थ थीं। वहीं उपनिषद् कालीन स्त्रियाँ ब्रह्मवादिनी थीं। वे अत्यन्त विदुषी तथा आत्मकल्याणार्थ ब्रह्मतत्त्व को जानने की अभिलाषी थीं। किन्तु वेदों और उपनिषदों में स्पष्ट रूप से स्त्री की विविध भूमिकाओं, कर्त्तव्यों और उनके गुणों को व्याख्यायित नहीं किया गया है अपितु सांकेतिक रूप से ही स्त्री आचारों का निर्देश किया गया है। इसके विपरीत पुराणों में स्त्री के विविध रूपों, कर्त्तव्यों के संबंध में विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। पुराणों की भाषा-शैली वेदों की तुलना में सरल होने के कारण उसमें निहित ज्ञान सभी वर्णों के लिये सरलतापूर्वक बोधगम्य है। पौराणिककालीन स्त्रियाँ वैदिककालीन स्त्रियों की भाँति प्रखर बुद्धि वाली और तपोबल समन्विता थीं। उन सभी ने पारिवारिक दायित्वों का निर्वहन पूर्ण लगन और सत्यनिष्ठा के साथ किया है। किनतु पातिव्रत्यधर्म का पालन ही स्त्रियों के लिये सर्वोपरि कर्त्तव्य था और यही भाव महाभारतकालीन स्त्रियों के चरित्र में भी प्रकट हुआ है। उनके लिये भी पातिव्रत्य धर्म का पालन करना प्रमुख धर्म रहा है।

चाहे गान्धारी, कुन्ती, माद्री अथवा द्रौपदी ही क्यों न हो, इन सभी ने अपने सभी सम्बन्धों से ऊपर पत्नी धर्म को प्रमुखता दी है। महाभारतकालीन स्त्रियाँ परम विदुषी, तेजस्विनी, मनस्विनी, परम रूपवती, गृहस्थाश्रम से संबंधित समस्त कर्त्तव्यों का पालन करने वाली, स्व से अधिक संबंधों, स्त्री की विविध भूमिकाओं में भी परिवर्तन आये हैं। पति-पत्नी की एक-दूसरे से दायित्वों के निर्वहन एवं निर्धारण को लेकर अपेक्षाएँ बढ़ी हैं। स्त्री के कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ है। स्त्री-शिक्षा और अधिकारों को लेकर कानूनों का निर्माण किया गया है। किन्तु समाज में यौतुक प्रथा एवं लिव-इन-रिलेशनशिप जैसी विसंगतियाँ भी जन्म ले चुकी हैं। इनका दुष्प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से स्त्रियों पर पड़ रहा है।

महाभारतकालीन स्त्रियों का अध्ययन करने से उनके चारित्रिक गुणों तथा-दायित्व निर्वहन में उनकी भूमिका के साथ ही अधिकार से अधिक कर्त्तव्यपालन पर ही उनकी दृष्टि रही है, यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट हुयी है। अतः आधुनिककालीन स्त्रियाँ इनसे प्रेरणा ग्रहण कर आधुनिक समय में व्याप्त विषमताओं के मध्य अपनी अस्मिता एवं अस्तित्व को सुरक्षित रखने में समर्थ हो सकती हैं, सुखद पारिवारिक संबंधों के निर्वाह में अपना योगदान दे सकती है, अपने व्यक्तित्व में उदात्त गुणों का समावेश करके प्रतिकूल परिस्थितियों में सशक्त रूप से अपने अधिकारों की प्राप्ति हेतु अपने स्वर को मुखर कर सकती है।

♦♦♦♦

सन्दर्भग्रन्थानुक्रमणिका

सन्दर्भग्रन्थानुक्रमणिका

संस्कृत साहित्य

1. महाभारत, महर्षि वेदव्यास, गीता प्रेस, गोरखपुर
2. श्रीमद्भागवत-महापुराण, हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर
3. सम्पूर्ण मनुस्मृति, गोविन्द सिंह, साहनी पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2016
4. ऋग्वेद संहिता, पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, युगनिर्माण योजना प्रेस, मथुरा, उ.प्र., 2018
5. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1960
6. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, वेद खण्ड, बलदेव उपाध्याय, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 1996
7. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2010
8. छान्दोग्योपनिषद्, घनश्यामदास जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1994
9. नारद पुराण, प्रथम खण्ड, पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, बरेली उ.प्र., 1971
10. यजुर्वेद संहिता, पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा, उ.प्र., 2018
11. अथर्ववेद संहिता, भाग-2, पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा, उ.प्र., 2017
12. सामवेद संहिता, पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा, उ.प्र., 2018
13. अथर्ववेदद संहिता, भाग-1, पं. श्रीराम शर्मा आचार्य युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा, उ.प्र., 2015
14. बृहद्देवता, शौनक, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1989
15. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास-पुराण खण्ड, बलदेव उपाध्याय, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 2006
16. ईशावास्योपनिषद्, व्याख्याकार-विश्वनाथ, आदर्श प्रकाशन, जयपुर
17. ईशावास्योपनिषद् (शांकरभाष्यसहित), हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर
18. पौराणिक साहित्य और संस्कृति, भास्करानन्द लोहनी, रामा प्रकाशन, लखनऊ, 1963

19. ऐतरेय आरण्यक, राजेन्द्रलाल मिश्र, एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, कोलकाता, 1926
20. संस्कृत निबंध मन्दाकिनी, डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद
21. श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, महर्षि वाल्मीकि, गीता प्रेस, गोरखपुर
22. वायुपुराणम्, वेदव्यास अनुवादक-रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1987
23. निरुक्तम्, यास्क आचार्य, व्याख्याकार-आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1966
24. स्वप्नवासवदत्तम्, महाकवि भास, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, 2000
25. श्रीविष्णुपुराण, अनुवादक-श्रीमुनिलाल गुप्त, गीता प्रेस, गोरखपुर
26. मत्स्यमहापुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर
27. केनोपनिषद्, घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1992
28. बृहदारण्यकोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2011
29. अथ स्कन्दपुराण (नागरखण्ड), मुंशी नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
30. संक्षिप्त स्कन्दपुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2017
31. स्कन्दपुराण (काशीखण्ड), प्रकाशक-मतबा अवध अख़बार, मुंशी नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, सन् 1907
32. पद्मपुराणम्, प्रथमो भागः, महादेव चिमणाजी आपटे, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1893
33. पद्मपुराणम्, द्वितीयो भागः, महादेव चिमणाजी आपटे, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1894
34. पद्मपुराणम्, तृतीयो भागः, महादेव चिमणाजी आपटे, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1894
35. पद्मपुराणम्, चतुर्थो भागः, महादेव चिमणाजी आपटे, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1894
36. संक्षिप्त पद्मपुराण, जयदयालगोयन्दका, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2017
37. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कालिदास, हंसा प्रकाशन, जयपुर, 2015
38. याज्ञवल्क्यस्मृतिः, सं. डॉ. गंगासागर राय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2009
39. श्रीवासिष्ठधर्मशास्त्रम्, डॉ. वी.जी. परांजपे, भण्डारकर इंस्टिट्यूट प्रेस, पूना, 1930
40. बौधायन धर्मसूत्रम्, आचार्य गोविन्दस्वामी, भण्डारकर इंस्टिट्यूट प्रेस, पूना, 1930
41. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, डॉ. पी.वी. काणे, हिन्दी समिति, उत्तरप्रदेश शासन, लखनऊ, 1973

42. अग्निपुराणम्, व्याख्याकार-आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
43. नीतिशतकम्, भर्तृहरि, आदर्श प्रकाशन, जयपुर
44. उत्तररामचरितम् (प्रियंवदा टीका सहित), भवभूति, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2013
45. मालतीमाधवम्, भवभूति, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2014
46. भविष्यमहापुराणम् (ब्राह्मपर्व), खेमराज श्रीकृष्णदास, श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई, 1896
47. सं. ब्रह्मपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर
48. कादम्बरी-कथामुखम्, बाणभट्ट, व्याख्याकार-डॉ. गिरिजाशंकर चतुर्वेदी, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहबाद, 1985
49. नैषधीयचरितम्, श्रीहर्ष, टीकाकार-पं. शिवदत्त शर्मा, निर्णयसागर प्रेस, मुंबई, शक संवत् 1819
50. रघुवंशमहाकाव्यम् (मल्लिनाथटीका सहित), महाकवि कालिदास, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2012
51. किरातार्जुनीयम् (प्रथम सर्ग), भारवि, व्याख्याकार-डॉ. विश्वनाथ शर्मा, आदर्श प्रकाशन, जयपुर
52. तैत्तिरीय-संहिता (कृष्ण-यजुर्वेदीय), वसन्त-श्रीपाद-सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, भारत मुद्रणालय, औंध नगर, मुंबई, 1945
53. तैत्तिरीय-ब्राह्मणं (कृष्णयजुर्वेदीयं) (सायणभाष्य सहित) (तृतीय भाग), राजेन्द्र लाल मित्र, एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, कोलकाता, 1890
54. योग-दर्शन, महर्षि पतंजलि टीकाकार-हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2003
55. आपस्तम्बस्मृतिः (देवदत्त-कृपा हिन्दी टीका), डॉ. प्रयागनारायण मिश्र, ज्ञान भारती पब्लिकेशन, दिल्ली, 2005
56. हर्षचरितम् (प्रथम उच्छ्वास), बाणभट्ट, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2003
57. कूर्मपुराण, पूर्वविभाग, गीता प्रेस, गोरखपुर
58. शतपथ ब्राह्मण, श्रीचन्द्रधर शर्मा, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी गंगादशहरा, 1994
59. चाणक्यनीति दर्पण, बाबू दीपचन्द, मुलतानमल प्रिंटिंग प्रेस, नीमच, वि.सं.-1957
60. पाराशर स्मृति, श्रीमन्नालाल 'अभिमन्यु', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1998

61. योगवासिष्ठः (द्वितीयो भागः), महर्षि वाल्मीकि, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई, 1937
62. शुक्रनीति, शुक्राचार्य, श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, मुंबई, सम्वत्, 1952
63. अष्टादशस्मृति, खेमराज श्रीकृष्णदास, श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, मुंबई, 1996
64. स्मृतिसन्दर्भः (द्वितीयो भागः), नाग प्रकाशक, दिल्ली, 1988
65. मार्कण्डेय पुराण (संस्कृत), लाला श्यामलाल, हीरालाल, श्यामकाशी प्रेस, मथुरा
66. संक्षिप्त मार्कण्डेय-ब्रह्मपुराणांक (कल्याण), गीता प्रेस, गोरखपुर, 1947
67. सद्वृत्तालंकार, डॉ. हिन्दकेसरी, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1998
68. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास-आर्ष काव्य, आचार्य बलदेव उपाध्याय
69. जानकीहरणम्, कुमारदास, मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहबाद, 1960
70. ब्रह्मवैवर्त पुराण (श्रीकृष्णजन्मखण्ड), क्षेमराज-श्रीकृष्णदास, श्रीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, मुम्बई, 1967
71. संक्षिप्त श्रीमद्देवीभागवत (कल्याण के 34वें वर्ष का विशेषांक), हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिमनलाल गोस्वामी, गीता प्रेस गोरखपुर, 1960
72. श्रीमद्देवीभागवतम्, पं. रामतेजपाण्डेय, गोपालमण्डल के अन्तर्गत प्रकाशित, सम्वत 2026
73. संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्तपुराण, गीता प्रेस गोरखपुर, 2018
74. रघुवंशमहाकाव्यम्, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2012
75. मुण्डकोपनिषद्, घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस गोरखपुर, सम्वत् 1993
76. किरातार्जुनीयम् (प्रथम सर्ग), महाकवि भारवि व्याख्याकार-डॉ. विश्वनाथ शर्मा, आदर्श प्रकाशन, जयपुर
77. बृहत्संहिता, आचार्य वराहमिहिर संपादक-बलदेवप्रसाद मिश्र, लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस, कल्याण-मुम्बई, 1897
78. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, डॉ. पी.वी. काणे, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी समिति प्रभाग), लखनऊ, 1992
79. महाभारतकालीन नारी, डॉ. स्कालस्टिका कुजूर, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1992
80. महाभारत में नारी, वनमाला भवालकर, हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर म.प्र., 1964
81. आश्वलायन गृह्यसूत्रम्, विनायक गणेश आपटे, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1931

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ

1. काव्यप्रकाश, आचार्य मम्मट, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1960
2. साहित्यदर्पण, आचार्य विश्वनाथ, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2001
3. ध्वन्यालोक, आचार्य आनन्दवर्धन, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 2018
4. काव्यालंकार, आचार्य रुद्रट, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1940
5. वक्रोक्तिजीवितम्, आचार्य कुन्तक, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2004
6. नाट्यशास्त्रम् (तृतीयो भागः), आचार्य भरतमुनि, चौखम्भा संस्कृत, वाराणसी, 2009
7. नाट्यशास्त्रम् (चतुर्थे भागः), आचार्य भरतमुनि, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2012
8. शृंगारप्रकाशः, आचार्य भोजराज, मोतीलालबनारसीदास, वाराणसी, 2007
9. दशरूपक, आचार्य धनंजय, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2003
10. भावप्रकाशन, शारदातनय, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1983
11. काव्यानुशासनम्, आचार्य हेमचन्द्र, कृष्णदास अकादमी, चौखम्भा प्रेस, वाराणसी, 2000
12. नाट्यदर्पण, आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1994
13. शृंगारतिलक, रुद्रभट्ट, प्राच्य प्रकाशन, वाराणसी, 1968
14. काव्यमीमांसा, आचार्य राजशेखर, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, 2004
15. प्रतापरूद्रीयम्, मधुसूदन शास्त्री, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2003
16. कामसूत्रम्, वात्स्यायन मुनि, कृष्णदास अकादमी, चौखम्भा प्रेस, वाराणसी, 2001
17. संस्कृत का अर्वाचीन समीक्षात्मक काव्यशास्त्र, प्रो. अभिराज राजेन्द्र मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2010
18. रुद्रभट्ट विरचित शृंगारतिलक का आलोचनात्मक अध्ययन (शोध प्रबन्ध), डॉ. दिनेश कुमार शुक्ल, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, उ.प्र., 2002

हिन्दी साहित्य

1. भारत में महाभारत, प्रभाकर श्रोत्रिय, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2014
2. महाभारतकालीन समाज, सुखमय भट्टाचार्य, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद शकसंवत् 1881
3. महाभारत मीमांसा, चिन्तामणि विनायक वैद्य, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस सिटी, 1920

4. भारतसावित्री, भाग-1, वासुदेवशरण अग्रवाल, सत्साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 1957
5. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारीसिंह 'दिनकर', जनवाणी प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता-7
6. महाभारत में धर्म, डॉ. शकुन्तलारानी तिवारी, पाटल प्रकाशन, आगरा, 1970
7. साहित्य का इतिहास दर्शन, नलिनविलोचन शर्मा, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, वेणी माधव प्रेस, राँची, वि.सं. 2016
8. भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, डॉ. श्रीकृष्ण ओझा, आदर्श प्रकाशन, जयपुर
9. प्रमुख पुराणों में नारी चित्रण (शोध-प्रबन्ध), श्रीमती मनोज मिश्र, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी (उ.प्र.), 1991
10. प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी (शोध-प्रबन्ध), डॉ. गजानन शर्मा, रचना प्रकाशन, इलाहबाद
11. नारी-शिक्षा, हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2070
12. भारतीय संस्कृति के तत्त्व, श्रीकृष्ण ओझा, अभिषेक प्रकाशन, जयपुर
13. वैदिक वाङ्मय में नारी, डॉ. सुषमा शुक्ला, विद्यानिधि प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002
14. 21वीं सदी में नारी : अधिकार एवं कल्याण, श्रीमती वंदना सक्सेना, रॉयल पब्लिकेशन, जयपुर, 2016
15. महिलाओं के मौलिक अधिकार, रतन लाल गौरा, राधा गोविन्द पब्लिशर्स, जयपुर, 2016
16. समाज और नारी, मानचंद खण्डेला, अरिहंत पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2000
17. नारी शोषण : आईने और आयाम, आशारानी व्होरा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1982
18. महिलाओं के मौलिक अधिकार, रतन लाल गौरा, राधा गोविन्द पब्लिशर्स, जयपुर, 2016
19. नारी विमर्श, दिशा पारीक, संकल्प प्रकाशन, जयपुर, 2013
20. इक्कीसवीं सदी में महिला राजनैतिकरण : राजनैतिक सशक्तीकरण एवं महिला नेतृत्व की वास्तविकताएँ, डॉ. स्मिता कुमारी, सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2013
21. 21वीं सदी में नारी : अधिकार एवं कल्याण, वंदना सक्सेना, रॉयल पब्लिकेशन, जयपुर, 2016
22. सामाजिक विकास और प्रगतिशील महिलायें, डॉ. नलिनी केलर, श्रुति पब्लिकेशन, जयपुर, 2012
23. नारी चेतना, पूजा सुराना, कार्तिक पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2011

24. भारतीय नारी परिवर्तन एवं चुनौतियाँ, डॉ. रामप्रसाद जी व्यास, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 2009
25. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में बहुआयामी विद्रोह (शोध प्रबंध), सीमा देवी, वी.बी.एस. पूर्वांचल, विश्वविद्यालय, 2013, जौनपुर (उ.प्र.)
26. महिला सशक्तिकरण से ग्रामीण परिवारों में पति-पत्नी के सम्बन्धों पर प्रभाव : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन (शोध प्रबंध), लोकेन्द्र कुमार, चौ. चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ, 2013

आंग्ल साहित्य

1. A HISTORY OF SANSKRIT LITERATURE, CLASSICAL PERIOD VOL.1, S.N. DASGUPTA, CALCUTTA UNIVERSITY PRESS, 1947
2. A HISTORY OF SANSKRIT LITERATURE, ARTHUR A. MACDONELL, NEW YORK, D. APPLETON AND COMPANY, 1900
3. ON THE MEANING OF THE MAHABHARATA, V.S. SUKTHANKAR, THE ASIATIC SOCIETY OF BOMBAY, TOWN HALL, BOMBAY 1, 1957
4. A HISTORY OF ANCIENT SANSKRIT LITERATURE, MAX MULLER, OXFORD & IBH PUBLISHING CO. NEW DELHI, 1926
5. ANCIENT INDIAN HISTORICAL TRADITION, FREDERICK EDEN PARGITER, LONDON OXFORD UNIVERSITY PRESS, HUMPHREY MILFORD, 1922
6. A HISTORY OF INDIAN LETERATURE, VOL 1, M. WINTERN ITZ, UNIVERSITY OF CALCUTTA, 1927
7. THE POSITION OF WOMEN IN HINDU CIVILISATION, Dr. A.S. ALTEKAR, RAMAKRISHNA DAS, THE CULTURE PUBLICATION HOUSE, B.H.U., 1938
8. WOMEN IN RGVEDA, BAAGWAT SARAN UPADHYA, NAND KISHORE & BROS., BENARES, 1941
9. LIVE-IN-RELATIONSHIP IN INDIA-PROBLEMS AND PERSPECTIVE (THESIS), SAVI SAINT, KURUKSHETRA INIVERSITY, KURUKSHETRA, 2018
10. SOCIO-LEGAL STATUS OF LIVE-IN-RELATIONSHIP : A COMPARATIVE STUDY OF FRANCE, PHILLIPPINCES, SCOTLAND AND INDIA, SHASHI BHUSHAN, PANJAB UNIVERSITY, CHANDIGARH, 2017
11. Women in Indian Society – Sunita Kumawat Swastik Book Distributors, Jaipur, 2013

शब्दकोश-ग्रन्थ

1. अमरकोश, अमरसिन्हा, संस्कृत बुक डिपो, बनारस सिटी, 1937
2. संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश, वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसी दास
3. शब्दकल्पद्रुम, राजा राधाकान्त देव 'बहादुर'
4. वाचस्पत्यम्, तारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य, काव्यप्रकाश प्रेस, कलकत्ता
5. भारतीय साहित्य कोश, डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
6. हलायुध कोशः (अभिधान रत्नमाला), हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ
7. भारतीय साहित्यशास्त्र कोश, डॉ. राजवंश सहाय 'हीरा', बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 2013
8. आदर्श-हिन्दी-संस्कृत-कोश, रामस्वरूप शास्त्री, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी
9. THE STUDENTS SANSKRIT-ENGLISH DICTIONARY, VAMAN SHIVRAM APTE, MOTILAL BANARSIDASS, VARANASI, 1963

शोध पत्र-पत्रिकाएँ

1. सागरिका, सागर विश्वविद्यालय, सागर (मध्यप्रदेश)
2. दृक्, दृक् भारती, इलाहबाद
3. कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर
4. संभाषण संदेश, संस्कृत संस्थान, बैंगलूरू
5. स्वरमंगला, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर
6. संस्कृतविमर्श, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली
7. संस्कृतसाहित्य परिशीलनम्, दिल्ली संस्कृत अकादमी, 2016
8. शोध प्रभा, लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली
9. संस्कृतमंजरी, दिल्ली संस्कृत अकादमी, 2016
10. ज्ञानायनी पत्रिका, भारतीय भाषा संगम, लखनऊ
11. चिन्तन, आचार्य अकादमी, हरियाणा
12. द्रष्टा, आचार्य अकादमी, हरियाणा

प्रकाशित शोध–पत्र

क्र. सं.	शोध–पत्र का शीर्षक	प्रकाशन वर्ष	शोध–पत्रिका /पुस्तक का नाम	ISSN NO.	राष्ट्रीय/ अन्तर्राष्ट्रीय
01.	महाभारते स्त्रीशिक्षा	जून–अगस्त 2016	द्रष्टा रिसर्च जर्नल	2277–2480	अन्तर्राष्ट्रीय
02.	महाभारत में द्रौपदी	जुलाई–सितम्बर 2016	चिन्तन रिसर्च जर्नल	2229–7227	अन्तर्राष्ट्रीय

Impact Factor: 2.64

ISSN : 2277-2480

Price : ₹ 500
$ 70

द्रष्टा रिसर्च जर्नल

International Refereed

Drashta Research Journal

वर्ष : 5, अंक 19 (जून 2016–अगस्त 2016)

(Art, Literature, Humanity, Social Science, Commerce, Management, Law & Science Subjects)
(Indexed & Listed at : Ulrich's Periodicals Directory ©, ProQuest. U.S.A.)
(Indexed & Listed at : Copernicus, Poland)
(Indexed & Listed at : Research Bib., Japan)

मुख्य-संपादक
आचार्य (डॉ.) शीलक राम

आचार्य अकादमी
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज
यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्

ISO 9001 : 2008

website : www.chintanresearchjournal.com, e-mail : shilakram9@gmail.com

आचार्य अकादमी
भारत

शोध–आलेखानुक्रम

सम्पादकीय

Philosophy

- **Gita - A critical Reflection and Some Inquiries**
  Dr. Madhumita Chatterjee — 12-17
- स्वामी विवेकानन्द के अनुसार शिक्षा और शिक्षण प्रणाली
  राजेश्वरी मीणा — 18-20

हिन्दी साहित्य

- सूरदास के दार्शनिक सिद्धांत
  डॉ॰ पठान रहीम खान — 21-23
- नारी: नयी भूमिका, नयी चुनौतियाँ
  डॉ. सुदर्शन राठी — 24-27
- रघुवीर सहाय के काव्य में राजनीतिक चेतना
  डॉ. उर्मिला देवी चौधरी — 28-32
- वर्तमान परिवेश में सूर काव्य की प्रासंगिकता
  डॉ. वन्दना शर्मा — 33-37
- देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' के गीतों में संवेदनात्मक मूल्य
  Dr Sanjay Sharma — 38-43
- मानव मूल्य स्वरूप व व्याख्या
  डॉ॰ उषा रानी — 44-46
- सुदामा सौरभ खण्डकाव्य की काव्यशास्त्रीय समीक्षा
  नमिता — 47-49
- डॉ॰ शकुन्तला कालरा के बाल-साहित्य में राष्ट्रीय चेतना
  भीम सिंह — 50-54
- मृदुला सिन्हा की कहानियों में सामाजिक चेतना
  बबीता देवी — 55-58
- शिक्षा और साहित्य के मूल्यों का मूल्यांकन
  मधु राठौर — 59-62
- गुड़िया भीतर गुड़िया आत्मकथा में नारी विमर्श
  निशान सिंह — 63-66
- सिम्मी हर्षिता की भाषा शैली
  डॉ. रितू — 67-70
- हिंदी सिनेमा के गीतों में विप्रलम्भ शृंगार वर्णन
  बलजीत सिंह — 71-74
- संत जैतराम की वाणी में आध्यात्मिक मूल्य
  सविता देवी — 75-81

संस्कृत साहित्य

- मानव जीवन पर ग्रहों का प्रभाव एवं अरिष्ट शान्त्यर्थ उपाय
  डॉ. महेन्द्र कुमार मिश्रा 82-87
- वैदिक वाङ्मय में संस्कार : एक अध्ययन
  डॉ. राजेश कुमार बैरवा 88-93
- 'स्मृतिशास्त्रोक्त गर्भाधान संस्कार में ज्योतिष की भूमिका'
  डॉ. हरकेश बैरवा 94-100
- षोड्श संख्यांक का साहित्य और व्यवहार में गौरव प्रतीक
  डॉ० शीला दहिया 101-105
- वैदिक स्वरों का सामान्य-परिचय
  बलराज 106-109
- 'शत्रुशल्यचरित' महाकाव्य के परिपेक्ष्य में चौहान वंश के विकास का अध्ययन
  कृष्णा गुप्ता 110-113
- महाभारते स्त्रीशिक्षा
  मेघा शर्मा 114-118
- न्याय में प्रारब्ध की विशेष कर्म महत्ता
  प्रतिभा किरण 119-121

English Literature

- **Struggle and Conflict in Anita Desai's Novels : A Study of *Cry, the Peacock* and *Voices in the City***
  Dr. Geetika Sandhu 122-125
- **Conflict of Cultures In Kiran Desai's The Inheritance of Loss**
  Geeta Gupta 126-129
- **Status of Dalit Women : A Study Of Dalit Literature**
  Rashmi 130-133
- **Deplorable Status of Women in Patriarchal Society: Anita Desai's Novel "*Fasting, Feasting and the Condition of Women*"**
  Reena Sethi 134-136

History

- **Political & Cultural view for disabled in India**
  Dr. Udai Narain Sinha 137-152
- स्वामी विवेकानन्द एवं स्वामी दयानन्द सरस्वती के शैक्षिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन
  अमित कुमारी 153-157
- हरियाणा में मुख्य फसलों के उत्पादन में वृद्धि
  डॉ० महेन्द्र सिंह, रीना 158-162

Political Science

- **Right to Information Act, 2005 (The Movement for Right to Information in India) Historical Background and Main Provisions**
  Sanju Yadav 163-169

(International Refereed)
Impact Factor : 2.64

संस्कृत साहित्य

'द्रष्टा' रिसर्च जर्नल (ISSN : 2277-2480)
वर्ष:5, अंक:19 (जून-अगस्त 2016) (पृ.सं. 114-118)

महाभारते स्त्रीशिक्षा

मेघा शर्मा
शोधच्छात्रा
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
बून्दी (राजस्थान)

शोध-आलेख सार

महाभारतकाले कन्यानां गुरूकुलवासस्य प्रतिषेध आसीदित्यपरो हेतु:। धर्मशास्त्रै: प्रभाविते समाजे पवित्रताया प्रति उठतमर्यादा उन्नता आसन् तथापि पुरूषप्रधानसमाजरचनायां तासां परिपालने तु पदे पदे बाधा उपस्थिता:। यथा शत्रुभि: स्त्रीष्वत्याचारमयं, राज्ञो राजपुरूषतश्च स्त्रीशीलभंगभीति:, दस्युचौरादिभि: अपहरणत्रास: इत्यादय:। अत एतादृशे समाजे गृह एव पितु: संरक्षणे कन्यया, पत्यु: पुत्रस्य वा रक्षणे विवाहितया स्थातव्यमित्यासीत्प्रायो धारणा। आश्रमवासिनां परिवारे स्थिता: स्त्रिय आश्रमेषु न्यवसन्, असाधारणस्त्रीभि: कृतं तपस्यार्थमरण्यगमनं स्वीकृतं नारीभि:। मोक्षधर्मरता, मुण्डितशिरा नैष्ठिकब्रह्मचारिणी सुलभा, वृद्धाऽविवाहिता तपस्विनी तपस्विनी सुभु:, कुमारी ब्रह्मचारिणी श्रुतावती, ब्रह्मवादिन्यत्रिमार्या, संशितप्रज्ञारून्धती, कौमारब्रह्मचारिणी शाण्डिली, चैवमादय:, ब्रह्मवादिन्य: स्त्रिय: हाभारते पुरावृत्तन्तकथनेषु वर्णिता:।

मुख्य-शब्द : नगरकन्यायां, नृत्यशालाप्यासीत्, तपस्या, देवप्रार्थना, वर्णाश्रमधर्मैरन्यैश्च, ललितकला:।

महाभारतकालात् पूर्वमासीत् स्त्रीशिक्षाया: सुव्यवस्थेति वैदिकसंदर्भेभ्य: (अथर्ववेद 14/01/45) स्पष्टमेव। उपनिषत्स्वपि स्त्रिय: गुरुकुलेषु ज्ञानार्जनं करोति स्म (बृहदारण्यकोपनिषद् 5/4)। महाभारते तु नोपलभ्यते कोऽपि निर्देश: कन्यापाठशालाया: न वा निदर्शनमेकमपि विद्यार्जनाय गुरूकुलवासिन्या: कन्याया:। सुश्रु: शाण्डिली, श्रुतावती चैवं आदयो[1] या आश्रमसंचालिका दृश्यन्ते तास्तु तपस्यायामतिथिसत्कारे वा तत्पराऽपि छात्रछात्राणामध्यापनव्यवस्थायां नासन् व्यवसिता:। न च निर्दिष्टा महाभारतेऽप्यध्ययनरता: आश्रमवासिन्य:।

एवं भूतेऽपि सुशिक्षिता आसन् महाभारते वर्णिता नार्य इति वक्तुं शक्यते। कथं तर्हि तदानीं कन्याभिर्विद्योपार्जनं कृतम्। गुरूकुलवासाभावे स्वगृहमेवासीत् नारीणां शिक्षाकेन्द्रम्। गृहेऽपि कन्याशिक्षार्थमध्यापकस्य नियुक्ति: प्रायशो नैव दृश्यते। राजा विराट स्वपुत्र्या नृत्यगीतादिललितकलानां शिक्षायै वृहन्नलां शिक्षिकारूपेण नियुक्तवान्, इत्येकमेवोदाहरणं समग्र महाभारते लभ्यते। नगरकन्यायां कृते नृत्यशालाप्यासीत्। उत्तरया सहान्या अन्त:पुर स्त्रियोऽपि वृहन्नलासकाशाल्ललितकलासु शिक्षाम् लब्धवत्य:।[2] तथापि वृहन्नलाया: क्लीबत्वस्य प्राक्परीक्षां कारयित्वैव तामन्त:पुरे स्थापितवानित्येतावता सूच्यते। कन्याशिक्षार्थं पुरूषशिक्षकाणां नियुक्तिर्नासीज्जनेषु सम्मतेति।

पाणिनिना स्त्रीशिक्षिकाया उपाध्यायेति व्यपदेशं कृत्वा तस्या उपाध्यायानीतो विशेषं च प्रदर्श्य तत्समयेऽध्यापिकानामप्यासीद् व्यवस्थेति स्पष्टरूपेण कथितम्। किन्तु महाभारते यथा कन्याशिक्षार्थं पुरूषशिक्षका

नाभिमतास्तथैव न निर्दिष्टा काप्युपाध्याया कन्यकानां कृते। इत्थं नासन् कन्यानां गुरूकुलानि न वा पाठशाला न शिक्षका न वा शिक्षिका:।

प्राय: कन्या अनवगुण्ठिता गृह एव भ्रातृभि: सह यथावसरं विद्वद्भ्यो विद्यार्जनमकुर्वन्। यदा द्रुपदपुत्रा: केनापि ज्ञानवृद्धब्राह्मणेन बृहस्पतिनीशास्त्रमुपदिष्टास्तदा पितुरंकोपविष्टया द्रौपद्यापि तदुपदेशग्रहणं कृतम्।[3] गान्धारी तद्भ्राता शकुनिश्चार्थशास्त्रविशारदावित्युभौ सममेव ख्यातौ सम्भवत: सममेव शिक्षितवन्तौ।[4] स्थूलकेशिने आश्रमे तस्य पुत्रीकृता प्रमद्वरा[5] उद्दालकपुत्री सुजाता, शुक्रकन्या देवयानी[6] च स्वपितृशिष्यै: सहाभीष्टं वार्तालापं कर्तुं स्वतंत्रा आसन्। येन न केवल तासां ज्ञानोपार्जनावसरोऽपि तु कदाचित् शिष्य समवायादनुरूपपतिवरणमप्यासीत् सुलभम्।

विशेषत: स्त्रीजीवनस्य सफलताया आवश्यकं ज्ञानार्जनं कन्या प्रधानत: स्वमातु: सकाशादेव कृतवती। स्वकर्त्तव्यानां गणनायां ''कन्याश्च परिशिक्षये''[7] इति कथयन्त्या शाण्डिल्या प्रकटितेयं व्यवस्था। ''गुरूणां चैव सर्वेषां जनयित्री परमो गुरू:'' ''नास्ति मातृसमोगुरू:'' इत्यादिवचनैर्मातु: गुरूरूपेण श्रेष्ठत्वं पुन: पुन: प्रतिपादितम्- दशाचार्यादुपाध्याय उपाध्यायान् पिता दश।

दश चैव पितॄन् माता .....

..... नास्ति मातृसमो गुरू:।।[8]

इत्यस्मिन् पुत्राणं शिक्षायामपि मातुर्महत्त्वमुक्तं यद्यपि कुमाराणां गुरूसकाशाद् विद्याभ्यासस्य वर्णनानि विविधपाठ्यक्रमाणां विवरणानि चोपलभ्यन्ते। यथा भीष्म धृतराष्ट-पाण्डु-विदुर-पाण्डवा:, अभिमन्यु-पाण्डवापुत्रा:, द्रोण-आस्तीक-कृपादीनां[9] कुमारकाणाम्। एवं सति यासां नासन्नन्य आचार्या निर्धारितपाठ्यक्रमा वा तासां कन्यकानां कृते मातैवासीत् परमो गुरूरिति नास्ति चित्रम्। मातेव पिता भ्राता ये केचनान्ये गुरूजना: परिवारे तेभ्योऽपि कन्या ज्ञानार्जनस्यावकाशं लेभिरे। शुक्राचार्येण देवयानी धर्म्यवचनैस्तत्त्वमुपदिष्टा कृष्णेन च सुभद्रा। अश्वपति: सावित्री ध र्मशास्त्रोक्तिं श्रावितवान्[10]। कुन्तिभोजश्च कुन्तीमातिथ्य धर्मस्य माहात्म्यम्[11] धनाढ्यकुटुम्बेषु नियुक्ताभ्यो व्यवहारकुशलाभ्यो धात्रीभ्योऽपि। कार्याकार्यविवेकं प्रापु: कन्या:। कन्यात्वे वर्त्तमानाया: कुन्त्या विपत्काले तस्या धा।।येवासीद् विश्वस्ता मार्गदर्शिका।[12] विवाहानन्तरं श्वश्रूस्तथान्या: स्त्रियो वध्वा मार्गदर्शिन्य आसन्। कुन्ती[13]- गान्धारी[14] आदय: स्वस्वपुत्रवधू: कुटुम्बधर्मे कार्याकार्यविवेकं पुण्यकर्माणि चा शिक्षयन्। द्रौपद्या सत्यभामा[15] शाण्डिल्या च सुमना स्त्रीधर्मविवेचनं श्राविते। उमयाऽपि पत्यु: समक्षं तस्यैवानुनयेनर्षिगणसमवाय नारीहिताय पातिव्रत्यस्य रहस्यं सुस्पष्टीकृतम्।[16] अस्मिन् प्रसंगे स्त्रीकृते पुरूषोपदेशात् स्त्रीकृतोपदेशस्यातिशयं समर्थयता महादेवेनोमां प्रतीत्थं शंसितम्-

''त्वया चोक्तं विशेषेण गुणीभूतं हि तिष्ठति।
स्त्रिय एव सदा लोके स्त्रीगणस्य गति: प्रिये।।
प्रमदोक्तं तु यत्किञ्चित् तत् स्त्रीषु बहुमन्यते।
न तथा मन्यते स्त्रीषु पुरूषोक्तमनिन्दिते।।''[17]

एवं सत्यपि पतिरेवासीद् विवाहिताया: परमो गुरू:। स्वभर्त्रा सह विविधविषयानधिकृत्य गम्भीरविचारविनिमयैर्ज्ञानमर्जितवत्य:। भर्त्रा सह सुवर्चलाया अध्यात्मचर्चा,[18] ब्राह्मणदम्पत्योस्तत्त्वज्ञानविषयक: संवाद एवमन्येषां पतिपत्नीनां संभाषणानि पत्यु: सकाशाद भार्याया ज्ञानग्रहणस्य सन्ति निदर्शनानि। युधिष्ठिरेण भीमेन[19] च धर्माचरणस्य तत्त्वमुपदिष्टा द्रौपदी युक्तिभि: उदाहरणैश्च।

गृहागतानामतिथीनां मुखादुपदेशश्रवणं स्त्रीणामासीदपरो ज्ञानोपलब्धेरूपाय:। पर्यटनपरा: शास्त्रपारंगता ब्राह्मणा ऋषिमुनयश्चातिथिरूपेण सम्पूजितगृहे गृहे। विशेषतो राज्ञां प्रासादेषु विभिन्नप्रदेशेभ्य अभ्यागतानामतिथीनां निवासो नित्यमेवासीत्।

गृहिणीनां कर्त्तव्येषु प्रामुख्येन स्थानामासीदतिथिसत्कारस्य। तथैव कन्या अन्याश्च स्त्रियोऽतिथिदर्शनायानिर्बन्ध ामुपातिष्ठन। कन्यात्वे द्रौपद्या पितुर्गृहे समुपागताद्विद्वद्ब्राह्मणाद् बृहस्पतिनीतिशास्त्रमधीतम्। युधिष्ठिरस्य प्रासादे

गृहिणीकर्त्तव्यरता द्रौपदी नित्यमतिथिसहस्त्राणां यतिमुनिब्राह्मणस्नातकानां सेवायामहर्निशं तत्परासीत्।[20] विद्वत्जनानां मिथो वार्तालापेषु तत्रैव तिष्ठन्ती द्रौपदी विविधविषयचर्चा: श्रोतुमवसरं लब्धवर्ती।[21] विधवाऽपि कुन्ती धृतराष्ट्र-गान्धारीसहवासे वनेऽतिथिस्वागतपरा विद्वद्विचारविनिमयं श्रवणगोचरीकर्तुमशक्नोत्।[22] कुन्ती[23] संजयकन्यादयो[24] राजकन्या अतिथितोषणे नियुक्तास्तेभ्य आत्मोन्नतिमकुर्वन्। यथा दुर्वाससाथर्वमन्त्रप्रयोग उपदिष्टा कुन्ती। न केवलं राजप्रासादे, अपि तु साधारण कुटम्बेष्वपि दृश्यत एतादृशी व्यवस्था।

एकचक्रायां पाण्डवानां निवासो ब्राह्मणगृह आसीत्।[24] तत्र सम्प्राप्तस्यातिथेर्मुखात् कुन्त्यापि श्रुत्वा देशान्तरवृत्तान्ता:।[25]

कस्यापि शिल्पिनो गेह उपस्थित: कोऽपि यात्रिक: बाह्लीकानामाचारविचारान् श्रावितवान् [illegible]मनिवासिन्यपि शकुन्तला कस्याप्यतिथे:, कण्वस्य सहालापं निशम्य स्वजन्मवृत्तान्तं विदितवती।[27] अपरं च कथादिकथनश्रवणयो: स्त्रीणां सहजा रूचिरासीत्। नृत्यगीतशिक्षातिरिक्तं कथापठनमप्यासीत् बृहन्नलाया: करणीयं विराटनृपस्यान्त:पुरे। तथा हि-

''पठन्नाख्यायिकां नाम स्त्रीभावेन पुन:पुन:।
रमयिष्ये महीपालमन्यांश्चान्त: पुरे जनान्।।
प्रजानां समुदाचारं बहु कर्म कृतं वदन्।[28]

अनेन कथाख्यायिकादीनां श्रवणं न केवलं मनोजरंजनाय, अपितु ज्ञानायापीति स्पष्टं भासते।

नारीशिक्षायां धार्मिकविषयाणां प्राधान्यं स्त्रीणां धर्मपरायणता सूच्यते। तथा महाभारते प्रमदानां वेदाध्ययनपरम्परा नष्टप्राया एव दृश्यते। स्त्रिय: शास्त्रज्ञानरहिता: शूद्रपतितैरिव च ताभि: सह संभाषणं ब्रह्मचारिणां वर्जनीयमित्यप्यादिष्टम्।[29] किन्तु स्त्रीभिर्वेदोच्चारणे नासीत् प्रतिषेध:। यथा दुष्यन्तसभायां शकुन्तलया **''वेदेष्वपि वदन्तीमं मन्त्रजातं द्विजातय:** ''इति प्रस्तावं कृत्वा **''आत्मा वै पुत्रनामासि''** एवमादिवेदमन्त्रा उद्धृता:[30] अथर्वमन्त्रोपयोगे दुर्वाससोपदिष्टा कुन्ती माद्रि कृते तन्मंत्रग्रहणं कारितवती।[31] अनेनैव प्रमाणेन, आलतेकर महोदयै: स्वग्रन्थे प्रतिपादितं यत् कुन्ती 'अर्थवेदपण्डिता'' आसीत्।[32]

महाभारतकाले कन्यानां गुरूकुलवासस्य प्रतिषेध आसीदित्यपरो हेतु:। धर्मशास्त्रै: प्रभाविते समाजे पवित्रताया अतिष्ठितमर्यादा उन्नता आसन् तथापि पुरूषप्रधानसमाजरचनायां तासां परिपालने तु पदे पदे बाधा उपस्थिता:। यथा शत्रुभि: स्त्रीष्वत्याचारमयं, राज्ञो राजपुरूषतश्च स्त्रीशीलभंगभीति:, दस्युचौरादिभि: अपहरणत्रास: इत्यादय:। अत एतादृशे समाजे गृह एव पितु: संरक्षणे कन्यया, पत्यु: पुत्रस्य वा रक्षणे विवाहितया स्थातव्यमित्यासीत्प्रायो धारणा। आश्रमवासिनां परिवारे स्थिता: स्त्रिय आश्रमेषु न्यवसन्, असाधारणस्त्रीभि: कृतं तपस्यार्थमरण्यगमनं स्वीकृतं नारीभि:। मोक्षधर्मरता, मुण्डितशिरा नैष्ठिकब्रह्मचारिणी सुलभा[33], वृद्धाऽविवाहिता तपस्विनी तपस्विनी सुभ्रु:[34], कुमारी ब्रह्मचारिणी श्रुतावती[35], ब्रह्मवादिन्यत्रिमार्या,[36] संशितप्रज्ञारून्धती[37], कौमारब्रह्मचारिणी शाण्डिली[38], चैवमादय:, ब्रह्मवादिन्य: स्त्रिय: महाभारते पुरावृत्तन्तकथनेषु वर्णिता:। स्त्रीकृतसंध्यावन्दनमपि न निर्दिष्टं महाभारते तथापि नार्यो मन्त्रपठने कुशला दृश्यन्ते। विनतया गरूडस्याशीर्वादात्मकं स्वस्तिवाचन[39], शास्त्रप्राप्तये प्रस्थितस्य अर्जुनस्य कृते द्रौपद्या स्वस्तिवाचनं[40], द्रौपद्या कृता कृष्णस्तुति:[41], कद्रोरिन्द्रप्रार्थना[42], युद्धे मृतस्यभिमन्यो: सद्गतये सुभद्राया: देवप्रार्थना[43] आदीनि बहूनि सन्ति स्त्रीणां मन्त्रपठनस्य निदर्शनानि।

वर्णाश्रमधर्मैरन्यैश्च धर्मशास्त्रवचनै: सुपरिचिता दृश्यन्ते द्रौपदी[44], कुन्ती[45], गान्धारी[46] सावित्री[47], दमयन्ती[48] विदुलादय:[49] स्त्रिय:। राजकुलक्षत्राण्यो यथावसरं धर्मज्ञवचनानामुद्धरणै: प्रमाणितै: प्रभावशालिभिरूपदेशै: पुरूषाणमपि मार्गदर्शनं कृतवत्य:।

ललितकला: कन्याशिक्षाया: प्रधानविषया इत्यत्र नास्ति सन्देह:। चित्रकला, वस्त्रवयनं, सुवर्णतन्तुभि: मणिभिश्च वस्त्राणां चित्रीकरणमित्यादिषु स्त्रीणां रूचिरनुमीयते। पात्रचालिकां भूषयितुं महार्हवस्त्राणां संग्रहं कर्तुकामासीदुत्तरा।[50] मृत्तिकाश्वादीनां निर्माणं पशुपक्षिणां चित्रणं विविधपुष्पहाराणां ग्रथनं, अंगरागविलेपनादिसिद्धि:,

विविधा: केशरचना: इत्यादिकार्यार्थं धनिकगृहेषु दास्यो नियुक्ता:। तथापि राजकुलस्त्रियों ऽप्येतेषु कर्मसु कुशला आसन्। द्रौपदी सावित्री का गुरूजनसेवायामिमानि कर्माणि स्वयमेव तत्परतया सादरमकरोत्।[51] गृहविज्ञानस्यान्ये विषया अपि स्त्रीणाम अनिवार्या एवासन्। राजकन्याऽपि कुन्ती पाकशास्त्रे निपुणा दृश्यते।[52] गृहे मंगलताया निर्मलतायाश्च विधानं शोभापरिवर्धनं, शय्यासनाद्युपकरणणानावेक्षणं, धान्यादि संचय:; उद्यानस्य गृहपशुपक्षिणां च पालनं, रूग्ण परिचर्या, शिष्टाचाराणां सम्यग्व्यवहार:, इत्येवमादि समस्तकरणीयेषु कन्या: स्वगृहगताभ्य: स्त्रीभ्य: सम्यक्शिक्षिता:।[53] कुल स्त्रीणा नापेक्षितं धनार्जनम्। किन्तु निम्नवर्गेषु परिवारस्त्रियो गृहस्वामिनो व्यवसाये सहाया आसन्। दाशराजस्य पुत्री मत्स्यगन्धा सत्यवती पितुर्नौकर्या यात्रिकान् यमुनानदीं पारयितुं स्वयं नौकाचालनं करोति स्म।[54] दासी, धात्री, गणिका, नटी, रंगस्त्री, पाशु, वेश्या, गोपी, किराती, नर्तकी, तान्तुकी तन्तुवायिकी इत्यादीनां निर्देशै: स्त्रीणां धनार्जनव्यवसायानां परिचय: उपलभ्यते। तथापि वैद्यकं अध्यापनं वा न निर्दिष्टं स्त्रीणां कार्यक्षेत्रे।

संक्षेपेणेदमुच्यते- महाभारते नोपलब्धा स्त्रीणां कृते पाठशाला:, नासीत् गुरूकुले विद्याग्रहणं न वा कन्याया: शिक्षाविषया: शिक्षका वा निर्दिष्टा:। गृहस्य वातावरणभासीत् तासां ज्ञानार्जनानुकूलं, तथैव स्वाभविकी जिज्ञासा, कुशाग्रबुद्धि: तीव्रग्रहणशक्ति: गुरूवचनेषु श्रद्धा इत्याद्यात्मगुणैर्माण्डिता नारी विना पाठशालामपि केवलं परोक्षरूपेणैव बहुश्रुता विदुषी संजातुमलमासीत्। नारीशिक्षाया: लक्ष्यं नासीत्परीक्षाफलमुपाधिग्रहणं वा अपितु शारीरिक-मानसिक बौद्धिक-आत्मिकशक्तीनां सम्यग् विकासेन तासामाचारविचारेषु विवेको धर्मबुद्धि:, नैतिक भावना, आत्मविश्वास:, कर्त्तव्यपरायणता, एवमादिगुणानां, संवर्धनं महत्वपूर्णम् आसीत्। एभिगुर्णैर्युक्तस्ता: शीलसदाचारसम्पन्ना भूत्वा परिवारस्य, समाजस्य राष्ट्रस्य चाभ्युन्नतये सहयोगप्रदानं कर्तुं क्षमा: स्युरित्यासीदपेक्षितम्।

संदर्भ

1. शल्यपर्व पृ.सं. 1320. 3-4, उद्योग पर्व पृ.सं. 2355
2. विराट पर्व पृ.सं. 1033.10-11
3. वनपर्व पृ.सं. 119. 61-62
4. आदि पर्व पृ.सं. 218.112
5. आदि पर्व पृ.सं. 92. 12-15
6. आदि पर्व पृ.सं. 287. 6-8
7. अनुशासन पर्व पृ.सं. 512
8. शांति पर्व पृ.सं. [illegible]0. 16-17
9. आदि पर्व पृ.सं. [illegible]1-475
10. आदि पर्व पृ.सं. 930
11. आरण्यकपर्व पृ.सं. 960. 23-29
12. वन पर्व पृ.सं. 969-3
13. वन पर्व पृ.सं. 761. 32-33
14. स्त्रीपर्व पृ.सं. 1474
15. वन पर्व पृ.सं. 764-765
16. अनुशासन पर्व पृ.सं. 674. 34-50
17. अनुशासन पर्व 675. 10-11
18. शांति पर्व पृ.सं. 669-676
19. वन पर्व पृ.सं. 112-114, विराट पर्व पृ.सं. 1072-1073
20. वन पर्व पृ.सं. 762. 41-45
21. वन पर्व पृ.सं. 582

22. आश्रमवासिक पर्व 1120.1-3
23. वन पर्व पृ.सं. 959-964
24. शान्ति पर्व पृ.सं. 99.11-13
25. आदि पर्व पृ.सं. 561.5-6
26. कर्ण पर्व पृ.सं. 895. 5-11
27. आदि पर्व पृ.सं. 252.19
28. विराट पर्व पृ.सं. 1006.28
29. अनुशासन पर्व पृ.सं. 217. 11-12
30. आदि पर्व पृ.सं. 266-268.48-62
31. आदि पर्व पृ.सं. 429.15.16
32. आल्तेकर- प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति पृ. 156
33. शांति पर्व पृ.सं. 1000-1005
34. शल्य पर्व पृ.सं. 1320
35. शल्य पर्व पृ.सं. 1321
36. अनुशासन पर्व पृ.सं. 388-398
37. शल्य पर्व पृ.सं. 1322.36
38. अनुशा ान पर्व पृ.सं. 510
39. आदि पर्व पृ.सं. 127.1-7
40. वन पर्व पृ.सं. 137. 25-35
41. वन पर्व पृ. 38. 52-60
42. आदि पर्व पृ.सं. 123. 7-16
43. द्रोण पर्व पृ.सं. 244. 29-35
44. वन पर्व पृ.सं. 101-115
45. उद्योग पर्व पृ.सं. 2398-2404
46. सभा पर्व पृ.सं. 1048. 1-8
47. वन पर्व पृ.सं. 933-936
48. वन पर्व पृ.सं. 203. 15-36
49. उद्योग पर्व पृ.सं. 2400-2404
50. विराट पर्व पृ.सं. 1120. 28-29
51. विराट पर्व पृ. 931. 11-23
52. वन पर्व पृ.सं. 761. 32-35
53. अनुशासन पर्व पृ.सं. 674-677
54. आदि पर्व पृ.सं. 360. 48-50

ISSN : 2229-7227
Price : ₹500
$ 70

Year : 6
Issue : 23
July-Sep. 2016
www. chintanresearchjournal.com
Impact Factor : 2.725

International Refereed

चिन्तन Chintan

Research Journal

रिसर्च जर्नल

(कला, साहित्य, मानविकी, समाज–विज्ञान, विधि, प्रबंधन, वाणिज्य एवं विज्ञान विषयों पर केंद्रित)

(Indexed & Listed at : Ulrich's Periodicals Directory ©, ProQuest . U.S.A.)
(Indexed & Listed at : Copernicus, Poland)
(Indexed & Listed at : Research Bib, Japan)

संपादक

आचार्य (डॉ.) शीलक राम

आचार्य अकादमी
भारत
ISO 9001:2008

शोध-आलेखानुक्रम

सम्पादकीय

दर्शनशास्त्र

शिक्षा के प्रति भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोण
राजेश्वरी मीणा 11-14

हिंदी साहित्य

आदिवासी जीवन का यथार्थ
प्रो. ऑर. एन. वाकळे 15-17

रामकथात्मक प्रबन्धकाव्यों में पात्र रूप-स्वरूप
Santosh 18-21

कहानी : उद्‌भव, विकास, वर्गीकरण और तत्त्व
सुनीता कुमारी 22-25

ग्रामीण जीवन की सैद्धान्तिक समीक्षा
नमिता 26-28

संस्कृत साहित्य

श्रीमद्‌भागवतमहापुराणे धार्मिकजीवनदर्शनम्
डॉ० श्रीकृष्ण त्रिपाठी 11-15

Social Conditions Reflected in the Rgveda
Dr. Mahua Ganguly 34-35

वैदिक साहित्य में पर्यावरण संरक्षण : एक अध्ययन
डॉ. राजेश कुमार बैरवा 36-39

आत्मज्ञान विषयक धर्मसूत्रीय अवधारणा
डॉ. हरकेश बैरवा 40-45

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में सामाजिक चेतना
जोगिन्द्र सिंह 46-51

यज्ञ की महत्ता 'स्व से समाज तक'
प्रतिभा किरण 52-56

महाभारत में द्रौपदी
मेघा शर्मा 57-61

स्वर-ज्ञान का महत्त्व
बलराज 62-69

Education

A Study of Socio-Psychological Traits of Emotional Intelligence of High and Low Rural Scheduled Caste Middle School Girls of Kurukshetra District
Amanpreet Kaur, Suman Bala 70-72

English Literature

The Storm in the Life of Saroj in "Storm in Chandigarh" : Nayantara Sehgal
Santosh Rani 73-76

Odyssey from Exploitation to Affirmation : A Study of Girish Karnad's *Nagamandala*
Rashmi 77-80

Law

Sexual Harassment at Workplace- Causes and Remedies
Pawan Kumar, Suman Saharan 81-87

संस्कृत साहित्य

International Refereed
Impact Factor : 2.725

'चिन्तन' अर्न्तराष्ट्रीय रिसर्च जर्नल (ISSN : 2229-7227)
वर्ष 6, अंक 23 (पृ.सं. 57-61)
विक्रमी सम्वत्: 2073 (जुलाई-सितम्बर 2016)

महाभारत में द्रौपदी

मेघा शर्मा
शोध-छात्रा
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बून्दी (राजस्थान)
कोटा विश्वविद्यालय, कोटा (राजस्थान)

शोध-आलेख सार

द्रौपदी के चरित्र में महाभारतकार ने आरम्भ से लेकर अन्त तक पाण्डवों के प्रति अनन्य भक्ति और अटूट प्रेम प्रदर्शित किया है। प्रसङ्ग के अनुसार द्रौपदी के हृदय में स्थित विनय, वेदना, विवशता, व्यंग्य और प्रेम को ग्रन्थकार ने अभिव्यक्ति प्रदान की है । आदर्श पत्नी और आदर्श वधू के रूप में द्रौपदी ने अपने कुल को गौरवान्वित किया है यह कहना गलत नहीं होगा कि विषम से विषम परिस्थिति में भी धैर्य, साहस, संयम की प्रतिमूर्ति द्रौपदी का चरित्र वर्तमानकालिक नारियों के लिए उपादेय है।

मुख्य-शब्द : स्थालीपाकयज्ञ, अतिथिसेवा, शीलाचारवती, सर्वधर्मविशेषज्ञा, सजगता, आत्माभिमान।

प्रकृति की हर रचना की अपनी वैयक्तिक विशिष्टताएँ हैं। एक साथ रोपित एक ही जाति के सैकड़ों वृक्षों में शायद ही कोई दो वृक्ष आपस में मिलें। किन्हीं दो प्राणियों के चेहरे नहीं मिलते । उसी प्रकार हर मनुष्य का शील भी दूसरे से भिन्न होता है । काव्य-जगत की विभूतियों के शील-वैचिाय की छटा भी अनूठी है । महाभारतकार की कथा-जगत के पात्र भी विविधता लिये हुए हैं । नारी पात्रों के चरित्र -चित्रण में मुख्यतः पातिव्रतधर्म के आदर्श को मानस में धारण कर ही उनके व्यक्तित्व विकास को चित्रित किया है।

किसी भी राष्ट्र की सभ्यता अथवा संस्कृति के निर्माण की आधार शिला के रूप में नारी को सहज भाव से स्वीकृति प्रदान की गई है। उसे ही जगदुत्पत्तिक्षेत्रभूता, कल्याणगुणशालिनी सर्वव्यवहृतिकुशला, सकलकलासारसमष्टिः, भारतीयसंस्कृतिजीवातुः इत्यादि विशेषणों से संबोधित किया गया है । शौर्य और त्याग की उदात्त भावना से ग्रंथित एक वीरगाथा है, महाभारत । अतः इस ग्रन्थ में प्रधानरूप से चित्रित स्त्रियाँ वीरकन्या, वीरभार्या, वीरप्रसविनी एवं सुकुमारी होते हुए भी अवसर आने पर वज्र से भी कठोर पथ पर चलकर अपने कर्त्तव्यपथ से विमुख नही होती हैं । उन्हीं में से एक व्यक्तित्व है - द्रौपदी जो महाभारत की केन्द्रिय भूमिका में, निर्भीकता और साहस के गुणों से युक्त एक वीर क्षत्राणी के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हुई है।

द्रौपदी के जन्म के विषय में महाभारतकार लिखते हैं कि 'सती-साध्वी द्रौपदी शची के अंश से उत्पन्न, राजा दुपद के कुल में यज्ञ की वेदी के मध्यभाग से प्रकट हुई है। वह अनिन्द्य सुन्दरी कुमारी कन्या आकार में न तो बहुत छोटी थी और न बहुत बडी । उसके अंगों से नीलकमल की सुगन्ध प्रस्फुटित होती रहती थी । वह समस्त शुभलक्षणों से सम्पन्न तथा वैदूर्यमणी के समान कान्तिमती थी।[1] यद्यपि द्रौपदी के

शैशवकाल के विषय में महाभारतकार मौन रहे हैं तथापि उसके विवाह के अवसर पर ग्रंथकार उसकी शोभा का वर्णन करते हुए कहते है कि **''आप्लुताङ्गी सुवसना सर्वाभरणभूषिता मालां च समुपादाय काञ्चनीं समलंकृताम्, अवतीर्णा ततो रङ्ग द्रौपदी भरतर्षभ ।।''**

(आदि पृ.619-30)

अपि च -

स्वभ्यस्तरूपापि नवेव नित्यं
विनापि हासं हसतीव कन्या ।
मदादृतेऽपि स्खलतीव भावै -
वाचा विना व्याहरतीव दृष्ट्या ।। (आदिपर्व पृ. 627)

विवाहोपरान्त ही महाभारतकार ने द्रौपदी के चरित्र का वास्तविक चित्रांकन किया है । द्रौपदी, आदर्श पत्नी तथा आदर्श वधू के रूप में सभी की प्रिय तथा गौरव की पात्र होकर कल्याणी के रूप प्रतिष्ठित हुई है । महाभारत में द्रौपदी ही एक मात्र ऐसी स्त्री है जिसने पति रूप में पाँच पाण्डवों का वरण किया तथा सभी के हृदय में स्वयं के लिए स्थान बनाया।वह **'पाण्डवानां बहिश्वरं हृदयं, प्राणेभ्यो च गरीयसी'** थी ।[2] द्रौपदीसत्यभामापर्व में सत्यभामा जब द्रौपदी से पाण्डवों के उसमें अनुरक्त होने का कारण पूछती है तो द्रौपदी अपने कर्त्तव्यों का दिग्दर्शन कराती हुई कहती है कि ''मै अहंकार और काम - क्रोध को छोड़कर सदा पूरी सावधानी के साथ पाण्डवों की और उनकी अन्यान्य स्त्रियों की भी सेवा करती हूँ। कभी मेरे मुख से कोई बुरी बात न निकल जाये इसकी आशंका से सदा सावधान रहती हूँ। असभ्य की भाँति खड़ी नहीं होती । निर्लज्ज की तरह सब ओर दृष्टि नहीं डालती । पतियों और उनके सेवकों को भोजन कराये बिना मैं कभी भोजन नहीं करती । मैं घर के बर्तनों को साफ करके, शुद्ध एवं स्वादिष्ठ रसोई तैयार करके सबको ठीक समय पर भोजन कराती हूँ । मन और इन्द्रियों को संयमित करके निकेत में गुप्त रूप से अनाज का संचय करती हूँ और घर को सदा स्वच्छ तथा पवित्र बनाये रखती हूँ । मैं वीरजननी, सत्यवादिनी आर्या कुन्तीदेवी की भोजन, वस्त्र, जल आदि से सदा स्वयं सेवा करती हूँ।गुरूजनों की सेवा-शुश्रूषा से ही मेरे पति मेरे अनुकूल रहते हैं । इसके अतिरिक्त वेदपाठी ब्राह्मणों को अग्रहार का अर्पण करके भोजन, वस्त्र और जल के द्वारा उनकी यथायोग्य पूजा करती हूँ। मैं दिन-रात आलस्य-त्यागकर भिक्षा-दान, श्राद्ध, पर्वकालोचित स्थालीपाकयज्ञ, अतिथिसेवा तथा अन्य धर्म जो मुझे मेरी श्वश्रू द्वारा बताये गये हैं, उनका पूर्ण मनोयोग से पालन करती हूँ । हस्तिनापुर में महल में निवास करने वाले दास-दासियों -सेवकों गोपालों सभी के कार्यों की देखरेख मैं ही करती थी । मुझे उनके नाम -रूप-भोजन इत्यादि की जानकारी रहती थी । यात्रा में चलने वाले घोड़े-हाथी इत्यादि की गणना, आवश्यक वस्तुओं का प्रबन्ध, महाराज को होने वाली आय-व्यय-बचत की जानकारी केवल मैं ही रखती थी।[3] द्रौपदी, सत्यभामा से कहती है कि **'सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यं, दुःखेन साध्वी लभते सुखानि ।**[4] अपि च -

नैतादृशं दैवतमस्ति सत्ये
सर्वेषु लोकेषु सदेवकेषु ।
यथा पतिस्तस्य तु सर्वकामा
लभ्याः प्रसादात् कुपितश्च हन्यात् ।।[5]

शीलसम्पन्ना तथा पूजितलक्षणा द्रौपदी इन महत् कार्यों को संपादित करते हुए ही गुरूजनों की दृष्टि में गौरवान्विता और आदरणीया बन गई है । युधिष्ठिर द्रौपदी की प्रशंसा करते हुए मार्कण्डेय मुनि से कहते है कि-

'अस्ति सीमन्तिनी काचिद् दृष्टपूर्वापि वा श्रुता, पतिव्रता महाभाग यथेयं द्रुपदात्मजा ।
नहि पापं कृतं किञ्चिद् कर्म वा निन्दितिं क्वचित्, द्रौपद्या ब्राह्मणेष्वेव धर्मः सुचारितो महान् ।[6]

श्रीकृष्ण भी युधिष्ठिरोक्त कथन पर अपनी सम्मति प्रकट करते हुए कहते हैं कि कामना, भय अथवा लोभ किसी भी कारण से युधिष्ठिर अपना धर्म नही छोड़ सकते उसी तरह यह कृष्णा भी अपना धर्म नही छोड़ सकती।[7] 'साध्वीगुणसम्पन्ना, शीलाचारवती, सर्वधर्मविशेषज्ञा, सत्यवादिनी, ईश्वरी, सर्वकल्याणी आदि अनेक गुण द्रौपदी के लिए कुन्ती के मुख से निःसृत हुए हैं।[8] इसलिए कुन्ती अपने पुत्रों को आदेश देती है कि **'द्रौपद्याः पदवीं चर।**[9] द्रौपदी को धर्माचरण में स्थित देखकर, कुन्ती का विश्वास उस पर बढा हुआ था इसलिए वह अपने पुत्रों को द्रौपदी का प्रिय करने तथा उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करने के लिए कहती हैं । आर्या कुन्ती के ये वचन द्रौपदी की महिमा को अलङ्कृत करते हैं । सभापर्व में धतृराष्ट्र द्रौपदी को **'वधूनां हि विशिष्टा में त्वं धर्मपरमा सती'**[10] तथा **'तेज एवं तु केवलम्'**[11] कहकर संबोधित करते हैं। द्यूतक्रीडा प्रसङ्ग के समय कर्ण, द्रौपदी को **'अद्भुत कर्म करने वाली, पाण्डवों को परम शान्ति देने वाली' नौका के समान पार लगाने वाली'** कहकर उसके चरित्र को व्याख्यायित करते हैं।[12] महाभारत में अनेक स्थल पर द्रौपदी के विषय में प्रशंस्य उक्तियाँ कही गई हैं जो उसके चरित्र की विलक्षणताओं को ही प्रतिबिंबित करते हैं।

द्रौपदी के चरित्र का विकास

द्रौपदी का व्यक्तित्व यहीं तक आकर समाप्त नहीं हो जाता वरन् महाभारतकार ने अनेक स्थलों पर उसके ज्ञान, बुद्धिमत्ता, नीतिनिपुणता, साहस, धैर्य और स्वाभिमान को अभिव्यक्त करने का अवसर प्रदान किया है ।

सभापर्व में द्रौपदी

सर्वप्रथम द्यूतपर्व में जब दुःशासन द्रौपदी को अपमानित करके सभा के मध्य में लाकर कहता है कि **'पाण्डव इस समय हम लोगों के वश में है । तुम जुँए में जीती जा चुकी हो हमने धर्म के अनुसार तुम्हें प्राप्त किया है अतः तू हमारी दासी हो चुकी है।'**[13] तब द्रौपदी ने स्वयं को उपेक्षित जानकर किसी के भी प्रतिकार न करने पर क्रोध से परिपूर्ण दृष्टियुक्त होकर भी अपनी वाणी को संयमित करके सभासदों से प्रश्न किया **'क्या मैं धर्म के अनुसार जीती गई हूँ या नहीं, आप उत्तर दें ?**[14] उसने यह भी कहा कि

''न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धान ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत् सत्यं यच्छलेनानुविद्धम् ।। ''(सभापर्व पृ 1023)

उसके प्रश्न का उत्तर न मिलने पर वह कहती है कि मै स्वयंवर के समय राजाओं द्वारा देखी गई थी, उसके सिवा अन्य समय में नही । वही मै आज सभा में बलपूर्वक लायी गयी हूँ और यह दुरात्मा दुःशासन भरी सभा में मेरा स्पर्श कर रहा है, तो भी पाण्डव कुमार सह रहे हैं।[15]

सभा के मध्य में ऐसे अनेक वचन कहना इस बात का द्योतक है कि यद्यपि नारी सुकुमारहृदया होती है परन्तु परिस्थिति के अनुसार वह कठोर रूप धारण करने में समर्थ है। अपने चरित्र के विषय में गलत बात वह नही सुन सकती । महाभारत में चित्रित नारी पात्रों में द्रौपदी प्रथम है जिसने अपने अधिकार को लेकर सार्वजनिक रूप से आवाज़ उठाने का साहस किया । उसके वचनों से प्रभावित होकर धृतराष्ट्र ने द्रौपदी को वर प्रदान करते हुए पाण्डव कुमारों को दास भाव से मुक्त कर दिया।[16] द्रौपदी सती स्त्री थी, यह उसका धैर्य ही था कि इतना अपमान होने पर भी उसने कौरवों को अपनी क्रोधाग्नि से जलाकर भस्म नही किया।[17]

वनपर्व में द्रौपदी

द्रौपदी में साहस और धैर्य का गुण तो था ही, साथ ही वह विदुषी भी थी।[18] वह राजनीति निष्णाता थी जिसका परिचय हमें उसके द्वारा युधिष्ठिर से उनके शत्रुविषयक क्रोध को जाग्रत करने के लिए कहे गये संतापपूर्ण वचनों से प्राप्त होता है । द्रौपदी कहती है कि संसार में कोई भी क्षत्रिय क्रोधरहित नहीं होता। क्षत्रिय शब्द की व्युत्पत्ति ही ऐसी है, जिससे उसका सक्रोध होना सूचित होता है परन्तु आज आप जैसे क्षत्रिय में मुझे यह क्रोध का अभाव क्षत्रियत्व के विपरीत-सा दिखाई देता है जो क्षत्रिय समय आने पर अपने प्रभाव को नहीं दिखाता, उसका सब प्राणी सदा तिरस्कार करते है । तेज से ही शत्रुओं का वध संभव है तथा इसी प्रकार जो क्षत्रिय क्षमा करने के योग्य समय आने पर शान्त नही होता, वह सब प्राणियों के लिए अप्रिय हो जाता है । इस विषय में वह **'प्रह्लाद तथा विरोचनपुत्र बलि का संवाद'**[19] उदाहरण रूप में प्रस्तुत करती है।वह ईश्वर की सत्ता पर विश्वास करती हुई उसके न्याय पर आक्षेप करती है -

''न मातृपितृवद् राजन् धाता भूतेषु वर्तते ।
रोषादिव प्रवृत्तौ ऽयं यथायमितरो जनः ।
सम्प्रयोज्य वियोज्यायं कामकारकरः प्रभुः ।
क्रीडते भगवान् भूतैर्बालः क्रीडनकैरिव ।। (वनपर्व पृ.111. 37-38)

द्रौपदी के ऐसे वचनों को सुनने के पश्चात् भी युधिष्ठिर उस पर क्रोध न करके वचनों की प्रशंसा करते हैं।[20] किन्तु जब युधिष्ठिर धर्मपालन पर ही अडिग रहते है तो वह पुरूषार्थ को प्रधान मानकर पुरूषार्थ करने के लिए कहकर अनेक वचनों से उसे सिद्व करने का प्रयत्न करती है।[21] यहाँ द्रौपदी नीतिनिपुणा ज्ञानी स्त्री के रूप में ही नही अपितु एक मार्गदर्शिका के रूप में ओजस्वी शब्दों के द्वारा पति को प्रोत्साहित करती हुयी विलक्षण नारी पात्र दिखाई देती है।

विराट पर्व में द्रौपदी :

पाण्डव द्रौपदी सहित राजा विराट के यहाँ अज्ञातवास के समय निवास करते है । वहीं द्रौपदी सैरन्ध्री के वेष में रानी सुदेष्णा के समीप जाती है तथा रानी उसे सैरन्ध्री के कार्य में नियुक्त करती है।[22] स्वयं द्रौपदी के कथनानुसार

केशान् जानाम्यहं कर्तुं पिंषे साधु विलेपनम्
मल्लिकोत्पलपद्मानां चम्पकानां तथा शुभे
ग्रथयिष्ये विचित्राश्च स्रजः परमशोभनाः ।[23]

राजा विराट का सेनापति तथा रानी सुदेष्णा का भाई उससे प्रणय की याचना करता है। उसके पापपूर्ण वचनों को सुनकर द्रौपदी उस पर क्रोधपूर्ण दृष्टि डालकर कहती है ''कि बुद्धिमान पुरूष अपनी पत्नी को ही अनुकूल बनाये रखने के लिए उत्तम यत्न करता है । अपनी स्त्री में अनुराग रखने वाला परम कल्याण का भागी होता है। अनुचित कर्मो का त्याग करना ही श्रेष्ठ पुरूषों का व्रत है।[24] वह उसे अनेक युक्तियों से समझाने का यत्न करती है -

''मा सूतपुत्र मुह्यस्व माद्य त्यक्ष्यस्व जीवितम्।
जानीहि पञ्चभिर्घोरैर्नित्यं मामभिरक्षिताम्।''

उन गन्धर्वो की प्रियतमा से ऐसी अनुचित प्रार्थना करके पृथ्वी अथवा आकाश में भाग जाने पर भी तुझे कोई शरण देने वाला नही मिलेगा।[25]

यह भावना उसके पति - प्रेम, दृढ-निश्चय और संयम की परिचायक है।दग्ध मनोरथ होकर कीचक वहाँ से चला जाता है लेकिन अपनी इच्छा को पूर्ण करने के लिए अपनी बहिन सुदेष्णा से उसे अपने महल

में भेजने के लिए कहता है । सुदेष्णा जब द्रौपदी को मदिरा लाने के व्यजन से कीचक के महल में जाने के लिए कहती है तब द्रौपदी स्वाभिमानपूर्वक कहती है कि **'मैं आपके महल में अपने पतियों की दृष्टि में व्यभिचारिणी और स्वेच्छाचारिणी होकर नहीं रहूँगी।'**[26] रानी सुदेष्णा पर विश्वास करके वह कीचक के महल की ओर प्रस्थान करती है लेकिन **मन में सूर्यदेव से अपने सतीत्व रक्षा की प्रार्थना करती है।**[27] ऐसा करना उसकी सजगता का परिचायक है। नाना प्रकार के प्रलोभन[28] से भी कीचक द्रौपदी को अपने सत्यव्रत, पतिव्रत से विचलित नहीं कर पाता । उसे अपने पति के बल पर पूर्ण विश्वास था । यह आस्था, निर्भीकता और लोभहीनता उसे मानवेतर नारी के पद पर प्रतिष्ठित करती है । जैसा धैर्य है उसमें वैसी ही सहनशक्ति है, जैसा तेज है वैसा ही ओज है।गन्धर्वपति उसकी रक्षा करेंगे, यही आशा और विश्वास उसके आत्माभिमान को बल प्रदान करता रहता है । भीमसेन द्वारा कीचक-वध[29] उसके विश्वास की परिणति है।

समग्रतः द्रौपदी के चरित्र में महाभारतकार ने आरम्भ से लेकर अन्त तक पाण्डवों के प्रति अनन्य भक्ति और अटूट प्रेम प्रदर्शित किया है। प्रसङ्ग के अनुसार द्रौपदी के हृदय में स्थित विनय, वेदना, विवशता, व्यंग्य और प्रेम को ग्रन्थकार ने अभिव्यक्ति प्रदान की है । आदर्श पत्नी और आदर्श वधू के रूप में द्रौपदी ने अपने कुल को गौरवान्वित किया है यह कहना गलत नहीं होगा कि विषम से विषम परिस्थिति में भी धैर्य, साहस, संयम की प्रतिमूर्ति द्रौपदी का चरित्र वर्तमानकालिक नारियों के लिए उपादेय है। वस्तुतः द्रौपदी इस कथन को चरितार्थ करती है -

''कार्येषु दासी करणेषु मंत्री
रूपे च लक्ष्मीः क्षमया धरित्री।
स्नेहे च माता शयने च रम्भा
षट्कर्मयुक्ता कुलधर्मपत्नी।।''

संदर्भ-सूची

1. आदि पर्व, पृ 241, 156-159, पृ. 655
2. वनपर्व, पृ 847, 14
3. वनपर्व, पृ 760-763
4. वनपर्व, पृ 764.4
5. वनपर्व, पृ 764.2
6. वनपर्व, पृ 925.1-3
7. वनपर्व, पृ 925.1-3
8. सभापर्व, पृ 1059.4-5, उद्योगपर्व पृ2302.43
9. उद्योग पर्व, पृ 2302.80
10. सभा पर्व, पृ 1037.27
11. वन पर्व, पृ 775.9
12. सभापर्व, 1039.1-3
13. सभापर्व, पृ1021.25-27
14. सभापर्व, पृ 1022.4
15. सभापर्व, पृ 1032.6
16. सभापर्व, पृ1038 27-35
17. उपरिवत्, पृ 1059. 4-6
18. वन पर्व, पृ 98.2
19. वनपर्व, 101 - 103, पृ 107-111
20. वनपर्व, पृ 112
21. वनपर्व, पृ 115-117
22. विराट, पर्व पृ. 1026.9, 35
23. विराट, पृ 1028.18
24. विराट, पृ1040.34, 36
25. विराट, पृ 1045.52
26. विराट, पर्व पृ 1048.11-13
27. विराट, पृ. 1048.18
28. विराट पर्व, पृ 1049.1-3
29. विराट पर्व, पृ 1076.82